ISS

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

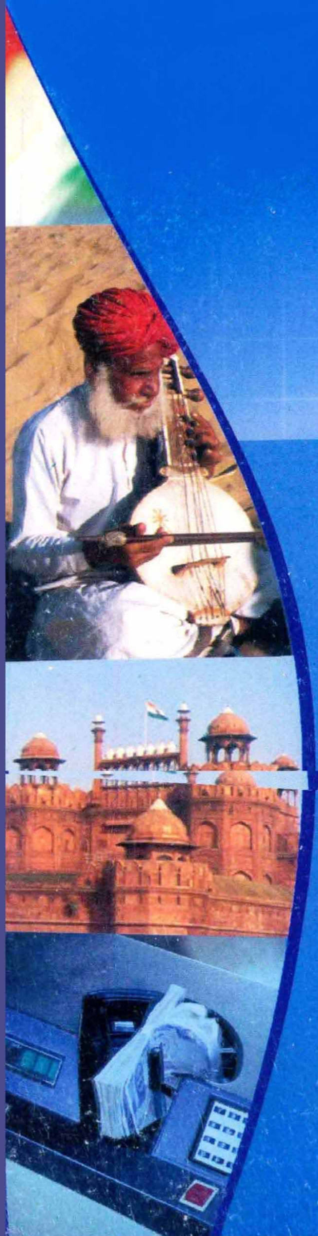

सामाजिक विज्ञान का परिचय

ISS

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सामाजिक विज्ञान का परिचय

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रोफेसर (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

संयोजक /समन्वयक एवं सदस्य

संयोजक
प्रो. एम..के. घड़ोलिया
प्रोफेसर अर्थशास्त्र विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य

1. **प्रो.(डॉ.) अनाम जैटली**
निदेशक संकाय
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा
2. **डॉ. बी.एल. जैमन**
विभागाध्यक्ष, गणित विभाग
राजकीय महाविद्यालय, कोटा
3. **डॉ. बी.के. शर्मा**
सह आचार्य, इतिहास
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा
4. **(डॉ.)डी.एम. मेहता**
सह आचार्य, गणित विभाग
राजस्थान तकनीकी विश्वविद्यालय, कोटा
5. **डॉ. निर्मला आडवानी**
सेवानिवृत्त वरिष्ठ व्याख्याता, समाजशास्त्र
राजकीय विश्वविद्यालय, कोटा
6. **डॉ. जे.के. शर्मा**
सह आचार्य, अर्थशास्त्र
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

सम्पादन एवं पाठ्यक्रम लेखन

सम्पादक
प्रो. एम..के. घड़ोलिया
विभागाध्यक्ष अर्थशास्त्र
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक	इकाई संख्या	पाठों के लेखक	इकाई संख्या
डॉ. निर्मला आडवानी सेवानिवृत्त वरिष्ठ व्याख्याता, समाजशास्त्र **राजकीय विश्वविद्यालय, कोटा**	(1,4)	**डॉ. मोनिका नागोरी** सह आचार्य, समाजशास्त्र **मोहनलाल सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर**	(2,3)
डॉ. आर.के. पन्त सेवानिवृत्त सह आचार्य, इतिहास **राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**	(5)	**डॉ. कमलेश शर्मा** सह आचार्य, इतिहास **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा**	(6)
डॉ. एल.पी. माथुर सेवानिवृत्त सह आचार्य, इतिहास **एम.एल. सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर**	(7,8)	**प्रो. एम..के. घड़ोलिया** विभागाध्यक्ष अर्थशास्त्र **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा**	(9,11,12)
डॉ. गोपाल सिंह वरिष्ठ व्याख्याता, वाणिज्य **राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा**	(10)	**श्रीमती संगीता विजय** व्याख्याता, राजनीतिशास्त्र **वनस्थली विद्यापीठ, निवाई(टोंक)**	(10)
डॉ. निशा वशिष्ठ सह आचार्य, राजनीति विज्ञान विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन	(14)	**डॉ. जगदीश गुर्जर** व्याख्याता, राजनीतिविज्ञान **ज्योतिबा फूले महाविद्यालय, चौमू**	(15)
डॉ. शीला ओझा सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान **राजकीय महाविद्यालय, नागदा**	(16)	**डॉ. जे.के. शर्मा** सह आचार्य, अर्थशास्त्र **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा**	(17,18)
डॉ. एल.के. दाधीच वरिष्ठ व्याख्याता, वनस्पति शास्त्र **राजकीय महाविद्यालय, कोटा**	(19)	**डॉ. मोहम्मद इलियास** व्याख्याता, मानविकी विभाग **अभियांत्रिकी महाविद्यालय, कोटा**	(20)
डॉ. सुबोध कुमार व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग **जे.डी.बी. कॉलेज कोटा**	(21)		

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच	**प्रो. एम..के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा	संकाय विभाग	पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन - जनवरी 2012 ISBN NO - 13/978-81-8496-051-8

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सामाजिक विज्ञान का परिचय

खण्ड - I

समाज **पृष्ठ संख्या**

इकाई - 1
सामाजिक विज्ञान का अर्थ, क्षेत्र एवं प्रकृति 10–30

इकाई - 2
समाज शास्त्रीय अवधारणाएं 31–46

इकाई - 3
सामाजिक संस्थाएं 47–58

इकाई - 4
सामाजिक परिवर्तन 59–95

खण्ड - II

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इकाई - 5
विकास के ऐतिहासिंक आयाम 96–107

इकाई - 6
सुधार आन्दोलन-प्राचीन भारत में सुधार आन्दोलन, भक्ति आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन, समाजवाद 108–154

इकाई - 7
किसान, समाज एवं आन्दोलन - ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य 155–170

इकाई - 8
राष्ट्रीय विरासत - ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य 171–187

खण्ड - III

अर्थव्यवस्था

इकाई - 9
अर्थ व्यवस्था-अर्थ, प्रकार, आर्थिक समस्या की प्रकृति, अर्थ व्यवस्था की आधारभूत समस्याएं एवं उनका हल 188–204

इकाई - 10
आर्थिक संस्थाएं 205–240

इकाई - 11
आर्थिक प्रक्रियाएं 241–269

इकाई -12
आर्थिक विकास एवं नियोजन 270–290

खण्ड - IV राज्य व्यवस्था	पृष्ठ संख्या
इकाई - 13	
राज्य का उद्भव तथा विकास, शक्ति सत्ता, सरकार, राष्ट्रीय राज्य एवं राष्ट्रीयता	291–338
इकाई - 14	
संयुक्त राष्ट्र संघ	339–367
इकाई - 15	
भारतीय संविधान - विशेषताएं मूल अधिकार, संघात्मक ढाँचा, विधायिका कार्यपालिका, न्यायपालिका, निर्वाचन प्रक्रिया, प्रशासनिक प्रक्रिया एवं न्यायिक प्रक्रिया	368–390
इकाई - 16	
प्रजातंत्र, ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज व्यवस्था (राजस्थान के विशेष सन्दर्भ में) गतिशील प्रजातंत्र, राष्ट्रीय एकता को चुनौतियां : क्षेत्रीयता एवं साम्प्रदायिकता	391–401
खण्ड - V जनसंख्या एवं पर्यावरण	
इकाई - 17	
राजस्थान : एक परिचय	402–415
इकाई - 18	
जनांकिकी	416–437
इकाई - 19	
विज्ञान, प्रौद्योगिकी, पर्यावरण एवं प्रदूषण	438–454
इकाई - 20	
शिक्षा का विकास तथा सूचना प्रौद्योगिकी, दूरस्थ शिक्षा का विकास एवं भविष्य	455–477
इकाई - 21	
विकलांगता की समस्या एवं राज्य	478–489

खण्ड परिचय

खण्ड- 1

प्रस्तुत खण्ड में कुल चार इकाईयां है । यह खण्ड विद्यार्थियों को समाजशास्त्रीय अवधारणाओं से परिचित कराएगा ।

इकाई एक में सामाजिक विज्ञानों का अर्थ क्षेत्र एवं प्रकृति की विवेचना की गई है। विज्ञानों की एक वैज्ञानिक पद्धति एवं विचारधारा के रूप में विस्तृत विवेचना की गई है । इसी क्रम में सामाजिक विज्ञान का अर्थ एवं प्रकृति की भी वैज्ञानिक एवं मानवीकी पीरप्रेक्ष्य में विस्तृत चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई में सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं समन्वय की चर्चा की गई है। इकाई 2 में प्रमुख समाजशास्त्रीय अवधारणाओं की विस्तृत व्याख्या की गई है। इसमें समाज, संस्कृति, सामाजिक संगठन संरचना, समाजीकरण, सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक समूह, प्रस्थिति एवं भूमिका जैसी मूलभूत अवधारणाओं की संक्षिप्त विवेचना की गई है।

इकाई 3 में सामाजिक संस्थाओं जैसे संयुक्त परिवार, ग्राम्य समुदाय, सामाजिक स्तरीकरण, जाति एवं वर्ग जैसी महत्वपूर्ण अवधारणाओं की संक्षिप्त व्याख्या की गई है ।इकाई 4 में आप सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा एवं इसके लिए उत्तरदायी घटको का अध्ययन करेगे। परिवर्तन एक शाश्वत प्रक्रिया है। परिवर्तन का सम्बन्ध उन्नति से भी नहीं है। सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन से सम्बन्धित है । इस इकाई में सामाजिक उद्विकास एवं प्रगति के साथ ही आधुनिकीकरण. संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण जैसी समाजशास्त्रीय अवधारणाओं के बारे में भी चर्चा की गई है।

खण्ड II

इस खण्ड में इतिहास विषय पर आधारित कुल चार इकाइयां है।

सर्वप्रथम इकाई संख्या 5 में विकास के ऐतिहासिक आयामों पर विचार किया गया है। मानव सम्यता के विकास के विभिन्न युगों जैसे- पाषाणकाल, धातुकाल एव सामाजिक विकास के विभिन्न चरणों के बारे में इस इकाई में प्रकाश डाला गया है। किस प्रकार मानव सभ्यता आदिम समाज से आधुनिक समाज की और अग्रसर हुई। इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे कि विकास के इन विभिन्न चरणों की क्या मुख्य बाते थी, भारतीय समाज की सांस्कृतिक विरासत प्राचीन काल से ही समृद्ध रही है। समय के साथ-साथ इनमें कई विकृतियां आई जिनके विरोध में समय-समय पर कई सुधार आन्दोलन चले। इकाई संख्या 6 इन्हीं सुधार आन्दोलनों की चर्चा से सम्बंधित है। इस इकाई में प्राचीन भारत में सुधार आन्दोलन के रूप में बौद्ध एवं जैन धर्म के उदय एवं विकास की चर्चा की गई है। इसके साथ ही भक्ति आन्दोलन एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में भी इस इकाई में संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

इकाई संख्या 7 में किसान समाज एवं आन्दोलन के ऐतिहासिक विवेचन से सम्बन्धित है। भारत एक कृषि प्रधान देश है एवं प्राचीन काल से किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए प्रयास किये जाते रहे हैं। विदेशी शासन काल में किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक दशा बिगडती गई इसके विरोध में किसान आन्दोलन हुए। इस इकाई में इन्हीं किसान आन्दोलनों के बारे में चर्चा की गई है।

इकाई संख्या 8 में राष्ट्रीय विरासत को ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। विभिन्नता में एकता, धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक समरसता एवं समृद्ध लोक संस्कृति हमारी राष्ट्रीय विरासत रही है ।

खण्ड III

सामाजिक विज्ञान का परिचय पाठ्यक्रम का खण्डं 3 अर्थव्यवस्था एवं उसकी कार्यप्रणाली से सम्बन्धित है । इस खण्ड में कुल चार इकाइयां हैं।

इकाई संख्या 9 में विद्यार्थियों को अर्थव्यवस्था का अर्थ एवं उसकी कार्यप्रणाली से अवगत कराया जाएगा। विभिन्न प्रकार की आर्थिक प्रणालियों में आर्थिक समस्याओं का हल करने सम्बन्धी प्रक्रियाओं की जानकारी भी दी जाएगी।

इकाई संख्या 10 में आपको यह बताया जाएगा कि व्यवसायिक संगठन से हमारा क्या आशय है? एकाकी व्यापार, साझेदारी, संयुक्त पूँजी कम्पनी, सहकारी संगठन, राजकीय उपक्रम आदि की क्या प्रमुख विशेषताएं हैं एवं उनके गुण दोष क्या हैं । इस इकाई में मुद्रा बैकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं के बारे में भी संक्षिप्त जानकारी दी जाएगी जिससे आप इन संस्थाओं के क्रिया कलापों की जानकारी प्रप्त कर सके।

इकाई 11 में उत्पादन प्रक्रिया एवं इसके श्रृंखलाबंद्ध स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस इकाई में उत्पादन के पाँचों साधनों यथा भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध एवं साहस के अर्थ एवं प्रमुख विशेषताओ से आपको अवगत कराया जाएगा। हम समझ सकेंगे कि विशिष्ट एवं अविशिष्ट साधनों से हमारा क्या आशय है? इकाई 12' विषय वस्तु आर्थिक विकास एवं नियोजन के बारे में जानकारी देना है। आर्थिक विकास किसे कहते हँ एवं इसके प्रमुख निर्धारक घटको के बारे में बताया गया है। यह तो सर्वविदित ही है कि आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका दिनोदिन बढ़ती जा रही है। इस इकाई में इसके लिए उत्तरदायी घटकों की वाक्या की गई है।

खण्ड IV

खण्ड 4 का सम्बन्ध राजनीति विज्ञान से हैं । इस खण्ड में कुल चार इकाइयां हैं। इकाई 13 में आपको राज्य के उद्भव तथा विकास, राज्य का समाज एवं समुदाय के साथ सम्बन्ध एवं राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों से परिचित कराया जाएगा। इस इकाई में शक्ति, सत्ता, सरकार, राष्ट्रीय राज्य आदि महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं इन सभी का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

इकाई 14 में महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य, अर्थ एवं क्रिया कलापों से सम्बन्धित हैं।

इकाई 15 में भारत के संविधान की विशेषताओं एवं मुख्य घटकों के बारे में विस्तृत विवेचन दिया गया है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने नागरिकों को कुछ मूल अधिकार दिए हैं इनका वर्णन करने के बाद भारत के संघात्मक स्वरूप के बारे में आपको जानकारी दी जाएगी। राजनीतिक प्रक्रियाएं जैसे निर्वाचन प्रक्रिया, प्रशासनिक प्रक्रिया एवं न्यायिक प्रक्रिया से आपको अवगत कराया जाएगा।

इकाई 16 में प्रजातंत्र का अर्थ बताया गया है। इस इकाई में राष्ट्रीय एकता की प्रमुख चुनौतियों जैसे क्षेत्रीयता एवं साम्प्रदायिकता के बारे में विवेचन किया जाएगा।

खण्ड V

इस खण्ड पाँच में 5 इकाइयां हँ।

इकाई 17 में राजस्थान राज्य का परिचय दिया गया है। इस इकाई में राज्य की औद्योगिक स्थिति एवं मिट्टियां, जलवायु वन आदि के बारे में संक्षिप्त जानकारी दी गई है।

इकाई 18 में जनांकीकी के बारे में चर्चा की गई है। भारत की जनसंख्या की संरचना एवं इसकी प्रमुख विशेषताओं के बारे में विवेचन किया गया है।

इकाई 19 पर्यावरण एवं प्रदूषण क्री जानकारी प्रदान करती है। इस इकाई में पर्यावरण का अर्थ एवं विभिन्न प्रकार के प्रदूषण जैसे ध्वनि, वायु नाभकीय, प्रदूषण एवं इनके नियंत्रण के उपायों की जानकारी दी जाएगी।

इकाई 20 की विषय वस्तु भारत में सूचना प्रौद्योगिकी एवं शिक्षा का विकास है। इस इकाई में दूरस्थ शिक्षा के विकास एवं भविष्य के बारे में विवेचन किया गया है।

इकाई 21 में विकलांगता की अवधारणा, प्रकार एवं राज्य की भूमिका की चर्चा की गई है। इस इकाई में विकलांगों के बारे में विवेचन किया गया है।

इकाई -01

सामाजिक विज्ञान अर्थ, क्षेत्र एवं प्रकृति

Meaning, Nature and Scope of Social Science

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 विज्ञान का कार्य

1.2.1 विज्ञान पद्धति के रूप में

1.2.2 विज्ञान विचार धारा के रूप में

1.2.3 विज्ञान की विशेषताएं

1.3 सामाजिक विज्ञान

1.3.1 सामाजिक विज्ञान की आवश्यकता

1.3.2 सामाजिक विज्ञान का अर्थ

1.4 सामाजिक विज्ञान की प्रकृति

1.4.1 सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञान में अन्तर

1.4.2 सामाजिक विज्ञान विशुद्ध विज्ञान के रूप में

1.4.3 सामाजिक विज्ञान विशुद्ध विज्ञान नहीं हैं

1.4.4 सामाजिक विज्ञान मानव विज्ञान है

1.5 सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र

1.6 सामाजिक विज्ञान में पारस्परिक सम्बन्ध

1.7 सामाजिक विज्ञान का समन्वय

1.8 सामाजिक विज्ञान की अध्ययन पद्धतियों

1.9 सामाजिक विज्ञान की सीमाएं

1.10 सारांश

1.11 शब्दावली

1.12 सन्दर्भ ग्रंथ

1.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि:

- विज्ञान से हमारा क्या अभिप्राय है?
- सामाजिक विज्ञान किसे कहते हैं एवं इसके अध्ययन की क्या आवश्यकता है?

- सामाजिक एवं विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों में क्या अन्तर है, एवं क्या सामाजिक विज्ञान विशुद्ध विज्ञान है?
- सामाजिक विज्ञान में आपसी सम्बन्ध एवं समन्वय कैसा है ।
- इसके अध्ययन की क्या सीमाएं हैं?

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

मानव प्रारम्भ से ही समाज में रहता आया है । क्योंकि मूलत: वह सामाजिक प्राणी है प्रारम्भ में मानव प्रवृति के निकट रहा । प्रवृति के सामीप्य ने उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न की । परिणाम स्वरूप उसने प्राकृतिक घटनाओं का अवलोकन किया और ज्ञान की वृद्धि की । इसी ज्ञान के सहारे कई प्राकृतिक विज्ञानों का विकास हुआ जैसे भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, भूविज्ञान, जीवविज्ञान आदि । इन प्राकृतिक विज्ञान के विकास के बाद सामाजिक विचारकों का ध्यान सामाजिक ज्ञान की तरफ आकर्षित हुआ । सामाजिक विचारकों ने राजनैतिक विज्ञान अर्थशास्त्र समाजशास्त्र जैसे विषयों का विकास किया ।

जैसे-जैसे ज्ञान और विज्ञान का विकास होता गया बुद्धिजीवी मानव ने उसी क्रम में समाज के ज्ञान को भी परिभाषित करने का प्रयास किया । ज्ञान और विज्ञान के विकास का क्रम कई अवस्थाओं से होकर गुजरा, इनमें प्रमुख धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं तार्किक अवस्थाएं है।

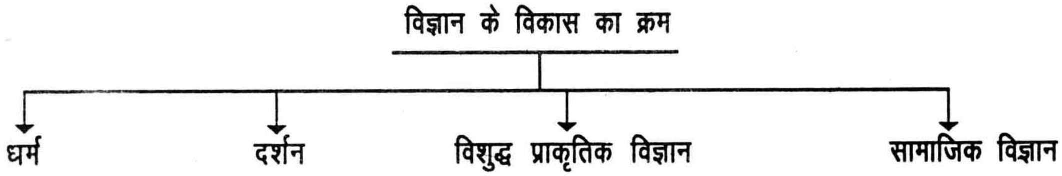

तार्किक अवस्था में आते ही प्राकृतिक और तत्पश्चात् सामाजिक विज्ञान का विकास हुआ अर्थात् प्रारम्भ में मानव ने घटनाओं का विश्लेषण धार्मिक आधार पर किया । धीरे-धीरे घटनाओं को दार्शनिक आधार दिया । मानसिक परिपक्वता और ज्ञान के विकास के साथ-साथ घटनाओं को क्यों, कैसे, क्या के आधार पर रखना शुरू किया । अर्थात् प्राकृतिक घटनाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हुआ । धीरे-धीरे सामाजिक घटनाओं का भी वैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हुआ । हालांकि आधुनिक ज्ञान के संदर्भ में विकास के यह चारों क्रम महत्वपूर्ण हैं।

1.2 विज्ञान का अर्थ. (Meaning of Science)

विज्ञान का संबंध व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ज्ञान के संचय से है बशर्ते इस ज्ञान का संकलन. संचय वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से हो । हालांकि ज्ञान की विविधता और जटिलता के कारण यह संभव नही है कि मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करे । वैज्ञानिक ज्ञान को प्राप्त करने की प्रमुखत: दो शाखाएं है- प्रथम शाखा विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञान एक द्वितीय, सामाजिक विज्ञान से संबंधित है ।

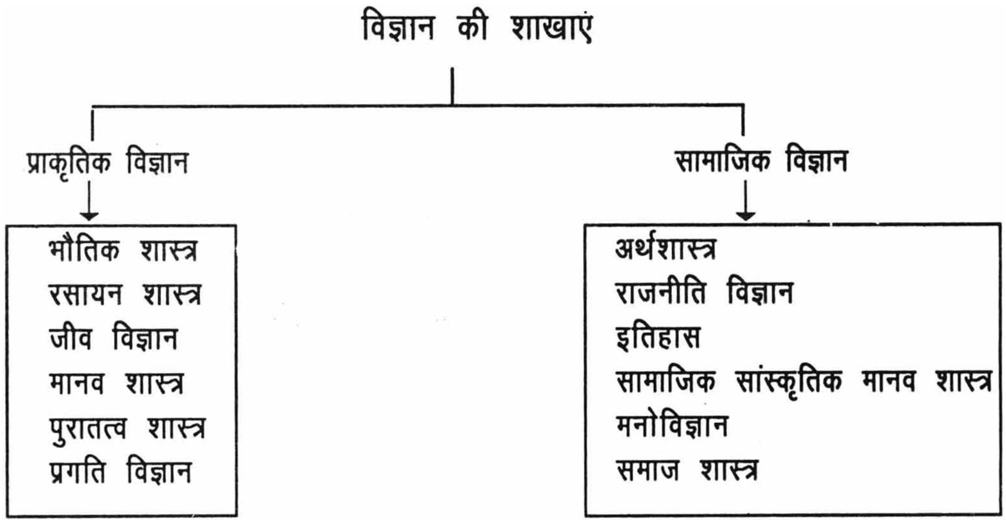

इन दोनों विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में इसलिये रखा जाता है क्योंकि दोनों के ज्ञान संकलन का आधार वैज्ञानिक पद्धति है । हम इनकी विस्तृत व्याख्या के पहले विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति की व्याख्या करेंगे । विज्ञान को दो रूपों में रखा जा सकता है:

- विज्ञान पद्धति के रूप में
- विज्ञान विचार धारा के रूप में

1.2.1 विज्ञान पद्धति के रुप में

प्राकृतिक और मानवीय दोनों ही विज्ञानों के अध्ययन का आधार वैज्ञानिक पद्धति है । इस वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न चरण होते हैं । इन चरणों में निम्न उल्लेखनीय है -

- वैज्ञानिक पद्धति के चरण
- समस्या का विश्लेषण
- उपकल्पनाओं का निर्माण
- अवलोकन एवं प्रयोगीकरण
- तथ्य संकलन
- तथ्यों का वर्गीकरण
- तथ्यों का विश्लेषण
- सामान्यीकरण
- सिद्धान्त निरूपण

1.2.2 विज्ञान एक विचार धारा के रूप में

1. घटनाओं की व्याख्या तार्किकता के आधार पर
2. घटनाओं की व्याख्या व्यवस्थित आधार पर
3. प्रत्यक्षवाद
4. प्रत्यक्षवाद की विशेषताएं
   (i) कार्य कारण की व्याख्या

(ii) अध्ययन वस्तु तथा अध्ययनकर्ता में अन्तर

(iii) इंद्रियों द्वारा अनुभव योग्य

सामाजिक विज्ञान की अन्त वस्तु निश्चित रूप से प्राथमिक विज्ञानों से अलग होती है परन्तु वैज्ञानिक पद्धति ही उनके अध्ययन को विज्ञान बनाती है । सामाजिक विज्ञान की प्रकृति विचारधारा और पद्धति दोनों ही आधारों पर वैज्ञानिक है परन्तु प्रकृति को स्पष्ट करने से पहले हम विज्ञान की विशेषताओं की चर्चा करेगे । जिससे हम यह ज्ञात कर पायेगें कि सामाजिक विज्ञान की प्रकृति क्या है?

1.2.3 विज्ञान की विशेषताएं

राबर्ट ड्युबिन ने विज्ञान की कुछ प्रमुख विशेषताओं की चर्चा की है जो लगभग सभी सामाजिक विज्ञान स्वीकार करते हैं ।

1. प्रकृति की समरूपता (Uniformity of Nature) -समान परिस्थिति में समान प्रघटना घटित होगी ।
2. सत्य की वस्तुपरकता (Objectivity of Truth) - व्यक्ति की भावनाओं से प्रघटनाओं का यथार्थ प्रभावित नहीं होता है ।
3. आनुभाविक तथ्य (Empirical Fact) - ज्ञान का संचय पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव पर आधारित होना चाहिए ना कि कल्पना अथवा विचारों पर ।

जोवर्ग एवं केटे ने भी विज्ञान की चार मूलभूत विशिष्टताओं को स्पष्ट करने के लिए चार प्रमुख मान्यताएं बताई है:

1. व्यवस्थित ज्ञान - विश्व की घटनाओं में निश्चित क्रम होना ।
2. ज्ञान का संचय - ज्ञान का संचय होता रहता है इसलिए कोई भी सिद्धान्त अंतिम नहीं है।
3. प्रयोगात्मक - अनुभव और प्रयोगों पर आधारित
4. कार्य कारण - इन दोनों के संबंध के कारण ही घटनाएं जन्म लेती है ।

विभिन्न विचारकों द्वारा प्रतिपादि विज्ञान की विशेषताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित सिद्धान्तों की निम्न विशेषताएं होती है।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों की विशेषताएं

1. सार्वभौमिकता - यह सार्वभौमिक सत्य को स्थापित करते हैं अर्थात् देश काल की सीमा से दूर होते हैं।
2. नैतिक तटस्थता - यह कर्म वस्तुनिष्ठ (objective) होते हैं और व्यक्ति के मूल्यों पसन्द नापसन्द और व्यक्तिगत बातों से प्रभावित नहीं होते ।
3. कार्य कारण का संबंध- तथ्यों में क्रम और कार्य कारण का सम्बन्ध होता है अर्थात् बिना कारण के कोई घटना नही घटती ।
4. भविष्यवाणी- इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता होती है। कौनसी परिस्थितियों में कौनसी घटनाएं घटेगी । विज्ञान में यह सब बताने की क्षमता हैं।
5. परीक्षण- विज्ञान के सिद्धांतों का पुन: प्रभावीकरण पद परीक्षण सम्भव हैं।

विज्ञान के संदर्भ में हम सामाजिक विज्ञान के कार्य और प्रकृति की विवेचना करेंगे परन्तु इससे पूर्व हम संक्षिप्त में सामाजिक विज्ञानों की आवश्यकता पर दृष्टि डालेंगे।

बोध प्रश्न -1

अपना उत्तर लिखने के लिये खाली स्थान का प्रयोग करें।

इकाई के अन्त में दिए गये उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1. ज्ञान एवं विज्ञान का विकास का क्रम किन मुख्य अवस्थाओं से होकर गुजरा हैं।

----

2. विज्ञान किसे कहते हैं?

----

3. वैज्ञानिक पद्धति के मुख्य चरणों को सूचीबद्ध कीजिए।

----

4. विज्ञान की विशेषताएं बताइए।

1.3 सामाजिक विज्ञान (Social Sciences)

1.3.1 सामाजिक विज्ञान की आवश्यकता

भौतिक विद्वानों ने अनुसंधान के आधार पर नये सिद्धान्तों का निरूपण किया । असंख्य आविष्कार किये । वास्तव में तकनीकी ज्ञान द्रुतगति से बढ़ता गया । ब्रह्माण्ड के रहस्यों पर विजय पायी, जिससे एक और मानव को भौतिक सुख सुविधाएं प्राप्त हुई एवं दूसरी ओर अणु बम जैसे विध्वंसकारी आविष्कारों ने उसे आशंकित किया । 18वीं और 19वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति ने स्थायी सामाजिक जीवन को परिवर्तित किया । सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ समस्याएं उत्पन्न हुई । बीसवीं सदी के दो विश्वयुद्धों ने मानव को डर और चिन्ता से आक्रमित किया । हिरोशिमा और नागासाकी पर बम विस्फोट ने भौतिक विज्ञान की प्रगति पर एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया । सामाजिक विज्ञान के विकास को परिहार्य बना दिया जिससे भौतिक और सामाजिक विज्ञान में संतुलन स्थापित हो सके तथा भौतिक विज्ञान के आविष्कार मानवीय जीवन को खुशहाल कर यही एक महत्वपूर्ण कारण है कि विश्व को सामाजिक विज्ञान की आवश्यकता हुई।

यह एक सत्य है कि भौतिक संसाधनों (जैसे लोहा, कोयला, कच्चा तेल आदि) को मानव संसाधनों (जैसे मानवीय क्षमता, प्रबुद्धता और सदगुण) की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से संगठित किया जा सकता है । परन्तु फिर भी सामाजिक विज्ञान संघों के दो रूप में पूर्ण कर सकता है ।

- मानव समाज को संगठित करना ।
- मानवीय क्षमताओं का विकास रचनात्मक कार्यो के लिए करना जिससे मानव खुशहाली पूर्ण जीवन यापन कर सके ।

जिस तरह की बीमारी का निदान और चिकित्सा एक डाक्टर ही कर सकता है उसी प्रकार समाज की व्याधि का निदान और विकास एक सामाजिक वैज्ञानिक कर सकता है । वह मानव समाज में हिंसा और तनाव के कारणों का पता करके शांति स्थापना की योजना कर सकता है ।

1.3.2 सामाजिक विज्ञान का अर्थ

सामाजिक विज्ञान को साधारणतया मानव और समाज के अध्ययन के साथ जोड़ा जाता है मानवीय सम्बन्धों के जटिल जाल तथा मानवीय संगठनों के स्वरूपों का वैज्ञानिक अध्ययन ही सामाजिक विज्ञान है । यंग और मेक ने सामाजिक विज्ञान का अर्थ, ज्ञान की उस शाखा से है जो मानवीय अन्तर्क्रिया के स्वरूपों और अन्तवस्तु का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करती है। इस दृष्टि से सामाजिक विज्ञान' का अर्थ-

- अध्ययन की इकाई मानव
- सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन
- मानव अन्तर्क्रियाओं और संबंधों का अध्ययन
- संगठनों के स्वरूपों का अध्ययन
- मानवीय समूहों, समाज, सामाजिक पर्यावरण का अध्ययन

सामाजिक विज्ञान में. सामाजिक प्रघटना का अध्ययन उतना ही सामाजिक है जितना कि भौतिक विज्ञान में गुरूत्वाकर्षण, चुम्बक, विद्युत या अन्य सिद्धान्तों का ।

1.4 सामाजिक विज्ञान की प्रकृति (Nature of Social Science)

भौतिक की तुलना में सामाजिक विज्ञान निश्चित रूप से कम विशुद्ध होते है । क्योंकि दोनों की अन्तर्वस्तु में अन्तर है । प्राकृतिक विज्ञान मूलत: प्राकृतिक वस्तुओं, प्रकृति, बेजान वस्तुओं से संबंधित होते हैं । जबकि सामाजिक विज्ञान की प्रयोगशाला स्वयं मनुष्य उसका सामाजिक परिवेश और संस्कृति है । हालांकि अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से होता है तथा वैज्ञानिक पद्धति के सब चरणों को अपनाया जाता है । फिर भी सामाजिक विज्ञान की प्रकृति निम्नाकिंत शर्तों पर निर्भर करती है ।

- ➢ निर्णय की क्षमता और आधार
- ➢ विषय का लक्ष्य
- ➢ अध्ययन पद्धति (वैज्ञानिक है या नही)
- ➢ विषय सामग्री की प्रकृति
- ➢ सिद्धान्तों के निरूपण की क्षमता
- ➢ भविष्यवाणी की क्षमता

इन तथ्यों के सकारात्मक और नकारात्मक अन्तरों के आधार पर विषय की प्रकृति का निर्णय किया जाता है । इन विभिन्न लक्षणों के आधार पर जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि विज्ञान को दो भागों में बाटा जा सकता है :

1. प्राकृतिक विज्ञान
2. सामाजिक विज्ञान

सामाजिक विज्ञान को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया जाये ।

1.4.1 प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान में अन्तर

प्राकृतिक विज्ञान	सामाजिक विज्ञान
• प्राकृतिक विज्ञान की विषय वस्तु प्राकृतिक घटनाएं	विषय वस्तु सामाजिक प्रथाएं
• प्राकृतिक वस्तुओं का अध्ययन	मानवीय समाज का अध्ययन
• इकाइयों की सजातीयता	इकाइयों की विजातीयता
• घटनाएं निरपेक्ष	घटनाएं परिस्थिति सापेक्ष
• निश्चित प्रयोगशाला	निश्चित प्रयोगशाला का अभाव
• पूर्वानुमान भविष्यवाणी	भविष्यवाणी कठिन
• निश्चित कार्य धारणा का संबंध	कार्य धारणा स्थापित करना कठिन
• तथ्य गणनात्मक	तथ्य गणनात्मक
• तथ्यों का मापन सरल	तथ्यों का मापन कठिन
• निष्पक्ष तटस्थता वस्तुपरक	तटस्थता का अभाव
• परीक्षण पुनर्परीक्षण सम्भव	पुनर्परीक्षण का असम्भव
• सामान्य एवं सार्वभौमिक सिद्धान्त	सार्वभौमिक सिद्धान्तों का अभाव

भौतिक विज्ञान की प्रकृति और क्षेत्र स्पष्ट है उनमें किसी तरह का विज्ञान नही है । सामाजिक विज्ञान की प्रकृति के सम्बन्ध में दो तरह की विचारधाराएं हैं:

1.4.2 सामाजिक विज्ञान विशुद्ध विज्ञान के रूप में

इस विचारधारा के विचारको की यह मान्यता है कि सामाजिक विज्ञान भी विशुद्ध विज्ञान की तरह वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करता है तथा सामाजिक विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखने के लिए निम्नानुसार आधार प्रस्तुत करता है:-

(i) **सामाजिक विज्ञान का आधार वैज्ञानिक पद्धति:** प्राकृतिक विज्ञान की तरह सामाजिक विज्ञान में तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण, सामान्यीकरण आदि में वैज्ञानिक पद्धति का ही प्रयोग किया जाता है । तथा वैज्ञानिक पद्धति की प्रमुख विशेषताओं, सत्यापनशीलता, वस्तुनिष्ठता का भी पालन. किया जाता हैं।

(ii) **तथ्यों के संकलन का आधार अवलोकन :** साधारणतया सामाजिक विज्ञान तथ्यों का संकलन प्रत्यक्ष अवलोकन के माध्यम से करते हैं सभी सामाजिक विज्ञान काल्पनिक या दार्शनिक विचारों को महत्व नहीं देते है ।

(iii) **तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण:** प्राकृतिक विज्ञानों की भांति सामाजिक विज्ञान भी तथ्यों का संकलन वर्गीकरण एवं विश्लेषण करके निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं ।

(iv) **नियम सार्वभौमिक:** प्राकृतिक विज्ञान की तरह सामाजिक विज्ञान के नियम भी सार्वभौमिक होते हैं अर्थात् अगर परिस्थितियां समान हो तो नियम भी विभिन्न कालों और समाजों में सही उतरते हैं ।

(v) **सिद्धान्तों को पुनःपरीक्षा संभव:** प्राकृतिक विज्ञान की तरह सामाजिक विज्ञान के सिद्धान्त की भी पुन: परीक्षा सम्भव है हालांकि प्राकृतिक विज्ञान में यह प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल है।

(vi) **कार्य धारणा का सम्बन्ध:** कार्य धारणा का सम्बन्ध किये बिना कोई विज्ञान सिद्धान्त तक नहीं पहुँच सकता है । इन धारणों की कड़ी को प्राकृतिक विज्ञान की तरह सामाजिक विज्ञान भी जोड़ने का प्रयास करते हैं ।

(vii) **भविष्यवाणी की क्षमता:** प्राकृतिक विज्ञान की तरह सामाजिक विज्ञान भी परिणामों के आधार पर घटनाओं की भविष्यवाणी करने में सक्षम होते हैं।

सामाजिक विज्ञान की प्रकृति के संबंध में विवाद रहा है कि इन विज्ञान की प्रकृति वैज्ञानिक है अथवा मानविकी । उपर्युक्त वर्णित विज्ञान की विशेषताओं के आधार पर कुछ सामाजिक वैज्ञानिक इसकी वैज्ञानिक प्रकृति पर जोर देते हैं और सामाजिक विज्ञान को भौतिक विज्ञान के समकक्ष सिद्ध करने का दाबा करते हैं । दूसरी ओर कुछ सामाजिक वैज्ञानिक इसे विज्ञान की श्रेणी में रखने में आपत्ति करते है ।

1.4.3 सामाजिक विज्ञान विशुद्ध विज्ञान नही है-

सामाजिक ज्ञान को विशुद्ध विज्ञान के समकक्ष नहीं माना जा सकता इसमें निम्नलिखित आपत्तियां हैं :

(i) सामाजिक घटनाओं की गुणात्मक प्रकृति- सामाजिक प्रघटनाओं की गुणात्मकता के कारण उनका मापन कठिन है । जबकि प्राकृतिक घटनाओं वस्तुओं को सही तरीके से नापा जा सकता है।

(ii) सामाजिक घटनाओं की गतिशील प्रकृति- सामाजिक घटनाएं नित्यप्रति बदलती रहती है। प्रथमत: सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थ को ज्यों का त्यों अध्ययन करना कठिन है । द्वितीय- कई घटनाओं की पुनरावृति नहीं होती है और यदि होती भी है तो सदियों बाद जैसे भूकम्प आदि से उत्पन्न सामाजिक घटनाएं । तृतीय- अनेक बार मानव समाज ऐसा व्यवहार नहीं करता जैसी हम कल्पना करते हैं । चतुर्थ- कई बार सामाजिक यथार्थ वस्तुपरक (बेजान वस्तुओं की तरह) ने होकर विषयपरक होती है । जिसे मानवीय परिपेक्ष्य में ही समझा जा सकता है ।

(iii) वस्तु निष्ठता का अभाव- सामाजिक विज्ञान में सामाजिक घटनाओं का अध्ययन मानव के द्वारा होता है।

- मानवमन रूचि-अरूचि से प्रभावित होता है ।
- उसके मन में मानद सुलभ ईर्ष्या, प्रेम, क्रोध आदि की भावनाएं होती है ।
- सामाजिक घटनाएं संवेदनशील होती है ।
- सामाजिक घटनाएं परिवर्तनशील होती है ।
- वस्तुनिष्ठ, प्रयोगशाला का निर्माण कठिन है ।

हालां-कि यह आपत्तियाँ सही है । सामाजिक विज्ञान प्राकृतिक समतुल्य नहीं हो सकते है परन्तु फिर भी आज सामाजिक विज्ञान ने इस प्रकार की पद्धतियों और प्रयोगशालाओं का निर्माण किया है जिनमें इन अभावों को दूर किया जा सकता है और सामाजिक अध्ययनों को वस्तुनिष्ठ बनाया जा सकता है।

(iv) भविष्यवाणी की सीमित क्षमता- यह निश्चित है कि सामाजिक विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञान की तरह भविष्यवाणी करने की क्षमता कम है और कई बार भविष्यवाणी गलत निकलती है । परन्तु ऐसा प्राकृतिक विज्ञान में भी होता है । मौसम विभाग की भविष्यवाणी अनेक बार गलत निकलती है । आधुनिक काल में ऐसी प्रविधियों का विकास हुआ है जिसने सामाजिक विज्ञान को भविष्यवाणी करने में सक्षम बनाया है ।

(v) वस्तुपरकता का अभाव- सामाजिक विज्ञान की ज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध एक आपत्ति यह है कि इनकी अध्ययन वस्तु में विषयनिष्ठता (objectivity) अथवा वस्तुपरकता का अभाव पाया जाता है।

इसका प्रमुख कारण यह है कि सामाजिक वैज्ञानिक जिन सामाजिक घटनाओं को अध्ययन करता है उनका वह भी एक अविभाज्य अंग होता है । परिणामस्वरूप उसका इन प्रघटनाओं के प्रति उसका पूर्वाग्रह अथवा पसन्द - नापसन्द भी अध्ययन को प्रभावित करता है। जिसके कारण अध्ययन पक्षपात पूर्ण होने की संभावना रहती है और उसका अध्ययन वस्तुपरक नहीं रह पाता है।

परन्तु यह इस प्रकार के आरोपों के बारे में यही कहा जा सकता है कि समाजमिती की इतनी प्रविधियों का विकास किया गया है कि अनुसंधानकर्ता की भावनाओं आदि को आसानी से नियंत्रित किया जा सकता है ।

इसी संदर्भ में फ्रांसिस बेकन (Francis Bakon) ने भी समाज विज्ञान की वैज्ञानिक अन्वेषणा की । प्रकृति को प्रभावित करने बाले पक्षपातों की चर्चा की है ।

(i) आईडोल्स ऑफ ट्राईब (Idols of Tribe) व्यक्ति जब अपनी प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं के कारण प्रभावित होकर अध्ययन करता है तो निश्चित रूप से यथार्थ पर उसका प्रभाव पड़ता है ।

(ii) आईडोल्स ऑफ केव (Idols of Cave):- यह वह धारणा है तो व्यक्ति को उसकी शिक्षा संस्कृति और सामाजिकरण की प्रक्रिया में सीखता है । यह वैज्ञानिक अध्ययन पर प्रभाव डालती है ।

(iii) आईडोल्स ऑफ मार्केट प्लेस (Idols of market place):- भाषा की अपूर्णता के कारण अवधारणाओं के विकास पर प्रभाव डालती है उनमें विकृतियां लाती है ।

(iv) आईडोल्स ऑफ थियेटर (Idols of Theatre) की स्वंय की विचारधारा अध्ययन को प्रभावित करती है ।

उपर्युक्त आपत्तियों और पक्षपातों के बावजूद भी अभी तक सभी सामाजिक, वैज्ञानिक-वैज्ञानिक पद्धति, वैज्ञानिक परिशुद्धता और प्राकृतिक विज्ञान की तरह की व्यर्थ वेषयिकता के पक्ष में थे पर अब यह प्रवृति वैज्ञानिक विशुद्धता से मानवीयता की ओर प्रवृत होने लगी है ओर मानवीय परिप्रेक्ष्य का जन्म हुआ। हम प्रस्तुत विवरण इसे विस्तार से समझेंगे:-

1.4.4 सामाजिक विज्ञान मानव विज्ञान है

आज भी प्रत्येक सामाजिक वैज्ञानिक स्वयं को प्राकृतिक वैज्ञानिक के समकक्ष लाने की कोशिश करता है परन्तु उपर्युक्त विवरण में हम वैज्ञानिक प्रकृति की आपत्तियों को देख चुके हैं। वह निराधार नहीं है । यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि वैज्ञानिक परिपेक्ष्य और मानवतावादी परिपेक्ष्य का विवाद क्यों उत्पन्न हुआ। इसके विवाद का प्रमुख कारण दोनों विज्ञानों की विषय सामग्री में अन्तर होना है । प्राकृतिक वैज्ञानिकों की विषय सामग्री जहाँ पदार्थ है वहां सामाजिक वैज्ञानिक की मूल आधारित है । मानवतावादी परिपेक्ष्य का व्यवस्थित विवेचन के लिए हम इसके अर्थ एवं विशेषताओं का विवेचन करेंगे ।

मानवतावादी परिप्रेक्ष्य मानवीय समस्याओं को अपने अध्ययन का केन्द्र मानता है । मानव हित का अध्ययन सका प्रमुख उद्देश्य होता है । सामाजिक वैज्ञानिक जो अनुसंधान करते हैं उनका लाभ किसी जाति या वर्ग विशेष तक सीमित नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण विश्व की मानव-जाति के कल्याण तथा समस्याओं के समाधान के लिये किया जाता है।

सभी मानवतावादी विचारकों में एक समानता यह मिलती है कि यह उन सभी विशेषताओं का अध्ययन करते हैं जो मानवता की व्याख्या करते है।

(i) मानविकी प्रकृति विज्ञान के विरोध में अस्तित्व में आई अत: इसे वैज्ञानिक पद्धति विरोधी पद्धति भी कहा जा सकता है ।

(ii) यह वस्तुपरक की अपेक्षा विषयपरकता पर बल देती है ।

(iii) इनका अध्ययन मूल्य वृद्धि होता है अर्थात् यह मूल्य मुक्त सामाजिक विज्ञान (value free social science) की विरोधी है ।

(iv) अनुसंधान अथवा अनुसंधान की विधियों में सरल अवधारणाओं, सरल भाषा, सरल प्रयत्न विधियों जैसे सहभागी, अवलोकन, डायरी पत्र पर अधिक जोर देती है और संख्यात्मक आँकडों को एकत्रित करने बाली विधियों जैसे अनुसूचित, प्रश्नावली का विरोध करती है अर्थात् संख्यात्मक के स्थान पर गुणात्मक प्रणाली पर जोर देती है ।

(v) समाज के साथ-साथ व्यक्ति के अध्ययन पर जोर देती है ।

(vi) शोषित वर्ग, उपेक्षित वर्ग व महिलाओं के अध्ययन के अध्ययन करके ज्ञान के सही उपयोग पर बल देता है।

(vii) ज्ञान की प्राप्ति मात्र ज्ञान अर्जन के उद्देश्य से नही बल्कि मानव कल्याण के उद्देश्य से होती है ।

(viii) सामाजिक यर्थाथ स्थिर नहीं अपितु उसका निर्माण एवं पुनर्निर्माण संभव है । और यह कार्य मानविकी प्रकृति द्वारा सम्भव है न कि वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ।

सारांश रूप से यह कहा जा सकता है कि मानवतावादी परिपेक्ष्य इस बात पर बल देता है कि ज्ञान की प्राप्ति मानव कल्याण, गरीब असहाय शोषित वर्ग के लाभ के लिए और समाज की समस्याओं के समाधान के लिए होना चाहिए ।

1.5 सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र (Scope of Social Science)

सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत है । देखा जाए तो इसे सीमाओं में बांधना मुश्किल है । प्रत्येक सामाजिक विज्ञान में अपना-अपना क्षेत्र सीमाओं में बांध रखा है । अर्थशास्त्र-आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन राजनीतिक विज्ञान-राजनीति सरकार से संबंधित क्रियाओं, इतिहास-घटनाओं के क्रमवार अध्ययन, मनोविज्ञान-तर्क अवस्था का अध्ययन तथा मानवशास्त्र में स्वयं को आदिम समाजों के अध्ययन तक सीमित कर रखा है । वास्तव में सामाजिक विज्ञान समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन निम्नलिखित रूप में करता है-(i) क्या है? (ii) क्यों है? (iii) कैसे है? (iv) क्या होगा? (v) क्या होना चाहिए? प्रथम चार वैज्ञानिक पक्ष और पॉचवा इसकी मानविकी पक्ष को स्पष्ट करता है । इस आधार पर सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र को चार भागों में बांटा जा सकता है

- प्रथम पक्ष सामाजिक घटनाओं, अंतक्रिया, संबंध, प्रक्रियाओं, समूह, संस्थाओं और मानव-समाज के वैज्ञानिक अध्ययन से संबंधित है ।
- समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं अवस्थाओं तथा उनमें होने वाले परिवर्तन से संबंधित है ।
- समाज के समस्यात्मक पक्ष को निदानात्मक पक्ष के वैज्ञानिक एवं मानविकी पद्धति से संबंधित है।
- संस्कृति का अध्ययन।

उपर्युक्त विवरण से सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के विभिन्न पक्षों का स्वरूप ज्ञात होता है परन्तु वास्तव में सभी सामाजिक विज्ञान के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु संस्कृति है परन्तु सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन कोई भी सामाजिक विज्ञान नहीं करता। संक्षेप में सामाजिक विज्ञान संस्कृति के निम्न बिन्दुओं को महत्व देता है। जिस पर क्रिग्सल डेविस ने बताया है :-,

- संस्कृति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन।
- संस्कृति के सामाजिक पक्ष का अध्ययन।
- सामाजिक संस्थाओं के सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन जैसे अर्थशास्त्री मांगपूर्ति के साथ-साथ व्यक्ति का व्यक्ति से संबंध भी अध्ययन करता है।
- संस्कृति के सूक्ष्म आन्तरिक तथा मानसिक पक्ष का अध्ययन बाह्य पक्ष की अपेक्षा अधिक करते हैं।

आगामी विवरण से सामाजिक विज्ञान के पारस्परिक संबंध का विवेचन करेंगें। कोई भी विज्ञान स्वयं में पूरा नहीं है। और आधुनिक समाज में सामाजिक वैज्ञानिक अर्न्तविषयी उपागम

(Inter disciplinary approach) को अधिक महत्व देते हैं। तभी किसी विषय का गहन और सर्वागीण अध्ययन सम्भव है।

बोध प्रश्न-2

अपना उत्तर लिखने के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

इकाई के अन्त में दिए गये उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1. सामाजिक विज्ञान किसे कहते हैं?

----

2. विज्ञान किन दो प्रमुख भागों में विभाजित किया गया है।

----

3. सामाजिक विज्ञान को किन मुख्य आधारों पर विज्ञान माना जाता है।

- ---

4. सामाजिक विज्ञानों को मानव विज्ञान क्यों कहते हैं?

1.6 सामाजिक विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध (Relationship among Social Science)

सामाजिक विज्ञान के पारस्परिक संबन्धों को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक सामाजिक विज्ञान को अलग-अलग जानें। उसकी अन्तर्वस्तु क्या है अर्थात् वह किस विषय पर केन्द्रित है? तथा अपने अध्ययन में किस पद्धति का प्रयोग करता है । तत्पश्चात् इन विज्ञानों के आदान प्रदान को देखें। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान के परिचय में प्रकृति तथा अन्तर्वस्तु एवं अध्ययन पद्धति दो बातों पर करेगें। सर्वप्रथम इतिहास का विवेचन करेगें।

इतिहास की प्रकृति एवं अन्तर्वस्तु एवं सामाजिक विज्ञान

- ऐतिहासिक घटनाओं के कारणों एवं विकास का अध्ययन।
- प्रत्येक घटना का विशिष्ट एवं सूक्ष्म अध्ययन।
- घटनाओं के समय क्रम का अध्ययन।
- केवल मात्र घटनाओं के क्रम का अध्ययन नहीं।

इतिहास को अध्ययन पद्धति एवं सामाजिक विज्ञान

- यथार्थवादी
- वैज्ञानिक
- सूक्ष्म स्तरीय

राजनीति विज्ञान प्रकृति एवं अन्तर्वस्तु

राजनैतिक रूप से संगठित समाजों का अध्ययन

- राजनैतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन
- व्यक्ति का अध्ययन राजनैतिक परिपेक्ष्य में
- राज्य सरकार, शक्ति तथा सत्ता के स्वरूप का अध्ययन राजनीति विज्ञान की अध्ययन पद्धति यह एक विशिष्ट वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करता है।
- अध्ययन पद्धति प्रमुखत: ऐतिहासिक, दार्शनिक, संख्या तक और तुलनात्मक उपागम का प्रयोग करता है।
- यह बहुत पुराना सामाजिक विज्ञान है, जो प्लेटो और सिसरो के काल से प्रारम्भ हुआ।

अर्थशास्त्र कीं प्रकृति एवं अन्तर्वस्तु

- आर्थिक प्रक्रियाओं अथवा आर्थिक व्यवहारों का अध्ययन।
- वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन, वितरण विनिमय उपभोग का अध्ययन।
- यह यथार्थवादी है कल्पना का सहारा नहीं लेता।

अर्थशास्त्र की अध्ययन पद्धति

- गणनात्मक ऑकडों पर आधारित
- सांख्यिकी और गणित का प्रयोग
- निश्चित और सीमाओं से बंधी
- तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग

मानवशास्त्र की प्रकृति एवं अन्तर्वस्तु

- मुख्यत: आदिम और सरल समाजों का अध्ययन।
- मानव और उसके कार्य का अध्ययन।
- आदिम और आधुनिक समाजों की तुलना।
  इसके अन्तर्गत शारीरिक, सामाजिक सांस्कृतिक मानवशास्त्र की शरण मे आती है। मानव और उसकी संस्थाओं के आदिमरूप का अध्ययन।

मानवशास्त्र की अध्ययन पद्धति

- शारीरिक मानवशास्त्र की पद्धति विशुद्ध वैज्ञानिक है।
- सामाजिक-सांस्कृतिक मानवशास्त्र प्रत्यक्ष एवं सहभागी अवलोकन तथा साक्षात्कार पद्धति का प्रयोग करती है।
- तुलनात्मक पद्धति- सरल एवं जटिल समाजों की तुलना

सामाजिक मनोविज्ञान को प्रकृति एवं अन्तर्वस्तु

- अध्ययन की इकाई व्यक्ति।
- व्यक्ति का अध्ययन सामाजिक परिवेश में।
- व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया पर समाज का प्रभाव।
- मनोवेगों का समाज के साथ अध्ययन ।

सामाजिक मनोविज्ञान की अध्ययन पद्धति

- पद्धति वैज्ञानिक होती है ।

- मनोभावों तथा सामाजिक समस्याओं की तीव्रता को नापने के लिये विशेष विधियाँ जैसे- समाज मिति आदि'
- विधियों के दो प्रयोग ।

समाजशास्त्र का प्रकृति एवं अन्तर्वस्तु

- समाज का अध्ययन।
- सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन
- संस्थाओं और समूहों का अध्ययन

समाजशास्त्र को अध्ययन पद्धति -

- वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग।
- कार्य करण के सम्बन्ध को ज्ञात करना।
- तथ्यों के संकलन के लिए अवलोकन प्रश्नावली, साक्षात्कार प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है।
- ऐतिहासिक, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक, संघर्ष, विनिमय उपागमों का प्रयोग।
- सांख्यिकी पद्धति द्वारा तुलना।

1.7 सामाजिक विज्ञान का समन्वय(Coordination among Social Sciences)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न सामाजिक विज्ञान की पद्धति अन्तर्वस्तु तथा पद्धति अलग-अलग है और ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान का अध्ययन अलग-अलग है। परन्तु देखा जाए तो सभी सामाजिक विज्ञान का केन्द्र बिन्दु या अध्ययन बिन्दु मानव और उसका समाज है। हम विभिन्न सामाजिक विज्ञान के आदान प्रदान पर दृष्टिपात करेंगे।

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्री आर्थिक परिपेक्ष्य से अध्ययन करता है। सीमित साधनों का अनुकूलतम उपयोग कराना ही अर्थशास्त्र की विषय वस्तु है। आर्थिक क्रिया ही अर्थशास्त्र के अध्ययन की इकाई होती है। अनेक महत्वपूर्ण समस्याएं जो अर्थशास्त्र से संबंधित है अभी तक अर्थशास्त्रीय अनुसंधान का विषय नहीं बन पायी है। वस्तुओं की माँग, पूर्ति और कीमत पर प्रतिष्ठा परम्परा मूलों आदि का क्या प्रभाव पडता है? उत्पादन और प्रोत्साहन में परस्पर क्या संबंध है? इन सबका अध्ययन मनोवैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्री करने लगे हैं। शिक्षा का उत्पादन पर प्रभाव शिक्षाशास्त्री करने लगे हैं।

राजनीति विज्ञान

राजनीति विज्ञान के अध्ययन विषय शक्ति संबंध और सरकार होते है। इसका परिप्रेक्ष्य मानव की उन क्रियाओं का अध्ययन करना है जो राज्य सरकार शक्ति संरचना तथा प्रशासन से संबंधित होती है। सामाजिक अर्थशास्त्र इसके आदिम स्वरूपों का अध्ययन करता है समाजशास्त्री तो राजनैतिक व्यवहार मतदान संबंधी क्रियाओं, राजनैतिक आन्दोलनों, निर्णय की प्रक्रिया आदि का अध्ययन करता है। यहाँ राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र को इतिहास का भी सहारा लेना

पडता है। उदाहरण के लिए मतदान का व्यवहार राजनीति में एक सरकारी प्रक्रिया के रूप में समाजशास्त्र में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने बाले सामाजिक सांस्कृतिक कारणों के विश्लेषण के रूप में मनोविज्ञान में व्यक्ति विशेष के व्यवहार के रूप में अध्ययन होंगे ।

इतिहास

इतिहास का परिप्रेक्ष्य अतीत की अद्‌वितीय विशिष्ट घटनाओं का व्यक्तियों पर केन्द्रित रहता है। राजनीति विज्ञान इससे शक्ति की संरचना, शासनतंत्र जैसी घटनाओं को समझने में सहायता लेता है। जबकि मनोविज्ञान उनमें मानवीय संवेगों को ढूँढ़ने का प्रयास करता है। समाजशास्त्री की रूची विभिन्न कालों में संस्थाओं के परिवर्तन जैसे भूस्वामित्व अथवा अन्य सामाजिक संबंधों के प्रतिमानों, परिवार, विवाह जाति के स्वरूपों में रहती है। जिसके लिए उसे इतिहास का सहारा लेना पड़ता है।

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान व्यक्ति व्यवस्था का अध्ययन करता है और मानसिक प्रक्रियाओं जैसे प्रत्यक्षीकरण, संज्ञान सीखने आदि का अध्ययन करता है। इसके अन्तर्गत आन्तरिक संवेगों, अनुभवों प्रेरकों आदि का भी अध्ययन होता है। राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञान इन सब प्रक्रियाओं का प्रयोग समाज में व्यवस्थित व्यवहार को जानने के लिए करते हैं। यह सभी संवेगों आदि का अध्ययन मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र को मानव की संस्कृति और समाज को समझने में सहायक होती है।

मानवशास्त्र

मानवशास्त्र आदि समाजों की आदिम व्यवस्था का अध्ययन करता है। इतिहास इसके ऐतिहासिक क्रम की व्याख्या करता है। राजनीति इसके शक्ति संरचना प्रशासन आदि का अध्ययन करती है। समाजशास्त्र सभ्य समाजों का अध्ययन करके तुलनात्मक आदिम समाजों के विभिन्न पक्षों के साथ इसकी तुलना करता है और आदिम तथा आधुनिक समाज के विभिन्न पक्षों के तुलनात्मक पक्ष को प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट 'है कि कोई भी सामाजिक विज्ञान व्यय में पूर्ण नहीं हैं। इसमें आदान प्रदान अवश्यसम्भावी है। प्रत्येक विज्ञान का परिपेक्ष्य अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे पर निर्भर हैं।

प्रस्तुत विवरण में सामाजिक विज्ञान की अध्ययन पद्धतियों की व्याख्या करेगें। सामाजिक विज्ञान की अन्तर्वस्तु अलग होते हुए भी पद्धतियों के प्रयोग में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

1.8 सामाजिक विज्ञान कीं अध्ययन पद्धतियां (Methodology of Social Sciences)

सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन के लिए सामाजिक विज्ञान कई अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग करते है। पद्धति अध्ययन का वह माध्यम है, जिसके आधार पर आकड़े एकत्रित किए जाते हैं साक्षात्कार प्रश्नावली अवलोकन आदि। परन्तु प्रत्येक सामाजिक विज्ञान किसी उपागम के आधार पर ही समस्या का विश्लेषण करता है। इसलिए उपागम अध्ययन करने का वह

स्वरूप है जिसके आधार पर समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है। जैसे यदि विवाह का विकासवादी उपागम से अध्ययन करते हैं तो उसके ऐतिहासिक पक्ष पर ज्यादा जोर दिया जाएगा। यदि संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम होगा तो विवाह की संस्था के विभिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध समाज में उसके प्रभावों का विश्लेषण होगा। संक्षिप्त में हम निम्न पद्धतियों का विवेचन करेगें।

- तुलनात्मक पद्धति
- ऐतिहासिक पद्धति
- सांख्यिकी पद्धति
- संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति
- वैयक्तिक पद्धति

तुलनात्मक पद्धति

यह पद्धति अरस्तू के काल से ही राजनीति विज्ञान द्वारा राजनैतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए प्रयोग किया जाता है। बाद में इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञान में इसका प्रयोग किया गया। यह पद्धति विभिन्न समाजों तथा उसके सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं अन्य संगठनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है। अठारहवीं शताब्दी में ही भाषा के तुलनात्मक अध्ययन में प्रयोग किया गया था। तर्कशास्त्र में भी इसका प्रयोग बहुतायत रूप से होता है। इस पद्धति में दो तथ्यों को देखा जाता है:-

(i) दो समाजों में समानता और भिन्नता का तुलनात्मक अध्ययन

(ii) यह समानता और भिन्नता क्यों है?

ऐतिहासिक पद्धति

इस पद्धति द्वारा प्राचीन सभ्यता की संस्थाओं, घटनाओं प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इसका अध्ययन प्रमुख उद्देश्य वर्तमान सामाजिक जीवन की उत्पत्ति प्रकृति एवं कार्य-प्रणाली की ऐतिहासिक कडियों को छूना है क्योंकि यह मान्यता है कि हमारी वर्तमान परम्पराओं विश्वास मूलों आदि की जड़े प्राचीन से जुडी है। इसलिए इनका अध्ययन आवश्यक है। ऐतिहासिक पद्धति के दो रूप है:-

प्रथम : उद्विकास के जैविकीय सिद्धान्त से प्रभावित

द्वितीय : आर्थिक विवेचना के आधार पर

(i) समाज एवं इसकी विविध संस्थाओं की उत्पत्ति पर जोर देती है।

(ii) यह प्रमुखतया इतिहास की आर्थिक विवेचना करता है। ऐतिहासिक वास्तविकताओं के कार्य करण के संबंध को बनाता है। (मैक्सवबर कार्लमार्क्स और सी. राइट मिल्स)

सांख्यिकी पद्धति

इस पद्धति का प्रारम्भ 17वीं शताब्दी में ही हो गया था। इसका प्रयोग दो प्रकार से होता है:-

(i) सामाजिक समस्याओं को दर्शाने के लिए ।

(ii) इन समस्याओं की गणनात्मक व्याख्या

वास्तव में यह पद्धति वह पद्धति है जिसका प्रयोग आधुनिक युग में बहुतायत से हो रहा है। इसमे मानवीय तथ्यों को समझने के लिए गणित का प्रयोग किया जाता है।

विशेषताएं

- इसके द्वारा सामाजिक समस्याओं की वास्तविकता को सांख्यिकीय आधार पर समझा जा सकता है।
- यह पद्धति उन सामाजिक समस्याओं के लिए महत्वपूर्ण है जहाँ संख्या के आधार पर आँकडों को प्रस्तुत किया जाता है। जैसे-जन्म-मृत्यु दर, अपराध दर, तलाक की दर।
- इस विधि से आकड़ों को संकलित कर क्रम में रखा जा सकता है।
- आकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

सरंचनात्मक - प्रकार्यात्मक उपागम

इसका प्रयोग विशेषतया समाजशास्त्र में होता है। आजकल अन्य सामाजिक विज्ञान भी इसका प्रयोग कर रहें हैं। इसकी निम्न मान्यताएं है:-

सामाजिक व्यवस्था के दो भाग हैं:

संरचना : स्थिर पक्ष

प्रकार्य : गत्यात्मक पक्ष

सामाजिक व्यवस्था में निरन्तर प्रक्रिया चलती रहती है। सदस्यों की मृत्यु हो जाने के बाद भी संस्थाओं का मस्तिष्क बना रहता है। क्योंकि उनकी जगह आने वाले नये सदस्य ले लेते है। सामाजिक संरचना में व्यक्ति की परिस्थिति और भूमिका का विश्लेषण किया जाता है। सामाजिक व्यवस्था की एक इकाई दूसरी इकाई से प्रकार्यात्मक रूप से जुड़ी रहती हैं। किसी घटना का प्रभाव संगठनात्मक तथा विघटनात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है।

व्यक्तिगत पद्धति

इसका प्रयोग साधारणतया विधिशास्त्र में किया जाता है परन्तु अर लगभग सभी सामाजिक विज्ञान इस उपागम का प्रयोग करने लगे हैं। इस उपागम की निम्नलिखित विशेषताएं है:-

- इसके माध्यम से विषय का सूक्ष्म अध्ययन हो सकता है।
- इस पद्धति में? अनुसूचि, प्रश्नावली, सहभागी डायरी, द्वैतियीक आँकडों, जीवन घटनाओं आदि का सहारा लिया जाता है।
- सांख्यकार साधारणतया इस विधि को अपूर्ण बताते हैं क्योंकि इसके आधार पर सामान्यीकरण
- करना कठिन है।
- कोई भी सामाजिक वैज्ञानिक केवल मात्र एक पद्धति के आधार पर अध्ययन नहीं कर सकता बल्कि उसे बहु विधियों का प्रयोग करना ही होता है।
- आगामी विवरण में सामाजिक विज्ञान का संगठन, सीमाओं और प्रजातीय समाज में उसकी भूमिका की विवेचना करेंगे।

1.9 सामाजिक विज्ञान की सीमाएं (Limitations of Social Sciences)

सामाजिक विज्ञान को सीमाएं: सामाजिक विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की तरह अपने अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करता है अवलोकन से प्रारम्भ करते हुए सिद्धान्त निरूपण की प्रक्रिया पर समाप्त होता । पर फिर भी इनकी अपनी सीमाएं हैं। हालांकि उन सीमाओं का समय-समय पर विवेचन हो चुका है, फिर भी प्रकाश डालेंगे :-

सामाजिक विज्ञान का अध्ययन बिन्दु मानव व्यवहार है: सामाजिक विज्ञान का अध्ययन बिन्दु मनुष्य है। मनुष्य की व्यक्तिगत भावनाए, आकांक्षाएं, लक्ष्य, आवेग, संवेग एवं प्राथमिकताएं उसके व्यवहार को प्रभावित करती है।

मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाले तथ्य यह उपर्युक्त तथ्य मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं। सामाजिक संगठन को प्रभावित करने बाते तथ्य इन तथ्यों का मनुष्य के व्यवहार सामाजिक संस्थाओं और संगठन पर प्रभाव पडता है। अत: सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में इनको शामिल किया जाता है।

मानवीय व्यवहार की परिवर्तनशील प्रकृति यह तथ्य मानव व्यवहार संगठन एवं संस्थाओं को प्रभावित करते हैं। जिससे मानव व्यवहार प्रभावित और परिवर्तित होता है। इस परिवर्तनशील एवं अनिश्चित अस्थिर प्रकृति के कारण सामाजिक विज्ञान को जो विषयवस्तु प्राप्त होती है वह परिवर्तनशील होती है। इन सबके अतिरिक्त सामाजिक विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञान से बहुत कुछ भिन्न होता है जो अन्य सीमाओं को भी जोड़ता है।

भविष्यवाणी का अभाव सामाजिक विज्ञान प्राय: पूर्वानुमान तथा भविष्यवाणी का अभाव पाया जाता है।

वस्तुपरकता का अभाव सामाजिक विज्ञान में मानद का मानव द्वारा अध्ययन होता है। इसलिए प्राकृतिक विज्ञानों की तरह वस्तुपरकता नहीं पायी जाती जा सकती है।

घटनाओं के मापन का अभाव हालांकि सामाजिक विज्ञान मानव व्यवहार को नापने के लिए विभिन्न विधियों का प्रयोग करते हैं फिर भी अध्ययनकर्ता अपने मूल्यों एवं पूर्वाग्रहों से पूर्णरूप से निरपेक्ष नहीं हो पाता है। और मापन विधि को प्रभावित करते है तथा सामग्री संख्यात्मक न होकर गुणात्मक होती है जिसको मापना कठिन है।

सार्वभौमिकता का अभाव प्राकृतिक विज्ञान के विपरीत सामाजिक विज्ञान में कोई दो इकाइयां समान नहीं होती हैं इसलिए सिद्धान्त निर्माण में यथार्थ अथवा सार्वभौमिक सत्य तक पहुँचना कठिन है।

प्रयोगशाला का अभाव सामाजिक विज्ञान की प्रयोगशाला समाज ही है परन्तु प्राकृतिक विज्ञान की तरह उनमें तथ्यों पर नियंत्रण रखना कठिन है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राकृतिक विज्ञान की अपेक्षा सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में सीमाएं अधिक है हालांकि अब यह स्वीकार किया जा रहा है। कि सामाजिक विज्ञान की मानविकी प्रकृति के कारण उसमें यह सीमाएं रहेगी।

हालांकि सामाजिक वैज्ञानिक की भूमिका अनुसंधान लेखन एवं अध्यापन में महत्वपूर्ण है। सी.राइट मिल्स ने सामाजिक विज्ञान के संगठन और समन्वय के संदर्भ में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण बतायी है और इस भूमिका का पालन प्रत्येक सामाजिक वैज्ञानिक का कर्तव्य है यह निम्नलिखित है:-

संगठित शोध कार्य को प्रोत्साहन विभिन्न शाखाओं के सामाजिक वैज्ञानिक मिलकर शोध कार्य करें। संगठित लेखन एवं अध्यापन: विभिन्न सामाजिक विज्ञान लेखन एवं अध्यापन में एक दूसरे से विचारों का आदान प्रदान करें क्योकि कोई भी सामाजिक विज्ञान स्वयं में पूर्ण नहीं है। तभी हमें किसी विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

समस्याओं के समाधान के संगठित प्रयास: मिल्स का कहना है कि सामाजिक वैज्ञानिक की भूमिका लेखन और अध्यापन की है पर सबसे अधिक अहम् भूमिका समाज की समस्याओं की ओर ध्यान देने की है।

पद्धति शास्त्र का पुनर्गठन समाज कल्याण के प्रमुख विषयों का अध्ययन आधुनिक पद्धतियों से होना चाहिए। उनको सत्यता और परीक्षण को बढ़ाते रहना चाहिए। इसके लिए मापन परीक्षण पुन:परीक्षण की विधियों की जाँच होती रहेगी। ताकि मानवीय समस्याओं के सही व्यवहार को जाना जा सके और निदान किया जा सके। ऐसे अध्ययन सूक्ष्म रूप से होने चाहिए और नयी-नयी पद्धतियों का आविष्कार होना चाहिए। जिनके अध्ययन के आधार पर समस्याओं का निदान करके मानव सभ्यता को खुशहाली की तरफ ले जाया जाए।

सामाजिक कल्याण के लिए ज्ञान का अर्जन सी. राइट मिल्स और स्पेण्डर का कहना है कि हमें कहां, क्यों, कौन जैसे शब्दों से आगे जाने की आवश्यकता है। जहाज डूबने पर नौकायन पर भाषण देना ठीक नहीं है। राजनीति विज्ञान, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र, सांख्यिकी, ऐतिहासिक और पद्धतिशास्त्र संबंधी अध्ययनों को बढ़ावा देना चाहिए। पर इन सबका उद्देश्य मानव कल्याण के लिए होना चाहिए।

कोष्ठीकरण सभी सामाजिक विज्ञान को मिलजुल कर अपने ज्ञान का आदान प्रदान करना चाहिए जैसा कि राधाकमल मुखर्जी ने सामाजिक विज्ञान के कोष्ठीकरण की आलोचना की अपनी रचनाओं में इन्होंने अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र तीनों को एक साथ प्रस्तुत किया

1.10 सारांश (Summary)

सारांश रूप से यह कहा जा सकता है कि कोई भी सामाजिक विज्ञान स्वयं में पूर्ण नहीं है। इनका आपस में आदान प्रदान होना चाहिए। अन्त में हम सामाजिक वैज्ञानिक की भूमिका की संक्षिप्त चर्चा करेगें।

सामाजिक वैज्ञानिक की भूमिका प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न पक्षों के इस तकनीकी युग में सामाजिक वैज्ञानिक की क्या भूमिका होनी चाहिए। समाज भौतिक सुख सुविधाओं और तकनीकी ज्ञान विज्ञान के आगे से आगे बड़ रहा है। पर इस सब के परिणाम स्वरूप मानवीय समस्याएं बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में सामाजिक वैज्ञानिक की भूमिका महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह भूमिका ऑलसन के अनुरूप निम्न है:

अनुसंधान कर्ता के रूप में समाज और संस्कृति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन।

निदान कर्ता के रुप में समस्याओं के कारणों और परिणामों का अध्ययन करके समाधान प्रस्तुत करना।

नियोजन कर्ता के रुप में समाज के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए योजनाओं का निर्धारण करना ।

इन भूमिकाओं के बावजूद भि समाज वैज्ञानिक समाज के मूल्यों और उद्देश्यों का चयनकर्ता नहीं होता। समाज के नागरिक होने के कारण वह इसमें अपनी भागीदारी निभा सकता है। ऑलसन के अनुसार सामाजिक वैज्ञानिक समाज का शिल्पकार हो सकता है। 'अपने अनुसंधान के आधार पर आने वाले खतरों से समाज को आगाह कर सकता है।

1.11 शब्दावली (Keywords)

सामाजिक विज्ञान	- Social Sciences
प्राकृतिक विज्ञान	- Natural Sciences
वैज्ञानिक पद्धति	- Scientific Methods
कार्यकारण सम्बन्ध	- Cause effect Relationship
वस्तुनिष्ठ/वस्तुपरकता	- Objectivity

1.12 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

1. राबर्ट ड्यूबिन : थ्योरी बिल्डिंग पेज 128
2. दी प्रोसेस ऑफ सोशल आर्गनाइजेशन ऑलसन पेज 348-349
3. के. डेविस- ह्यूमन सोसायटी पेज 1-7
4. सी. राइट मिल्स न्यू सोशियोलॉजी पेज 60-63
5. सी. राइट मिल्स न्यू सोशियोलॉजी पेज 60-63
6. आर.के. मुखर्जी फिलास्फी ऑफ सोशल साइंस
7. ऑल्सन- दी प्रोसेस आफ सोशल आर्गनाइजेशन पेज 348-349

1.13 बोध प्रश्नों के उत्तर (Answer to Self Assessment Questions)

बोध प्रश्न 1

1. ज्ञान एवं विज्ञान का विकास निम्नांकित बार अवस्थाओं से होकर गुजरता है।
   1.धार्मिक 2. आध्यात्मिक 3. दार्शनिक 4. तार्किक
2. विज्ञान का अर्थ व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ज्ञान के संचय से है।.
3. देखें 1.2.1 4. देखें 1.2.3

बोध प्रश्न 2

1. सामाजिक विज्ञान वह विज्ञान है जो मानद एवं समाज का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करती है।
2. प्राकृतिक विज्ञान सामाजिक विज्ञान
3. देखें 1.4.2

4. मानवतावादी परिपेक्ष्य व मानव कल्याण का उद्देश्य होने के कारण सामाजिक विज्ञानों को मानव विज्ञान की संज्ञा दी जाती है।

इकाई-2

समाजशास्त्रीय अवधारणाएं (Sociological Concepts)

इकाई की रुपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 समाज
 2.2.1 समाज का अर्थ एवं परिभाषा
 2.2.2 समाज की विशेषताएं
 2.2.3 समाज के प्रकार
2.3 संस्कृति
 3.3.1 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा
 3.3.2 संस्कृति की विशेषताएं
 2.3.3 संस्कृति के अंग
2.4 सामाजिक संगठन
 2.4.1 सामाजिक संगठन का अर्थ एवं परिभाषा
 2.4.2 सामाजिक संगठन की विशेषताएं
2.5 सामाजिक संरचना
 2.5.1 सामाजिक संरचना की विशेषताएं
2.6 समाजीकरण
2.6.1 अर्थ
 2.6.2 समाजीकरण के स्तर
 2.6.3 समाजीकरण के अभिकरण
 2.6.4 समाजीकरण के सिद्धांत
2.7 सामाजिक प्रक्रिया
 2.7.1 सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार
2.8 सामाजिक समूह
 2.8.1 अर्थ
 2.8.2 सामाजिक समूह की विशेषताएं
 2.8.3 सामाजिक समूह का वर्गीकरण
 2.8.4 प्राथमिक समूह
 2.8.5 प्राथमिक समूह की विशेषताएं
 2.8.6 द्वितीयक समूह

2.9 प्रस्थिति एवं भूमिका
 2.9.1 प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषा
 2.9.2 सामाजिक प्रस्थिति के प्रकार
 2.9.3 भूमिका का अर्थ एवं परिभाषा
 2.9.4 भूमिका की विशेषताएं
2.10 सारांश
2.11 शब्दावली
2.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे कि-

- समाज किसे कहते है
- संस्कृति से क्या अभिप्राय है?
- सामाजिक संगठन सामाजिक संरचना समाजीकरण जैसी महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अवधारणाएं क्या है
- सामाजिक प्रक्रिया की क्या विशेषताएं है?
- सामाजिक समूह से हमारा क्या अभिप्राय है.? एवं
- प्रस्थिति एवं भूमिका किसे कहते हैं?

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की कुछ विशिष्ट अवधारणाएं होती है। उन अवधारणाओं के अर्थ अथवा अभिप्राय को समझना भी आवश्यक है। समाजशास्त्र की भी कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाएं है जैसे- समाज, संस्कृति, सामाजिक संगठन, सामाजिक संरचना, समाजीकरण सामाजिक प्रक्रिया. सामाजिक समूह, प्रस्थिति एवं भूमिका। इन सभी शब्दों के समाजशास्त्री विशेष अर्थ लगाते है जबकि सामान्य बोलचाल के शब्द होने के कारण व्यक्ति इनका कुछ अन्य अभिप्राय लगा सकते हैं। अत: समस्त अवधारणाओं का अर्थ एवं उनकी विशेषताओं से आपका परिचय करवाना ही इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य है। इस इकाई का हर मुख्य शीर्षक एक नवीन अवधारणा से आपका परिचय कराएगा। इस इकाई के बीच में आपको कुछ बोध प्रश्न दिए गए हैं उनका ठीक- ठीक उत्तर लिखें। इकाई के अन्त में सारांश एवं शब्दावली भी दी गई है।

2.2 समाज (Society)

समाजशास्त्र में समाज एक अति महत्वपूर्ण अवधारणा है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार के समाज में अपना जीवन व्यतीत करता है। समाज में रहकर ही बह सामाजिक प्राणी बनता है। समाज व्यक्ति को उसकी संस्कृति से परिचित करता है। समाज और व्यक्ति एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित होते हैं कि एक के बीना दूसरे की कल्पना भी असम्भव होती है। समाज केवल मनुष्यों का ही नहीं बल्कि जानवरों तक के जीवन की सत्यता है।

2.1.1 समाज का अर्थ एवं परिभाषा

समाज का अर्थ व्यक्तियों से नहीं है बल्कि उनके बीच पाए जाने बाले सम्बन्धों से हैं जिन्हें हम विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर समझ सकते है। ट्यूटर के अनुसार समाज एक अमूर्त धारणा है जो समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों की सम्पूर्णता का बोध कराती है। मैकाइवर एवं पेज कहते हैं कि समाज रीतियों एवं कार्यविधियों की अधिकार और पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों एवं उनके विभाजनों की, मानव व्यवहार के नियंत्रण एवं स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। पारसंस 'समाज को उन मानवीय संबंधों की जटिलता के रूप में परिभाषित किया है। जो साधन और साध्य के सम्बन्ध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न हुए हो, चाहे वे यथार्थ हो अथवा प्रतीकात्मक।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज का निर्माण सामाजिक संबंधों से होता है।

2.2.2 समाज को विशेषताएं

1. समाज व्यक्तियों से नहीं बल्कि सामाजिक संबंधो से बनता है और सामाजिक सम्बन्ध का कोई आकार नहीं होता है इसलिए समाज अमूर्त होता है।
2. समाज के लिए सामाजिक सम्बन्ध आवश्यक है और सामाजिक सम्बन्धों के लिए व्यक्तियों में पारस्परिक जागरूकता आवश्यक है अर्थात् समाज पारस्परिक जागरूकता पर आधारित होता है।
3. समाज में समानता और असमानता दोनो आवश्यक है अर्थात सामाजिक उद्देश्यों जैसे भोजन रक्षा, स्वास्थ्य आदि में समानता आवश्यक है लेकिन इनको प्राप्त करने के साधनों में असमानता आवश्यक है।
4. समाज में सहयोग एवं संघर्ष दोनो होते हैं इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एक दूसरे के सहयोग से ही करते हैं लेकिन अपने-अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे से संघर्ष करते हैं।
5. समाज में अन्योन्याश्रितता होती है। अर्थात व्यक्ति अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

2.2.3 समाज के प्रकार

समाज दो प्रकार के होते हैं -

1. सरल समाज ऐसे समाज जिनमें खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार आदि में बहुत अधिक भिन्नता देखने को नहीं मिलती हैं एवं जिनकी तकनीकी बहुत सरल होती है उन्हें सरल समाज कहते हैं । जैसे जनजातीय समाज।
2. जटिल समाज ऐसे समाज जिनमें खान-पान. रहन - सहन, आचार-विचार, आदि में बहुत अधिक भिन्नता होती है एवं जिनकी तकनीकी बहुत जटिल होती है उन्हे जटिल समाज कहते हैं ।

2.3 संस्कृति (Culture)

मानव समाज की सबसे बड़ी सम्पदा उसकी संस्कृति हैं मानव समाज, पशु समाज से श्रेष्ठ इसलिए माना जाता है कि उसके पास संस्कृति है जबकि पशु समाज की कोई संस्कृति नहीं होती है। प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है, जो उसकी विशेषता को प्रकट करती है। सामान्य रूप से संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है लेकिन मनुष्य में कुछ ऐसी जैविकीय विशेषताएँ भी होती हैं जो संस्कृति को बनाने में सहायक होती है जैसे मनुष्य सीधा खड़ा हो सकता है, हाथों को आसानी से घुमा सकता है, तीक्ष्ण और केन्द्रित की जाने वाली दृष्टि तथा मेधावी मस्तिष्क आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ है जिससे मनुष्य अनुभावों और आविष्कारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करता है।

2.3.1 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

संस्कृति का सामान्य अर्थ रहन-सहन. खान-पान, बोलचाल आदि से लगाया जाता है परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति के अर्थ को समझने के लिए विद्वानों ने निम्न परिभाषा दी है-टायलर के अनुसार संस्कृति वह जटिल संपूर्णता है, जिसमें ज्ञान, कला, विश्वास, नैतिकता, प्रज्ञा, कानून तथा इसी प्रकार की क्षमताओं और आदतों का समावेश होता है जिन्हें मानव समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। मैकाइवर ने बताया है कि ' संस्कृति हमारे रहने एवं सोचने के तरीके. प्रतिदिन के कार्यो कला. साहित्य, मनोरंजन धर्म में संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति हैं। हर्सकापिरस के अनुसार 'मानव द्वारा निर्मित पर्यावरण ही संस्कृति है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कह सकते है कि संस्कृति भौतिक और अभौतिक तत्वों का जटिल समग्र है जिसे व्यक्ति समाज का सदस्य होने के कारण प्राप्त करता है।

2.3.2 संस्कृति को विशेषताएं

1. संस्कृति व्यक्ति को जन्म से नहीं मिलती है बल्कि यह सीखा गया व्यवहार है।
2. संस्कृति का निर्माण मानव द्वारा होता हैं।
3. संस्कृति हस्तान्तरित होती है क्योंकि यह सीखा हुआ व्यवहार है जिसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है।
4. प्रत्येक समाज की संस्कृति भिन्न होती है।
5. संस्कृति समाज की देन है क्योंकि सम्पूर्ण समूह के व्यवहारों से मिलकर ही संस्कृति निर्मित होती है इसलिए इसमें सामाजिकता का गुण होता है।
6. संस्कृति में आदर्श. नियम एवं विचार शामिल होते हैं इसलिए यह समूह का आदर्श होती है।
7. संस्कृति में समय, भौगोलिक परिस्थितियों और पर्यावरण के अनुसार अपने को डालने की क्षमता होने के कारण संस्कृति में अनुकूलन का गुण होता है।
8. संस्कृति आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

9. संस्कृति का निर्माण किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा न होकर सम्पूर्ण समूह द्वारा होता है। इसलिए यह व्यक्ति से ऊपर होती है अर्थात् संस्कृति अधि-वैयक्तिक है।

10. संस्कृति का निर्माण मानव में पाई जाने वाली विशिष्ट जैविकीय विशेषताओं (सीधा खडा होना, हाथों को आसानी से घुमाना, मेधावी मस्तिष्क आदि) के कारण हुआ इसलिए संस्कृति अधिसावयवी है।

2.3.3 संस्कृति के अंग

सांस्कृतिक तत्व – सांस्कृतिक तत्व संस्कृति की सबसे छोटी इकाई होती है जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता है।

संस्कृति संकुल – जब सांस्कृतिक तल किसी व्यवस्थित क्रम में रहकर मानव के लिए उपयोगी होते हैं और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते है तो उसे संस्कृति संकुल कहते है।

सम्मति प्रतिमान – सांस्कृतिक प्रतिमान संस्कृति के अनेक तत्वों से मिलकर बनने वाले बड़े-बड़े और महत्वपूर्ण अंगों को कहते हैं जो परस्पर सम्बद्ध होते हैं।

बोध प्रश्न 1

अपना उत्तर लिखने के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

इकाई के अन्त में दिए गये उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें

1. समाज से आपका क्या अभिप्राय हैं?

-------- --

2. समाज के दो प्रकार कौन -कौन से हैं

(i) ---

(ii)---

3. संस्कृति का अर्थ बताइए।

----

4. संस्कृति संकुल किसे कहते हैं।

2.4 सामाजिक संगठन (Social Organisation)

समाज में विभिन्न प्रकार की इकाइयाँ होती हैं इन सभी इकाइयों के अलग-अलग कार्य होते है, लेकिन इकाइयों के बीच एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध पाया जाता है। सभी इकाइयाँ कार्यो के आधार पर अवस्थित होकर एक सामाजिक ढाँचे का निर्माण करती हैं इसे ही सामाजिक

संगठन कहा जाता है। संगठन केवल समाज में ही नहीं बल्कि शरीर रचना का भी एक संगठन होता है। संगठन के बिना कोई समाज ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता है।

2.4.1 सामाजिक संगठन का अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक संगठन से आशय किसी समूह के विभिन्न अंगों की पारस्परिक निर्भरता से है। इलियर और मैरिल के अनुसार "सामाजिक संगठन वह दशा है, जिसमें किसी समाज की विभिन्न संस्थाएँ मान्य और पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार कार्य कर रही हो।" आगबर्न एवं निमकॉफ ने कहा है कि संगठन विभिन्न अंगों जिनके विविध कार्य की एक सम्बद्धता है। किसी कार्य को करने का यह एक प्रभावशाली सामूहिक तरीका है। "जोन्स ने बताया है कि सामाजिक संगठन वह अवस्था है जिसके द्वारा समाज के विभिन्न अंग आपस में और सम्पूर्ण समाज से अर्थपूर्ण रूप से सम्बन्धित रहते हैं ।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है होता है कि सामाजिक संगठन वह स्थिति है जिसमें समाज के विभिन्न भाग अपने सामाजिक मूल्यों के अनुसार मान्य एवं पूर्व निर्धारित कार्यो को करके एक समय विशेष की प्रमुख आवश्यकताओं को पूरा करते रहते हैं।

2.4.2 सामाजिक संगठन की विशेषताएं

1. सामाजिक संगठन एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है वरन कई इकाइयों से मिलकर बनता है।
2. सामाजिक संगठन में सभी इकाइयों कोई न कोई कार्य अदृश्य करती है अर्थात् संगठन का निर्माण करने वाली इकाइयों के बीच में प्रकार्यात्मक एकता होती है।
3. सामाजिक संगठन एक विशेष संस्कृति से सम्बद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक समाज की अलग-अलग संस्कृति होती है।
4. सामाजिक संगठन स्थिर न होकर परिवर्तित होता रहता है।
5. सामाजिक संगठन की स्थापना विचारपूर्वक की जाती है।
6. सामाजिक संगठन का निर्माण करने वाली इकाइयों में नियमबद्धता एवं क्रमबद्धता होने से ही सामाजिक संगठन बनता है।

2.5 सामाजिक संरचना (Social Structure)

समाजशास्त्र में हर्बर्ट स्पेंसर ने संरचना का सर्वप्रथम प्रयोग किया। सामाजिक संरचना द्वारा किसी समाज के बाहरी स्वरूप को समझा जा सकता है। इसका निर्माण कई इकाइयों से मिलकर होता है लेकिन संरचना का निर्माण अव्यवस्थित तरीके से न होकर इकाइयों की क्रमबद्धता से होता है। सामाजिक संरचना की व्याख्या दुर्खीम, रेडक्लिफ ब्राउन, नैडेल मर्टन, कार्ल मानहीम पारसंस आदि समाजशास्त्रियों ने की है।

कार्ल मानहीम ने बताया है कि "सामाजिक संरचना परस्पर क्रिया करती हुई उन सामाजिक शक्तियों का जाल है, जिससे अवलोकन और चिंतन की विभिन्न प्रणालियों का जन्म होता है।" गिन्सबर्ग के अनुसार सामाजिक संरचना का सम्बंध सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात समूहों, समितियों और संस्थाओं तथा इन सबके संकुल से है। नैडेल कहते हे कि

सामाजिक संरचना अनेक अंगों की एक अवस्थित क्रमबद्धता है। यह तुलनातक रूप से यद्यपि स्थिर होती है लेकिन इसका निर्माण करने वाले अंग स्वयं परिवर्तनशील होते है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कह सकते हैं कि सामाजिक संरचना अनेक समितियों संस्थानों, समूहों, परिस्थितियों एवं उनके अनुसार क्रमों की क्रमबद्ध रचना है।

2.5.1 सामाजिक संरचना की विशेषताएं

1. सामाजिक संरचना समाज के बाहरी स्वरूप को निर्दिष्ट करती है।
2. सामाजिक संरचना स्थायी होती है।
3. सामाजिक संरचना अमूर्त होती है
4. सामाजिक संरचना व्यवस्था न होकर एक क्रमबद्धता है।
5. सामाजिक संरचना का निर्माण अनेक छोटी बड़ी इकाइयों से होने के कारण यह एक अखण्ड व्यवस्था नहीं हैं।
6. सामाजिक संरचना किसी क्षेत्र विशेष से प्रभावित होती है।
7. सामाजिक संरचना के निर्माण में सामाजिक प्रक्रियाएँ भी महत्वपूर्ण होती है।
8. सामाजिक संरचना में केवल संगठन ही नहीं बल्कि विघटन के तत्वों का भी समावेश होता है।

2.6 समाजीकरण (Socialization)

प्रत्येक शिशु जन्म के समय न तो सामाजिक होता है और न ही समाज विरोधी। इस समय वह अस्थि मांस का ढांचा मात्र होता है जो किसी भी सामाजिक गतिविधि में भाग लेने में असमर्थ होता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है उसे सामाजिक सीख के द्वारा सभी प्रकार के व्यवहार करना सिखाया जाता है जिसके परिणामस्वरूप बह जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होने लगता है। इसी प्रक्रिया को समाजीकरण का नाम दिया जाता है। संक्षिप्त में कह सकते है कि सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है।

2.6.1 अर्थ

समाजीकरण का अर्थ सामाजिक मानदण्डों को सीखने से है, जिन्हें सीखकर व्यक्ति समाज का सक्रिय सदस्य बन सके। जॉनसन कहते हैं कि समाजीकरण वह शिक्षण है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिका सम्पन्न करने के योग्य बनाता है।" ग्रीन के अनुसार समाजीकरण एक प्रक्रिया हे जिसके द्वारा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। किबालयंग कहते हैं कि समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रदेश करता है और समाज के विभिन्न समूह का सदस्य बनता है तथा जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्य और मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर समाजीकरण की निम्न विशेषताएँ प्रकट होती हैं :-

1. समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है
2. इसके द्वारा सांस्कृतिक विशेषताओं और सामाजिक मूल्यों की सीख होती है।

3. इसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक भूमिका सम्पन्न करने के योग्य बनता है।
4. समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के स्व को विकसित करती है और इसी के द्वारा इसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।
5. समाजीकरण की प्रक्रिया अनेक संस्थाओं और एजेन्सियों द्वारा सम्पन्न होती है।

2.6.2 समाजीकरण के स्तर

समाजीकरण के चार स्तर होते हैं जो इस प्रकार हैं -

1. मौखिक स्तर - जब, कोई शिशु जन्म लेता है तो बह अनेक परेशानियों को सामना करता है। इस स्तर में रोकर मुँह के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है। इस स्तर में शिशु अपनी मां एवं परिवार के सम्पर्क में होता है।
2. सोच स्तर - समाजीकरण का यह स्तर अलग-अलग समाजों में भिन्न - भिन्न आयु में प्रारम्भ होता है। इस स्तर में माँ अपने स्तर को सोच का प्रशिक्षण देते हैं। इस अवस्था में बच्चा अन्य लोगों के सम्पर्क में भी आता है। इस स्तर में बच्चे के अच्छे व बुरे कामों में अन्तर किया जाने लगता है। अच्छे काम के लिए मां उसे प्यार करती है और बुरे काम के लिए मॉ उसे डाँटती हैं। यह स्तर 1 से 3 वर्ष तक चलता है।
3. ऑडिपल स्तर - यह स्तर 4 वर्ष से प्रारम्भ होकर 12-13 वर्ष तक चलता है। इस स्तर में बच्चा परिवार का सदस्य हो जाता है। इस स्तर में बच्चा लड़के ब लड़की के शारीरिक अन्तर को समझने लगता है। इस स्तर में बालक को यह सिखाया जाता है कि वह अपने लिंग के अनुसार आचरण करे।
4. किशोरावस्था - किशोरावस्था में बालक माता-पिता के नियंत्रण से स्वतन्त्र रहना चाहता है। इस अवस्था में बालकों में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इसमें बच्चा ना तो छोटों की गिनती में आता है और न ही बडी की गिनती में।

समाजीकरण के उपर्युक्त चार स्तर मुख्य हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समाजीकरण की प्रक्रिया इसके पश्चात् समाप्त हो जाती है बल्कि समाजीकरण आजीवन चलने बाली प्रक्रिया है।

2.6.3 समाजीकरण के अभिकरण

जिन कौशलों एवं प्रविधियों के द्वारा बच्चा सामाजिक प्राणी बनता है उन्हें समाजीकरण के अभिकरण कहते हैं। समाजीकरण के अभिकरणों को दो भागों में बांटा जा सकता है -

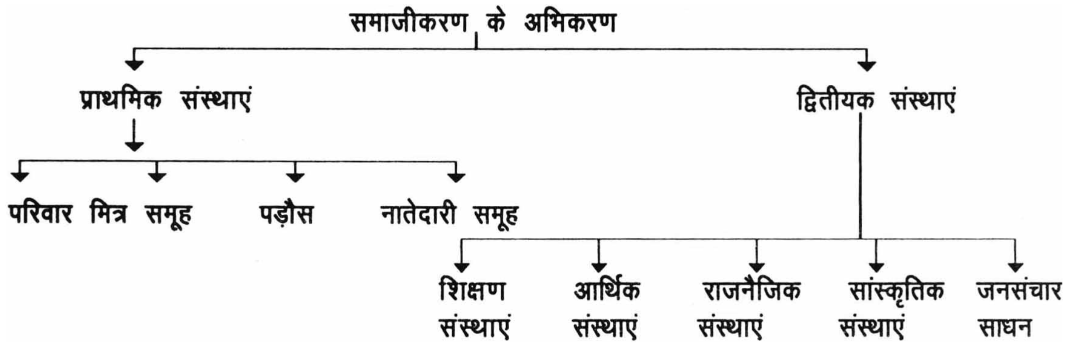

2.6.4 समाजीकरण के सिद्धान्त

फ्रायड ने अपने समाजीकरण के सिद्धान्त को इड, अहं और पराअहं के आधार समझाया है। इड का सम्बन्ध व्यक्तियों की इच्छाओं से है। अहं स्व का चेतने एवं तार्किक पक्ष है। और पराअहं सामाजिक मूल्यों आदर्शों से संबन्धित है। फ्रायड ने इड अहं ओर पराअहं के द्वारा समाजीकरण को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया है। फ्रायड ने इड की तुलना घोड़े से तथा अहं की तुलना घुड़सवार से की है। उन्होंने बताया है कि अहं घुडसवार का कार्य करता है और इड रूपी घोड़े को मार्ग दिखता है तथा पराअहं उस ट्रॉफिक ऑफिसर के समान है जो घुड़सवार द्वारा गलती करने पर उसे मार्ग दिखाता है। अत: पराअहं इड और अहं पर नियंत्रण रखता है। इस प्रकार इड और पराअहं की प्रक्रिया में संघर्ष से ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है।

कूले ने दर्पण में आत्म दर्शन के आधार पर समाजीकरण के सिद्धान्त को समझाया है। उन्होने यह बताया है कि जिस प्रकार दर्पण में देखकर अपने बारे में अनुमान लगाता है वैसे ही व्यक्ति समाज रूपी दर्पण में देखकर अपने बारे में जानना चाहता है कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं और वह अपने बारे में सोचकर मन में हीनता और श्रेष्ठता का भाव लाता है। भीड़ ने मैं' और 'मुझे' के आधार पर समाजीकरण का सिद्धान्त समझाया है। मैं का तात्पर्य दूसरे का व्यवहार का प्रत्युत्तर है तथा मुझे का अर्थ की प्रतिक्रिया है। भीड़ के अनुसार जब में मेरा बन जाता है तो व्यक्ति का समाजीकरण हो जाता है।

2.7 सामाजिक प्रक्रिया (Social Process)

प्रत्येक समाज में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं और उनसे किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करते हैं लेकिन सम्बन्धों के लिए अंतःक्रिया लडाई-झगड़ो आदि रूपों द्वारा भी होती है। इससे स्पष्ट होता है कि अंतःक्रिया के अनेक रूप होते हैं। जैसे कभी यह सहयोग व समायोजन की रूप में हो सकती है तो कभी यह संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा के रूप में हो सकती है। अंतःक्रिया के इन विभिन्न स्वरूपों को ही सामाजिक प्रक्रिया कहते है ।

अन्त:क्रिया के विविध स्वरूपों को ही सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है। गिलिन व गिलिन के अनुसार सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा आशय अंतःक्रिया करने के वे तरीके हैं जिन्हें हम व्यक्तियों व समूहों के बिच संबन्धों के समय देखते है अथवा जब परिवर्तन जीवन के प्रचलित तरीकों को अव्यवस्थित कर देते हैं तब देख सकते है।' बीसंज एवं बीसंज ने 'अन्त:क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को ही सामाजिक प्रक्रिया कहते है। 'फिक्टर ने बताया है कि सामाजिक प्रक्रिया दो स्थितियों एवं भूमिकाओं के बीच ऐसी अन्तःक्रिया है जिसके अंतर्गत दो या दो से अधिक व्यक्तियों का व्यवहार प्रभावित होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कह सकते हैं कि सामाजिक प्रक्रिया एक विशेष परिणाम या किसी प्रकार के परिवर्तन को जन्म देती है और सामाजिक जीवन में सदैव बनी रहती है।

2.7.1 सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

सामाजिक प्रक्रियाओं को सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं में बांटा जाता है।

1. **सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया -** सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग, समायोजन एवं सात्मीकरण को शामिल करते हैं।

(i) सहयोग - सहयोग एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है, बिना सहयोग के किसी समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सहयोग समाज को संगठित करता है। सहयोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरह का हो सकता है।

(ii) समायोजन - समायोजन सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। जब कभी किसी व्यक्ति या समूह में संघर्ष हो जाता है और वे संघर्ष को समाप्त करने के लिए कोई समझौता कर लेते हैं तो उसे समायोजन कहते हैं। कोई भी व्यक्ति या समूह सदैव संघर्षरत नहीं रह सकते हैं, अर्थात समायोजन परस्पर विरोधी समूहों या व्यक्तियों को सामान्य सम्बन्धों में ढालने वाली प्रक्रिया है।

(iii) सात्मीकरण - सात्मीकरण की प्रक्रिया का उद्देश्य सामूहिक हितों की पूर्ति करना है। सात्मीकरण की प्रक्रिया में दो समूहों में इस तरह साम्य स्थापित हो जाता है कि उनकी मनोवृत्तियों, भावनाओं, व्यवहारों और उद्देश्यों में कुछ अन्तर नहीं रह जाता है। यदि सामाजिक एकीकरण की दिशा का प्रथम चरण समायोजन है तो अंतिम चरण सात्मीकरण है क्योंकि संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने पर सबसे पहले समायोजन करने की कोशिश की जाती है और जब लम्बे समय तक समायोजन की प्रक्रिया चलती रहती है तो सात्मीकरण की प्रक्रिया अपने आप क्रियाशील हो जाती है।

2. **असहयोगी सामाजिक प्रक्रियाऐं -** असहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं में प्रतिस्पर्धा संघर्ष आदि को शामिल करते है।

(i) प्रतिस्पर्धा - प्रतिस्पर्धा एक असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया है। प्रतिस्पर्धा में प्रत्येक दूसरे की अपेक्षा आगे रहना चाहता है। इसमें अधिकांशत: अवैयक्तिक संबन्ध होते हैं, साथ ही ईर्ष्या, द्वेष आदि का भाव निहित होता है लेकिन संघर्ष की तरह प्रतिस्पर्धा में हिंसा नहीं होती है। प्रतिस्पर्धा समाज को प्रगति का मार्ग दिखाती है और व्यक्तियों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है।

(ii) संघर्ष - संघर्ष एक मौलिक सामाजिक प्रक्रिया है। प्रतिस्पर्धा जब हिंसक रूप धारण कर लेती है तो उसे एक संघर्ष की प्रक्रिया कहते हैं। इसमें प्रतिद्वन्दी अपने हितों को प्राप्त करने के लिए दूसरे हितों को नुकसान पहुँचाने का प्रयास करते हैं। संघर्ष समाज में इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा परिवर्तन आता है।

2.8 सामाजिक समूह (Social Groups)

मनुष्य का जीवन वास्तव में सामाजिक जीवन है। समूह में रहने की इच्छा मनुष्य की एक मूल प्रवृत्ति है। मानव की क्या बात करें पशुओं में भी समूह के बिना मानव का जीवन असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समूह का सदस्य अवश्य होता है। मनुष्य को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समूह में रहना आवश्यक है।

2.8.1 अर्थ

सामाजिक समूह कुछ व्यक्तियों का संग्रह होता है जो आपस में किसी न किसी प्रकार से घनिष्ठता का अनुभव करते हैं। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार समूह से तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे संकलन से है जो सामाजिक साधनों के कारण एक दूसरे के समीप हो। ऑगबर्न व निमकॉफ के अनुसार "जब कभी दो या अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।" स्माल के अनुसार समूह से तात्पर्य व्यक्तियों की किसी भी छोटी अथवा बड़ी इकाई से है जिनके बीच इस प्रकार के सम्बंध स्थापित हो कि उन्हें एक सम्बंध इकाई के रूप में देखा जा सके।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कह सकते है कि समूह कुछ व्यक्तियों का संग्रह होता है जिनमें किसी न किसी प्रकार के सामाजिक संबन्ध होते हैं तथा कुछ विशेष प्रतीकों के कारण पहचाने जाते है।

2.8.2 सामाजिक समूह की विशेषताएं

1. समूह का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा होता है।
2. समूह के सदस्यों का एक सामान्य उद्देश्य होता है जिसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक सदस्य अपनी कुशलता एवं योग्यता के अनुसार कार्य करते है।
3. समूह में बस्तियों का होना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उनमें सामाजिक संबन्धों का होना भी जरूरी है।
4. प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों को ध्यान में रखकर ही किसी समूह का सदस्य बनता है। अर्थात समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है।
5. किसी समूह के सदस्यों में समूहों के बने रहने के लिए एकता की भावना आवश्यक है।
6. प्रत्येक समूह की एक संरचना होती है जिसकी अपनी अपनी पहचान होती है जिसके कानून होते हैं। तथा प्रत्येक सदस्य का समूह की संरचना में एक स्थान होता है अर्थात समूह में संस्तरण पाया जाता है।

2.8.3 सामाजिक समूहों के वर्गीकरण

समूह के वर्गीकरण में सर्वाधिक मान्य वर्गीकरण चाल्स कूले का है। कूले ने 1909 में प्राथमिक समूह की अवधारणा का प्रयोग किया और बाद में इससे भिन्न विशेषता वाले समूह को विद्वानों ने द्वैतीयक समूह कहा।

2.8.4 प्राथमिक समूह

कुले के अनुसार प्राथमिक समूहो से हमारा तात्पर्य उन समूहो से है जिनमें सदस्यों के बीच आमने-सामने के घनिष्ठ संबंध एवं पारस्परिक सहयोग की विशेषता होती है ये समूह कई प्रकार से प्राथमिक होते हैं किन्तु प्रमुख रूप से इस अर्थ में कि व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शो का निर्माण करने में मौलिक है। घनिष्ठ संबन्धों का परिणाम व्यक्तियों का एक सामान्य संपूर्णता में एक प्रकार से घुल मिल जाना हैं जिसमें प्राय: कई प्रयोजनों के लिए

व्यक्ति का अहम् समूह का सामान्य जीवन व उद्देश्य बन जाता है। इस संपूर्णता को अभिव्यक्ति करने का सबसे सरल तरीका यह है कि इसे हम द्वारा सम्बोधित किया जाए क्योकि यह अपने में एक प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक एकरूपता को अपने में समाहित करता है जिसके लिए हम ही स्वभाविक अभिव्यक्ति है। "लुण्डबर्ग के अनुसार प्राथमिक समूह का तात्पर्य दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों से है जो घनिष्ठ, सहभागी और वैयक्तिक ढंग से एक दूसरे से व्यवहार करते हैं।

कूले ने प्रारम्म में परिवार, पड़ौस और क्रीड़ा समूह को प्राथमिक समूह माना।

2.8.5 प्राथमिक समूहों की विशेषताऐं

के.डेविस ने प्राथमिक समूह की बाहय और आन्तरिक दो प्रकार की विशेषता बताई है जो इस प्रकार है

प्राथमिक समूह की बाहय विशेषताएं

1. शारीरिक समीपता - डेविस ने प्राथमिक समूह के लिए शारीरिक समीपता को महत्वपूर्ण बताया है क्योकि एक साथ खाने-पीने, रहने, कार्य करने, उठने बेठने से प्राथमिक समूह के सदस्य बनने के अधिक अवसर होते है। शारीरिक समीपता से विचारों तथा भावनाओं का आदान प्रदान आसानी से हो जाता है, जिससे घनिष्ठता बढ़ती है।
2. समूह की लघुता - समूह का छोटा आकार प्राथमिक समूह की आवश्यक विशेषता है क्योंकि समूह का आकार जितना छोटा होगा उसमें घनिष्ठता उतनी ही अधिक होगी।
3. संबंधो की अवधि - डेविस ने तीसरी विशेषता संबंधो की अवधि बताई है क्योंकि संबंधो की अवधि जितनी लम्बी होगी उतनी ही उसमें घनिष्ठता बढ़ती जाएगी।

प्राथमिक समूह की आंतरिक विशेषतायें

1. उद्देश्यों की समानता- प्राथमिक समूह में समूह का उद्देश्य ही प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य होता है तथा प्रत्येक सदस्य उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। उस प्रकार उद्देश्यों की समानता प्राथमिक समूह की महत्वपूर्ण विशेषता है।
2. सम्बंध स्वयं साध्य होते है - प्राथमिक समूह में सम्बंध किसी स्वार्थ या लाभ के उद्देश्य की पूर्ति के नहीं होते है बल्कि प्राथमिक सम्बंध स्थापित करना ही प्राथमिक समूह का अन्तिम उद्देश्य होता है।
3. सम्बंध वैयक्तिक होते है - प्राथमिक समूह में सम्बंध वैयक्तिक होते हैं। उसका तात्पर्य यह है कि इसमें किसी व्यक्ति विशेष से ही सम्बंध होता है। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका स्थान कोई और नहीं ले सकता है अर्थात प्राथमिक समूह के सम्बन्ध हस्तान्तरित नहीं होते हैं।
4. सम्बंध सम्पूर्ण होते है - प्राथमिक समूह में सम्बंध सम्पूर्ण होते है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राथमिक समूह के सदस्य प्रत्येक दूसरे सदस्य के जीवन के सभी पक्षों से भली भांति परिचित होता है न कि किसी एक पक्ष से।
5. सम्बंध स्वत: होते है - प्राथमिक समूह के सम्बंध किसी लालच या डर के कारण नहीं होते है बल्कि इनका विकास अपने आप स्वत: होता है।

2.8.6 द्वैतीयक समूह

कूले ने अपनी पुस्तक (Social Organization) में प्राथमिक समूह का ही प्रयोग किया था न कि द्वैतीयक समूह का किन्तु बाद में विद्वानों ने प्राथमिक समूह के विपरीत विशेषता वाले समूह को द्वैतीयक समूहों का नाम दिया। किंग्सले डेविस ने द्वैतीयक समूहों को प्राथमिक समूह के विपरीत कहकर परिभाषित किया है। राबर्ट बीरस्टीड के अनुसार वे सभी-समूह द्वैतीयक है जो प्राथमिक नहीं है। 'लुण्डबर्ग ने बताया है कि द्वैतीयक समूह वे है जिनके सदस्यों के सम्बन्ध अवैयक्तिक, हित प्रधान एवं व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट होता है कि प्राथमिक समूह की विपरीत विशेषताओं वाले समूहों को द्वैतीयक समूह कहते है। द्वैतीयक समूह के उदाहरण में व्यवसायिक संगठन, राजनीतिक दल, मजदूर संघ राष्ट्र आदि है।

बोध प्रश्न 2

अपना उत्तर लिखने के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।

इकाई के अन्त में दिए गये उत्तरो से अपने उत्तरो का मिलान करें

1. सामाजिक संरचना का अर्थ

   ----

2. समाजीकरण की क्या विशेषताएं हैं।

   ----

3. सामाजिक प्रक्रिया किसे कहते हैं?

   ----

4. प्राथमिक समूह किसे कहते हैं।

2.9 प्रस्थिति एवं भूमिका (Status and Role)

किसी भी समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित पद होता है। यह पद या तो उसे समाज द्वारा स्वयं प्राप्त होता है या वह अपनी योग्यता के आधार पर उसे प्राप्त करता है। सामाजिक व्यवस्था बनी रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी योग्यता और कुशलता के अनुसार भिन्न-भिन्न पदों पर रहकर कार्य करें और अपने पद से सम्बन्धित कर्तव्यों को पूरा करे, जिनकी समाज द्वारा अपेक्षा की जाती है। इस प्रकार सभी समाजों में व्यक्ति की एक. प्रस्थिति और भूमिका अवश्य होती है।

2.9.1 प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषा

प्रस्थिति किसी समाज में व्यक्ति के पद का सूचक है जिसे व्यक्ति या तो स्वत: ही प्राप्त कर लेता है या अपनी कुशलता एवं योग्यता के आधार पर प्राप्त करता है। इलियर और मैरिल के अनुसार. प्रस्थिति व्यक्ति का वह पद है, जिसे व्यक्ति किसी समूह में अपने लिंग, आयु परिवार, वर्ग, व्यवसाय विवाह अथवा प्रयासों आदि के कारण प्राप्त करता है।" लिण्टन ने कहा है कि" प्रस्थिति किसी विशेष व्यवस्था में कोई व्यक्ति निर्दिष्ट समय में जो स्थान प्राप्त करता है, उस व्यवसाय के अनुसार यह उसकी प्रस्थिति की ओर संकेत करता है।" ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार"' प्रस्थिति समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि प्रस्थिति व्यक्ति के सामाजिक पद की सूचक है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि किसी भी समाज में व्यक्ति एक ही प्रस्थिति को प्राप्त करता है बल्कि वह एक ही समय में अथवा अलग-अलग अवसरों पर अनेक प्रस्थितियों को प्राप्त करता है, एवं एक व्यक्ति की प्रस्थिति सदैव दूसरे व्यक्ति की तुलना में होती है।

2.9.2 सामाजिक प्रस्थिति के प्रकार

राल्फ लिण्टन ने सामाजिक प्रस्थिति को दो भागों में विभाजित किया है-

1. प्रदत्त प्रस्थिति - जो प्रस्थिति व्यक्ति को समाज द्वारा स्वत: प्राप्त होती है तथा जिसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है, उसे प्रदत्त प्रस्थिति कहते है। प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारकों में लिंग-भेद, नातेदारी, जाति, जन्म आदि है।
2. अर्जित प्रस्थिति- जो प्रस्थिति व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रयासों से प्राप्त करता है उसे अर्जित प्रस्थिति कहते हैं। अर्जित प्रस्थिति के निर्धारकों में व्यवसाय, शिक्षा, राजनीतिक शक्ति. धन आदि हैं।

2.9.3 भूमिका का अर्थ एवं परिभाषा

भूमिका से तात्पर्य उन कार्यो से है जिनकी एक व्यक्ति से उसकी प्रस्थिति के अनुसार करने की आशा की जाती है। लिण्टन ने भूमिका को प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष बताया है। किंग्सले डेविस के अनुसार" भूमिका किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने पद की आवश्यकताओं के अनुसार की जाती है"' सार्जेन्ट ने बताया है कि किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रतिमान हैं इससे वह अपने समूह के सदस्यों की प्रत्याशाओं के अनुसार विशेष परिस्थिति में उचित समझता है। इलियट एवं मैरिल के अनुसार भूमिका वह कार्य है जिसे व्यक्ति प्रत्येक प्रस्थिति के अनुरूप निभाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भूमिका प्रस्थिति के अनुसार समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप किए गए कार्यो को ही भूमिका कहते है।

2.9.4 भूमिका की विशेषताएं

1. भूमिका का आशय ऐसे व्यवहारों की संपूर्णता से है जिसकी एक विशेष प्रस्थिति ग्रहण करने के कारण समाज द्वारा व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है।
2. प्रस्थिति की तरह भूमिका भी एकपक्षीय नहीं होती बल्कि दूसरी भूमिकाओं के संदर्भ में ही होती हैं।
3. प्रस्थिति की भांति भूमिका भी प्रदत्त और अर्जित दो प्रकार की होती है।
4. भूमिका स्थिर न होकर समयानुसार परिवर्तित होती रहती है।
5. भूमिका को निर्धारण समाज एवं संस्कृति के नियमों द्वारा होता है।
6. किसी भी व्यक्ति की समाज में अनेक भूमिकाएँ होती हैं परन्तु वह किसी एक भूमिका के कारण जाना जाता है जिसे उसकी प्रमुख भूमिका कहते हैं।

2.10 सारांश (Summary)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज एवं व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित होते है एवं दोनों एक दूसरे पर निर्भर होते हैं । समाजशास्त्र का अर्थ व्यक्तियों के बीच पाये जाने बाले सम्बन्ध से हैं। मानव समाज की सबसे बड़ी सम्पदा उसकी संस्कृति है। संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती है। संस्कृति का अर्थ सामान्य बोलचाल की भाषा में रहन-सहन, खान-पान, बोलचाल आदि से लगाया जाता है। वस्तुत: संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है जिसमें सामाजिकता का गुण होता है। संस्कृति का निर्माण किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा नही होता बल्कि सम्पूर्ण समूह मिलकर संस्कृति का निर्माण करते हैं। कई इकाईयां मिलकर सामाजिक संगठन का निर्माण करती है। सामाजिक संगठन में विभिन्न संस्थाएं मान्य एवं पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार कार्य करती है। सामाजिक संरचना परस्पर क्रिया एवं अंतःक्रिया की शक्तियों का जाल है। मानव शिशु जन्म के बाद जो कुछ सीखता है वही सीखने की क्रिया समाजीकरण है। यह क्रिया जीवन पर्यन्त चलती है। सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक अन्तःक्रिया के विभिन्न स्वरूप है। यह प्रक्रिया सहयोग अथवा असहयोग की हो सकती है। सामाजिक समूह व्यक्तियों का संग्रह है जो आपस में घनिष्ठता का अनुभव करते हैं। घनिष्ठता अधिक होने पर यह प्राथमिक समूह बनता है एवं कम होने पर द्वितीयक समूह। प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक पद होता है। पद योग्यता से अर्जित भी होता है। प्रत्येक पद या प्रस्थिति के अनुरूप व्यक्ति की भूमिका होती है। प्रस्थिति व्यक्ति के सामाजिक पद की सूचक है। भूमिका भी प्रदत्त एवं अर्जित हो सकती है एवं इसका निर्धारण सामाजिक नियमों से होता है।

2.11 शब्दावली (Keywords)

समाज	Society
संस्कृति	Culture
सामाजिक संगठन	Social Organisation
सामाजिक संरचना	Social Structure
समाजीकरण	Socialization

सामाजिक प्रक्रिया	Social Process
सामाजिक समूह	Social Groups
प्रस्थिति तथा भूमिका	Social and Role

2.12 बोध प्रश्नों के उत्तर (Answer to Self-Assessment Questions)

बोध प्रश्न 1

1. समाज का अर्थ व्यक्तियों से नहीं बल्कि उनके बीच पाये जाने वाले संबंधो से है।
2. (i) सरल समाज (ii) जटिल समाज
3. संस्कृति भौतिक एवं अभौतिक तत्वों का जटिल समग्र है; जिसमें शान, कला, विश्वास, नैतिकता, प्रज्ञा, साहित्य, मनोरंजन, धर्म आदि के रूप में व्यक्ति अभिव्यक्त करता है।
4. जब सांस्कृतिक तल उपयोगी होकर मानव आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होते हैं, तो उसे संस्कृति कहते हैं।

बोध प्रश्न 2

1. सामाजिक संरचना अनेक समितियों, संस्थाओं, समूहों, परिस्थितियों एवं उनके अनुसार कर्मों की क्रमबद्ध रचना है।
2. सामाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है। इसके द्वारा सांस्कृतिक विशेषताओं और सामाजिक मूल्यों की सीख होती है। सामाजीकरण व्यक्तित्व का निर्माण करता है।
3. अन्तःक्रिया के विविध स्वरूपों का ही सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।
4. प्राथमिक समूह उस समूह को कहते हैं जिसके सदस्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध एवं पारस्परिक सहयोग की विशेषता होती है।

इकाई-3

सामाजिक संस्थाएं (Social Institutions)

इकाई कीं रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 संयुक्त परिवार

- 3.2.1 संयुक्त परिवार की विशेषताएं
- 3.2.2 संयुक्त परिवार के प्रकार

3.2 ग्राम्य समुदाय

- 3.3.1 ग्राम्य समुदाय का अर्थ
- 3.3.3 ग्रामीण समुदाय की विशेषताएं

3.4 सामाजिक स्तरीकरण

- 3.4.1 सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा
- 3.4.2 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं
- 3.4.3 सामाजिक स्तरीकरण के आधार एवं स्वरूप
- 3.4.4 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

3.5 जाति व्यवस्था

- 3.5.1 जाति का अर्थ एवं परिभाषा
- 3.5.2 जाति के प्रकार्य

3.6 वर्ग व्यवस्था

- 3.6.1 सामाजिक वर्ग का अर्थ
- 3.6.2 सामाजिक वर्ग की विशेषता
- 3.6.3 वर्ग विभाजन के आधार
- 3.6.4 भारत में वर्ग

3.7 सारांश

3.8 शब्दावली

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.0 उद्देश्य (Objectives)

समाजशास्त्रीय विवेचन एवं भारतीय समाज के अन्तर्सम्बन्धों की सम्पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या के लिए विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के बारे में जानकारी आवश्यक है। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आपको इन संस्थाओं के अर्थ एवं विशेषताओं का ज्ञान करवाना । इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे कि:

- जान सकेंगे कि संयुक्त परिवार किसे कहते हैं एवं ऐसे परिवारों की मुख्य विशेषताएं क्या है
- ग्राम्य समुदाय का अर्थ समझ सकेंगे;
- सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को परिभाषित कर सकेंगे।
- जान सकेंगे कि सामाजिक स्तरीकरण के संघर्ष एवं प्रकार्यवादी सिद्धान्त क्या है?
- जान सकेंगे कि जाति किसे कहते हैं एवं इसके क्या प्रकार्य है।
- वर्ग व्यवस्था को परिभाषित कर सकेंगे एवं वर्ग विभाजन के आधारों को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत इकाई में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को समाजशास्त्रीय दृष्टि से समझने का प्रयास किया गया है। इनमें प्रमुख रूप से संयुक्त परिवार, ग्राम्य समुदाय, सामाजिक स्तरीकरण, जाति एवं वर्ग व्यवस्थाएं प्रमुख है। इकाई में इन सभी अवधारणाओं की प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं एवं इनके आधार पर प्रमुख विशेषताओं का बिन्दुवार विवरण दिया गया है। इकाई के अन्त में सारांश भी दिया गया है।

3.2 संयुक्त परिवार (Joint Family)

भारतीय सामाजिक जीवन की विशेषता यहाँ पाए जाने वाले संयुक्त परिवार है। भारतीय समाज में परिवार का तात्पर्य पति-पत्नी एवं उनके बच्चों से नहीं लगाया जाता है, ऐसे परिवार तो पश्चिमी समाजों में देखने को मिलते हैं। भारतीय समाज में परिवार में पति-पत्नी एवं बच्चे ही नहीं होते बल्कि दादा-दादी, चाचा-चाची, ताल-ताई आदि भी होते हैं। ये सभी पारिवारिक सदस्य एक ही मकान में रहते है, एक ही रसोई का बना भोजन करते हैं तथा सम्पत्ति में भी सभी की भागीदारी होती है। भारतीय समाज में परिवार का शाखीय स्वरूप संयुक्त ही रहा है। भारत में परिहार एक महत्वपूर्ण संस्था है। यही प्राचीन काल से अब तक संयुक्त - परिवार प्रणाली रही है, लेकिन इसके स्वरूप और संरचना में परिवर्तन आते रहे है।

संयुक्त परिवार का अर्थ एवं परिभाषा संयुक्त परिवार के अर्थ को विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर समझा जा सकता है जो इस प्रकार है- इरावती कर्वे के अनुसार 'संयुक्त परिवार व्यक्तियों का समूह है जो एक ही निवास स्थान में रहते हैं, एक ही चूल्हे का बना भोजन करते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति रखते हैं, सामान्य पूजा में भाग लेते है तथा जो आपस में किसी न किसी प्रकार से रक्त सम्बन्धी थे।" आई. पी. देसाई "उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते है जिनमें एकाकी परिवार से अधिक पीढ़ियों (तीन या अधिक) के सदस्य एक साथ रहते है तथा सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों व दायित्वों के द्वारा एक दूसरे से संबन्धित होते हैं।" जौली ने बताया है कि संयुक्त परिवार में ने केवल माता-पिता. एवं बच्चे, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं वरन् इसमें कमी-कभी कई पीढ़ियों तक की संतानें, पूर्वज तथा समान्तर सम्बन्धी भी सम्मिलित रहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार में कई पट्टियों के लोग एक साथ रहते हैं, एक ही रसोई का बना भोजन करते है, सभी सामान्य

सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, रक्त सम्बन्धी होते है तथा परस्पर कर्तव्य तथा अधिकारों से बंधे होते है।

3.2.1 संयुक्त परिवार की विशेषताएं

1. संयुक्त परिवार में तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ रहने के कारण इसका आकार बड़ा होता है।
2. संयुक्त परिवार में सभी सदस्य एक ही छत के नीचे रहते है अर्थात सामान्य निवास होता है।
3. संयुक्त परिवार में सभी सदस्य एक ही रसोई का बना भोजन करते हैं अर्थात् सामान्य रसोई घर होता है
4. संयुक्त परिवार में सम्पत्ति पर सभी का समान अधिकार होने के कारण सामान्य सम्पत्ति होती है जिस पर एक का अधिकार न होकर सम्पूर्ण परिवार का अधिकार होता है।
5. संयुक्त परिवार के सदस्य एक दूसरे के प्रति सहयोग की भावना रखते हैं। यदि वे आपस में सहयोग नहीं करेगें तो परिवार की संरचना का अस्तित्व खतरे में हो सकता है अर्थात संयुक्त परिवार का आधार सहयोग है
6. संयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर अधिकार और दायित्वों से समय होते हैं।
7. संयुक्त परिवार में कर्ता की स्थिति मुख्य होती है जिसे सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं और सभी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।
8. संयुक्त परिवार के सदस्य समान धर्म में विश्वास करते हैं तथा सभी सम्मिलित होकर एक ही स्थान पर पूजा करते हैं।
9. संयुक्त परिवार अन्य परिवारों की तुलना में स्थायी होता है।

3.2.2 संयुक्त परिवार के प्रकार

संयुक्त परिवार के निम्नलिखित प्रकार भारतीय समाज में देखने को मिलते हैं:-

1. सस्ता, वंश एवं स्थान से सम्बन्धित संयुक्त परिवार

(i) पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृ स्थानीय संयुक्त परिवार भारतीय समाज में प्राय: इस प्रकार के संयुक्त परिवार देखने को मिलते हैं जो पिता प्रधान होते हैं। ऐसे संयुक्त परिवारों में सम्पत्ति पिता से पुत्र को मिलती हैं, वंश परम्परा भी पिता के नाम के अनुसार चलती है तथा विवाह के बाद बधू वर के पिता के यही रहती है।

(ii) मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय एवं मातृस्थानीय संयुक्त परिवार

ऐसे संयुक्त परिवार भारतीय समाज में बहुत कम देखने को मिलते हैं जो माता प्रधान होते हैं। ऐसे संयुक्त परिवारों में सम्पत्ति पर माता का अधिकार होता है एवं सम्पत्ति माता से पुत्री को मिलती है, वंश परम्परा भी माता के नाम पर ही चलती है तथा विवाह के बाद पुत्री अपनी माता के पास ही रहती है। ऐसे परिवार मालाबर नामक समाज में देखने को मिलते हैं।

2. पीढ़ियों एवं दम्पत्तियों की संख्या के आधार पर संयुक्त परिवार

(i) उदग्र रूप - ऐसे संयुक्त परिवार में एक ही वंश के तीन पीढ़ियों या इससे अधिक के लोग एक साथ निवास करते हैं।

(ii) क्षैतिज रूप - ऐसे संयुक्त परिवारों में दो या दो से अधिक भाई उनकी पत्नियों एवं बच्चे साथ रहते हैं।

(iii) मिश्रित रूप - ऐसे संयुक्त परिवार उदग्र एवं क्षैतिज परिवारों का मिश्रित रूप है इनमें तीन पीढ़ियों के सभी भाई सम्मिलित रूप से निवास करते हैं।

3. सम्पत्ति पर अधिकार कीं दृष्टि से संयुक्त परिवार

(i) मिताक्षरा संयुक्त परिवार - मिताक्षरा संयुक्त परिवार बंगाल और असम के अलावा सम्पूर्ण भारत के हिन्दुओं में पाए जाते हैं। ऐसे संयुक्त परिवारों में पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का जन्म से ही अधिकार होता है तथा किसी व्यक्ति के पुत्र या पौत्र नहीं होने पर उसकी सम्पत्ति उसके भाई आपस में बांट लेते हैं। इनमें स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता है।

(ii) दायभाग संयुक्त परिवार - ऐसे संयुक्त परिवार केवल बंगाल और असम में पाए जाते हैं। ऐसे परिवारों में पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार पिता की मृत्यु के बाद होता है। इसमें पुत्र न होने पर पत्नी का सम्पत्ति पर अधिकार होता है।

भारत में प्राचीन काल से संयुक्त परिवार रह रहे हैं लेकिन वर्तमान में संयुक्त परिवार में परिवर्तन देखे जा सकते है किन्तु विद्वानों का मानना है कि संयुक्त परिवारों में संरचनात्मक दृष्टि से तो परिवर्तन आया है लेकिन अभी भी प्रकार्यात्मक दृष्टि से संयुक्त परिवारों की संख्या कम नहीं हुई है।

3.3 ग्राम्य समुदाय

मानव अपना जीवन दो प्रकार के समुदायों में व्यतीत करता है - ग्राम और नगर। गॉव में जहाँ प्राथमिक संबंधो की प्रधानता होती है, जो तकनीकी दृष्टि से कम विकसित होते हैं, जहाँ परम्परा, धर्म. रूढ़ि का महतत्व होता है और जहाँ आर्थिक सभ्यता कृषि के इर्द-गिर्द घूमती है। दूसरी ओर नगरीय समुदाय में द्वितीयक सम्बन्धों की प्रधानता होती है और जो तकनीकी दृष्टि से विकसित होते हैं। भारत में वर्तमान में भी लगभग सत्तर प्रतिशत जनसंख्या गावों में निवास करती है।

3.3.1 ग्रामीण समुदाय का अर्थ

ग्रामीण समुदाय वह समुदाय है जो अपने विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति करते हुए एक निश्चित क्षेत्र में निवास करता है जिसके सदस्यों में साथ - साथ रहने की भावना पाई जाती है और जो संस्कृति, आर्थिक तथा सभ्यता के ऐसे जाल में बन्धा होता है जो दूसरे समुदाय से भिन्न होता है। मैरिल के अनुसार "ग्रामीण समुदाय में ऐसी संस्थाओं और परिवारों का समावेश होता है जो एक छोटे से केन्द्र के चारों ओर संगठित होते हैं तथा सामान्य हितों और कार्यो में भाग लेते हैं। बोगार्डस के अनुसार ग्रामीण समुदाय प्राथमिक समूहों का ही विस्तृत रुप है।

अत: ग्रामीण समुदाय का तात्पर्य ऐसे समुदाय से है जिसमें व्यक्ति अनौपचारिक, सरल और परम्परावादी सम्बन्धों की स्थापना करते है तथा एक छोटे से केन्द्र के चारों ओर रहते हैं।

3.3.2 ग्रामीण समुदाय को विशेषताएं

पी.एन.खरे ने ग्रामीण समुदाय की निम्न विशेषताएं बताई हैं -

1. ग्रामीण समुदाय की प्रथम विशेषता भूमि है क्योंकि ग्रामीण समुदाय कृषि पर ही निर्भर होता है और कृषि के लिए भूमि आवश्यक है।
2. ग्रामीण समुदाय का प्रमुख व्यवसाय कृषि है। यद्यपि गावों में कृषि के अलावा भी कई व्यवसाय होते हैं लेकिन फिर भी कृषि का ही अधिक महत्व है।
3. ग्रामीण समुदाय में परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती है क्योंकि यहाँ रूढ़िवादिता पाई जाती है।
4. ग्रामीण समुदाय में धर्म का महत्व अधिक होता है तथा सभी काम धर्म द्वारा संचालित होते है।
5. ग्रामीण समुदाय में परम्परा और प्रथाओं का विशिष्ट स्थान होता है।
6. ग्रामीण समुदाय से सभी व्यक्ति एक दूसरे से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होते हैं।
7. ग्रामीण समुदाय में प्राथमिक संबंध पाए जाते हैं।
8. ग्रामीण समुदाय का प्रमुख व्यवसाय कृषि पर होने के कारण यह प्रकृति पर निर्भर होता है।
9. ग्रामीण समुदाय में व्यक्ति अपने जीवन से संबन्धित सभी कार्यों को बहुत करने में सक्षम होते हैं अर्थात कोई भी व्यक्ति किसी कार्य में विशेष रूप से प्रशिक्षित नहीं होता है इसलिए यही श्रम के विशेषीकरण का अभाव पाया जाता है।
10. ग्रामीण समुदाय में रहन-सहन. वेशभूषा, आचार-विचार. आदि में समानता का दर्शन होता है।

3.4 सामाजिक स्तरीकरण (Social Startification)

प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के बीच समानता ही नहीं पाई जाती है बल्कि असमानता भी देखने को मिलती है। यदि हम इतिहास उठाकर देखें तो प्रत्येक काल में हमें ऐसा कोई समाज नहीं मिलता जिसमें व्यक्तियों की सामाजिक, आर्थिक, प्रस्थिति समान रही हो। सरल समाजों में आयु लिग, व्यक्तिगत शक्ति आदि के आधार पर व्यक्तियों के बीच ऊंच-नीच का भेद सदैव रना रहा है। समाज के सदस्यों के बीच ऊंच-नीच की इस स्थिति को हम सामाजिक स्तरीकरण कहते है। सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक घटना है लेकिन प्रत्येक समाज में इसका रूप अलग-अलग होता है।

3.4.1 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक स्तरीकरण वह है जो समाज में व्यक्तियों को ऊंची-नीची प्रस्थिति के आधार पर विभक्त कर देता है। टालकंट पारसंस के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण किसी सामाजिक

व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊंचे और नीचे के कमविन्यास में विभाजन हैं। जिन्सबर्ट के अनुसार समाजिक स्तरीकरण का अर्थ समाज को कुछ स्थायी समूहों या श्रेणियों में विभक्त कर देने वाली व्यवस्था से है जो आपस में उच्चता तथा अधीनता के संबंधों द्वारा सम्बंध होते हैं। मूरे ने कहा है कि स्तरीकरण उच्चता और निरन्तर सामाजिक इकाइयों में समाज का क्षैतिज विभाजन है। '

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्च और निम्न सामाजिक इकाइयों में विभाजित करके सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखता है।

3.4.2 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं

सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताओं पर ट्यूमिन ने प्रकाश डाला है जो निम्न प्रकार है:-

1. सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक होती है क्योंकि इसका समाज कुछ व्यक्तियों से नहीं होकर सम्पूर्ण समाज से होता है। ट्यूमिन ने स्तरीकरण को इस आधार पर भी सामाजिक बताया है कि यह जैविकीय आधार पर ही स्तरीकरण को नहीं समझा जा सकता है बल्कि समाज द्वारा प्राप्त पदों व प्रस्थितियों के वितरण का स्वीकृत तरीका स्तरीकरण का आधार बनता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों को सीखता है और अनजाने में ही स्तरीकरण को स्वीकार करता जाता है।
2. सामाजिक स्तरीकरण पुरातन है अर्थात प्रचीन काल से प्रत्येक समाज में स्तरीकरण देखने को मिलता है। प्राचीन समय में प्रदत्त गुणों जैसे आयु लिंग, शारीरिक शक्ति, आदि के आधार पर स्तरीकरण होता था और वर्तमान में अर्जित प्रस्थिति के आधार पर स्तरीकरण देखने को मिलता है।
3. सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक समाज में रहा है। इतिहास के प्रत्येक काल में ऐसा कोई समाज नहीं रहा जिसमें स्तरीकरण न देखने को मिला हो।
4. स्तरीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है लेकिन इसके स्वरूप में भिन्नता हो सकती हैं। जैसे - प्राचीन समय में जैविकीय आधार पर स्तरीकरण देखने को मिलता था और वर्तमान में अर्जित मूल्यों के आधार पर स्तरीकरण देखने को मिलता है। भारत में जाति प्रथा के आधार पर स्तरीकरण होता है जबकि पश्चिमी देशों में वर्ग व्यवस्था स्तरीकरण का आधार है।
5. सामाजिक स्तरीकरण परिणामिक होते हैं क्योंकि इससे समाज में असमानता होती है।

3.4.3 सामाजिक स्तरीकरण के आधार एवं स्वरूप:

टालकंट पारसंस ने प्रस्थिति निर्धारण के कुछ कारक बताए हैं जो स्तरीकरण को भी निर्धारित करते हैं। ये निम्न हैं -

1. नातेदारी समूह की सदस्यता
2. अर्जित उपलब्धियाँ

3. व्यक्तिगत विशेषताएं
4. प्रव्यजात
5. सस्ता
6. शक्ति

स्तरीकरण के आधारों को प्रमुख रूप से दो भांगो में बांटा जा सकता है :-

1. सामाजिक सांस्कृतिक आधार
   (i) सम्पत्ति
   (ii) व्यवसाय
   (iii) राजनीतिक शक्ति
   (iv) धर्म
2. जैविकीय आधार
   (i) लिंग,
   (ii) आयु
   (iii) शारीरिक एवं बौद्धिक कुशलता
   (iv) जन्म

स्वरूप

बोटोमोर के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण के मानव इतिहास में मुख्य रूप से चार स्वरूप रहे हैं जो निम्नलिखित है -

1. दास प्रथा
2. जागीरें
3. जाति-व्यवस्था
4. वर्ग-व्यवस्था

3.4.4 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त

संघर्ष का सिद्धान्त

कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक "कम्यूनिस्ट मेनीफस्टो" में वर्ग संघर्ष के आधार पर स्तरीकरण को समझाया। उनके अनुसार प्रत्येक काल में सामाजिक वर्ग रहे हैं और उनमें निरन्तर संघर्ष होता रहा है। वर्तमान पूंजीवाद युग इसका अपवाद नहीं है उसमें भी बुर्जआ (शोषक) और सर्वहारा (शोषित) दो वर्ग हैं। पहला सवाल यह उठता है कि स्तरीकरण को निर्धारित करने वाले वर्गो का निर्माण कैस होता है? इस प्रश्न का उत्तर एक और प्रश्न में निश्चित है कि श्रमिकों और पूंजीपतियों का वर्ग कैसे बनता है? प्रथम दृष्टि से ऐसा लगता है कि इनका निर्माण उस आय से होता है जो वे प्राप्त करते हैं लेकिन इसके विपरीत उत्पादन के विशिष्ट आधार पर ही वर्ग का निर्माण होता है। बुर्जुआ जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है वह अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है और मजदूर को कम से कम देना चाहता है जिसका मजदूर विरोध करते है। इससे मार्क्स का स्तरीकरण के विषय में जो दृष्टिकोण है

बह स्पष्ट हो जाते है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक कारक ही वर्ग का आधार है और अन्य सब कारक इसी से प्रभावित होते हैं। मार्क्स वर्ग संघर्ष के लिए वर्ग में चेतना आवश्यक मानते है उनके अनुसार वर्ग चेतना से ही वर्ग एकता उत्पन्न होगी जिसके परिणामस्वरूप वर्ग संघर्ष होगा।

वर्ग चेतना ⟶ वर्ग एकता ⟶ वर्ग संघर्ष

मार्क्स के अनुसार इस वर्ग संघर्ष में मजदूरों की विजय होगी।

प्रकार्यवादी सिद्धान्त

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किंग्सले डेबिस तथा विलबर्ट मूर ने अपने लेख Some Principles of Stratification में किया। उनके अनुसार स्तरीकरण सभी समाजों में पाया जाता है तथा कोई समाज वर्ग विहीन नहीं है। प्रत्येक सामाजिक संरचना में व्यक्तियों का स्थान निर्धारित करने तथा उन्हें प्रेरित करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए समाज में भिन्न-भिन्न पदों के लिए असमान पुरस्कार और सुविधाएं प्रदान किए जाते हैं। महत्वपूर्ण पदों के लिए अधिक पुरस्कार और अधिक सुविधाऐं प्रदान की जाती हैं और जब इस प्रकार कुछ लोगों को अधिक पुरस्कार और सुविधाएं दी जाती हैं और कुछ को कम तो समाज में अपने आप स्तरीकरण पैदा हो जाता है।

3.5 जाति व्यवस्था (Cast System)

भारतीय समाज में जाति प्रथा का एक वृहद एवं चरम रूप देखने को मिलता है। यही सामाजिक संस्थाओं में जाति अति महत्वपूर्ण है। भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन स्तरीकरण के स्वरूप में किया जाता है। परम्परा से यही जातियों रही है। 1931 की तीन हजार जातियाँ (People of India) के अनुसार 4635 हो गई है । जाति पर ब्रिटिश मानवशास्त्रियों ने अच्छा काम किया है। रिजले की (People of India) 'हट्टन की Caste in Indian लोकप्रिय है। आधुनिक समाजशास्त्र में घुरिये (Caste, Class and Occupation). दुबे (India's Changing Villages). मजूमदार (Caste and Communication in India Village). श्रीनिवास (Caste in Modern India and other Essays) आन्द्रे बेतई (Caste, Class and Power). ड्यूओ, दीपांकर गुप्ता (Interrogating Caste) और योगेन्द्र सिंह की (Social Stratification and Change in India) महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

3.5.1 जाती का अर्थ एवं परिभाषा

जाति के अर्थ को विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर समझा जा सकता है। मजूमदार ने जाति को एक बंद वर्ग कहा है। कूले के अनुसार जब कोई वर्ग पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होता है तो उसे जाति कहते हैं। केतकर के अनुसार " जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी दो विशिष्टता होती है - (i) सदस्यता जन्म लेने के आधार पर निश्चित होती है। (ii) सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम के द्वारा अपनी जाति से बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कह सकते हैं कि जाति एक ऐसा समूह है जिसकी सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है तथा प्रत्येक जाति के खान-पान, विवाह, व्यवसाय आदि से सम्बन्धित प्रतिबंध होते हैं। जाति के लक्षण

घुरिये के अनुसार जाति के लक्षण

1. समाज का खण्डीय विभाजन
2. सोपान या गैर बराबरी
3. खान-पान या सामाजिक संसर्ग पर प्रतिबन्ध
4. धार्मिक एवं सामाजिक निर्योग्यताएं
5. व्यवसाय के स्वतंत्र चयन पर प्रतिबन्ध
6. विवाह पर प्रतिबन्ध

योगेन्द्र सिंह के अनुसार जाति के लक्षण -

1. संस्थागत गैर बराबरी
2. बन्द गतिशीलता
3. धर्म विधि पर आधारित श्रम विभाजन
4. धर्म विधि की पवित्रता

ड्यूमो के अनुसार :

ड्यूमो ने बताया है कि जाति पवित्र और अपवित्र के मूल्यों पर बनी हुई है या तो वस्तु पवित्र है या अपवित्र है। उनका कहना है कि जाति मनुष्य के मस्तिष्क में है। यह एक मानसिक दशा है। इस तरह ड्यूनो जाति का बहुत बड़ा लक्षण पवित्र और अपवित्र के मूल्य को मानते हैं।

दीपांकर गुप्ता के अनुसार

दीपांकर जाति को एक रूप में देखते है । उनके अनुसार जब हम जातियों के सोपान को देखते हैं तर बहुत स्पष्ट होना चाहिए कि एक जाति दूसरी जाति से भिन्न है जैसे सारस्वत ब्राह्मण कन्या कुब्ज ब्राह्मण से भिन्न है। इस तरह प्रत्येक जाति भिन्न है। दीपांकर ने जाति का दूसरा लक्षण बहुंसोपानिकता बताया है।

3.5.2 जाति के प्रकार्य

जाति एक सामाजिक संस्था है। हिन्दुओं की यह मान्यता है कि यह 'संस्था परमात्मा ने बनाई है। इसके निम्नलिखित प्रकार्य हैं -

1. संवेगात्मक सुरक्षा
2. सामाजिक निरन्तरता को बनाए' रखना
3. संस्कृति की वाहक
4. परम्परागत कुशलता को देना
5. व्यक्ति को पहचान देना
6. विवाह में सुविधा
7. कल्याणकारी कार्य

जाति प्रथा के जहाँ एक ओर प्रकार्य है वही दूसरी ओर दुष्प्रकार्य भी देखे जो सकते। इसका सबसे बड़ा दुष्प्रकार्य अस्पृश्यता है। उसके अलावा राष्ट्रीय एकता में बाधक (जातिवाद), व्यवसायों के विकास में बाधक, कार्यकुशलता में बाधक आदि। वर्तमान में जातिप्रथा में परिवर्तन देखे जा सकते हैं लेकिन परिवर्तन की शक्तियों से परे जाति अपने को समय के अनुरूप ढालकर वर्तमान में भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने में समर्थ है।

3.6 वर्ग व्यवस्था (Class System)

जाति और वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो स्वरूप हैं। सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक घटना है। वर्तमान में अधिकांश समाजों की प्रकृति खुली है जिसमें व्यक्ति अपनी कुशलता, योग्यता, एवं गुणों के अनुसार उच्च तथा निम्न स्तर में समा जा सकता है। इस व्यवस्था में सभी व्यक्तियों को समान अवसर प्रदान किया जाता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी को समान स्तर प्राप्त होते हो वरन् वर्ग व्यवस्था में शक्ति चाहे किसी भी जाति या धर्म का क्यों न हो वह अपने गुणों एवं प्रयत्नों के आधार पर एक विशेष स्तर को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वर्ग व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण का ही एक स्वरूप है। वर्ग विश्व के सभी समाजों में पाए जाते हैं। एक वर्ग के व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति समान होती है। प्रत्येक समाज में कई वर्ग होते हैं।

3.6.1 सामाजिक वर्ग का अर्थ

सामाजिक वर्ग का तात्पर्य समान प्रस्थितियों से होता है किन्तु इसके अर्थ को अधिक स्पष्ट रूप से विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर समझा जा सकता है जो इस प्रकार है - ऑगबर्न के अनुसार एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का वर्ग है जिनकी एक दिए हुए समाज में अनिवार्य रूप से समान सामाजिक स्थिति होती है। 'मैकाइवर ने बताया है कि सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जिसे सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से अलग कर दिया गया हो। इसके अलावा कुछ विद्वानों मार्क्स, वेबर, गोल्डनर) ने वर्ग को आर्थिक और कुछ ने (गिन्सबर्ग, लेपियर, ओल्सन) सांस्कृतिक आधार पर स्पष्ट किया है। गोल्डनर के अनुसार एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों अथवा परिवारों की समग्रता है जिनकी आर्थिक स्थिति लगभग समान होती है। लेपियर के अनुसार. सामाजिक वर्ग एक सांस्कृतिक समूह है जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशेष स्थिति या पद प्रदान किया जाता है।

3.6.2 सामाजिक वर्ग की विशेषता

1. वर्ग व्यवस्था में एक निश्चित संस्करण पाया जाता है जिसमें सभी वर्गों का स्थान समान न होकर उच्च और निम्न होता है।
2. वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति अपनी योग्यता और गुणों के आधार पर किसी भी वर्ग में आ जा सकता है अर्थात् वर्ग की प्रकृति खुली होती है।
3. वर्ग व्यवस्था अर्जित प्रस्थिति से सम्बन्धित होती है।

4. वर्ग उच्च, मध्य और निम्न तीन प्रकार के होते है लेकिन प्रत्येक वर्ग में भी कई उपवर्ग, होते हैं।
5. प्रत्येक वर्ग में एक वर्ग चेतना होती है जो उसे दूसरे वर्ग से प्रतिस्पर्धा करने के लिए प्रेरित करती है।
6. एक वर्ग के लोगों के जीवन जीने का तरीका लगभग समान होगा है।
7. मार्क्सवादी वर्ग की व्याख्या उत्पादन संबन्धों के आधार पर करते है। वे कहते हैं कि वर्गो के बीच बराबर संघर्ष होता है।

3.6.3 वर्ग विभाजन के आधार

बीरस्टीड ने वर्ग विभाजन के सात प्रमुख आधारों का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है -

1. सम्पत्ति, धन और आय
2. परिवार तथा नातेदारी
3. निवास की स्थिति
4. निवास स्थान की अवधि
5. व्यवसाय की प्रकृति
6. शिक्षा
7. धर्म

3.6.4 भारत में वर्ग

सन् 1961 में बी.बी. मिश्रा ने The Indian Middle Class सें पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक की केन्द्रीयता भारत की अर्थव्यवस्था है। हमारे यहाँ सामान्यत: वर्गो को तीन भागों में बांटा गया है -

1. उच्च वर्ग 2. मध्यम वर्ग 3. श्रमिक वर्ग

भारत में अंग्रेजों के आने के बाद वे लोग जो सरकारी नौकरियों में लग गए उन्होंने मध्यम वर्ग का जन्म दिया। आजादी के बाद विकास कार्यक्रमों ने अधिकारी तंत्र को विकसित किया। इसने भी मध्यम वर्ग को बढाया। हाल में जो अध्ययन हुए है वे बताते है कि विकास कार्यक्रमों को बहुत बड़ा लाभ मध्य वर्ग ने उठाया है। कई लोग मध्य वर्ग को अव्वल दर्जे का उपभोक्तावादी वर्ग मानते हैं। इसकी आकांक्षाएँ आसमान को छूती हैं। सामान्यत: सरकारी नौकरियों में काम करने वाले लोग, छोटे एवं मध्यम दर्जे के व्यापारी और मध्यम दर्जे के राजनेता इस वर्ग में आते हैं।

3.7 सारांश (Summary)

संयुक्त परिवार में पति-पत्नि एवं बच्चों के साथ ही उस उसके दादा-दादी. चाचा-चाची ताऊ-ताई आदि कई पीढ़ियों के लोग एक साथ रहते हैं। यह सभी एक ही रसोई का बना भोजन करते है। एवं सामान्य सम्पति के स्वामी होते हैं। भारत में कई प्रकार के संयुक्त परिवार देखने

को मिलते है। ग्रामीण समुदाय वह समुदाय है जो विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति करते हुए एक निश्चित क्षेत्र में निवास। करता है। इनके आपसी सम्बंध सरल परम्परावादी एवं अनौपचारिक होते हैं। ग्राम्य समुदाय का मुख्य व्यवसाय कृषि होता है एवं व्यक्ति एक दूसरे से प्रत्यक्ष आधार पर संबन्धित होते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण समाज में व्यक्तियों की ऊँची-नीची प्रस्थिति के आधार पर विभाजन को प्रदर्शित करता है। स्तरीकरण पुरातन है एवं प्रत्येक समाज में पाया जाता है। स्तरीकरण का आधार सांस्कृतिक अथवा जैविकीय होता है। स्तरीकरण का आधार संघर्ष भी होता है। स्तरीकरण का दूसरा सिद्धान्त प्रकार्यवादी सिद्धान्त है। समाज में भिन्न-भिन्न पदों के लिए भिन्न-भिन्न पुरस्कार या सुविधाएं दी जाती है। वंशानुगत क्रम पर आधारित एक बन्द समूह को जाति कहते है। जबकि वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का ही एक स्वरूप है। वर्ग अर्जित प्रस्थिति है एवं व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे में आ जा सकता है।

3.8 शब्दावली (Keywords)

संयुक्त परिवार	Joint family
ग्राम्य समुदाय	Rural Society
सामाजिक स्तरीकरण	Social Stratification
जाति अवस्था	Caste System
वर्ग अवस्था	Class System

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संयुक्त परिवार से आपका क्या अभिप्राय है। संयुक्त परिवार के विभिन्न प्रकारों एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
3. स्तरीकरण के सिदान्तो की विवेचना कीजिए।
4. जाति का अर्थ एवं परिभाषा दीजिए।
5. वर्ग किसे कहते हैं वर्ग विभाजन के क्या आधार हैं।

इकाई-4

सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

इकाई को रुप रेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

- 4.2.1 परिवर्तन की अवधारणा
- 4.2.2 परिवर्तन की विशेषताएं
- 4.2.3 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ
- 4.2.4 सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति (विशेषताएं)

4.3 सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन

4.4 सामाजिक परिवर्तन के कारक

- 4.4.1 प्राकृतिक कारक
- 4.4.2 जनसंख्यात्मक कारक
- 4.4.3 प्राणीशास्त्रीय कारक
- 4.4.4 प्रौद्योगिक कारक
- 4.4.5 सांस्कृतिक कारक

4.5 सामाजिक उद्विकास

- 4.5.1 उद्विकास प्रक्रिया की विशेषताएं
- 4.5.2 उद्विकास की समीक्षा

4.6 प्रगति

- 4.6.1 प्रगति की विशेषताएं
- 4.6.2 उद्विकास एवं प्रगति में अन्तर
- 4.6.3 सामाजिक प्रगति के मानदण्ड

4.7 परम्परा

- 4.7.1 परम्परा की विशेषताएं

4.8 आधुनिकीकरण

- 4.8.1 आधुनिकीकरण की विशेषताएं
- 4.8.2 परम्परा एवं आधुनिकीकरण में अन्तर

4.9 संस्कृतिकरण

- 4.9.1 संस्कृतिकरण का अर्थ
- 4.9.2 संस्कृतिकरण की विशेषताएं
- 4.9.3 संस्कृतिकरण के स्रोत एवं प्रोत्साहन के कारक

4.10 पश्चिमीकरण

4.10.1 पश्चिमीकरण का अर्थ

4.10.2 पश्चिमीकरण की विशेषताएं

4.10.3 भारत में पश्चिमीकरण का प्रभाव

4.10.4 पश्चिमीकरण के सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव

4.10.5 पश्चिमीकरण का महिलाओं की स्थिति पर प्रभाव पश्चिमीकरण का धार्मिक जीवन पर प्रभाव

4.10.6 पश्चिमीकरण का राजनैतिक जीवन पर प्रभाव

4.10.7 पश्चिमीकरण का आर्थिक जीवन पर प्रभाव

4.10.8 पश्चिमीकरण का कला, साहित्य एवं दर्शन पर प्रभाव

4.11 नगरीकरण

4.11.1 नगरों के प्रकार

4.11.2 नगरीयता के लक्षण

4.11.3 नगरीयता की विशेषताएं

4.11.4 ग्रामीण समाज की विशेषताएं

4.11.5 नगरीकरण के कारक

4.11.6 नगरीकरण के प्रभाव

4.11.7 नगरीकरण से सम्बन्धित समस्याएं

4.12 सारांश

4.13 शब्दावली

4.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप प्रमुख समाजशास्त्रीय अवधारणाओं के अर्थ एवं विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे। आप जान सकेंगे कि:

- सामाजिक परिवर्तन किसे कहते हैं एवं इसकी क्या विशेषताएं हैं।
- सामाजिक परिवर्तन के लिए कौन-कौन से प्रमुख घटक उत्तरदायी होते हैं।
- सामाजिक उद्‌विकास व प्रगति क्या है? इनकी या विशेषताएं है? एवं इनमें क्या अन्तर है?
- आधुनिकीकरण, संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण जैसी समाजशास्त्रीय अवधारणाओं से क्या अभिप्राय है।

4.1 प्रस्तावना (Introduction)

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत् नियम है सृष्टि के आदिकाल से अब तक हर क्षेत्र परिवर्तनशील है मानव समाज भी इस परिवर्तन से अछूता ही है। मानवीय रहन सहन, आचार विचार, प्रथाओं और मानवीय सम्बन्धों के रूप में परिवर्तन हुआ है । इन परिवर्तनों की गीत

कभी धीमी तो कभी तीव्र हो जाती है। यह परिवर्तन संस्कृति के भौतिक और अभौतिक दोनों पक्षों में हो सकते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में जो योजनाबद्ध परिवर्तन आये हैं जैसे सड़कों, नहरों, पुल आदि का निर्माण भौतिक साधनों में परिवर्तन हुये यह महत्वपूर्ण है पर हम सामाजिक परिवर्तन में सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तन को ही मुख्य स्थान देते हैं। सामाजिक परिवर्तन 'सम्बन्धी इस इकाई में हम सामाजिक उद्‌विकास एवं प्रगति का अर्थ भी स्पष्ट करेंगे।

इस इकाई में परम्परा एवं आधुनिकीकरण की अवधारणाओं को भी स्पष्ट रूप से समझाया जाएगा। इस इकाई में प्रमुख समाजशास्त्रीय अवधारणाओं जैसे आधुनिकीकरण,पश्चिमीकरण एवं संस्कृतिकरण को परिभाषित कर उन्हें समझने का प्रयास किया गया है।

4.2 सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

4.2.1 परिवर्तन की अवधारणा:

परिवर्तन का सम्बन्ध अच्छा-बुरा, उन्नति-अवनति, सही-गलत से नही है। यह मूल्यों से दूर है,अर्थात् परिवर्तन कभी भी अच्छा या बुरा नही होता है परिवर्तन तो केवल पहले की अवस्था या अस्तित्व में अन्तर को कहा जा सकता है। मुख्यत: इसका सम्बंध तीन तत्वों से होता है- (1)समय (2) वस्तु (3) भिन्नता

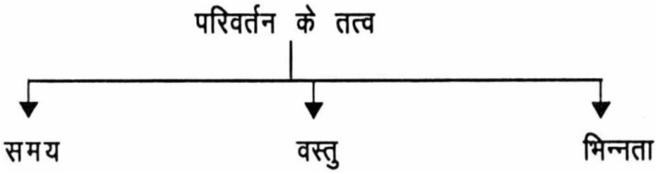

(i) परिवर्तन को समय के अन्तराल से ही देखा जा सकता हैं अर्थात् परिवर्तन को एक विशेष समय बिन्दु पर नही देखा जा सकता है।

(ii) परिवर्तन किसी वस्तु या विषय या विशेष में देखा जा रहा है यह भी निश्चित कर लेना चाहिये।

(iii) परिवर्तन दो समय बिन्दुओं के अन्तराल में वस्तु अथवा विषय के आकार प्रकार, संरचना, संगठन, रूप रंग में भिन्नता आने पर ही माना जाता है।

उदाहरण के लिए परिवार को लिया जा सकता है- भारतीय परम्परागत संयुक्त परिवार तथा आधुनिक परिवार का संगठन और संरचना समय बिन्दुओं के आधार पर देखा जाय तो परिवर्तन दोनों में ही मिलेगा। अर्थात् दोनों की संरचना में परिवर्तन आया है। अत: दो काल बिन्दुओं के अन्तराल में किसी वस्तु अथवा विषय से प्रतीत होने वाली भिन्नता को परिवर्तन कहा जा सकता है।

4.2.2 परिवर्तन की विशेषताएं

1. परिवर्तन एक सार्वकालिक प्रघटना है, अर्थात् हर काल में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में होता रहता है।

2. परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है अर्थात् यह विश्व के प्रत्येक समाज में पाया जाता है चाहे वह कितना ही आदिम या आधुनिक हो।
3. परिवर्तन से किसी वस्तु के सम्पूर्ण अथवा आंशिक (किसी एक या दो भाग में) ढ़ाचे में बदलाव आ सकता है।
4. परिवर्तन किसी भी भौतिक अथवा अभौतिक वस्तु की निश्चित दिशा में विचलन की स्थिति है।
5. यह विचलन या तो समय प्रवृति के नियमों द्वारा स्वत: ही होता है या मानव द्वारा नियोजित तरीके से।

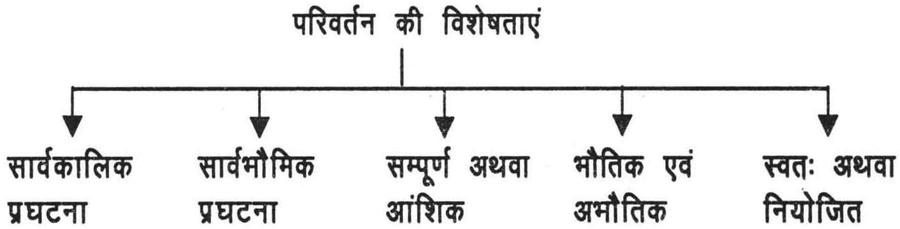

परिवर्तन एक व्यापक एवं अवश्यम्भावी तथ्य है और प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक काल में कुछ न कुछ सरकता रहता है। यह सरकन विचलन का ही प्रतिरूप है इस विचलन का अर्थ असामाजिक या बुरे से नहीं है बल्कि इसे वस्तु परख रूप में लेना चाहिये जैसा कि सामाजिक निदान शास्त्री लेते हैं। परिवर्तन क्यों होता है? यह एक जिज्ञासा पूर्ण प्रश्न है इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि व्यक्ति समाज को निश्चितता और सन्तुलन प्रदान करने के लिए निरन्तर रूप से प्रयत्नशील रहता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ही विचलन और परिवर्तन होता रहता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि अन्य तत्वों की तरह परिवर्तन भी अपरिहार्य तब है।

परिवर्तन की प्रकृति को विल्बर्ट मूर ने अपनी पुस्तक में इस प्रकार स्पष्ट किया है:

1. प्रत्येक समाज अथवा संस्कृति में परिवर्तन नियमित रूप से बार-बार होते रहते हैं।
2. परिवर्तन देश-काल की दृष्टि से सापेक्ष है किसी काल विशेष में हुये परिवर्तन समस्त विश्व को प्रभावित कर सकते है। परिवर्तन के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों प्रकार के परिणाम हो सकते है।
3. चूँकि समकालीन परिवर्तन प्रत्येक स्थान पर समान है और प्रत्येक स्थान पर महत्वपूर्ण और अर्थ पूर्ण हो सकते हैं इसलिये इनका दोहरा महत्व है।
4. पहले की तुलना में समकालीन परिवर्तन अधिक हुये हैं अर्थात् समकालीन परिवर्तन नियोजित अधिक है।
5. परिवर्तन की प्रकृति संचयी है अर्थात् एक के बाद दूसरा परिवर्तन आपस में मिले और जुडे हुये रूप में नई कार्य पद्धतियों को जन्म देता है। इस बीच कई कार्य पद्धतियां अनुपयोगी हो जाती है। परिवर्तन शब्द की व्याख्या के बाद हम सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा की व्याख्या करेगें

4.2.3 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

प्रारम्भ में समाजशास्त्रियों और सामाजिक विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन उद्‌विकास और प्रगति जैसी अवधारणाओं को एक का ही पर्याय माना परन्तु 1922 में ऑगबर्न की "शोशल चेन्ज"' नामक पुस्तक के प्रकाशन के साथ ही इन तीनों तथा भौतिक एवं अभौतिक परिवर्तन का भी सूक्ष्म विवेचन किया गया इसी सन्दर्भ में हम इन्हीं सभी प्रत्ययों की अलग अलग व्याख्या करेगें।

सामाजिक परिवर्तन को विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अलग अलग परिभाषित किया है परन्तु फिर भी सभी एक रात पर सहमत है कि समाज में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते है।

यहाँ हम प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचार रखेंगे मैकाइवर ओर पेज सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन मानते है उनके अनुसार समाज सामाजिक संबन्धों का जाल है ओर सामाजिक परिवर्तन इन्हीं सम्बंधों के प्रतिमानों में परिवर्तन है।

डेविस सामाजिक संगठन में होने बाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन मानते है सामाजिक परिवर्तन वह तब ही मानते है जबकि सामाजिक संगठन की विभिन्न ईकाइयों जैसे संस्था, समुदाय, समितियां, समूह में परिवर्तन हो परन्तु यह परिवर्तन इन ईकाइयों के ढ़ाचे तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि इनके प्रयासों में भी परिवर्तन आता है। उदाहरण के लिये घरेलू कामकाज में नये नये द्रुतगति से कार्य करने वाले उपकरणों के प्रयोग से स्त्रियों को अवकाश का समय अधिक मिलने लगा इससे स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। शिक्षा के परिणामस्वरूप स्त्रियां रूप से स्वतंत्र होने लगी और रोजगार के लिये घर से बाहर जाने लगी। इन सबके परिणामस्वरूप उनकी भूमिका प्रतिमान में अन्तर आया। वह घर बाहर दोहरी भूमिका निभाने लगी तथा संबन्धात्मक प्रतिमान में अन्तर आया अर्थात् पति-पत्नि, सास-ससुर और माता-बच्चों के सम्बन्धों में परिवर्तन आया। डेविस की यह व्याख्या समाजशास्त्र में प्रमुख रही है क्योंकि इन्होने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक आधार पर परिवर्तन को समझाने का प्रयत्न किया। अर्थात् सामाजिक इकाईयों की संरचना और उनके कार्यो से संबन्धित किया है। गिलीन ओर गिलीन ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सांस्कृतिक धरातल पर की है उनके मतानुसार सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में परिवर्तन को कहते है। इन परिवर्तनों का आधार भौगोलिक दशायें (जैसे भूकम्प, अकाल) सांस्कृतिक साधन जनसंख्या की रचना में परिवर्तन अथवा समूह के अन्दर ही कोई आविष्कार हो सकता है उपर्युक्त. समाजशास्त्रियों की व्याख्या के आधार पर सामाजिक परिवर्तन में प्रमुखत: निम्न तत्व स्पष्ट है :-

1. सामाजिक परिवर्तन मानव के सामाजिक संबन्धों में होने वाले परिवर्तन से सम्बंधित है।
2. यह समाज की संरचना एवं प्रकार्य में होने वाला परिवर्तन है।
3. यह व्यक्ति विशेष के व्यवहार में होने वाले परिवर्तन से नही बल्कि समाज में अधिकांश व्यक्तियों के व्यवहार में होने बाते परिवर्तन से है।
4. यह एक सार्वभौमिक सत्य है अर्थात् प्रत्येक काल एवं स्थान पर घटित होता रहता है।

4.2.4 सामाजिक परिवर्तन को प्रकृति (विशेषताएं)

विभिन्न समाजशास्त्रियों की व्याख्या के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा की निम्न विशेषताएं हैं इनकी विस्तृत व्याख्या विलबर्ट मूर द्वारा प्रस्तुत विशेषताओं के साथ ही की जायेगी।

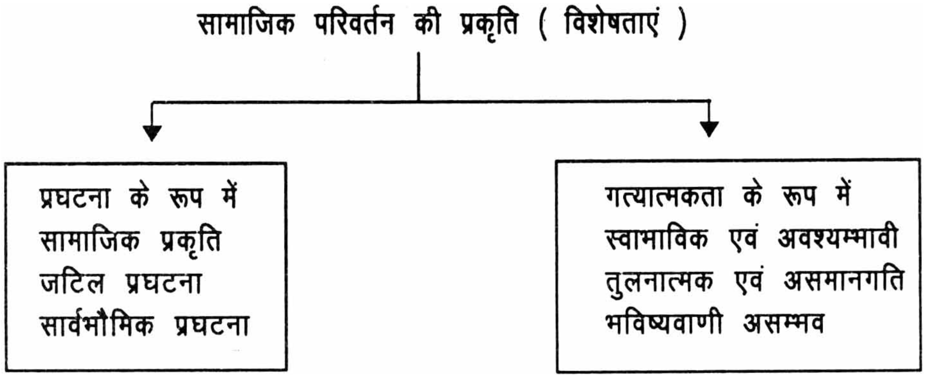

प्रख्यात समाजशास्त्री मूर ने सामाजिक परिवर्तन की विशेषताओं की चर्चा की है उनके अनुसार सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएं निम्नांकित चार्ट से स्पष्ट की जा सकती है।

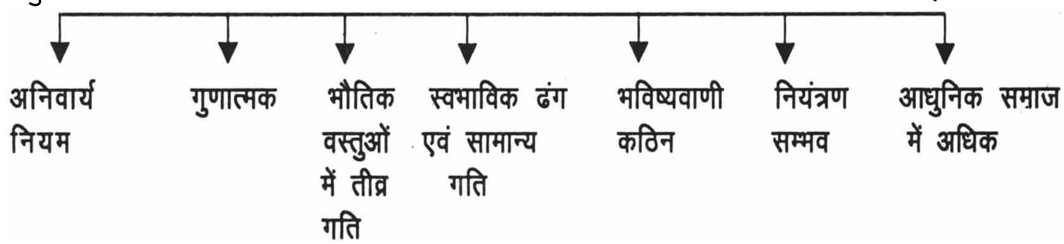

1. अनिवार्य नियम सामाजिक संरचना अथवा संगठन में आंशिक या सम्पूर्ण में अनिवार्य रूप से परिवर्तन होता है। पुनर्निर्माण की अवधि में इसकी गति अत्यधिक तीव्र होती है।
2. गुणात्मक सामाजिक परिवर्तन में परिवर्तन गणनात्मक न होकर गुणात्मक होता है। अर्थात् एक स्थिति के गुण में परिवर्तन दूसरी स्थिति को परिवर्तित करता है।
3. भौतिक वस्तुओं में तीव्र गति भौतिक वस्तुओं में तीव्र गीत से परिवर्तन होता है हालांकि अभौतिक वस्तुओं में परिवर्तन होता है पर उसकी गीत धीमी होती है।
4. स्वाभाविक गति एवं सामान्य ढंग समाज में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति स्वाभाविक और सामान्य होती है और इस प्रकार के परिवर्तन का प्रभाव दीर्घगामी होता है।
5. भविष्यवाणी कठिन यह अनुमान लगाना कठिन है कि सामाजिक परिवर्तन का रूप क्या होगा? दिशा कैसी होगी? और किस पर इसका प्रभाव होगा?
6. नियंत्रण सम्भव मूर के अनुसार यदि व्यक्ति चाहे तो सामाजिक परिवर्तन को न केवल नियोजित कर सकता है बल्कि इच्छा अनुरूप मोड़ भी सकता है।
7. आधुनिक समाज में अधिक प्राचीन एवं परम्परागत समाजों की तुलना में आधुनिक समाज में परिवर्तन अधिक और तीव्र गीत से होता है।

4.3 सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन (Social and Cultural Change)

सामाजिक परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों तथा उनके माध्यम से सामाजिक संरचना तथा उसके कार्यो में होने वाले परिवर्तनों को कहेंगे। जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन उन क्षेत्रों से सम्बन्धित है जो संस्कृति में अन्तर्निहित है। संस्कृति मनुष्य द्वारा निर्मित मूर्त एवं अमूर्त स्वरूपों को कहा जा सकता है। आवासीय शैली, पोशाक, भोजन व वजन इत्यादि इसका मूर्त स्वरूप है, जबकि जनजातियां धर्म, कला. साहित्य एवं विश्वास आदि अमूर्त स्वरूप है। सामाजिक परिवर्तन का संबंध मूलत: अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन से है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन सम्पूर्ण संस्कृति में (भौतिक एवं अभौतिक) परिवर्तन है।

इस दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का एक छोटा भाग है सांस्कृतिक परिवर्तन का क्षेत्र व्यापक है जबकि सामाजिक परिवर्तन का क्षेत्र सीमित है।

4.4 सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change)

सामाजिक विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन के कारणों को जानने का प्रयास किया है। कुछ समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन के लिये एक ही कारक को महत्वपूर्ण मानते है इनको निश्चयवादी कहा जा सकता है। परन्तु अन्य समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन के लिये एकाधिक कारणों की व्याख्या करते हैं इन्हें बहुकारक्वादी कहा जा सकता है। वास्तव में समाज में परिवर्तन एक कारण से सम्भव नहीं है इसके लिये अनेक कारण उत्तरदायी हैं मैकाइवर ने निम्न कारक बताये हैं

1. प्राकृतिक कारक
2. जनसंख्यात्मक कारक
3. प्राणीशास्त्रीय कारक
4. प्रोद्यौगिकी कारक
5. सांस्कृतिक कारक

4.4.1 प्राकृतिक कारक

सामाजिक परिवर्तन में प्राकृतिक कारकों की भूमिका के रूप में भूकम्प, बाढ़, अकाल, चक्रवात आदि को लिया जा सकता है उदाहरण के लिये प्राकृतिक प्रकोपों के कारण (भूकम्प, बाढ़ आदि) बहुत से परिवार उजड़ जाते हैं, उनके सम्बन्धियों का पता नहीं चलता वह नई रिश्तेदारियां बना लेते हैं जिससे नातेदारी सम्बन्धों में परिवर्तन आता है। कई बार प्राकृतिक विपदाओं के कारण व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और नई सभ्यता और संस्कृति में रंग कर वहां के रिती रिवाज अपनाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि जहां प्रकृति शांत रहती है वहां प्राकृतिक कारण किसी प्रकार का सामाजिक परिवर्तन नही करता है, बल्कि ऐसे समाज में व्यक्ति प्रसन्नचित्त रहते हैं। अच्छी फसल होने पर सामाजिक उत्सव मनाते हैं और एक दूसरे के निकट आने का प्रयास करते हैं। दुर्खीम के शब्दों में इन समाजों में सामाजिक

एकता बढ़ती है ओर सामाजिक तनाव एवं संघर्ष कम होता है। हक्सल ओर हटिगंम ने तो जलवायु में परिवर्तन को सभ्यता ओर संस्कृति में परिवर्तन का कारक माना है।

(i) भूकम्प
(ii) अतिवृष्टि, बाड़
(iii) अनावृष्टि-सूखा
(iv) महामारी, प्लेग, हैजा आदि
(v) चक्रवात
(vi) प्रकृति-शांत
(vii) भूकम-उर्बरा, बंजर
(viii) जल की उपलब्धता

4.4.2 जनसंख्यात्मक कारक

जनसंख्या की रचना और जनसंख्या का गत्यात्मक पक्ष दोनो ही सामाजिक परिवर्तन के लिये महत्वपूर्ण हैं।

(i) **जनसंख्या की रचना:** किसी भी देश की जनसंख्या की संरचना समाज की रचना और उसमें परिवर्तन को प्रभावित करती है। जनसंख्या यदि अधिक है तो उसका आधार बड़ा होगा, उसके रहने के लिये मकान खाने के लिये भोजन और वस्त्र, आदि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी। यदि यह आवश्यकताएं पूर्ण नही हुई तो निर्धनता और बेकारी जैसी समस्याओं का जन्म होगा। जनसंख्या की रचना उस समाज के सदस्यों की आयु संरचना, लिंग अनुपात, व्यवसाय में संलग्नता, आश्रित और कमाने वालों की संख्या सभी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारक है।

(ii) **आयु संरचना:** सामाजिक परिवर्तन इस बात पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि उस देश की जनसंख्या में किस आयु समूह का बाहुल्य है। जहां युवा वर्ग की बहुलता होगी वहां सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र हो सकती है। जहां बडी उम्र के बुजुर्ग व्यक्तियों की बहुलता होगी तहां सामाजिक परिवर्तन की गीत धीमी होती हैं, क्योंकि उनकी विचारधारा परम्परावादी होती है।

(iii) **लिंग अनुपात:** स्त्री पुरूष का अनुपात यदि असंतुलित है तो सामाजिक परिवर्तन हो सकते हैं जैसे स्त्रियों की संख्या पुरूषों के अनुपात में कम हैं तो बहुपत्नी विवाह की सम्भावना या पुरूषों मे विवाह की समस्या जन्म ले सकती है। पुरूषों की संख्या कम होने पर बहुपत्नी विवाह दहेज, बेमेल विवाह और लड़कियों में अविवाहित रहने की समस्या जन्म ले सकती है।

(iv) **व्यवसाय संरचना:** समाज में व्यवसाय वितरण की प्रकृति पर सामाजिक परिवर्तन निर्भर करता है। जहां समाज कृषि प्रधान होता है वहां श्रम की आवश्यकता के कारण संयुक्त परिवार बन सकते हैं। यदि व्यवसायिक वितरण औद्यौगिक प्रकृति का है तो वहां एकाकी परिवारों की बहुलता होती जायेगी जैसे भारत में औद्योगिकरण के कारण लोग ओद्यौगिक रोजगारों के लिये शहर की तरफ जाने लगे और संयुक्त परिवार विघटित होकर एकाकी बनते गये।

(v) **आश्रित-अनाश्रित:** जनसंख्या सामाजिक परिवर्तन इस तथ्य पर भी निर्भर करता है कि उस समाज की आश्रित-अनाश्रित जनसंख्या का अनुपात क्या है? जिस समाज में अनाश्रित (कमाने वाले) जनसंख्या अधिक होगी वहां उत्पादकता बढ़ेगी और समाज सम्पन्नता की ओर बढेगा। जिस समाज में आश्रित अधिक होगे वहां पर गरीबी, बेरोजगारी जैसी समस्याएं बढेगी। भारत में आश्रित जनसंख्या अधिक है। इसलिए यहां इस तरह की समस्याएं अधिक है।

(vi) **जनसंख्या की:** गत्यात्मकता सामाजिक परिवर्तन के लिये जनसंख्या की रचना से भी महत्वपूर्ण है वहां की जनसंख्या की गत्यात्मक प्रवृतियां अर्थात् वहां की जन्म दर और मृत्यु दर। वहां से कितने लोगो का स्थानान्तरण होता है और कितने लोग स्थानान्तरित होकर आते है वहां से कितने लोग विदेश जाते हैं और कितने विदेश से आते हैं कितने एक राज्य से दूसरे राज्य में अपने ही देश में आते जाते हैं।

(vii) **जन्म एवं मृत्यु दर:** जन्म एवं मृत्यु दर का अनुपात सामाजिक परिवर्तन के लिये महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जन्म दर की अधिकता एवं मृत्यु दर की कमी एवं मृत्यु दर की अधिकता तथा जन्म दर की कमी सामाजिक परिवर्तन के उत्तरदायी कारक हो सकते है। पहली स्थिति में वैसे तो मानव शक्ति के बढ़ने से देश प्रगति की और जायेगा परन्तु यदि संसाधनों की उपलब्धता नहीं है तो समस्याएं जन्म ले सकती है। दूसरी स्थिति में कार्यशील मानव शक्ति की कमी होने से प्रगति रूक सकती है। यदि संसाधनों की कमी है तो मृत्यु दर की अधिकता समस्याओं को कम कर सकती है तथा समाज प्रगति की तरफ जा सकता है, परन्तु साथ साथ अनुभवी व्यक्तियों की कमी के कारण अन्य विपरीत प्रभाव भी पड़ सकते हैं।

(viii) **स्थानान्तरण:** प्राकृतिक विपदाओं महामारी, युद्ध, बेहतर रोजगार के अवसर, सरकारी तबादले भी सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारण हो सकते है। गांव से शहरो की ओर प्रस्थान स्वंय में सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारण हो सकता है। शहरीकरण के कारण संयुक्त परिवार में परिवर्तन, व्यक्ति धारिता की वृद्धि,व्यक्ति की मानसिकता, जीवन शैली में परिवर्तन हो सकता है। विभिन्न सांस्कृतिक परिवेशों के कारण संस्कृतिकरण और परसंस्कृतिकरण अर्थात् दूसरी संस्कृति के साथ समायोजन की प्रक्रिया प्रकट होती है।

(ix) **देशागमन:** देशागमन के अर्न्तगत दूसरे देशों के लोगों का अपने समाज में भरना। इसके परिणामस्वरूप उस देश से आये लोगों की संस्कृति का प्रभाव समाज पर पडता है। इनकी संस्कृति, मूल्य, प्रजातिय विशेषता में सब भिन्न होते हैं। धीरे धीरे दोनों संस्कृतियों के आदान प्रदान से समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं ओर व्यवहार प्रतिमान में परिवर्तन आने लगता है।

(x) **देशान्तरगमन:** (एक समाज के व्यक्तियों का दूसरे समाज में जाना) की स्थिति में जनसंख्यात्मक न्यूनता हो जाती है अर्थात् जनसंख्या की कमी हो जाती है। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक ओर उत्पादित संसाधनों का प्रयोग समुचित नहीं हो पाता है तथा यदि पुरूषों का अकेले देशान्तर गमन होता है तो पारिवारिक समस्याएं उत्पन्न होती है।

जनसंख्यात्मक कारक सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण है। जनसंख्या ही धार्मिक, सामाजिक राजनैतिक, मनोरंजन ओर सांस्कृतिक विश्वासों में परिवर्तन कर सामाजिक परिवर्तन को दिशा प्रदान करती है।

4.4.3 प्राणीशास्त्रीय कारक

प्राणीशास्त्रीय कारक वह कारक है जो जनसंख्या के प्रकार को निश्चित करता है अर्थात् जनसंख्या की जैविकीय संरचना सांख्य स्तर, जीवन अवधि आयु आदि निर्भर करती है प्राणीशास्त्रीय कारक ही जन्म दर मृत्यु दर, लिंग अनुपात निश्चित करता है। लिंग अनुपात ही विवाह की प्रथा में परिवर्तन करता है। मृत्युदर विधवा/विधुर विवाह को प्रोत्साहित कर सकती है। अधिक जन्म दर बाल विवाह का कारण बन सकती है।

4.4.4 प्रौद्योगिक कारक

हालांकि प्रौद्यौगिकी से उत्पन्न परिवर्तन पिछली पांच शताब्दियों से प्रारम्भ हो गये थे परन्तु बीसवीं शताब्दी में इन परिवर्तनों ने द्रुत गति पकड़ ली थी। प्रोद्योगिकी के कारण नये नये कारखाने खुले गांवों से लोग इन कारखानों मे काम करने शहर आये और नगरीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्म हु आ नगरीयकरण के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार में परिवर्तन आया। विभिन्न जातियों मे अन्तक्रिया बढ़ी जाति प्रथा के बन्धन ढीले हु ये छुआछूत कम हु ये स्त्रियों की शिक्षा को प्रोत्साहन मिला स्त्रियां आर्थिक रूप स्वतंत्र हु ई। आर्गबन ने केवल एक रेडियो के आविष्कार के कारण हु ये 150 परिवर्तनों की चर्चा की।

संक्षिप्त में प्रोद्योगिकी से उत्पन्न विभिन्न परिवर्तनों को निम्न रूप से समझाया जा सकता है।

(i) ग्रामीण समुदाय - कृषि का यान्त्रीकरण - कृषक मजदूरों की कम आवश्यकता- कृषि सम्बन्धी रोजगार की कमी - रोजगार के लिये शहरों की ओर प्रवास -शहरीकरण - ग्रामीण संयुक्त परिवार का विघटन - नगरीय समुदाय का जन्म।

(ii) नगरी समुदाय-प्रौधोगिकी और नगरीय समुदाय के अर्विभाव के साथ अन्य कई सामाजिक परिवर्तनों ने जन्म लिया जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्न है।

प्रोद्योगिकी एवं सामाजिक परिवर्तन

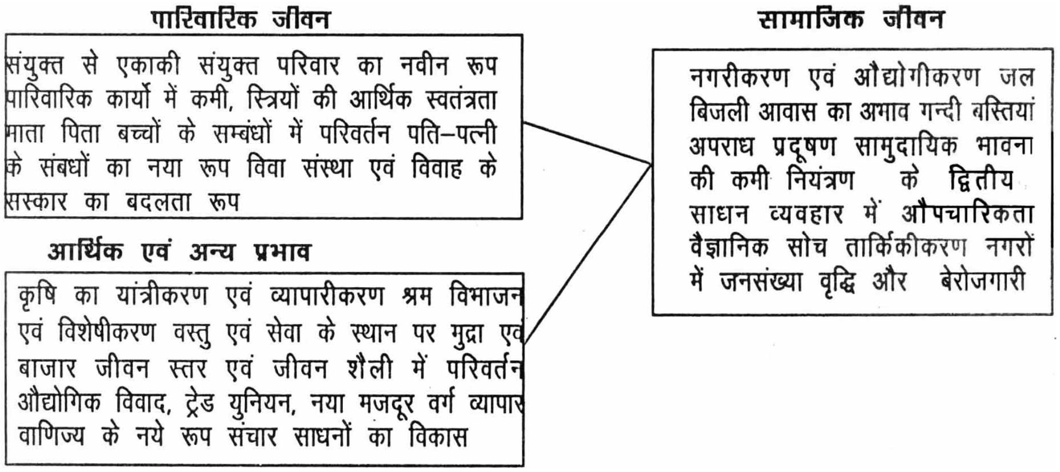

4.4.5 सांस्कृतिक कारक

सामाजिक परिवर्तन की दिशा और प्रकृति इस बात निर्भर करती है कि उस समाज का सांस्कृतिक प्रतिमान कैसा है। सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन एक दूसरे से इस तरह घुले मिले हैं कि उनको अलग करना कठिन है। हमारे आदर्श, प्रथाओं, रीती रिवाज, मूल्य परम्पराओं, जीवन शैली सांस्कृतिक जीवन का ही हिस्सा है। इसके बिना न तो संबन्ध बन सकते हैं ना ही अन्तक्रिया का प्रतिमान। होटल, होस्टल जैसी संस्थाओं की स्थापना से व्यक्ति के मन में परिवार के प्रति आस्था बदल जाये तो यह निश्चित है कि माता पिता बच्चों के बीच जो स्नेह सम्बन्धों का स्वाभाविक धागा है वह टूट जायेगा। भाई बहिन एवं परिवार के अन्य सगे सम्बन्धियों में भी स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं रहेगें। इसी तरह संस्कृति का भौतिक एवं अभौतिक दोनों ही पक्ष सामाजिक परिवर्तन के लिये महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। हमारे रहने के तौर तरीकों में भौतिक संस्कृति के माध्यम से परिवर्तन होता है जबकि अभौतिक संस्कृति हमारी मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन के लिये उत्तरदायी है। सांस्कृतिक कारणों में ही मैक्सवबर ने धर्म को एक ऐसा महत्वपूर्ण कारक माना है जो समाज के आर्थिक ढ़ाचे तक को परिवर्तित कर सकता है। जानसन का मत है कि यद्यपि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन एक ही वस्तु नही है किन्तु सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव सामाजिक प्रतिमानों पर निश्चित रूप से प्रतिफलित होता है।

इन कारकों के अलावा मनोवैज्ञानिक, वैचारिक, राजनैतिक, आर्थिक कारक शैक्षणिक तथा सामाजिक परिवर्तन में महान लोगों की भूमिका प्रमुख कारक है। परन्तु इन सब कारकों में कौनसा कारक महत्वपूर्ण है यह कहना कठिन है। पारसन्स का कहना ठीक ही है कि सिद्धान्त कप में सभी कारक जो मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं सामाजिक परिवर्तन के महत्वपूर्ण कारक हो सकते है। चाहे वह जैविकीय हो या सांस्कृतिक। किसी एक समाज में कोई एक कारक तो दूसरे समाज में दूसरा अन्य कारक महत्वपूर्ण हो सकता है।

4.5 सामाजिक उद्विकास

सामाजिक उद्विकास की अवधारणा सामाजिक विज्ञानों में प्राणीशास्त्र से आई है। जब डार्विन प्राणीशास्त्र में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जीव का विकास सरल से जटिल ओर निश्चित क्रमों से हुआ है। इस मान्यता ने समाजशास्त्रियों की विचार धारा को भी प्रभावित किया। इसी सन्दर्भ में हम उद्विकास और प्रगति की अवधारणा का विश्लेषण करेगें।

उद्विकास शब्द की उत्पति लेटिन भाषा के इवूल्वर शब्द से हुई है, जिसका अर्थ विकास, अथवा प्रकटन होता है। इस अवधारणा का प्रयोग अधिक उपयुक्त रूप में किसी जीव के आन्तरिक विकास को दर्शाने के लिए किया जाता है। हम कई बार कहते हैं कि पौधे अथवा पशु का जैविक दृष्टि से विकास हो रहा है। हम यह कहते हैं कि समय के साथ बालक के मस्तिष्क का भी विकास होता है। अत: शाब्दिक अर्थ में यह शब्द किसी जैविक संरचना में होने वाले क्रमिक परिवर्तन की ओर संकेत करता है। उद्विकास की अवधारणा प्रगति की अवधारणा से भिन्न है। प्रोग्रेस शब्द की उत्पति लेटिन भाषा के प्रो-रोडियर शब्द से हुई है। जिसका अर्थ आगे बढ़ना होता है। यह संस्कृत के प्रगत शब्द के समकक्ष है। अत: किसी वांछित लक्ष्य की ओर

अग्रसर होना या बढना ही प्रगति का द्योतक है। इस अर्थ में जितने सत्य होगें उतनी ही दिशाओं में प्रगति होगी।

हर्बट स्पेन्सर प्रथम समाजशास्त्री थे जिन्होंने उद्विकास की अवधारणा का प्रयोग समाजशास्त्रीय विश्लेषण में किया। स्पेन्सर के अनुसार - उद्विकास किसी तल का समन्वय व उससे सम्बद्ध वह गति है जिसके दौरान वह तत्व एक अनिश्चित असम्बद्ध समानता से एक निश्चित ओर सम्बद्ध भिन्नता में बदलता है ।

मैकाइवर ने लिखा है - उद्विकास की प्रक्रिया में किसी वस्तु की प्रछन्न (छुपी हुई) विशेषताएं जो उसमें अविकसित रूप में विद्यमान रहती हैं धीरे धीरे वह अपने आप को प्रकट करने अथवा उद्घटित करने लगती हैं।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों की परिभाषा के आधार पर यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक उत्तरवर्ती अवस्था (आने वाली) का संबंध उसकी पूर्वावस्था (पहले की) से होता है। यह एक ऐसा विकास है जिसमें निरन्तरता है। यह एक प्रकार की वृद्धि अथवा विकास है। वृद्धि शब्द परिवर्तन की किसी दिशा की ओर संकेत करता है जो मात्र परिमाणात्मक है जैसे जनसंख्या बढ़ती है। जबकि उद्विकास को अर्थ मात्र परिमाणात्मक (संख्या) परिवर्तन नहीं है बल्कि उसकी संरचना में होने वाले परिवर्तन को भी बताता है। जब हम जैवकीय उद्विकास की बात करते हैं तब हमारा तात्पर्य कुछ जीवों का अन्य जीवों से उत्तरोतर आर्विभाव से होता है। उद्विकास किसी व्यवस्था में क्रमिक (निरन्तर) परिवर्तन को बताता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी वस्तु की अप्रकट अथवा छुपी हुई विशेषताएं अपने आप को प्रकट करती हैं। यह परिवर्तन अन्तर्निहित (स्वयं वस्तु में अन्दर छिपी हुई) होता है अर्थात् बाहर की शक्तियों के कारण नही होता।

4.5.1 उद्विकासीय प्रक्रिया की विशेषताएं

उद्विकास सम्बंधी उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम उद्विकास की प्रक्रिया की निम्नलिखित विशेषताएं बता सकते हैं।

1. यह धीमी तथा निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है।
2. यह क्रमिक परिवर्तन (निरन्तर होने वाला) कुछ निश्चित अवस्थाओं में होता है जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था के रूप में परिवर्तन की यह अवस्थाएं एक के बाद दूसरी आती रहती है। इन अवस्थाओं में एक क्रम होता है।
3. उद्विकास की प्रक्रिया के दौरान आने वाली अवस्था (उत्तरवर्ती) उसके पहले की (पूर्वावस्था) से उन प्रकार की होती है।
4. परिवर्तन की शक्ति अन्तर्निहित होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन की शक्तियां पहले से ही विद्यमान होती है।
5. उद्विकासीय अवस्थाएं उल्टे रूप में नहीं घटित होती हैं अर्थात् युवावस्था के उपरान्त पुन: बाल्यावस्था नहीं आती।

6. यह परिवर्तन सरलता से जटिलता। की ओर तथा समानता से भिन्नता की ओर होता है। उदाहरण के लिये आधुनिक औद्यौगिक युग कृषि युग से अधिक जटिल माना जाता है।

इस अवधारणा के आधार पर विभिन्न समाज शास्त्रीय प्रघटनाओं का अध्ययन हुआ परन्तु बाद में चलकर इस अवधारणा को समाजशास्त्रीय शोध में विशेष स्थान नहीं मिला। उद्वविकास की समीक्षा डार्विन के प्राणीशास्त्रीय विकासवाद की अवधारणा का प्रयोग विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाज के विकास की व्याख्या में प्रयोग किया। हबर्ट स्पेन्सर इसमें सर्वप्रथम थे। इन्होने सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक संरचना की व्याख्या उद्विकास के आधार पर की। हम विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिपादित उद्विकास की प्रक्रिया को देखेंगे :-

1.स्पेन्सर - सामाजिक संरचना के क्षेत्र में

प्रथम अवस्था	सारल	सभी अंग घुले मिले
द्वितीय अवस्था	विषम	श्रम विभाजन
तृतीय अवस्था	विषमतर	सभी क्षेत्रो में विशेषीकरण
चौथी अवस्था	विषमतम	सभी क्षेत्रो में विशेषीकरण एवं अंतनिर्भरता

2.मार्गन-सभ्यता के क्षेत्र में

प्रमुख अवस्था	उपअवस्था	विशेषता
1. अरण्यकय	निम्न स्तर	मानव उत्पति
	मध्य स्तर	अग्नि प्रयोग तथा मछली का शिकार
	उच्च स्तर	बाण वा धनुष का आविष्कार
2.बर्बरता	निम्न स्तर	बरतन बनाने की कला का आविष्कार
	मध्य स्तर	कृषि का प्रारम्भ तथा चरवाहे , पशु पालन
	उच्च स्तर	लोहे का प्रयोग हथियार वा उपकरण
3.सभ्यता	निम्न स्तर	भाषा तथा लिखने की कला
	मध्य स्तर	उच्च पेमाने पर व्यापार, मशीन का प्रयोग
	उच्च स्तर	पूंजीवाद, साम्यवाद, यूरोपियन सभ्यता

मार्गन ने विकासवाद को विवाह परिवार, नातेदारी आदि के संबन्ध में भी देखा। उनका कहना है कि परिवार ओर विवाह संस्थाओं का उद्विकास एक निश्चित क्रम में हुआ है जैसे प्रारम्भ में यौनाचार की अवस्था ओर किसी से भी यौनाचार किया जा सकता था तत्पश्चात समूह विवाह, बहुपति विवाह, बहुपत्नी विवाह आदि का प्रचलन हुआ। धीरे धीरे एक विवाह की स्थिति आई जिसे निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:

विवाह की अवस्थाएँ

प्रथम अवस्था	:	यौनाचार
द्वितीय अवस्था	:	समूह विवाह
तृतीय अवस्था	:	बहु पति विवाह

चतुर्थ अवस्था	:	बहु पत्नि विवाह
पंचम अवस्था	:	एक विवाह

परिवार के सन्दर्भ में भी मार्गन ने पाँच अवस्थाएं बताई जो निम्न हैं :

परिवार को अवस्थाएं

प्रथम अवस्था	:	रक्त सम्बन्धी परिवार
द्वितीय अवस्था	:	समूह परिवार
तृतीय अवस्था	:	सिण्डे श्मियन परिवार
चतुर्थ अवस्था	:	पितृ सत्तात्मक परिवार
पंचम अवस्था	:	एक विवाही परिवार

टायलर ने भी जनजातीय धर्म का अध्ययन करके इसके विकास की निम्न अवस्थाएं बताई :-

धर्म की अवस्थाएं

1. पूर्वजों की पूजा
2. अनेक देवी देवताओं की पूजा (बहुदेवत्ववाद)
3. एक ईश्वर की पूजा (एकेश्वरवाद)

हैडुन ने कला के क्षेत्र में विस्तृत अध्ययन के आधार पर यह बताया कि मानव ने सर्व प्रथम यर्थाथवाद कला के माध्यम से बाद में संकेतवादी कला के माध्यम से अपनी भावनाओं को दर्शाया। कला के विकास की निम्न अवस्थाएं है:

1. यर्थाथवादी कला
2. संकेतक कला
3. रेखा चित्र

4.6 प्रगति (Progress)

प्रगति हालांकि उद्विकास एवं प्रगति दोनों ही परिवर्तन के प्रत्यय है परन्तु दोनों में मूलत: बहुत अधिक अन्तर है। उद्विकास स्वत: होता है जबकि प्रगति मानव द्वारा संचालित संयोजित (योजनाबद्ध) परिवर्तन है। प्रगति दो बातों पर निर्भर करती है प्रथम लक्ष्य की प्रकृति एवं द्वितीय लक्ष्य से हमारी दूरी।

जब हम यह कहते हैं कि हम प्रगति कर रहे हैं तब हमारा तात्पर्य समाज में होने वाली भौतिक तथा नैतिक उन्नति से होता है। यह स्थिति इस बात की परिचायक है कि समाज के अधिकतर लोग या संस्थाएं ऐसे सामान्य हितों को प्राप्त करने में लगे हुये हैं जिन्हे वह स्वनिर्णय एवं स्वतंत्रता से प्राप्त कर सकता है।

प्रगति के इन्ही पक्षों को स्पष्ट करते हुये आर्गबन एवं निमकाफ ने लिखा है कि प्रगति का अर्थ अच्छाई के लिये परिवर्तन से है ओर इसलिये प्रगति में मूल निर्णय होता है अत: प्रगति वांछित (इच्छानुसार) परिवर्तन हैं।

मैकाइवर एवं पेज ने कहा है कि प्रगति वस्तु परक नही बल्कि व्यक्ति परक सम्बोध है इसका तात्पर्य यह है कि हम यह नही कह सकते कि अमुक परिवर्तन प्रगति है या अमुक परिवर्तन अवन्नति है क्योंकि प्रत्येक समाज के मूल्य अलग अलग होते है। कहने का तात्पर्य

यह है कि उद्विकास प्रगति नही है। जब वास्तव में प्रगति क्या है? मैकावर ओर पेज ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुये लिखा है कि जब हम प्रगति की बात करते हैं तो हम केवल दिशा संकेत नही देते हैं अपितु अंतिम लक्ष्यों की और ले जाने वाली दिशा की और संकेत करते हैं जोकि आदर्शो द्वारा निर्धारित होती है न कि उसके वस्तु परक विचारों द्वारा।

जिन्सबर्ग ने प्रगति को परिभाषित करते हुये लिखा है कि प्रगति एक दिशा में होने वाला परिवर्तन है न कि प्रत्येक दिशा में होने वाला।

4.6.1 प्रगति की विशेषताएं

1. प्रगति स्वत: नही होती है अपितु समाज के सदस्यो के नियोजित प्रयासों द्वारा प्राप्त की जाती
2. प्रगति का सम्बोध मानव समाज के लिये ही लाग होता है न कि पशु समाज के लिये।
3. प्रगति में निहित मूल्य सामूहिक होते हैं न कि व्यक्ति विशेष के।
4. प्रगति वांछित दिशा में होने वाला परिवर्तन है।
5. यह सापेक्षिक सम्बोध है अर्थात् यह सार्वभौमिक नही है क्योंकि यह समय, स्थान और काल के साथ बदलता है।
6. प्रगति एक नैतिक अवधारणा है। प्रगति का निर्णय अच्छे तथा बुरे, सही तथा गलत के आधार पर किया जाता है।

उद्विकास और प्रगति की विस्तृत व्याख्या के आधार पर स्पष्ट है। हालांकि दोनों परिवर्तन के ही सम्बोध है फिर भी दोनों में काफी अन्तर है जो निम्नलिखित है

4.6.2 उद्विकास एवं प्रगति में अन्तर

	उद्विकास		प्रगति
1.	परिवर्तन स्वत: और प्राकृतिक नियमों के अनुरूप होता है।	1.	परिवर्तन नियोजित और सचेतन चेष्टाओं और प्रयासो का परिणाम है।
2.	उद्विकास से उत्पन्न परिवर्तन से समाज का कल्याण हो भी सकता है और नही भी।	2.	प्रगति से उत्पन्न परिवर्तन हमेशा समाज । कल्याण के लिये होता है ।
3.	उद्विकास सार्वभौमिक रूप से सत्य है।	3.	प्रगति सापेक्षिक है और यह समय और स्थान
4.	उद्विकास एक जैवकीय अवधारणा है और के साथ बदलती है। स्वभाविक परिवर्तन से सम्बन्धित है।	4.	प्रगति एक जैविक धारणा है जो यह निश्चित समय अच्छे बुरे से नही है। करती है कि कौनसा परिवर्तन समाज के लिये उचित और कौनसा अनुचित है
5.	उद्विकास की प्रक्रिया शनै: शनै: होती है ।इसकी गीत धीमी होती	5.	प्रगति आसानी से आंखों से दिखती है और इसकी गति अपेक्षाकृत तीव्र होती है।

	है और इसे आंखों से देखा नही जा सकता।		
6.	उद्‌विकास के सोपान क्रमिक हैं और यह सोपान (अवस्था मे) स्वत: एक आयाम है	6.	प्रगति क्योंकि मानव के सृजन तथा रचनात्मक इसलिये इनमें स्वत: एवं क्रमिक सोपान नही हो सकते हैं।

4.6.3 सामाजिक प्रगति के मानदण्ड

हालांकि किसी भी समाज की सामाजिक प्रगति को नापना एक जटिल कार्य है फिर भी कुछ स्थितियों के आधार पर मानकीकरण नापने का आधार किया जा सकता है। बोगार्डस ने सामाजिक प्रगति के इसी प्रकार के चौदह मापदण्डों की कल्पना की है जो निम्नलिखित है -

1. सार्वजनिक हित के लिये प्राकृतिक साधनों का लाभप्रद प्रयोग।
2. शारीरिक और मानसिक दृष्टिकोण से अधिक से अधिक लोगों का स्वस्थ होना।
3. स्वस्थ वातावरण में वृद्धि।
4. स्वस्थ वातावरण में वृद्धि।
5. मनोरंजन के उपयोगी साधनों में वृद्धि।
6. पारिवारिक संगठन की मात्रा में वृद्धि।
7. रचनात्मक कार्यो के लिये अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने की सुविधा।
8. व्यापार व उद्‌योगों में जनता के अधिकारों की वृद्धि।
9. सामाजिक सुरक्षा के उपायों में वृद्धि।
10. समाज के जीवन स्तर में विकास।
11. सरकार एवं' जनता के बीच अधिकाधिक पारस्परिक सहयोग की भावना।
12. कलाओं का अधिक से अधिक प्रसार।
13. समाज में आध्यात्मिक व धार्मिक पक्षों का विशेष विकास।
14. व्यावसायिक, बौद्धिक व कल्याणकारी शिक्षा का विस्तार।
15. सहयोगी व सहकारी जीवन में वृद्धि।

उपर्युक्त दशाओं के आधार पर यह माना जा सकता है कि चहुंमुखी विकास ही सामाजिक प्रगति का मानदण्ड है।

4.7 परम्परा (Custom)

साधारण शब्दों में परम्परा जैसा है को अपनाने की प्रवृति है अर्थात् परम्परा में समाज में चली आ रही प्रथा रूढीयों रिती रिवाजों को अपनाने पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें परिवर्तन को महत्व नहीं दिया जाता है इस शब्द का प्रयोग ऐसे व्यवहारों और विश्वासों के लिये किया जाता है जिनका प्रचलन किसी समूह मे लम्बे समय से किया जा रहा है।

समाज का सदस्य होने के कारण मनुष्य को दो प्रकार की विरासत प्राप्त होती है (1) जैवकीय विरासत के रूप में उसे माता पिता से शारीरिक लक्षण प्राप्त होते हैं तथा (2) सामाजिक संस्कृति विरासत के रूप में धर्म,रीतिरिवाज प्रथा, कानून, दर्शन, विचार आदि। यह

अभौतिक पक्ष है। परम्परा के नाम से जाना जाता है। वास्तव में विश्व का कोई भी समाज ऐसा नही है जो परम्परा से मुक्त हो परम्पराएं समाज की आधार शिला बन जाती है यही परम्पराएँ समाज गौरव रूप में व्यक्ति को सामाजिक सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त होती है।

परम्परा अंग्रेजी के ट्रेडिशन (Tradition) शब्द ट्रेडरे (Trader) से बना है। जिसका अर्थ हस्तान्तरित करना से है इसी सन्दर्भ में विभिन्न समाजशास्त्रियों ने इसको परिभाषित किया है।

रास के अनुसार :परम्परा चिंतन एवं विश्वास करने की विधि का दूसरी पीढ़ियों का स्थानान्तरण है।

कोलमेन के अनुसार : उन सभी व्यवस्थाओं में विश्वास करने से जिनकी शक्ति और वैध्यता स्वयं परंपरागत मूल्यों पर आधारित है ।

जिन्सबर्ग के अनुसार: परम्परा का तात्पर्य उन सम्पूर्ण विचारों, आदतों और प्रयासों के योग से है जो एक समूह की विशेषता से हैं।

4.7.1 परम्परा की विशेषताएं

रास, कालमेन जिन्सबर्ग, सिल्स आदि समाजशास्त्रियों के विचारानुसार परम्परा की निम्नलिखित विशेषताएं है।

1. मन्द रूपान्तरण (धीमा परिवर्तन) सामान्यत: यह माना जाता है कि परम्पराएं कठोर होती है और उनमें परिवर्तन सम्भव नही होता है परन्तु ऐसा नही है परम्पराओं में परिवर्तन बहुत ही धीमी गति से होता है उदाहरण के लिये संयुक्त परिवार और जाति प्रथा भारतीय समाज की परम्पराएं हैं पर उनमें अनेक परिवर्तन हुये हैं।
2. अमूर्त यह संस्कृति के अभौतिक पक्ष से सम्बधित है इसलिये अमूर्त होती है।
3. हस्तान्तरण यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती है।
4. निरन्तरता हस्तान्तरण के गुण के कारण ही परम्पराओं में निरन्तरता बनी रहती है और भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य की और निरन्तर रूप से चलती रहती है।
5. कठोर इनमें लचीलापन कम होता है सामान्यत: इन्हे परिवर्तन विरोधी माना जाता है।
6. सामूहिक कल्याण परम्पराएं लोककल्याण या सामूहिक कल्याण की भावना के कारण ही जीवित रहती है।
7. पवित्रता परम्पराओं के प्रति लोगों के मन में पवित्रता की धारणा होती है इसलिये इनको सम्मान की दृष्टि से देखा गया है।
8. अनुभव पूर्ण यह समूह के अनुभव का प्रतीक होती है।
9. ग्रहणशीलता परम्पराओं का केवल सम्प्रेषण ही नही होता बल्कि नवीन पीढ़ी द्वारा उन्हे ग्रहण भी किया जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि परम्परा वह है जो बहुत लम्बे समय से चली आ रही किसी परिपाटी की और संकेत करती है करती है और इस कारण यह नवीनता की विरोधी है अर्थात् वह उन्ही मूल्यों को स्वीकार करते है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चले आते हैं। अथवा उनका पालन इसलिये किया जाता है कि बीते हुये समय में भी उनका पालन किया जाता रहा है।

परम्परा के सन्दर्भ में ही सामाजिक परिवर्तन की प्रमुख प्रक्रिया के रूप में हम आधुनिकरण की अवधारणा का विवेचन करेगें।

4.8 आधुनिकीकरण (Modernization)

दूसरे विश्व युद्ध के बाद के दशकों में तीसरी दुनिया द्वारा अनुभव की जाने वाली चुनोतियों के प्रति यह एक प्रतिक्रिया के रूप में उभरा। विश्व के लगभग सभी समाजों से राजनितिक उपनिवेशकता (अंग्रेजों का राज्य) समाप्त होने लगी थी। और भारत की तरह अन्य स्वतंत्र राष्ट्र भी आर्थिक विकास तथा प्रोद्योगिकी के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहते है। पश्चिमी सामाजिक विज्ञान इस परिवर्तन की स्थिति में सहयोग के लिये आगे आये और विकसित देशों के विकास के लिये अलग अलग प्रारूप उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप प्रस्तुत करने लगे। आधुनिकीकरण इसी प्रकार का वैचारिक प्रारूप था जिसमें तीसरी दुनिया को बहुत अधिक आकर्षित और प्रभावित किया और तीसरी दुनिया का यह विश्वास था कि आधुनिकीकरण ही एक ऐसा प्रारूप है जिससे विकास सम्बन्ध है। पश्चिमीकरण की तरह यह मूल्य ग्रसित नही था पश्चिमीकरण क्यों कि गोरो (अंग्रेजों) की संरचित के साथ जुडा था इसलिए मूल्य ग्रस्त था और तीसरी दुनिया के द्वारा इसे नापसन्द किया जाना स्वाभाविक था। आधुनिकीकरण शब्द को अलग अलग क्षेत्रों के विद्वानों ने अलग अलग रूप से प्रयुक्त किया है। अर्थशास्त्री इसे प्रतिव्यक्ति आय की वृद्धि के रूप में देखते हैं। राजनीति शास्त्री इसे राज्य द्वारा समाज के नवनिर्माण के रूप में दर्शाते हैं और राज्य द्वारा ऐसी नीतियों के निर्माण के रूप में देखा है जो मानव कल्याण के लिये राज्य की क्षमताओं को बढ़ाती है। प्रारम्म में इस शब्द का प्रयोग 'अर्थव्यवस्था में परिर्वतन और सामाजिक मूल्यों और प्रथाओं पर इसके प्रभाव के रूप में किया जाता था अर्थात् ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता था जिसमें कृषि प्रदान समाज को आधुनिक औद्यौगिक अर्थव्यवस्था वाले समाज में परिवर्तित कर दिया है।

साधारण शब्दों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तार्किकता पर आधारित है तथा यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा ऐसे लक्षण की प्राप्ति जिससे समाज का कल्याण हो और समाज अच्छे संतोषजनक जीवन की ओर अग्रसर हो इन तथ्यों की प्राप्ति के लिये वैज्ञानिक ज्ञान को समाज तक पहुँचाना।

विभिन्न समाज शास्त्रियों ने आधुनिकीकरण पर बहुत कुछ लिखा है हम कुछ विद्वानों की परिभाषाओं को प्रस्तुत करेगें।

1. लेवी ने इसे प्रोद्यौगिकी वृद्धि के रूप में देखा
2. योगेन्द्र सिंह साधारणत: आधुनिक होने का अर्थ फैशनेबल होने से ले लिया जाता है परन्तु ऐसा नहीं है वह आधुनिकीकरण को एक सामाजिक प्रत्यय मानते हैं और इसमें निम्न तत्व बताते हैं :
    1. तार्किक अभिवृद्धि
    2. सार्वभौमिक दृष्टिकोण
    3. वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण
    4. मानवता

5. प्रौद्यौगिकी प्रगति

3. लर्नर ने आधुनिकीकरण को व्याकुल रचनात्मक चेतना कहा है अर्थात् ऐसा परिवर्तन जिसमें व्यक्तिवाचक जनसमूह तथा सार्वजनिक संस्थाओं सब मिलकर सकारात्मक रूप से चेतन हो। इन्होने आधुनिकीकरण में निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है।

1. बढ़ती हुई साक्षरता
2. बढ़ता हुआ नगरीकरण
3. गतिशीलता में वृद्धि
4. धर्म निरपेक्ष मानदंड
5. प्रजातांत्रिक प्रतिनिधित्व
6. व्यक्तित्व में निपुणता, तार्किकता तथा स्वीकार भाव के गुण

4. आईजन स्टैड आधुनिकीकरण को विभिन्न क्षेत्रों में निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया है

1.	आर्थिक क्षेत्र :-	ओद्योगिकीकरण नगरीकरण एवं उच्च स्तर की प्रौद्योगिकी
2.	राजनैतिक क्षेत्र	(1) समूह में शक्ति का प्रसार
		(2) वयस्कों को मताधिकार
		(3) संचार के साधनों का विकास
		(4) धर्म निरपेक्ष व कल्याणकारी राज्य की स्थापना
		(5) शिक्षा मकान रोजगार की व्यवस्था
3.	सांस्कृतिक क्षेत्र	(1) विभिन्न समाजों के साथ अनुकूलन क्षमता में वृद्धि
		(2) दूसरों के प्रति परानुभूति (empathy) संवेदनहीनता
4.	संरचना के क्षेत्र में	(1) संगठनों का आकार बढ़ाना
		(2) संगठनों के कार्य में जटिलता
		(3) विभेदीकरण एवं विशेषज्ञता
		(4) संस्तरण की खुली व्यवस्था प्रदत्त (जन्म) की जगह अर्जित पद
5.	परिस्थितिकीय क्षेत्र में	(1) नगरीकरण की वृद्धि

इनकलस ने आधुनिकीकृत व्यक्तित्व की विशेषताएं बतायी है :-

1. नये विचारों की स्वीकृति
2. नयी पद्धति का प्रयोग
3. अपना मत देने के लिये तैयार रहना
4. समय की नियमितता का पालन करना
5. भूतकाल की अपेक्षा वर्तमान व भविष्य में अधिक रूचि रखना
6. समय बोध की जागरूकता
7. नियोजन व कार्य क्षमता
8. विश्व के प्रति अधिक व्यवहारिक दृष्टिकोण

उपर्युक्त विवरण के आधार पर दो तथ्य स्पष्ट हैं (1.) तार्किकता (2.) वैज्ञानिक दृष्टिकोण और इसी कारण आधुनिकीकरण का प्रयोग पश्चिमीकरण, औद्योगिकरण और नगरीकरण के बदले या पर्याय के कप में प्रयोग नहीं किया जा सकता ना ही इनके साथ मिलाया जा सकता है।

4.8.1 आधुनिकीकरण कीं विशेषताएं

हालांकि विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत विशेषताओं के आधार पर आधुनिकीकरण का अर्थ स्पष्ट हो चुका है परन्तु फिर भी हम इनकी विशेषताओं की आख्या करेंगें।

मूरे के अनुसार आधुनिक समाज के विशेष आर्थिक राजनैतिक और सांस्कृतिक लक्षण होते हैं

आर्थिक क्षेत्र में :-
1. उच्च तकनीकी प्रोद्यौगिकी का विकास ।
2. कृषि सम्बन्धी रोजगार का कम होना।
3. नौकरी उद्योग व्यापार का अधिक होना।
4. बाजार की व्यवस्था, मुद्रा बाजार।

राजनैतिक क्षेत्र में :-
1. प्रजातंत्रीय समाज।
2. शक्ति का विकेन्द्रीकरण।

संस्कृतिक क्षेत्र में:-
1. धर्म निरपेक्ष (सब धर्म समान)।
2. वैज्ञानिक दृष्टिकोण।
3. शिक्षा का विस्तार।

संक्षेप में आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण निम्न हैं.

1. वैज्ञानिक दृष्टिकोण
2. तार्किकता
3. धर्म निरपेक्ष
4. उच्च आकांक्षाएं
5. मूल्यों और अभिरूचियों में परिवर्तन
6. नवीन संस्थाओं की रचना
7. अर्थव्यवस्था में परिवर्तन
8. राष्ट्र हित सर्वोपरि
9. मुक्त समाज
10. गतिशील व्यक्तित्व

आधुनिकीकरण एवं परम्परा के इन्ही सन्दर्भों में हम दोनों में अन्तर देखेंगे हालांकि दोनों में से किसी का भी शुद्व रूप नहीं मिल सकता है।

4.8.2 परम्परा एवं आधुनिकीकरण में अन्तर

परम्परा	आधुनिकीकरण
1. पीढ़ी पर पीढ़ी हस्तानान्तरण	तर्क विवेक पर आधारित

2. सामूहिक शक्ति के रूप में	व्यक्तिगत शक्ति के रूप में
3. समाज में स्थिरता	समाज में गतिशीलता
4. कठोरता से पालन	लचीला दृष्टिकोण
5. निरन्तरता	आवश्यकतानुसार परिवर्तन
6. सामूहिक कल्याण	व्यक्ति या समूह दोनों ही
7. विशेष सामाजिक पर्यावरण को दर्शाता है	विशेष दृष्टिकोण को दर्शाता है
8. परम्परा के पालन का पवित्र भाव	परम्पराओं का विरोध या उनके प्रति उदासीनता
9. संकुचित दृष्टिकोण	व्यापक दृष्टिकोण

4.9 संस्कृतिकरण

भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तित की प्रक्रिया को समझने के लिये अनेक अवधारणाओं का विकास हुआ जैसे लघु एवं वृहत परम्परा, सार्वभौमीकरण ओर स्थानीयकरण आदि। संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण ऐसी ही दो प्रक्रियाएं है जो प्रोफेसर एम.एन. श्रीनिवास ने 1952 में परिवर्तन को समझने के लिये विकसित की। आपने संस्कृतिकरण की निम्न परिभाषा दी है।

संस्कृतिकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक निम्न जाति या अन्य समूह एक उच्च जाति विशेषत: एक द्विज जाति की प्रथाओं, धार्मिक कृत्यों, आस्थाओं, विचारधारा ओर जीवन प्रणाली को अपनाता है।

परन्तु इस परिभाषा के पहले श्रीनिवास ने ब्राह्मणी करण की प्रक्रिया की अवधारणा को विकसित किया था। श्रीनिवास जब दक्षिण भारत में मैसूर के कुर्ग लोगों में परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन कर रहे थे तब उन्होने पाया कि निम्न जाति के समूहों ने ब्राह्मणों की प्रथाओं, कर्मकाण्डों, जीवन पद्धतियों, भोजन सम्बन्धी शाकाहारी आदतों, रहन सहन के तरीकों को अपनाने का प्रयत्न किया। निम्न जातियां क्योंकि ब्राह्मणों के तौर तरीकों का अनुकरण (नकल) करनें का प्रयत्न किया। और जातीय संस्तरण में (जातीय संस्तरण में श्रेष्ठता के क्रम से क्रमश: ब्राह्मण क्षत्रीय वैश्य और शुद्र हैं) में एक पीढ़ियों के बाद उच्च स्थान प्राप्त करने में प्रयासरत थीं इसलिये प्रारम्भ में श्री निवास ने इस प्रक्रिया का नाम ब्राह्मणी करण रखा।

परन्तु बाद में श्रीनिवास ने पाया कि निम्न जातियां ब्राह्मणों के अतिरिक्त उच्च जातियों के रहन सहन, खान पान का अनुकरण करती है और अपने जीवन में अपनाती है ओर इस प्रक्रिया की व्याख्या ब्राह्मणीकरण शब्द द्वारा नहीं हो सकती थी क्योंकि ब्राह्मणों के अतिरिक्त भी अन्य द्विज जातियों जैसे राजपूत, बनिया आदि जातियों का भी अनुकरण कर रही थी ओर इसी कारण श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया की व्याख्या के लिये ब्राह्मणीकरण के स्थान पर संस्कृतिकरण शब्द का प्रयोग किया।

4.9.1 संस्कृतिकरण का अर्थ

प्रोफेसर श्रीनिवास ने 1966 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "सोशियल चेन्ज इन मॉर्डन इडिया" में संस्कृतिकरण को इस प्रकार परिभाषित किया है - संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई नीच हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च ओर प्राय: द्विज जाति की दिशा में अपने रीतिरिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा ओर जीवनशैली को बदलता है। आमतौर पर ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति परम्परा से स्थानीय समाज द्वारा जातिय सौपान में जो स्थान मिला हुआ है, उससे ऊंचे स्थान का दावा करने लगती है। सामान्यतौर पर बहुत दिनों तक बल्कि वास्तव में एक-दो पीढ़ियों तक दावा किये जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती हैं।

उपर्युक्त परिभाषा में ही प्रोफेसर श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की कई विशेषताओं को उजागर किया है हम संक्षेप में उन विशेषताओं का वर्णन करेगें जिनको श्रीनिवास, योगेन्द्र सिंह, मिल्टन सिंगर, पोकाक आदि ने बताया है। चित्र में केवल प्रमुख विशेषताओं को प्रस्तुत किया गया है।

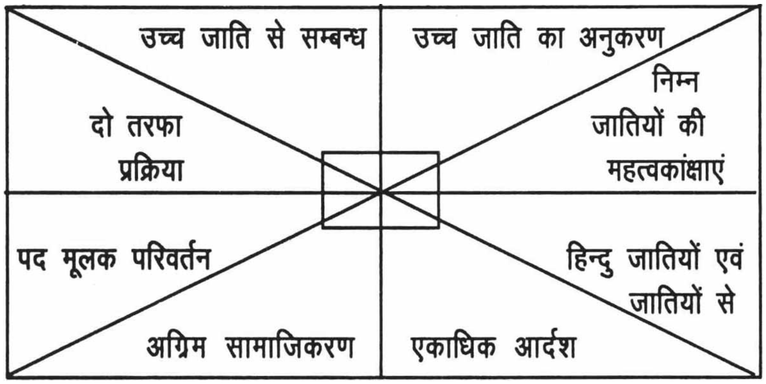

4.9.2 संस्कृतिकरण की विशेषताएं

1. उच्च जाति का अनुकरण संस्कृतिकरण की प्रक्रिया की प्रमुख विशेषता यह है कि निम्न जातियां ही उच्च जातियों के संस्कारों का अनुकरण करके अपनी जीवन शैली को अपनाने का प्रयास करके ऊंचा उठना चाहती है नाकि उच्च जाति द्वारा निम्न जाति का अनुकरण। क्योंकि जाति व्यवस्था में निम्न जातियों को निर्योग्यताएं प्राप्त है अर्थात वह अछूत है उनको यज्ञों पवित्र धारण करने का अधिकार नही है चमार, धोबी, तेली, मेहतर आदि इन जातियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनजातियों में भील, ओराव संथाल आदि शामिल हैं। हरिजन, अछूत ओर अनुसूचित जातियां प्रमुख है।
2. उच्च जातियों से सम्बन्ध संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में यह आवश्यक है कि जो निम्न जातियां जाति व्यवस्था में स्वंय की स्थिति को ऊँचा उठाना चाहती है उनका संबन्ध दो तीन पीढ़ियों से उच्च जातियों के साथ हो अर्थात यह प्रक्रिया अचानक नही होती है।
3. दोतरफी प्रक्रिया यह प्रकिया दो तरफ की है निम्न जातियां जहां उच्च जाति से लेती है। वहां इन जातियों को देती भी है। हिन्दुओं के देवी देवताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण

स्थानीय देवी देवताओं की पूजा भी करते हैं। विशेषत: तव जब कोई विशेष आपात स्थिति हो जैसे महामारी, पशुधन रक्षा आदि।

4. सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन मौलिक रूप से यह प्रक्रिया मात्र सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं है। यह सांस्कृतिक परिवर्तन की तरफ भी इंगित करती है। सांस्कृतिक परिवर्तन में भाषा, धार्मिक विधान, संगीत कला आदि कई क्षेत्र आते है। मिल्टन सिंगर ने भी इसे समाज और संस्कृति दोनों में ही परिवर्तन होना बताया है।

5. पदमूलक परिवर्तन श्री निवास का कहना है कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से गतिशीलता उत्पन्न होती है परन्तु यह गतिशीलता बहुत कम होती है अर्थात व्यक्ति अपनी स्थिति को जातीय धरातल में थोड़ा ही ऊँचा उठ पाता है। संरचनात्मक आधार पर जातीय अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हो पाता है अर्थात जातीय ढांचा वैसे का वैसा रहता है। ब्राह्मण सबसे उपर और शूद्रों की स्थिति सबसे नीचे ही रहती है।

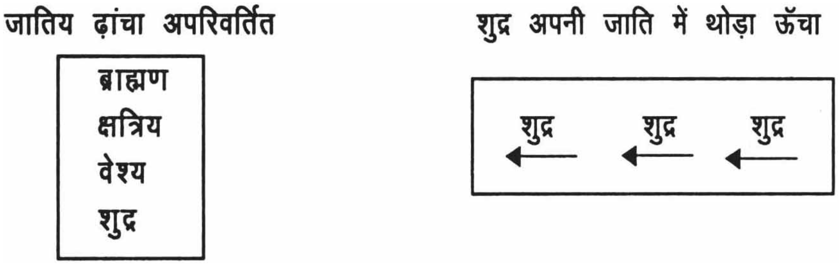

6. अग्रिम सामाजिकरण योगेन्द्र सिंह के अनुसार संस्कृतिकरण सामाजिकरण की वह प्रक्रिया है जिसमें निम्न जाति उन जाति के संस्कारों और संस्कृति को इस आशा में सीखती है कि भविष्य में वह उस उच्च जाति की सदस्यता प्राप्त कर लेगी। अर्थात् सदस्यता प्राप्त करने के लिये पहले से प्रयास करना जैसे मांस मदिरा आदि का त्याग, बलि प्रथा तथा तलाक प्रथा की समाप्ति।

7. संस्कृतिकरण सार्वभौमिक और पुरातन श्रीनिवास ने वैदिक काल से आज तक के समय में विभिन्न जातियों द्वारा ऊँचा उठने के प्रयासों के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं।

8. अनेक आदर्श प्रारम्भ से ही श्रीनिवास ने केवल मात्र ब्राह्मण आदर्श पर ही बल दिया था परन्तु बाद के अध्ययनों के आधार पर उन्होंने माना कि ब्राह्मणों के अलावा अन्य प्रतिमान जैसे क्षत्रिय, वैश्य या प्रभुत्व जाति भी हो सकती है।

9. हिन्दू एवं जन जातियों से सम्बन्धित :- यह प्रक्रिया केवल हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह प्रक्रिया जन जातिय समुहों में भी देखी जा सकती है। जैसे पश्चिमी भारत के मील मध्य भारत के गोड़ और औराव जनजाति आदि। यह जनजातियां धीरे धीरे एक जाति होने का दावा करने लगती है और अपने को हिन्दू मानने लगती है।

10. संस्कृतिकरण की इकाई-समूह इस प्रक्रिया का सम्बन्ध सम्पूर्ण समूह से होता है अर्थात् यह व्यक्ति विशेष या परिवार से ही संबन्धित नहीं है इसमें पूरा समूह गतिशील होता है अर्थात् इसमें कई सम्पूर्ण हिन्दू जाति अथवा सम्पूर्ण जनजाति द्वारा ऊँचा उठने का प्रयत्न किया जाता है।

11. निम्नजातियों की महत्वाकांक्षा संस्कृतिकरण की प्रक्रिया इस बात का संकेत है कि निम्न जातियों में ऊपर उठने की इच्छा होती है वहीं निम्न जातियां उन जातियों के संस्कारों, रीति रिवाजों आदि की जीवनशैली को अपनाने का प्रयत्न करती है।

संस्कृतिकरण के स्रोत एवं प्रोत्साहन के कारक

श्रीनिवास ने प्रारम्भ में संस्कृतिकरण के ब्राह्मण आदर्श पर विशेष बल दिया था परन्तु अन्य समाजशास्त्रियों जैसे पोर्कोक, मिल्टन सिंगर, शाह. शर्राफ आदि ने क्षत्रिय एवं अन्य वैश्य आदर्शों की बात भी की स्वंय श्रीनिवास ने भी एकाधिक आदर्शों की बात की जो निम्न है:

1. संस्कृतीय आदर्श निम्न जाति के सदस्य उन जाति के संस्कारों को अपनाते है जैसे यज्ञोपवित धारण करना, गोश्त ओर मदिरा का त्याग करना, उपजाति अन्तर्विवाह को मान्यता देना, विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित न करना तथा पूजा पाठ करना शाकाहारी भोजन, दान, भजन कीर्तन करना आदि।
2. वर्ण आदर्श हिन्दू समाज के चार वर्ण है ब्राह्मण, क्षत्रिय,वैश्य ओर शुद्र,पॉचवा वर्ण अछूतों को हो सकता है इन वर्णो की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा समयकाल ओर स्थान के अनुरूप बदलती रही है।

कहीं राजपूत शैली का अनुकरण तो कहीं वैश्यों का अनुकरण भी देखने को मिलता है हालांकि ब्राहमण श्रेष्ठतम आदर्श माना जाता है।

स्थानीय आदर्श किसी समाज में ब्राहमण के अलावा अन्य जातियां अपना विशेष स्थान रखती है। इन्हें प्रभु जाति कहा जाता है निम्न जातियां इन प्रभु जातियों की जीवन शैली का अनुसरण करती हैं।

श्रीनिवास का कहना है कि संस्कृतिकरण संचालित प्रक्रिया नहीं है इसको प्रोत्साहित करने बाते अनेक कारक या स्रोत हो सकते हैं, जैसे आर्थिक सुधार, राजनैतिक शक्ति का संचयन. शिक्षा, नेतृत्व और सोपान में ऊँचे उठने की इच्छा। जब तक व्यक्ति के मन में समाज में ऊँचा उठने की इच्छा नही होगी तब तक यह प्रक्रिया नही हो सकती है।

4.10 पश्चिमीकरण

भारतीय समाज में सदियों से परिवर्तन हो रहा है उन्नीसवीं सदी तक सामाजिक परिवर्तन की गीत बहुत धीमी थी परन्तु बीसवीं सदी में यह गति तीव्र होती चली गई इस परिवर्तन के लिये आन्तरिक एवं बाहय दोनों ही कारक क्रियाशील थे। आन्तरिक कारक वह कारक थे जो भारतीय समाज की संस्थाओं और उससे जुड़े मूल्यों में विद्यमान थे। बाहय कारकों में उन कारकों को लिया जायेगा जो विदेशी संस्कृति के सम्पर्क के कारण उत्पन्न हुए। प्रथम प्रकार (आन्तरिक) में हम संस्कृतिकरण को ले सकते हैं जिसका वर्णन हम कर चुके हैं। बाहय कारक में हम पश्चिमीकरण को ले सकते हैं जिसका वर्णन अग्रलिखित है।

सर्वप्रथम डॉ. एम.एन. श्रीनिवास ने ही पश्चिमीकरण की अवधारणा के माध्यम से वाहय कारकों का व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया।

पश्चिमीकरण का प्रयोग श्रीनिवास ने गैर पश्चिमी समाज की संस्थाओं, विचार धारा, मूल्यों और प्रायोगिकी में परिवर्तन के लिये किया है जो लम्बे समय तक पश्चिमी समाज के

सांस्कृतिक सम्पर्क का फल है अर्थात् साधारण शब्दों में भारतीय समाज में पश्चिमी देशों विशेषतया अंग्रेजों के सम्पर्क को समझने के लिये इसका प्रयोग हुआ।

4.10.1 पश्चिमीकरण का अर्थ

भारतीय समाज के शिक्षा, कानून, अर्थ व्यवस्था, प्रशासन, रहन सहन, खान पान, वेशभूषा, साहित्य, कला, दर्शन, विचार तथा कई बातों पर अंग्रेजी शासन का गहरा प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव की प्रक्रिया को श्रीनिवास तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने पश्चिमीकरण का नाम दिया है। हम महत्वपूर्ण परिभाषाओं की व्याख्या करेंगे।

श्रीनिवास के अनुसार पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग भारतीय समाज एक संस्कृति में उन परिवर्तनों के लिये किया जाता है जो एक सौ पचास वर्षो से अधिक समय से अंग्रेजी राज्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुये हैं और यह शब्द प्रोद्योगिकी, संस्थाओं, वैचारिक एवं मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों का अपने में समावेश करता है।

योगेन्द्र सिंह ने मानवतावाद और तार्किकता को पश्चिमीकरण का प्रमुख अंग बताया है जिसमें भारत में संस्थागत तथा सामाजिक सुधारों का सिलसिला प्रारभ किया। इस अवधारणा के अन्तर्गत भारत में होने वाले उन सभी सांस्कृतिक परिवर्तनों और संस्थात्मक नवीनताओं को लिया है जो इस देश में पश्चिमी देशों प्रमुखतः संयुक्त. राज्य (यू.के.) के साथ राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण आये।

4.10.2 पश्चिमीकरण कीं विशेषताएं

श्रीनिवास तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने पश्चिमीकरण की निम्न विशेषताएं बताई है।

1. वैज्ञानिक यह विषयीगत न होकर वस्तुगत है कर्म वस्तुनिष्ठ (Objective) है पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप जो परिवर्तन आये उनका वैज्ञानिक विश्लेषण है।
2. व्यापक यह अवधारणा व्यापक इसलिए है क्योंकि इसमें भौतिक एवं अभौतिक सभी प्रकार के परिवर्तनों को लिया गया है जैसे धर्म, परिवार. जाति, प्रौद्योगिकी, प्रथा. आदर्श खान-पान, रहन सहन आदि।
3. तटस्थ श्रीनिवास का कहना है कि यह अवधारणा नैतिक रूप तटस्थ है अर्थात् पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तन लिये जाते हैं। वह परिवर्तन अच्छा है या बुरा यह इसकी विषय सामग्री नही है।
4. विभिन्न प्रारूप पश्चिमीकरण के कई प्रारूप हो सकते हैं, अलग अलग देशों की संस्कृति अलग अलग है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि में इसके अनेक प्रारूप दिखते है।

श्रीनिवास के अनुसार भारत में अंग्रेजी आदर्श ही परिवर्तन को समझने के लिये उपयुक्त है।

4.10.3 भारत में पश्चिमीकरण

श्रीनिवास ने भारत में पश्चिमीकरण के प्रभाव सम्बंधी तीन पक्ष बताये जिनकी विस्तृत व्याख्या निम्नलिखित वर्णन में करेंगे:-

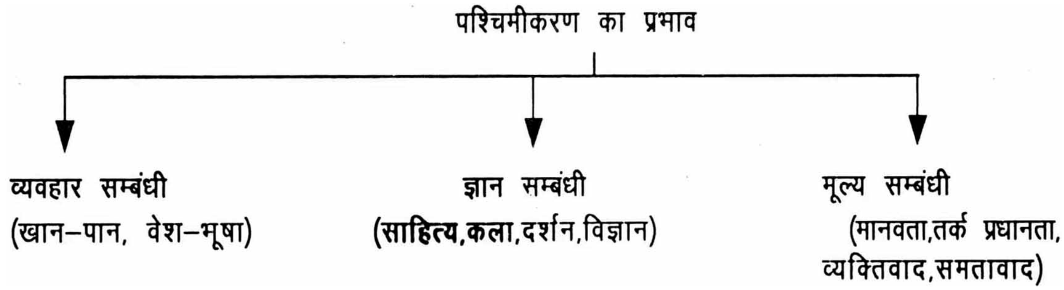

हालांकि श्रीनिवास ने परिवर्तन, तीन पक्षों में बांटा है परन्तु हम इसके प्रभाव की विस्तृत व्याख्या करेंगे जो विद्यार्थियों के लिए सुविधाजनक और बोधमय होगी।

4.10.4 पश्चिमीकरण के सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव

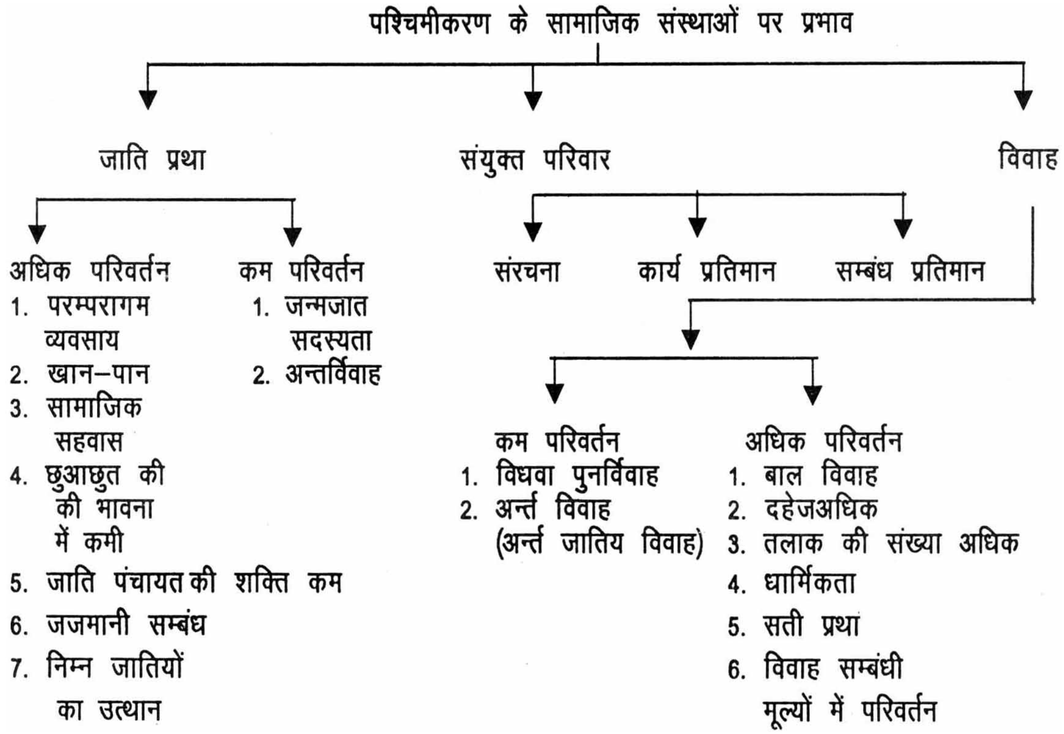

सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव भारत की प्रमुख तीन सामाजिक संस्थाओं जाति प्रथा, संयुक्त परिवार और विवाह की संस्था प्रमुख है। पश्चिमीकरण का प्रभाव न केवल इन संस्थाओं पर है बल्कि खान-पान स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर भी पड़ा है। हम इसकी विस्तृत व्याख्या करेंगें

(i) जाति प्रथा

पश्चिमीकरण के प्रभाव ने जाति व्यावस्था में स्थित अनेक प्रतिबंधों को ढ़ीला किया जैसे व्यवसाय में परिवर्तन, खान-पान और अर्न्तजातीय सम्बन्धों में परिवर्तन, छुआ-छूत का कम होना, जाति पंचायत की शक्ति का कम होना, भिन्न जातियों का उत्थान आदि ऐसे परिवर्तन हैं जिन्होंने वास्तव में भारतीय समाज के रूप को बदला है।

(ii) संयुक्त परिवार

संयुक्त परिवार प्रथा त्याग ब वलिदान जैसे मूलों पर आधारित है पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण व्यक्तिवादिता, समानता, अधिकारों के प्रति चेतना से मूल्यों ने संयुक्त परिवार को तोड़ ' दिया है और एकाकी परिवार बढ़ने लगे। नगरीकरण और औद्‌योगिकरण के कारण गांव के लोग शहरों की तरफ जाने लगे इससे संयुक्त परिवार का रूप बदलने लगा।

(iii) विवाह

पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण परिवार के साथ विवाह की संस्था पर भी प्रभाव पड़ा। विवाह अब धार्मिक संस्कार न होकर धीरे-धीरे बदलता जा रहा है। जाति सम्बन्ध प्रतिबन्ध ढ़ीले होते जा रहे हैं। सामाजिक सुधारों के फलस्वरूप अब विधवा पुनर्विवाह हो रहे हैं। बाल विवाह और सती प्रथा पर रोक लगी। तलाक ओर अदालती विवाहों का प्रचलन भी बढ़ा इन सबके कारण विवाह की संस्था में परिवर्तन आया।

(iv) खान-पान

खान-पान में विशेषतया दो परिवर्तन आये पहला शाकाहारी से मांसाहारी एवं दूसरा सात्विक से तामसिक और स्वास्थ्य सम्बंधी गुणवत्ता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। प्याज, लहसुन, मांस-मदिरा, सिगरेट आदि का प्रयोग होने लगा। भोजन करने के लिये चौके पट्टी के स्थान पर कुर्सी मेज का चलन, भोजन के समय जूते पहनना, होटल में भोजन करना, छुरी कांटे का प्रयोग आदि ने भोजन की पारम्परिक और सांस्कारिक शुद्धता को भी प्रभावित किया।

(v) वेश भूषा

वेश-भूषा में भी दो परिवर्तन आये पहला परम्परागत धोती कुर्ते के स्थान पर पेन्ट कमीज, टाई, सूट आदि का प्रचलन होने लगा तथा शुद्ध कच्चे धागे से बने (सुती, रेशमी, गर्म) कपडों के स्थान पर कृत्रिम धागे नाईलोन केशमिलोन आदि का प्रयोग होने लगा।

(vi) व्यवहार सम्बंधी

व्यवहार सम्बंधी पक्ष में अनौपचारिक प्राथमिक घनिष्ट संबंधो का स्थान औपचारिक संबंधो ने 'ले लिया। सम्बोधन में शिष्टता, सम्मान ओर स्नेह प्रदर्शन भारतीय परम्परा के अनुरूप था। अब पांव न छूना, बडों के प्रति आक्रोश, हाय हैलो, हाथ मिलाना, युवा लड़के लड़कियों का ऊँची आवाज में बोलना. आदि पाश्चात्य समाज की देन है।

4.10.5 पश्चिमीकरण का महिलाओं की स्थिति पर प्रभाव

परम्परागत भारतीय समाज में महिलाओं पर कई प्रतिबन्ध थे जो पुरूषों पर नहीं थे अर्थात दोनों को समान अधिकार प्राप्त नहीं थे समाज में कई कुरीतियां थी जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव स्त्रियों की स्थिति पर था है जैसे पति की मृत्यु पर स्त्री का सती होना (सती प्रथा) परन्तु पत्नी की मृत्यु अथवा किसी अन्य स्थिति जैसे बांझ होने पर भी दूसरा विवाह कर सकता था। यह स्वतंत्रता स्त्रियों को नही थी। पर्दा प्रथा, वाल-विवाह, बहु-विवाह, कुलिन-विवाह देवदासी प्रथा, विधवा विवाह निषेध और तलाक की स्वतन्त्रता न होना ऐसी व्यवस्थाएं थी जिसमे स्त्रियों की स्थिति को निम्न कर रखा था। पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप स्त्रियों में जाग्रति आई। शिक्षा का विस्तार हुआ आर्थिक रूप से स्वतंत्रता होने लगी तथा परिवर्तन की

श्रृंखला में अब वह सेना में भी काम करने लगी। राष्ट्रीय धारा में उनको जोड़ने का पूर्ण प्रयत्न जारी है।

4.10.6 पश्चिमीकरण का धार्मिक जीवन पर प्रभाव

भारत एक धर्म प्रधान देश है वैदिक काल में धर्म का स्वस्थ स्वरूप था धीरे धीरे वैदिक मंत्रों का स्थान कर्म काण्ड लेते गये, अन्धविश्वास भूत-प्रेत, शकुन अपशकुन मानव बलि, छूआ-छूत, ब्राहमणों को विशेषाधिकार स्त्रियों और शूद्रों को धार्मिक वेद मंत्रों से दूर रखना जैसी कई कुरीतियां समाज में जड़ जमाती चली गयी, पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप कई सुधारवादी आन्दोलन हुये जिससे इनके विरूद्ध कई कानून बने।

4.10.7 पश्चिमीकरण का राजनैतिक जीवन पर प्रभाव

अंग्रेजी शासन के पहले भारत में जमींदारी प्रथा थी और भारत कई रियासतों में बंटा हुआ था। अंग्रेजों ने जमींदारी प्रथा का अंत किया। कानूनों को संहिता बद्ध किया पंचायत के अधिकार छीने हालांकि कई मूल संस्थाओं जैसे पंचायत, ग्राम समुदाय एवं मान्य कई संस्थाओं को नुकसान भी हुआ।

भाषावाद, सम्प्रदायवाद नौकरशाही साम्प्रदायिकता जैसी खराब प्रवृतियों को जन्म मिला पर दूसरी ओर लाभ भी हुये योगेन्द्र सिंह के अनुसार आधुनिक प्रजातंत्र, संसद प्रणाली, राष्ट्रीय चेतना नये प्रकार का नेतृत्व आदि ऐसी बातें भी सामने आई जिससे राष्ट्र संगठित होकर आजाद हुआ और समाज में मौलिक अधिकारों ओर समता का भाव विकसित हुआ।

4.10.8 पश्चिमीकरण का आर्थिक जीवन पर प्रभाव

भारत की अर्थ-अवस्था ग्रामीण, कृषि तथा कुटीर उद्योग पर आधारित थी और ग्रामीण लोग आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उत्पादन करते थे। हाट में बेचते थे परन्तु अंग्रेजों के आने के बाद मशीनों की सहायता से बड़े-बड़े उद्योग धन्धों का विकास हुआ। राष्ट्रीय और अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार बढ़ा। किसानों ने जूट, गन्ना, कपास और तम्बाकू आदि की खेती को बढ़ाया। आधुनिक बीज, खाद और यंत्रों का प्रचलन बढ़ा। बड़े बड़े खेतों का छोटे छोटे टुकडों में विभाजन होने लगा। कृषकों को लगान देना पड़ा परिणामस्वरूप ऋणग्रस्तता बड़ने लगी। किसान अब खेती पर ही निर्भर नहीं रह सकते थे। इसलिये नये नये व्यवसायों की खोज में शहरों मे आने लगे। शहरों में औद्योगिकरण की प्रक्रिया बढ़ने लगी इस प्रक्रिया ने एक नये मजदूर वर्ग को जन्म दिया जो गांव के किसान से अलग था।

4.10.9 कला, साहित्य एवं दर्शन पर प्रभाव

भारतीय साहित्य और दर्शन दोनों पर ही पश्चिमी साहित्य का प्रभाव पड़ा। स्थापत्य और चित्रकला में भी इसकी छाप देखी जा सकती है मॉर्डन आर्ट सांकेतिक शैली मॉडल ड्राइंग का प्रशिक्षण इसी की देन है। मुंबई, कलकत्ता एवं अन्य बड़े नगरों में अंग्रेजों ने जिन भवनों का निर्माण करवाया उन पर विक्टोरिया की छाप है।

उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में भारतीय समाज को बहुत अधिक प्रभावित किया है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के माध्यम से हम भारतीय समाज में परिवर्तन को व्यापक रूप से नहीं समझ सकते हैं। निम्नलिखित विवरण में हम पश्चिमीकरण और संस्कृतिकरण में अन्तर स्पष्ट करेंगें।

संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण में अन्तर

क्रम संख्या	आधार	संस्कृतिकरण	पश्चिमीकरण
1.	पुरातन/नवीन	यह एक प्राचीन प्रक्रिया है जो अभी तक प्रवाहमान हो रही है	यह अंग्रेजी शासनकाल से प्रारम्भ हुई
2.	भोजन	शाकाहारी मांस मदीरा का प्रयोग वर्जित है	मांस मंदिरा का प्रयोग प्रोत्साहित किया जाता है
3.	जाति वर्ग	इसमे निम्न जाति उच्च जाति का अनुकरण करती है।	साधारणतया अल्प वर्ग के सदस्य इसे अपनाते है।
4.	धार्मिक/धर्म निरपेक्ष	निम्न समूह उच्च समूह के रीतिरिवाजों को अपनाते है क्योकि धार्मिक है।	यह किसी धर्म जाति विशेष से संबन्धित नहीं है अर्थात धर्म निरपेक्ष
5.	विचार धारा	रूढ़िवादिता, परम्परा	तार्किक मानवतावादी
6.	गतिशीलता	क्षेतिज धरातल पर परिवर्तन होता है लम्बवत नहीं।	परिवर्तन लम्बवत भी हो सकता है निम्न वर्ग भी उच्च वर्ग में योग्यता के आधार पर आ सकता है।

4.11 नगरीकरण

प्रारम्भिक काल में विश्व का प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के निकट था और सामाजिक जीवन छोटे छोटे गांवों में सिमटा हुआ था सभ्यता के क्रमिक विकास में मानव ने अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप धीरे- धीरे प्राकृतिक पर्यावरण का संशोधन किया और प्रकृति से दूर होता गया उसका सामाजिक जीवन शहरी परिवेश में बदलता गया साधारण शब्दों में प्रकृति की गोद में सहज जीवन ग्राम्य जीवन कहा जा सकता है। ऐसे समुदाय लघु ओर कम विकसित होते हैं इनमें भाषा, रहन सहन, वेष भूषा, खान पान, रीतिरिवाज जीवन शैली मे समरूपता पायी जाती है। कृषि उनके आर्थिक ही नहीं सामाजिक जीवन शैली का भी आधार होता है समुदाय के व्यक्तियों में परस्पर सम्बन्धों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है सामाजिक गतिशीलता बहुत कम ओर सामाजिक नियत्रंण प्राथमिक प्रकार का होता है। औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया के कारण यह गांव शहरों में बदलते गये ओर गांवों से भी शहरों की ओर स्थानान्तरण बढ़ता गया। कुछ नगरों में जनसंख्या की वृद्धि इतनी अधिक हुई कि वहां सामाजिक ओर परिस्थितिकी सम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न होने लगी। गांवों के विपरीत यहां की जीवनशैली अलग सामाजिक गतिशीलता अधिक संचार के साधनों का विकास सामाजिक नियत्रंण में द्वैतीयक साधनों की अधिकता देश भूषा खान पान सब अलग होता गया और नगरीय संस्कृति का विकास होता गया। गांवों का नगरीय

क्षेत्रों में परिवर्तन, जीवनशैली में परिवर्तन को हम नगरीकरण कह सकते हैं प्रस्तुत विवरण में हम नगरीकरण की प्रक्रिया ओर उससे सम्बंधित अवधारणाओं को जैसे नगर नगरीयता और नगरीय व्यवस्था की विवेचना करेंगे सर्वप्रथम हम नगर की अवधारणा की व्याख्या करेंगे।

नगर नगर को हम निम्न जनसंख्यात्मक आर्थिक व सामाजिक तत्वों के आधार पर परिभाषित किया गया (1) प्रशासनिक (2) जनसंख्या का आकार (3) जनसंख्या का घनत्व (4) प्रधान आर्थिक व्यवस्था (5) कुछ सामाजिक लक्षण। इन्हीं पांच कारकों के आधार पर 1961 जनगणना के लिये किसी क्षेत्र को नगर मानने या न मानने के लिये कुछ मानदण्ड निर्धारित किये गये थे -

1. क्षेत्र की जनसंख्या पांच हजार से अधिक हो
2. उसका जनसंख्या घनत्व एक हजार व्यक्ति प्रति बर्ग मील
3. 3/4 जनसंख्या अकृषि धन्धों में
4. उस क्षेत्र में शहर की सारी सुविधाएं जैसे संचार के साधन, यातायात, न्यायालय, मनोरंजन केन्द्र, अस्पताल एवं बाजार आदि।

4.11.1 नगरों के प्रकार

भारत में जनसंख्या के आधार पर नगरों को निम्न छः श्रेणीयों में विभाजित किया गया है।

नगर का प्रकार	जनसंख्या
1. छोटे कस्बे	पांच हजार से दस हजार
2. कस्बे	दस हजार से बीस हजार
3. विशाल कस्बे	बीस हजार से पचास हजार
4. नगर	पचास हजार से एक लाख
5. महानगर	एक लाख से दस लाख
6. मेट्रोपोलिटन नगर	दस लाख से एक करोड़

भारत में नगरों में होने वाले कार्यो के आधार पर सात भागों में बांटा जा सकता है।

1. तीर्थ स्थान
2. राजधानियां
3. व्यापारिक केन्द्र
4. उत्पादन केन्द्र
5. शिक्षण केन्द्र
6. सैनिक केन्द्र
7. स्वास्थ्य एवं मनोरंजन केन्द्र

भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया निरन्तर रूप से सक्रिय है कस्बों से नगर ओर नगर से महानगर बनते चले जा रहे हैं, 1971 से 1981 के दशक में नगरीकरण की वृद्धि दर 3:83,

सन् 1981-91 में 3:07, हो गई ओर भारत में सबसे बड़ा महानगर बम्बई है जिसकी आबादी 1.26 करोड़ है।

4.11.2 नगरीयता के लक्षण

नगरीयता एक जीवन शैली है जो व्यक्तिवाद, अनामिकता, औपचारिक सम्बन्ध, गतिशीलता आदि विशेषताओं से परिपूर्ण है। लुईसबर्थ ने इसके चार लक्षण बताये हैं:-

1. श्रैणिकता इसके अनुसार शहर का व्यक्ति पुराने परिचित लोगों को भूलता है और नई जान पहचान पैदा करता है तथा पड़ोस आदि से प्रभावित नही होते।
2. औपचारिक सम्बन्ध इसके अनुसार व्यक्ति अपने आस पास के व्यक्तियों का औपचारिक रूप से जानता है उसके साथ सम्बन्ध नही होते है।
3. व्यक्तिवादिता नगरीय संस्कृति में व्यक्ति केवल अपने हित की सोचता है।
4. अनामिकता व्यक्ति भीड़ मे तो अकेला होता है अर्थात् नगरों में इतनी अधिक भीड़ होती है पर कोई किसी को नही जानता।
5. रुथ ग्लास ने निम्न विशेषताएं दी है।

4.11.3 नगरीयता की विशेषताएं

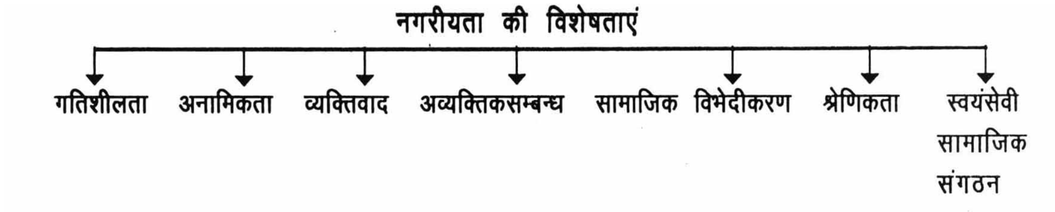

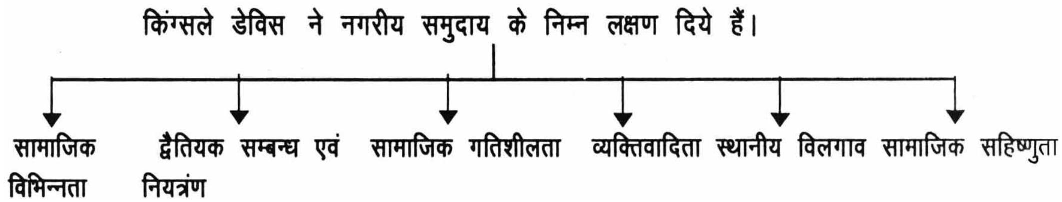

डेविस, रुथ ग्लास, एण्डरसन एवं अन्य कई समाज शास्त्रियों ने इस प्रकार की विशेषताएं बतायी है इन विशेषताओं की विस्तृत व्याख्या के पहले हम ग्रामीण समाज की विशेषताओं को देखेंगे तत्पश्चात् ग्रामीण और नगरीय समुदाय की तुलना करेगें जो नगरीकरण की प्रकिया को समझने में सहायक होगी।

4.11.4 ग्रामीण समाज की विशेषताएं

प्रसिद्ध समाजशास्त्री रेडफील्ड ने छोटे समुदायों की अवधारणा विकसित (की और इसकी चार विशेषताएं बताई :-

1. लघु समुदाय छोटे होते है उनमें जनसंख्या कम होती है।

2. लघु समुदाय के लोगों में समरूपता होती है अर्थात जीवन शैली एक जैसी होती है गांव, वेशभूषा, परम्पराएं सब चीजे एक जैसी होती है।

3. लघु समुदाय आत्मनिर्भर होते है अर्थात अपनी आवश्यकताएं समुदाय में ही पूरी होती है उन्हें किसी अन्य पर निर्भर नही रहना पड़ता है।

4. लघु समुदाय विशिष्ट (अनुठे) होते हैं अर्थात एक समुदाय की विशेषताएं दूसरे से अलग होती है। रेडफील्ड द्वारा प्रस्तुत विशेषताएं एक विशुद्ध गांव में ही मिल सकती है परन्तु आज गांव अपने आप में न तो आत्म निर्भर है न ही अछूते संचार के साधनों के कारण गांवों पर भी शहर की छाप आने लगी है।

हालांकि ग्रामीण और नगरीय समाज एक दूसरे के विपरित दिखाई देते है किन्तु सैद्धान्तिक रूप में शुद्ध ग्रामीण या शुद्ध नगरीय समाज दिखाना मुश्किल है इसी समस्या के समाधान के लिये रेडफील्ड ने फोक अरबन कन्टिन्यूअम बनाया जो ग्रामीण सातत्य को बताता है जिसे निम्न प्रकार बताया जा सकता है ।

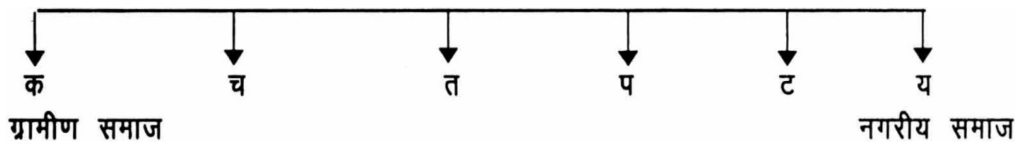

उपरोक्त चित्र में क बिन्दु गांव और य बिन्दु पर नगरीय समाज स्थित है क बिन्दु स्थित ग्रामीण समाज में शहर की और य बिन्दु पर स्थित नगरीय समाज में ग्रामीण समाज की एक भी विशेषता नहीं पाई जाती। यह एक आदर्श बिन्दु है। पर क के नजदीक बिन्दुओं में जैसे च ओर त में ग्रामीण अधिक और नगरीय कम और प और ट नगरीय अधिक और ग्रामीण विशेषताएं कम पायी जायेंगी।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने ग्रामीण व नगरीय समाज में अन्तर स्पष्ट करने के लिये कई आधार प्रस्तुत किये हैं। सोरोकिन और जिमरमेन ने ग्रामीण 'समाजों में अन्तर के नौ आधार बताये हैं जो निम्न है।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में अन्तर

आधार	**ग्रामीण**	**नगरीय**
1. व्यवसाय	कृषि,कुटीर उद्योग	गैर कृषि उद्योग वाणिज्य प्रशासन तंत्र
2. पर्यावरण	प्राकृतिक	मानव निर्मित
3. समुदाय	लघु	वृहत (बड़े)
4. जनसंख्या का घनत्व	घनत्व कम जनसंख्या कम	घनत्व अधिक जनसंख्या अधिक
5. जीवनशैली	एक रूपता (सभी एक भाषा वेषभूषा, खान-पान, रीतिरिवाज	विषतरुपता (अलग-अलग) भाषा. खान-पान, रीति रिवाज
6. स्तरीकरण	प्रदत आधार पर (जन्मजात)	योग्यता, अर्जित
7. गतिशीलता	1. एक गांव से दूसरे गांव कम आना जाना, गतिशीलता कम,	गतिशीलता अधिक, क्षेत्रीय संस्कृति

	2. व्यवसायिक गतिशीलता कम	व्यवसायिकगतिशीलता अधिक
8. अन्तःक्रिया	अन्तक्रिया का क्षेत्र सीमित	क्षेत्र व्यापक
9. सम्बन्ध	आमने सामने, प्राथमिक संवेदनशील, गहरे, घनिष्ठ हम की भावना, परिचित	औपचारिक, द्वैतियक अस्थायी, अपरिचित स्वार्थ परक
10. मूल्य	सामूहिकता,परिवारवाद, भावात्मक	व्यक्तिवाद, तार्किकता,
11. चिन्तन	परम्पराबद्ध, समूह के साथ	तार्किक, आधुनिक, अकेलापन

साधारणतय: नगरीकरण लोगों का गांव से शहर की ओर आया है। जी.एस. धुर्ये के अनुसार नगरीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें गांवों से शहरों में आने पर लोगों के मूल्यों दृष्टिकोण व जीवन शैली में परिवर्तन होता है।

नगरीकरण की विस्तृत व्याख्या की जाय तो यह कहा जा सकता है कि यह एक चक्रीय रूप में कार्य करती है अर्थात् यह कारण भी है और परिणाम भी और इसी सन्दर्भ में हम इन दो रूपों में अध्ययन करेंगे।

1. नगरीकरण के कारक (कारण) 2. नगरीकरण के प्रभाव और समस्याएं (परिणाम)

4.11.5 नगरीकरण के कारक

गांव से शहर की ओर आकर्षित करने वाले कई ऐसे कारक है जिनसे प्रभावित होकर व्यक्ति शहर की ओर आता है इनका संक्षिप्त विवरण नीचे चित्र में चित्रित है।

नगरीकरण के कारक

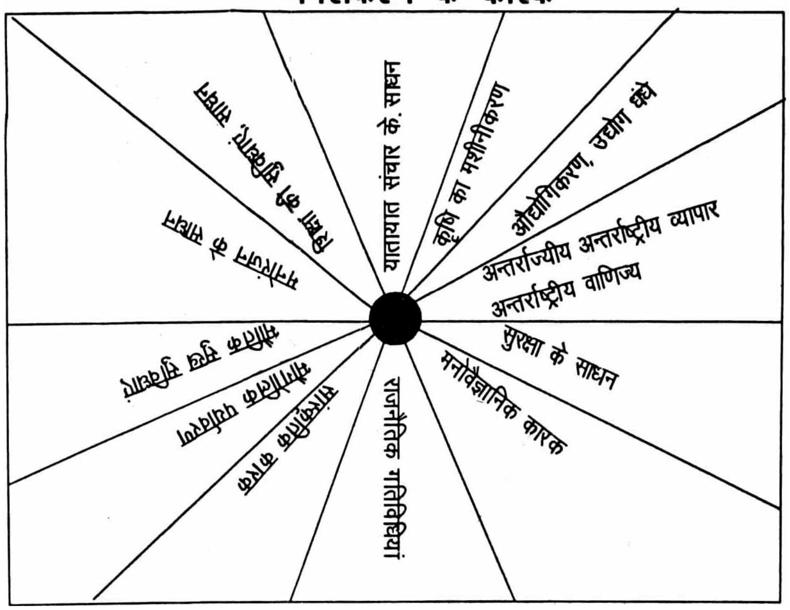

उपर्युक्त कारको से स्पष्ट है कि व्यक्ति कृषि के मशीनीकरण के कारण गांव में बेरोजगार हो जाता है। शहर में औद्योगिकरण के कारण नये नये उद्योग धंधे, व्यापार, वाणिज्य रोजगार के अवसर उपलब्ध कराते हैं। यातायात और संचार के साधनों के कारण इन तक पहुँच आसान हो जाती है। शहर में भौतिक सुख सुविधाओं के साथ शिक्षा और उन्नति के अवसर उपलब्ध है।

पुलिस, बैंक एवं अन्य सुरक्षा के साधन उपलब्ध होने के कारण वह अपने को गांव की अपेक्षा अधिक सुरक्षित महसूस करता है। राजनैतिक, सांस्कृतिक और जनसंख्या का आधिक्य भी नगरीकरण का प्रमुख कारण है।

4.11.6 नगरीकरण के प्रभाव

भारतीय समाज में नगरीकरण का प्रभाव इतना अधिक हुआ कि मूलभूत संस्थाओं का नवीन रूप हमारे सामने आने लगा, संयुक्त परिवार अपना नया रूप लेने लगा, जाति प्रथा के बन्धन ढीले होने लगे विवाह के रूप में परिवर्तन आने लगा सामाजिक गतिशीलता बढ़ने लगी सम्बन्धों के नये आयाम प्रतिस्थापित होने लगे।

नगरीकरण के प्रभाव (विवाह परिवार)

विवाह

1. उद्देश्य–धर्म नही रीति
2. संस्कार– धार्मिक नही
3. स्थायित्व–कम–तलाक
4. कुरीतियां–खर्च अधिक, दहेज
5. नयी रीतियां– विधवा, पुनर्विवाह अन्तर्जातिय विवाह, सती प्रथा एवं बाल विवाह पर रोक, तलाक
6. मूल्य– भौतिकवाद

परिवार

1. संरचना– संयुक्त से एकाकी
2. कार्य–परिवर्तन
3. सम्बन्ध प्रतिमान– नयारूप
   1. माता पिता बच्चों के सम्बन्ध
   2. पति–पत्नि के सम्बन्ध
4. मूल्य– व्यक्तिवाद, तार्किकता

नगरीकरण के प्रभाव (जाति, ग्राम समुदाय)

ग्राम समुदाय

1. कृषि का यांत्रिकीकरण
2. कृषि व्यवसाय के रूप
3. कृषक जमींदार के नये सम्बन्ध
4. वस्तु सेवा विनिमय का स्थान मुद्रा,बाजार
5. नेतृत्व का नया प्रतिमान
6. जातीय समूहों का राजनीतिकरण

जाति व्यवस्था

1. परम्परागत व्यवसाय में परिवर्तन
2. खान पान के बन्धन ढ़ीले
3. सामाजिक सहवास अन्य जातियों के साथ
4. छुआछूत की भावना में कमी
5. जाति पंचायत की शक्तिकम
6. निम्न जातियों का उत्थान
7. जन्मजात सदस्यता में कोई परिवर्तन नही
8. अन्तर्जातिय विवाह की तरफ कम झुकाव
9. जातीय वेशभूषा में परियर्तन

इन सब प्रभावों के कारण स्त्रियों की स्थिति उच्च हुई। भारतीय समाज में गतिशीलता बढ़ी, वैज्ञानिक विचारधारा का विकास हुआ परम्परा का स्थान आधुनिकीकरण ओर तार्किकता ने ले लिया। सामाजिक नियंत्रण में धर्म, पाप, पुण्य का स्थान भी सरकार पुलिस न्यायालय और सेना ने ले लिया। जातीय संस्करणों का स्थान वर्ग अव्यवस्था ने लिया। अर्थात बंद स्तरीकरण की जगह खुला स्तरीकरण आया जोर जन्म-और प्रदत्त की अपेक्षा कर्म ओर योग्यता को प्रमुख स्थान देता है जहां नगरीकरण ने सामाजिक व्यवस्था को नये आयाम दिये वहां कई समस्याओं ने भी जन्म लिया। जनसंख्या के दबाव के कारण आवास की समस्या, गन्दी बस्तियां, जल एंव बिजली की कमी, प्रदूषण, यातायात आदि की समस्याएं तो सामान्य समस्याएं हैं इसके साथ-साथ मद्यपान, भ्रष्टाचार, बाल-अपराध, मानसिक तनाव, असुरक्षा आदि ऐसी समस्याएं हैं जो नगरीय जीवन का हिस्सा बन जाती है। इन समस्याओं को मुख्यतः तीन भागों मे बाटा जा सकता है जो चित्र में संक्षिप्त रूप से स्पष्ट है:

4.11.7 नगरीकरण से सम्बंधित समस्याएं

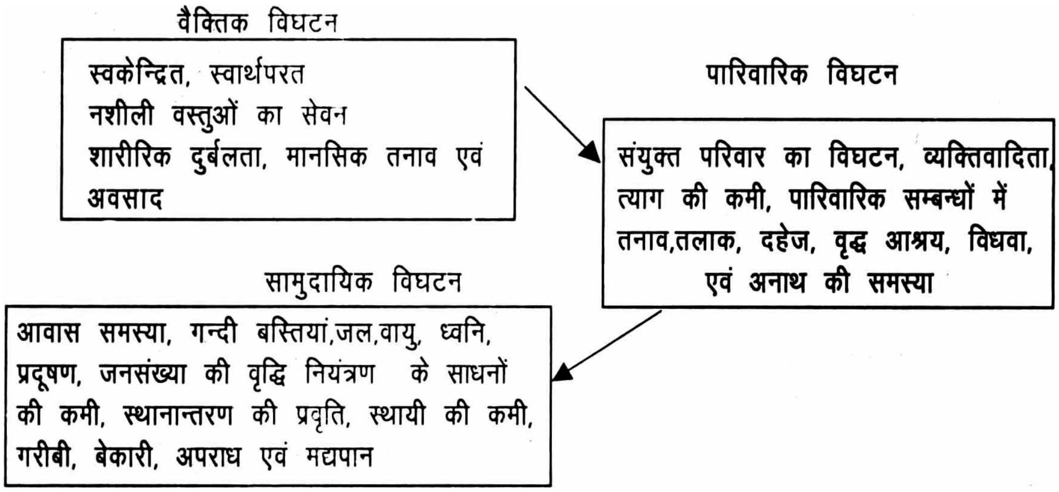

उपर्युक्त चित्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जहां नगरीकरण के कारण समाज का विकास हुआ वहीं अनेक समस्याओं का जन्म भी हुआ। गांव से आया हुआ व्यक्ति यदि नगरीय परिवेश में समायोजन नहीं कर पाता जो गलत रास्ता अपनाता है जैसे नशा, आवारागर्दी, सिनेमा देखना। इन सब के लिये धन की कमी के कारण कई अपराध भी करना पडता है इससे उसका व्यक्तित्व विघटित होता है।

पारिवारिक क्षेत्र में भी संयुक्त परिवार एकाकी परिवार में बदलने लगते हैं और संयुक्त परिवारों में भी परिवारवाद की जगह व्यक्तित्व के मूल्य पनपने लगे हैं अर्थात् व्यक्ति स्वयं का हित सोचता है। स्वकेन्द्रित होता है। स्त्रियां पढ़ने लग गई आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने लगी, कार्य पर जाने लगी तो कहीं कहीं भूमिकाओं (कार्य) की अधिकता के कारण दोनों (पति-पत्नि) के अहम् टकराने लगे और तलाक की स्थिति आने लगी। वृद्धावस्था में आश्रय की समस्या उत्पन्न हुई, गांवों की अपेक्षा शहरों में आत्महत्या, तलाक, विधवा, अनाथ, बालश्रम, वृद्धाश्रम आदि की समस्याएं उत्पन्न होने लगी।

वैयक्तिक और परिवारिक विघटन सामुदायिक विघटन को जन्म देने लगा और समाज में सामुदायिक जीवन के मूल्यों का पतन होने लगा है

4.12 सारांश (Summary)

इस इकाई के प्रारम्भ में परिवर्तन का अर्थ एवं विशेषतायें बतायी गयी है, सामाजिक परिवर्तन वस्तुत: समाज की संरचना, प्रकार्यों एवं सम्बन्धों मे परिवर्तन है तत्पश्चात् सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारकों की विवेचना की गई है। यह प्रमुख कारक प्राकृतिक, जनसंख्यात्मक, प्राणीशास्त्रीय, प्रौद्योगिक एवं सांस्कृतिक कारक है। सामाजिक परिवर्तन से जुडे दो प्रमुख प्रत्यय: उद्विकास एवं प्रगति की व्याख्या तथा दोनों में अन्तर स्पष्ट किया गया है। उद्विकास परिवर्तन की एक सहज प्रक्रिया है जबकि प्रगति एक नियोजित परिवर्तन है।

सामाजिक परिवर्तन के संबोध से जुडी विभिन्न प्रक्रियाओं जैसे परम्परा. आधुनिकीकरण, संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण पद नगरीकरण की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। श्री निवास द्वारा प्रतिपादित संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण की प्रक्रियाएं मूलत: इस अर्थ में प्रस्तुत की गई है कि जहां संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अन्त होती है अर्थात इसका उद्गम भारतीय समाज से ही हुआ है, वहां पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ब्रिटिश सरकार के सम्पर्क से उत्पन्न प्रक्रिया है जो विदेशी है। यह दोनों ही प्रक्रियाएं मूलत: भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया को समझाने के लिये प्रयोग की गई है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को परम्परा के संदर्भ में प्रयोग किया गया है यह तर्कपूर्ण उद्देश्य को प्राप्त करने की प्रक्रिया है।

नगरीकरण की प्रक्रिया भी भारतीय समाज में परिवर्तन को दर्शाती है प्रस्तुत इकाई में ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय की विशेषताओं एवं अन्तर स्पष्ट किया गया है तथा नगरीकरण के कारक एवं इससे उत्पन्न समस्याओं और प्रभावों को भी दर्शाया गया है।

4.13 शब्दावली (keywords)

सामाजिक परिवर्तन	(Social Change)
सांस्कृतिक परिवर्तन	(Cultural Change)
सामाजिक उद्वविकास	(Social Evolution)
सामाजिक प्रगति	(Social Progress)
परम्परा	(Custom)
आधुनिकीकरण	(Modernization)
संस्कृतिकरण	(Sanskritisation)
पश्चिमीकरण	(Westernisation)
नगरीकरण	(Urbanisation)

4.14 सन्दर्भ ग्रंथ

1. More,"Social Change" prentice Hall New Delhi p 165.
2. Ogburn, W.F., "Social Change" New York 1923 p.57.

3. Davis, K.,”Human Society” Macmillon &Co. New York.
4. Gillin and Gilllin, (1948) Cultural Society, Macmillion P576-62.
5. Maciver R.M.& Page, C.H.,(1959), Society Macmillion & Co.
6. Macweber(1947) “Theory of sound Economic Organisation”.,
7. Johnson, J.H.M., Sociology, A Systematic Introduction, हिन्दी इनुवाद योगेश अटल, लुधियाना,1970 p.819.
8. Parson, T,(Ed) “An Overview”, American Sociology, Basic Books Publisher, New York p.334.
9. Spencer, H., First Principal New York p.396.
10. Bogardas, E.M. “sociology” p.397-398
11. Ross, “Social Psychology” p.168.
12. Yogendra Singh, Modernization of Indian Tradition, p.3.
13. Lerner,D, “passing away of Traditional Society”.
14. Inclus, Alay, “What is Sociology p.161-165.
15. Moore, Wilbest Social Aspect of Economic Development n Robest Faris(Ed) “Hand Book of Modern Sociology” p.57-82.
16. Srinivas, M.N., “Rebigin and Society among the Coorqs of south India” p.30-67.
17. Srinivas, M.N. “Social Change in Modern India”.
18. Srinivas, M.N., “A Note on Sankritigation and Westernization in Cast and Modern India and other essays.

इकाई-5

विकास के ऐतिहासिक आयाम

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 मानव विकास के विभिन्न युग
5.2.1 पाषाण काल
5.2.2 धातुकाल
5.3 सामाजिक विकास के चरण
5.3.1 आदिम समाज
5.3.2 कबीला समाज
5.3.3 सामान्तवादी समाज
5.3.4 उपनिवेशवाद
5.3.5 कृषि का व्यावसायीकरण
5.3.6 पूँजीवादी समाज
5.4 सारांश
5.5 शब्दावली

5.0 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य विकास के ऐतिहासिक आयामों पर संक्षेप में विचार करना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप मनुष्य के आविर्भाव से वर्तमान के पूंजीवादी समाज तक मानव समाज के विकास को समझ सकेंगे। विद्वानों ने मानव समाज के विकास के चरण क्रमश: आदिम समाज, कबीला समाज, सामन्तवाद और पूंजीवादी समाज माना है। याद रखिए कि यह जरूरी नहीं है कि संसार में छितरे सभी मानव समूह इन चरणों में एक साथ आगे बढ़े हों। अभी कई समूह आदिम समाज या कबीला समाज की अवस्था में हैं। यूरोप में जहां पूंजीवादी समाज है तो अपना भारतीय समाज भी पूर्णतया पूंजीवादी समाज में बदल नहीं पाया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि:

- मानव समाज के विकास का ऐतिहासिक क्रम क्या है?
- विकास क्रम की प्रक्रिया में विभिन्न कालक्रम की मुख्य बाते कोनसी थी।

5.1 प्रस्तावना (Introduction)

सभी प्राणियों में मनुष्य की श्रेष्ठता प्रकृति पर विजय प्राप्त कर खुद सृजनकर्ता बन जाने में है। इसे संभव बनाया समाज ने। एक स्तनपायी प्राणी होने के नाते मनुष्य को अन्य स्तनपायी प्राणियों के समान झुण्ड में रहना विरासत में मिला था। झुण्ड का हर सदस्य भोजन

की खोज में लगा अपने में स्वतंत्र होता है, हाँ यदि वह बच्चा हो तो वयस्क होने तक अपनी माँ की सुरक्षा में रहता है। अब, चूँकि अन्य प्राणियों की तुलना में मानव-शिशु वयस्क होने में अधिक समय लेता है, मनुष्य ने सुरक्षा प्रदान करने की इस भावना को विस्तृत कर समाज के रूप में संस्था का निर्माण किया। झुण्ड का समाज में परिवर्तन एक महत्वपूर्ण कदम था, इससे एक ओर व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों में बंध गया तो दूसरी ओर झुण्ड को निरन्तरता मिली। परम्परा के रूप में अनुभवों का संचय होने लगा और मनुष्य प्रगति पथ पर चल पड़ा।

मनुष्य के पास विकसित मस्तिष्क है जो विकास क्रम की क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम है। सीधे खड़े होने और चलने के कारण मनुष्य के हाथों को चलने फिरने के बोझिल काम से मुक्ति मिल गई। खाने की या अन्य चीजों को जबडों द्वारा तोडने, फोड़ने छिलने आदि का काम हाथों ने करना आरम्भ किया। फलत: जबडों पर से दबाव हटने लगा, वे सिकुडने लगे और मस्तिष्क को विस्तार हेतु और स्थान मिलने लगा। जैसे-जैसे मस्तिष्क का विस्तार हुआ वैसे-वैसे वह हाथों को और अधिक नियत्रंण में रखने में समर्थ होने लगा। हाथों का काम औजारों के प्रयोग से जुडा है। औजारों का प्रयोग कई प्राणी करते हैं। जैसे, मक्खियों को शरीर से हटाने के लिए हाथी पेड की डाल तोड सूंड से पकड़ मक्खियों या हटाता है, बबून पत्थर को उठा बिच्छू को मार देता है ' लेकिन मनुष्य व अन्य प्राणियों द्वारा औजारों के प्रयोग में एक विशेष अन्तर है। अन्य प्राणी जहाँ प्रकृति द्वार प्रदत्त वस्तुओं को अन्त:चेतना से या अनजाने प्रयोग में लाते हैं, मनुष्य अपने विकसित मस्तिष्क व स्वतंत्र हाथों द्वारा इस अवस्था को शीघ्र ही पीछे छोड औजारों के निर्माण की इस अवस्था में पहुँच गया, क्योंकि वह औजार का प्रयोग जानबूझ कर और अपने अनुभव के आधार पर भविष्य को ध्यान में रख कर करता है देखा जाए तो औज़ार मानव अंगों के विस्तारित रूप हैं। मनुष्य शारीरिक रूप में कमजोर प्राणी है। ऐसे में जब पत्थर मुट्ठी या दांत का, छड़ी हाथ का, ठैला या टोकरी, हाथ या मुँह का विस्तार बनते हैं तब औजार वस्तुत: शरीर के अंगों को पूर्णता प्रदान करते है। पहले औजार पत्थर के होते थे बाद में धातु के, इस आधार पर पुरातत्ववेताओं ने मानव इतिहास को दो भागों में विभाजित किया- पाषाणकाल और धातुकाल। अध्ययन की सुविधा हेतु इन कालों को लघुतर युगों में बांटा जाता है।

5.2 मानव विकास के विभिन्न युग

5.2.1 पाषाणकाल

(i) पूर्व पाषाणकाल (अब से पाँच छ: लाख वर्ष पूर्व से लेकर लगभग बारह हजार वर्ष पूर्व)

(ii) मध्य पाषाणकाल (कुछ स्थानों में मानव संस्कृति पूर्व पाषाणकाल व नवपाषाणकाल के मध्य के इस काल से गुजरी अन्यथा सीधे नव पाषाणकाल आया)

(iii) नव पाषाणकाल (अब से लगभग दस सहस्त्र वर्ष पूर्व से प्रारम्भ)

5.2.2 धातुकाल

अब से 6-7 सहस्त्र वर्ष पूर्व नदी घाटी सभ्यताओं में यह काल आरम्भ हुआ। यह तीन भागों में बांटा जाता है:

(i) **ताम्रकाल** - धातुकाल के आरम्भ से लगभग दो सहस्त्र वर्ष से अधिक समय तक तांबे का उपयोग शुरू हुआ साथ ही पत्थर के औजारों का प्रयोग भी होता रहा इसलिए इस युग को ताम्रप्रस्तर युग भी कहा जाता है। इस युग में पालदार नाव पहिये और कुम्हार का चॉक, बैल गाड़ियों का प्रयोग आरम्भ हुआ।

(ii) **कांस्यकाल-** ताम्बें में टिन मिलाकर कांस्य बनाने की विधि के आविष्कार के साथ ही नगरों का अस्तित्व आरम्भ हुआ, लिपि खोजी गई तथा नगर-सभ्यताओं का उदय हुआ।

(iii) **लोहकाल-** लगभग 1200 ई.पू. में पश्चिम एशिया में लोहे के साधारण उपकरण बनाने का प्रयोग किया जाने लगा। मानव विकास की गति में विस्तार आना आरम्भ हुआ।

सामाजिक विकास के सन्दर्भ में अब तक हम एक के बाद एक चरणों की चर्चा करेंगे। सबसे पहले आदिम समाज को ले।

5.3 सामाजिक विकास के चरण

5.3.1 आदिम समाज

आदिम समाज मानव समाज के विकास के इतिहास का प्रथम चरण है। आरम्भ में मनुष्य खाद्य संग्राहक था। उसका भोजन साधारणत: कन्द मूल, फल, फूल, जंगली बेर, अखरोट आदि थे। मौसमी फलों पर निर्भरता तभी खत्म हुई जब उसने शाकाहार के साथ साथ माँसाहार आरम्भ किया। यानि वनस्पति व पशु-पक्षियों के साथ समूची प्रकृति उसका अन्नागार बन गई। मनुष्य का काम तो महज अपने भोजन का शिकार करना है। शिकार व आत्म रक्षा के लिए जो आरम्भिक औजार तैयार किये गए वे इयोलिथ कहलाते हैं, वे बिल्कुल ही विशेषता विहीन हैं। इनके निर्माण में कोई कौशल नहीं दिखता। केवल हाथ में ठीक से पकड़ने या इच्छित नोंक बनाने हेतु पत्थर के टुकडे का कुछ अंश तोड़ दिया जाता था। बाद में पत्थर का छुरा बनाया जाने लगा, जो सामने की ओर से नुकीला, अगल-बगल से धारदार और पीछे की और से गोल था, जिससे पकड़ने में आसानी रहे। इसी से मनुष्य पशुओं का शिकार करता था, खाल को खुरचकर साफ करता था, व कन्द मूल खोदकर निकालता था।

जो महत्वपूर्ण घटना आदिम समाज में हुई वह थी आग के उपयोग की। इसका सुनिश्चित प्रमाण चीन के चुकुतिएन की गुफाओं में अग्निकुण्डों से मिलता है, जहां तीन लाख सात हजार वर्ष पूर्व का पीकिंग मानव अपने कुटुम्ब के साथ उपयोग करता था। इसके बाद का प्रमाण यूरोप में, अब से कोई ढ़ाई लाख वर्ष पहले स्वे-स कौम्बी और स्पेन से मिलता है।

आग से मनुष्य अपने शरीर को गर्म रख सकता है, हिंसक पशुओं से अपनी रक्षा कर सकता है और भोजन पका सकता है। शिकार पकाने से मज्जा हड्डियों से अलग हो जाती है, मांस और कन्द मूलों के कठोर तन्तु टूट कर अलग अलग हो जाते हैं, जिससे एमिनो अम्ल

और शर्करा मुक्त हो जाती है, भोजन पहले की अपेक्षा नरम हो जाता है और उसे खाने में कम समय लगता है। दूसरे शब्दों में, अब बड़े जानवरों का भी शिकार किया जा सकता है। फिर जहाँ पहले भोजन जिस भी जगह मिले कर लिया जाता था, अब क्योंकि आग एक स्थान पर ही रखी रहती थी, शिकार मारकर गुफा में लाकर पकाया जाने लगा। यानि एक स्थान पर समूह के सभी लोग एकत्रित होकर भोजन पकाते व खाते थे। हथियार बनाने, इष्ट-बन्धुओं से बातचीत करने, पुराने शिकार के अनुभव व नए की योजनाएं बनाने, प्रेम करने आदि में समय व्यतीत करने लगे, इससे समाजिक सान्निध्यता बढ़ी और सांस्कृतिक परिवर्तन का मौका मिला।

सामाजिक सान्निध्यता के साथ एक महत्वपूर्ण विचार ने मानव समाज में घर किया। पहले यह सामान्य मान्यता थी कि मौत दूसरे की होती है, क्योंकि मरने वाला न जानता है और न बता सकता है कि उसे क्या हो रहा है, कि वह कहां जा रहा है। लेकिन सामाजिक निकटता से मृत्यु द्वारा विछोह का ज्ञान हुआ और साथ ही यह ज्ञान आया कि उसे भी अन्त में मरना है। यह एक ऐसा बोझ था कि जिसे दूर करना जरूरी था शायद तभी मरणोपरान्त जीवन में विश्वास आरम्भ हुआ। जादू टोनों का प्रयोग शुरू होने लगा, और ऐसे आस्था-विश्वास जन्म लेने लगे जिन्होंने आगे चल कर धर्मो का रूप ग्रहण कर लिया।

धीरे धीरे पत्थरों के अतिरिक्त सींग, हाथी-दाँत व हड्डियों के हथियार बनाए जाने लगे। इन्हे चमकाया व सुन्दर बनाया जाने लगा। उन्नत औजारों व कौशल से भोजन की आपूर्ति अच्छी होने लगी, मनुष्यों की संख्या में वृद्धि हुई। आदिम समूह अब कुल के रूप में बदल गया जिसके सदस्यों का वंश एक था। इन कुलों की संख्या मिलकर जनजाति बन गई। सामूहिक श्रम द्वारा जो कुछ भी उत्पादन होता रहा वह समानता के आधार पर सभी सदस्यों में बराबर बाटा जाता रहा। यह स्थिति नव पाषाण युग में भी सभ्यता के आरम्भ होने तक बरकरार रही, इसलिये नव पाषाण युग भी आदिम समाज में माना जाता है क्योंकि समाज में असभ्यता के आरम्भ होने के बावजूद भी एक मनुष्य द्वारा दूसरे के श्रम का शोषण की शुरूआत नहीं हुई थी।

नव पाषाण काल में मनुष्य खाद्य संग्रहकर्ता से खाद्य उत्पादन कर्त्ता की अवस्था में परिवर्तित हुआ। यह परिवर्तन पशु पालन तथा कृषि कर्म के आरम्भ होने से आया। पशु पालन शिकार का ही परिणाम है, जिसमें शिकार न करके पशु को पालकर जब चाहे शिकार कर लिया है। छोटे पशुओं को पालतू बनाकर बड़े को पालतू बनाया गया। याने पहले कुत्ता, फिर रेन्डियर, बकरी व भेड़ जैसे घुमक्कड़ पशु जिनके लिए स्थायी जीवन आवश्यक था गाय, बैल व सुअर और अन्त में भार वाहक पशु जैसे घोड़ा, गधा, लामा आदि पाले गये। पशु पालन से भोजन ही नहीं वरन् फेन, खाल, चमड़ा, सवारी आदि कार्य किये जा सकते हैं।

कृषि कर्म का आरम्भ दूसरी महत्वपूर्ण घटना थी। उसके आरम्भ के बारे में विद्वानों की अलग-अलग राय है। कुछ इसे पशु पालन पूर्व, कुछ बाद में और कुछ साथ-साथ पर बसने लगा। कृषि व पशु पालन से भोजन उत्पादन का काम समाज के कुछ लोगों के पास रहा और इतना उत्पादन होने लगा कि कुछ लोग दूसरे काम जैसे प्रकृति जगत का अध्ययन करने में, नवीन तकनीक, औजार व हस्तशिल्प के निर्माण, समाज में अवस्था स्थापित करने आदि कार्यो

में लग गये। जैसे, बीज इकट्ठा करने, दूध रखने आदि के लिये बरतनों का निर्माण शुरू हुआ। मिट्टी के बरतन पकाने की भट्टी से ही धातु शिल्प की शुरूआत हुई। जानवरों के बाल व उन साथ ही सन, कपास से बुनकरी आरम्भ हुई। खेत के नजदीक रहने के लिए मकान बनने शुरू हुए। कुल मिलाकर समाज में विभिन्न व्यवसाय आरम्भ हुए और सामाज में असमानता तथा वर्ग भेद शुरू हो गया। यह शोषण का आरम्भ था और साथ ही सभ्यता का।

5.3.2 कबीला समाज

कृषि के आरम्भ के साथ पशुपालन उसका सहयोगी व्यवसाय बन गया और इसी के साथ नव पाषाण काल के पूर्व बनी जनजाति की भावना और अधिक विकसित हुई क्योंकि कृषि कर्म में जुलाई से लेकर फसल की कटाई तक सहयोग की भावना बनाए रखना जरूरी है। एक ही पूर्वज की संतान होने की मान्यता ने जनजाति के सदस्यों को एक दूसरे से संबन्धित कर दिया। इस जनजाति समूह में सबसे अधिक अनुभवी व्यक्ति मुखिया होता था जो समाज में आए विवादों को निपटाता था। समय के साथ मुखिया की प्रकृति में परिवर्तन आने लगे।

पशु पालन की अवस्था में पशु ही सम्पत्ति थे और इस सम्पत्ति को बढाने का एक ही तरीका था, दूसरी जनजाति के पशुओं को छीन लिया जाय। इसी प्रकार कृषि युग में अधिक उपजाऊ नदी के किनारे की भूमि पर कब्जा करने व नियत्रंण रखने हेतु सैन्य शक्ति व युद्ध-कौशल आवश्यक है। दूसरे शब्दों में मुखिया का युद्ध-कौशल में प्रवीण होना जरूरी है, न कि अधिक बुजुर्ग होना। इस प्रकार सैन्य शक्ति द्वारा एक जनजाति दूसरी पर नियंत्रण कर बड़े क्षेत्रों में अधिकार जमाने लगी। इससे जनजाति सरदारों की वंशीय राजनीति के स्थान पर संगठित राज्यों की स्थापना होने लगी। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत को लें। ऋग्वेद की अर्थव्यवस्था मुख्यत: पशु पालन की थी। कालान्तर में कृषि कर्म का विकास हुआ। नतीजतन जिस क्षेत्र पर जो जन बस गये वह क्षेत्र जनपद कहलाया । इन विभिन्न जनपदों में परस्पर युद्ध होते रहते थे और जीता हुआ जनपद हारे हुए को अपने में मिला लेता था। नतीजतन बुद्ध के पूर्व भारत में सोलह महा जनपद हो गए थे। क्षेत्र पर नियंत्रण करने की भावना खत्म नहीं हुई और इन सोलह में से एक मगध ने अंतत: सभी को हरा विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

कृषि के साथ आए इन बदलावों के कारण ही नदी घाटी सभ्यताओं का उदय व विकास हुआ। नील नदी के किनारे मिश्र, टिगरीजव यूफ्रेटस नदियों के किनारे मैसोपोटामिया, सिंधु नदी के पास सैन्धव और ह्वांग हो के किनारे चीन की सभ्यता का जन्म व विकास हुआ। सभ्यता क साथ जनजातियों के मध्य संबन्धों में बदलाव आया, राजनीतिक पद्धति अधिक समन्वित हुई और राजतंत्र की स्थापना हुई।

सभ्यता का आरम्भ नगरों के उत्थान को बताया है, जहाँ पर रहनेवालों का प्रमुख व्यवसाय अन्न उत्पादन के अतिरिक्त कोई और हो। किसान इतना अधिक उत्पादन कर रहे हैं कि अपने अलावा नगर के निवासियों का भरण पोषण करने में परेशानी न हो। ऐसी हालत में कृषि की उन्नति हेतु औजारों के निर्माण हेतु शिल्प वितरण हेतु व्यापार एवं व्यावस्था हेतु अधिकारी की जरूरत होती है। विभिन्न व्यवसायी तथा, मिस्त्री, कारीगर, शिल्पकार, व्यापारी, अधिकारी, सिपाही आदि सभ्यता के साथ समाज में स्थापित होने लगे। सभ्यता के साथ ज्ञान-

विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य व धर्म का व्यवस्थित विकास होने लगा। सरकार का कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए राजस्व, कर व कानून के रिकार्ड बनाए रखने के लिए तथा आवश्यक ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, दर्शन, आदि के संवर्धन हेतु लिपि का विकास हुआ। पुजारी, पुरोहितों के साथ-साथ लिपिक भी समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखने लगे और यह स्थिति तब और स्वीकार्य हुई जब समाज में मानसिक श्रम करने वालों को उच्च स्थिति पर रखा जाने लगा और शारीरिक श्रम करने वाले हेय दृष्टि से देखे जाने लगे।

वास्तव में सभ्यता का आरम्भ समाज वर्ग के आरम्भ के साथ हुआ। सम्पत्ति के आधार पर समाज में लोग बंट गए। सम्पत्तिहीन लोग सम्पत्तिवान के लिए कार्य करते थे। नए क्षेत्रों पर नियंत्रण करने के लिए युद्ध में हारे लोग विजेताओं के दास बनाए जाने लगे। ये दास कृषि, खनन, निर्माण आदि अनेक कार्यो में लगाए जाते थे। सभी प्राचीन सभ्यताओं की भव्यताओं का आधार दासों का शोषण था।

कबीला समाज में दास और स्वामी जैसे दो महत्वपूर्ण वर्ग थे। इनके अतिरिक्त कृषक, कारीगर, व्यापारी, लेखन आदि अन्य वर्ग भी थे। कुछ सभ्यताओं में दास ही अधिकांश उत्पादक कार्य करते थे जैसे रोम में तो कुछ दासों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी जैसे भारत में। यही यह याद रखिए प्रत्येक सभ्यता में सामाजिक संगठन की अपनी-अपनी विशेषताएं होती थी। कबीलाई समाज के राजनीतिक व आर्थिक स्वरूप में होने वाले बदलाव यथा केन्द्रीय शक्तिशाली राजवंश एवं व्यापार के विकास ने मानव समाज के तीसरे चरण की ओर विकास किया।

5.3.3 सामन्तवादी समाज

आप शायद आश्चर्य करें कि बेरोजगारी जो आजकल अभिशाप है वह प्राचीन काल में वरदान थी। ग्रीक सभ्यता में बरौजगारी और आरामतलबी नागरिकों का हक था और दोनों के लिए एक ही शब्द था। रोजगार तो दास करते है। कारण स्पष्ट है कबीलाई समाज में सभी शारीरिक श्रम दासों के द्वारा सम्पन्न होता था। ये दास युद्ध में हारे होते थे। बाद में कर्ज न चुका पाने वाले, सजायापता और विदेशी जन जबरदस्ती दास बना दिये जाते थे। दासों का अपना कुछ नहीं हो सकता था, यहां तक कि शरीर भी अपना नहीं था। पशुओं की तरह उन्हें खरीदा एवं बेचा जा सकता था, ताड़ना दी जा सकती थी। स्वाभाविक है ऐसे दास की रूचि उत्पादन के स्तर में, सुधार करने की जरा भी न होगी। नतीजन कई समाजों में एक नई व्यवस्था आई जहां उत्पादन। कृषिदास करते थे। ये दास से बेहतर हालत में थे। इन्हें जाने का अधिकार था, इनका घर परिवार होता था, अपने औजार व जमीन होती थी जिसे छोड़कर वे कहीं नहीं जा सकते थे। यदि वे ऐसा करते तो उन्हें कडा दण्ड मिलता। उन्हें अपने स्वामी के लिए बेगार करनी पड़ती थी। वास्तव में उनका समूचा जीवन अपने स्वामी के लिए समर्पित करना पडता था।

वास्तव मे कबीलाई समाज में राजतंत्र का विकास इस प्रकार से हुआ कि व्यवसाय तथा सामाजिक हैसियत वंशानुगत होती गई। यानि व्यक्ति व्यवसाय चुनने में स्वतंत्र न रहा और उसमें व दास में अधिक अन्तर नहीं रहा। वह अर्धदास के रूप में परिवर्तित हो गया। बाद में राजा और साधारण व्यक्ति के मध्य सीधे सम्बंध न रहे बल्कि ढेर सारे बिचोलिये बन गये। इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझाना चाहेंगे। सिकन्दर महान पोरस को हरा, राजस्व लेने के बाद

वापस राज्य दे देता है। आखिर सिकन्दर का ध्येय तो अपने स्वामित्व को स्थापित करना है और उनके आदेशों का पालन उसके साम्राज्य के विभिन्न अधिकारी किया करते हैं, और अपने क्षेत्र विशेष से राजस्व लेकर सिकन्दर को दे देते है। अब यही काम पोरस करेगा। यानि यदि राजा अपने शत्रु राजा को हराकर वापस राज्य देते हुए वार्षिक राजस्व लेना शुरू करता है, तब यही काम अपने सेनापति या अन्य अधिकारियों के साथ कर सकता है। वो उन्हें नकद वेतन न देकर किसी क्षेत्र विशेष में राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार दे जब राजा इस प्रकार जागीर देने की घोषणा करता था तो साथ ही उस जागीर में रहने वालों को भी यह आदेश देता था कि वे जागीर छोड़ कर न जाए। दूसरे शब्दों में जागीरदार सूची जागीर (क्षेत्र विशेष तथा अन्य रहने वाले लोगों) का स्वामी बन जाता था। अब जागीरदार को राजस्व न देने वालों को दण्ड देने का अधिकार जरूरी था। शक्ति व राजस्व की सुरक्षा हेतु सेना फिर कोष और अन्ततः किला रखना अनिवार्य हो जाता है। यानि अधिकारी छोटा मोटा राजा ही हो जाता था तब स्पष्ट है राजा महाराजा बन जायेगा। राजा द्वारा सामन्त (जागीरदार) और फिर उप सामान्तीकरण की प्रक्रिया का ही नतीजा था कि राजा के पास बची बड़ी उपलब्धियां बनने लगी यथा राजा, महाराजा, महाराजाधिराज एवं श्री श्री 108 श्री यदि इस प्रकार साधारण जन व राजा (केन्द्रीय सत्ता) के मध्य अनेक अधिकारी बन गये।

सामान्तवादी समाज का उदय यूरोप में 8वीं शताब्दी के दौरान हुआ और विभिन्न विद्वानों ने इसके उदय के कारण बताये हैं। 1887 में जर्मन इतिहासकार ब्रूनर के अनुसार फांस के बादशाह चार्ल्स मार्तेल ने अपनी पैदल सेना को घुड़सवार सेना में बदला लेकिन उन्हें वेतन न दे पाने की हालत में भूमि देना आरम्भ किया । इसी से सामान्तवाद का आरम्भ हुआ । दूसरी और बेल्जियम इतिहासकार हैनरीपीरेन के अनुसार योरोप का अन्य का देशों के साथ शानदार व्यापार, सातवीं सदी के आखिर व आठवीं सदी की शुरूआत में भूमध्य सागर में अरबों के नियत्रंण के फलस्वरूप नष्ट हो गया और योरोपिय अर्थ व्यवस्था स्थानीय व्यापार व ग्रामीण संसाधनों पर आदित हो गई । इसने सामान्तवाद को जन्म दिया । फ्रांसीसी इतिहासकार मार्क ब्लॉक के अनुसार पाँचवीं सदी से दसवीं सदी तक योरोप में एक के बाद एक होने वाले आक्रमणों ने न सिर्फ अर्थव्यवस्था छिन्न भिन्न की बल्कि असुरक्षा की भावना को जन्म दिया । सुरक्षा व आजीविका की तलाश में किसानों ने अपनी जमीनें व अन्य संसाधीय स्थानीय जमींदार को सोंप दिये, जिन्हें सुरक्षा व आजीविका प्रदान करने का वायदा दिया लेकिन शर्त थी कि किसान जमींदार के खेतों में बिना मजदूरी लिये काम करेंगे । स्थानीय जमींदार ने इस प्रकार बड़े जमींदार को सैन्य सेवा के बदले अपनी जमीनें व संसाधन सौंपे । इस प्रक्रिया में हर व्यक्ति का स्वामी कोई ओर बनता गया । बस राजा का कोई स्वामी न था तो किसान किसी के स्वामी न थे । अन्त में पेरी एडरसन नामक विद्वान की मान्यता की चर्चा करना भी उचित होगा । उनके अनुसार दासता पर आधारित योरोपिय समाज और समता पंर आधारित कालीबाई जर्मन समाज के मध्य संघर्ष में दोनों ही समाज नष्ट हो गये और एक नये समाज का जन्म हुआ जिसका नाम सामन्तयादी समाज है ।

भारत में सामन्तवाद का उदय राज्य द्वारा ब्राहमणों एवं अधिकारियों को अनुदान के रूप में भूमि देने से आरम्भ हुआ, धीरे-धीरे व्यापार में ह्रास और मुद्रा की कमी के फलस्वरूप

सामन्तवादी प्रवृति बढ़ने लगी । सामन्तवादी समाज में दो वर्ग थे : विशेषाधिकार वर्ग एवं विशेषाधिकार विहीन वर्ग । पहले में सामन्त आते थे । जो वंशानुगत रुप में जनता पर अधिकार रखते थे और दूसरे में आने वाली जनता शोषित होती थी परंपरा के आधार पर। जो कुछ भी उत्पादन होता था उसका रूप स्थानीय था । जो भी श्रेष्ठ या नायाब होगा वह सामंत के लिए ही होगा, जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता । दूसरे शब्दों में जमींदारों के छोटे से वर्ग के भोग विलासी जीवन हेतु बहुसंख्यक श्रमिक काम करते थे। सामंत ही सब कुछ था तभी तो भारत में भगवान को ठाकुर भी कहा जाने लगा क्योंकि ठाकुर ही भगवान था।

लेकिन यह सामंती समाज भी अन्ततः समाप्त हुआ और पुंजीबादों समाज आया, इसकी चर्चा करने के पूर्व उपनिवेश की चर्चा करेंगे।

5.3.4 उपनिवेशवाद

सामन्तवादी समाज न्यूनाधिक रूप से आत्मावलंबी होते थे । बहुत कम वस्तुओं को खरीदने अथवा बेचने की आवश्यकता होती थी । व्यापार नही के बराबर था, बल्कि नागरिकों को आने-जाने ने सम्पति खरीदने व बचने की स्वतंत्रता थी, जो अर्द्धदास को नहीं थी । ऐसे में सामन्ती चुंगल से निकल कर भागे अर्द्धदास शहर में शरण लेते थे और वहां की अर्थव्यवस्था में भाग लेते थे ।

दूसरों ओर, शानों शौकत व भोग विलास में डूबे सामन्त अपनी शक्ति व प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए हमेशा प्रयत्न करते थे । परस्पर युद्ध व दरबार में षडयंत्र करना, एक आम बात थी। होड़ लगी रहती थी राजा के निकट आने या राजा ही वन जाने की । अनेक सामन्तों से घिरा राजा भी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता था। वह भी चाहता था कि उसके खजाने में अधिक से अधिक बहुमूल्य धातुएं, रत्न, आभूषण, आएं । स्पष्ट है कि इसमें उसकी मदद सामन्त नहीं करेंगे बल्कि विदेशी व्यापार में लगे व्यापारी करेंगे यही कारण था जिसमें राजा व व्यापारी साथ-साथ हो लिए ।

वास्तव में 15वीं शताब्दी के अन्त व 16वी शताब्दी के प्रारम्भ में यह प्रक्रिया पश्चिमी योरोप देशों में आरम्भ हुई जो पूरब से होने वाले व्यापार पर तुर्की के व्यापारियों के एकाधिकार से प्रभावित हुए थे । इसे एकाधिकार के फलस्वरूप खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखने वाले मसालों की कीमतों पर प्रभाव पड़ा था । नतीजन नए समुद्री मार्गो की खोज में राजा और सौदागरों की रुची बढ़ रही थी । फलत: 1492 में कोलम्बस ने अमेरिका खोजा । कैस्टाइल की रानी इसबैला ने कोलम्बस की प्रारम्भिक दो यात्राओं में धन को 7/8 वां भाग लगाया। 1497-98 में वास्कोडिगामा ने भारत तक पहुँचने का मार्ग खोजा । इन नवीन मार्गों की खोज के फलस्वरूप आरम्भ में योरोप के एशियाई व्यापार पर पुर्तगाल का एकाधिकार हो गया था । वहां का राजा जीन तृतीय खुद को 'इण्डिज' को 'वास्तविक मसाला व्यापारी' कहा करता था । पुर्तगाल के बाद हालैण्ड, फ्रांस एवं इंग्लैण्ड ने अधिकार जमाया ।

राजा की पहले रूचि सोना चाँदी जैसी बहुमूल्य धातु को इकट्ठा करने में थी जो पूरब से माल लाकर पश्चिम में बेचकर या पूरब से लूटकर लाने में ही सीमित थी । लेकिन धीरे-धीरे यह पाया गया कि यह संचय (जिसे प्रारम्भिक वाणिज्यवाद कहा जाता है) देश की समृद्धि हेतु

पर्याप्त नहीं है जो अनुकूल व्यापार सन्तुलन अर्थात आयाता से अधिक निर्यात द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है (यह विकसित वाणिज्यवाद की अवस्था कही जाती है) । ऐसा करने के लिए एक मात्र रास्ता क्षेत्र विशेष पर राजनीतिक कार्य करना है । इसलिये सभी योरोपिय देशों ने संस्थाओं (स्पेन पुर्तगाल और) या चार्टर कम्पनियों (फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि) की सहायता से समुद्र पार एशिया, अफ्रीका व अमेरिका में अपने उपनिवेश कायम किये ।

उपनिवेश का अत्यन्त कोई स्वतंत्र हित नहीं माना जाता था । उपनिवेश मूल देश के लिए थे । अत: उनके स्वतंत्र विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था बल्कि अनेक कानूनों द्वारा उन पर नियंत्रण रखा जाता था । इस आरम्भिक मनोवृति पर पहला प्रहार इंग्लैण्ड के उपनिवेश अमेरिका द्वारा 1976 में अपने स्वतंत्रता संग्राम में विजय होने पर लगा । इसके बाद मुक्त व्यापार की नीति अपनाई जाने लगी, रही कनाड़ा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में नई बस्तियां बसाई गई और कालान्तर में इन बस्तियों में भी स्वायत शासन दिया गया जैसे 1840 में कनाडा, 1850 में आस्ट्रेलिया, 1853 में कैंप कॉलोनी और 1856 में न्यूजीलैण्ड के उपनिवेशों में स्वायत शासन प्रदान किया । यह परिवर्तन उपनिवेशों में किया गया जहां गोरी जातियां बसी थी । अन्य उपनिवेशों में तो मूल देश की नीति शोषक मूलक बनी रही। इस नीति का एक रूप रवि का व्यवसायीकरण है, जिसकी हम अब चर्चा करेंगे।

5.3.5 कृषि का व्यवसायीकरण

आप जानते हैं कि कुछ फसलें जैसे गन्ना, कपास, नील, पोस्त, जूट, सोयाबीन आदि नकद फसल के नाम से जानी जाती है जिन्हें उगाने का मकसद सिर्फ बाजार के लिए होता है ताकि मुनाफा कमाया जा सके । इस प्रक्रिया को कृषि का व्यावसायीकरण कहते हैं और यह अपने न्यूनाधिक रूप में आरम्भ से ही थी । इसमें जाति औपीनवेशक सत्ता के पश्चात् अधिक आई । मूल देश मुनाफा कमाने की दृष्टि से उपनिवेश के लोगों को बाध्य कराता था कि वे चाय, कॉफी, रबर, गन्ना, कपास, पोस्त आदि की फसल बोएं । जैसे अंग्रेजों ने भारत को पोस्त पैदा करने को बाध्य किया ताकि वे अफीम बनाकर चीन से चॉदर लें और अन्तत: उसे अपने साम्राज्यवादी शिकन्जे की गिरफ्त में लें । डच सरकार ने इण्डोनेशिया में 'संस्कृति व्यवस्था' के अन्तर्गत किसानों को बाध्य किया कि ये मूल देश हेतु गन्ना, चाय, कॉफी, तम्बाकू नील आदि बोएं । उपनिवेश की जनता ने इस पर विद्रोह भी किया । भारत में नील की खेती को लेकर चम्पाटन में विरोध हुआ तो कपास के उत्पादन पर महाराष्ट्र में किसानों ने विद्रोह किया । कृषि के व्यवसायीकरण के निम्न प्रभाव हुए:

1. व्यवसायीकरण के फलस्वरूप मूल देश के व्यापारियों को बड़े पैमाने पर लाभ हुआ।
2. उपनिवेश के महाजन व व्यापारी भी इस लाभ में हिस्सा लेने वाले बन गए पूँजी न होने के कारण किसान महाजनों पर निर्भर रहते ही है और महाजन अपनी शर्तें लाद कर किसानों को ऐसी विशेष फसलें बोने के लिए मजबूर करते थे जो उन्हें मुनाफा दे ।
3. कृषि के अव्यवसायीकरण ने भूमि की तरफ उप लोगों का भी ध्यान आकर्षित किया जिनकी रूचि मुनाफा कमाने में थी । इससे गैर-हाजिर जमींदारों की संख्या

बढ़ी । इन जमींदारों को किसानों के कल्याण, भूमि और कृषि के सुधार आदि से कोई भी मतलब नहीं था । किसानों को बेदखल करना आम रिवाज हो गया था । अत: गरीब किसानों और भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़ी ।

4. इस प्रक्रिया से सस्ती खाद्य सामग्री जैसे ज्वार, बाजरा आदि की उपज में कमी आई । ये मोटे अनाज, जो गरीबों का खाना थे, महंगे होने लगे और इससे गरीब बुरी तरह प्रभावित हुए।

5.3.6 पूँजीवादी समाज

हम जानते हैं कि सामन्तवादी समाज में शहर में जागीरों की तुलना में अपेक्षाकृत स्वतंत्रता थी यहां व्यापारिक गतिविधियां होती थी । जागीरदार से त्रस्त लोगों की शरणस्थली भी शहर थे । शहर इस अर्थ में मजदूरों व कारीगरों से भरने लगा था । योरोप के शहरों में ये कारीगर अपने औजारों द्वारा उत्पादन को व्यपारियों या उपभोक्ताओं के बीच दिया करते थे । 15वीं सदी से एक बदलाव आया व्यापारी कारीगर के पास कच्चा माल लाता था, पेशगी देता था और तैयार माल ले जाता था । माल की मांग बढने की दशा में स्वामी कारीगर कुछ लोगों को मजदूरी पर रख लेता था । उन्हें औजार देकर माल तैयार करवाता था, और तैयार माल बेचकर मुनाफा कमाता था । इसी प्रकार यह धीरे-धीरे समझ में आया कि यदि धन सम्पति को तिजोरी में बन्द रखने के स्थान पर उससे कच्चा माल, औजारों की खरीददारी तथा कारीगर-मजदूरों को काम में लगाकर उत्पादन किया जाए और तैयार माल बेचा जाए तो मुनाफा भी मिलेगा साथ में सम्पति बेकार नहीं रहेगी । मुनाफा लाने वाला यह पैसा पूँजी कहलाता है और इसे लगाने वाले पूँजीपति ।

पूँजीपति, पूंजीवादी समाज का प्रमुख अंग है जो उत्पादन के साधनों पर अधिकार रखता है । दूसरा वर्ग श्रमिक है, जो अपने श्रम को बेचता है और इसी पर उसका अधिकार है । श्रमिकों को उनके श्रम हेतु उतना ही वेतन दिया जाता है, जितना उनके जीवन के निर्वाह के लिए आवश्यक है । जिन वस्तुओं का श्रमिक उत्पादन करते हैं उनका मूल्य उनकी मजदूरी से अधिक होता है, जो वे अपने श्रम के लिए पाते है । श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य (बाजार भाव पर) और उनके कार्य के मूल्य (मजदूरी के रूप मे) में जो अन्तर होता है, वह "अतिरिक्त मूल." है । इस अतिरिक्त मूल्य का जो हिस्सा पूँजीपति पाता है, वह उसका लाभ है। इस लाभ का उपयोग वह और अधिक अतिरिक्त मूल्य पैदा करने में लगाता है ।

पूँजीपति व श्रमिक दोनों के हितों में विरोध रहता है । पूँजीपति अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है तो श्रमिक अधिक से अधिक मजदूरी । बेशक श्रमिक दास या अर्द्धदास के समान नहीं है, उससे बलपूर्वक काम नहीं करवाया जा सकता है । परन्तु उत्पादन के साधनों के अभाव में उसके पास मजदूरी के लिए काम करने के अतिरिक्त कोई और चारा नहीं रहता है योरोप में सामन्तवाद के अंतिम चरण में इस प्रकार पूँजीवादी समाज का होने लगा और इसने सामान्तवाद को पूरी तरह खत्म कर दिया । यह प्रक्रिया फ्रांस में 1789 की क्रांति द्वारा हुई तो कहीं क्रमिक विकास द्वारा ।

पूँजीवादी समाज के विकास में औद्योगिक क्रांति महत्वपूर्ण घटना थी । इसने मशीनों व कारखाने की व्यवस्था द्वारा उत्पादन में तीव्रता प्रदान की । औद्योगिक शांति की शुरुआत कपड़ा उद्योग में हुई । कपड़ा सभी पहनते हैं अत: अधिक उत्पादन से लाभ बढ़ना ही था । कताई, बुनाई का कार्य हाथ की जगह मशीनों से किया जाने लगा-फिर मशीनों को चलाने के लिए मानव शक्ति के स्थान पर भाप इंजनों का प्रयोग हुआ । मशीनों के निर्माण हेतु लोहे व कोयले की जगह खदानें खोदी जाने लगी । वितरण व्यवस्था के लिए यातायात अवस्था में सुधार लाया गया । धीरे-धीरे नगर औद्योगिक केन्द्र में बदल गए ।

पूँजीवादी समाज में जहां पूँजी धीरे-धीरे कुछ ही लोगों के हाथों में एकत्रित होने लगी वहीं इसने कच्चे माल व बाजार की प्राप्ति के लिए देश को साम्राज्यवादी दृष्टिकोण अपनाने को बाध्य किया । दूसरी ओर वस्तुओं के अधिक उत्पादन होने के बावजूद भी श्रमिकों की हालात में सुधार नहीं हुए । श्रमिकों को दूषित व असुरक्षित स्थितियों में लम्बे समय तक काम करना पड़ता है । उनके घर गन्दी बस्तियों में हैं । फिर लाभ को ध्यान में रखने बाला पूँजीपति कभी भी अपने कारखाने को बन्द कर सकता है, श्रमिकों को नौकरी से हटा सकता है । श्रमिक हमेशा असुरक्षित वातावरण में रहने को बाध्य है ।

इसी वजह से श्रमिकों ने ट्रेड यूनियन आन्दोलन आरम्भ किया और अपने हक के लिए संघर्ष किया और अपनी हालात में सुधार किए । संघर्ष का एक फल तो 1917 में मजदूर व किसानों का अपना राज्य सोवियत संघ की स्थापना थी । समाजवादी विचारों का प्रसार हुआ और आज संसार की सभी सरकारें श्रमिक व गरीबों की भलाई की योजनाएं बनाने को बाध्य हो गई । यह बात अलग है कि इससे कितने लोगों को फायदा हो रहा है ।

पूँजीवादी समाज राजनीतिक रूप से सभी को समान मानता है । नतीजन लोकतंत्र, समान कानून अवस्था, समान अवसर व विकास की धारणा पूँजीवादी समाज की देन है ।

5.4 सारांश (summary)

प्रस्तुत इकाई में मानव विकास के ऐतिहासिक आयामों की संक्षिप्त जानकारी दी गई है। आरम्भ में मनुष्य स्वतंत्र रूप से झुण्ड बनाकर रहता था । बाद में धीरे-धरी सुरक्षा के उद्देश्य से समाज का निर्माण हुआ । मानव के पास विकसित मस्तिष्क एवं उसके सीधा खड़े होने की शक्ति से वह अन्य प्राणियों की तुलना में आगे बढ़ .गया । पुरातत्व वेताओं ने मानव इतिहास को दो भागों में विभाजित किया: (i) पाषाणकाल एवं (ii) धातुकाल । पाषाण काल को पुन: पूर्व पाषाणकाल, मध्य पाषाणकाल एवं नव पाषाणकाल में विभाजित किया जाता है । धातुकाल को भी इसी प्रकार ताम्रकाल, कांस्यकाल एवं लोहकाल में विभाजित किया जाता है ।

समाज के विकास के कई चरण हैं: इनमें सर्वप्रथम आदिम समाज बाद में क्रमश: कबीला समाज, सामन्तवादी समाज, उपनिवेशवाद एवं कृषि का विकास हुआ १६ अन्त में पूँजीवादी समाज बना ।

5.5 शब्दावली (Keywords)

(i) पाषाणकाल (ii) धातुकाल

(iii) ताम्रकाल	(iv) कांस्यकाल
(v) लोहकाल	(vi) आदिम समाज
(vii) कबीलाकाल	(viii) सामन्तवाद
(ix) उपनिवेशवाद	(x) पूँजीवाद

इकाई-6

सुधार आन्दोलन-प्राचीन भारत में सुधार आन्दोलन, भक्ति आंदोलन, राष्ट्रीय आन्दोलन, समाजवाद

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 प्राचीन भारत में 'सुधार आन्दोलन

6.2.1 बौद्ध धर्म एवं उनके सिद्धान्त

6.2.2 बौद्ध संगीतियां

6.2.3 बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय

6.2.4 बौद्ध धर्म का प्रसार

6.2.5 बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

6.3 जैन धर्म एवं उनके सिद्धान्त

6.3.1 जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त

6.3.2 जैन धर्म का प्रसार

6.3.3 जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

6.4 जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन

6.5 भक्ति आन्दोलन

6.5.1 भक्ति का उदभव

6.5.2 भक्ति की प्राचीनता

6.5.3 भक्ति का स्वरूप

6.5.4 इस्लाम का आगमन

6.5.5 भक्ति आन्दोलन की उत्पति के कारण

6.5.6 भक्ति आन्दोलन के प्रमुख संत

6.5.7 भक्ति आन्दोलन की विशेषताएं

6.5.8 भक्ति आन्दोलन का समाज पर प्रभाव एवं महत्व

6.5.9 भक्ति आन्दोलन की समीक्षा

6.6 राष्ट्रीय आंदोलन

6.6.1 राष्ट्रवाद के उदय के कारण

6.6.2 1857 प्रथम स्वतंत्रता संग्राम

6.6.3 नव निर्मित संस्थाओं का गठन

6.6.4 असहयोग आन्दोलन

6.6.5 राष्ट्रीय आन्दोलन

6.6.6 सविनय अवज्ञा आन्दोलन
6.6.7 1937-1947 का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन
6.6.8 भारत छोडो आन्दोलन
6.6.9 आजाद हिन्द फौज
6.7 समाजवाद
6.8 सारांश
6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
6.10 सन्दर्भ ग्रंथ

6.0 उद्देश्य (Objectives)

भारतीय समाज की समृद्ध परम्परा एवं विरासत रही है परन्तु समय के साथ-साथ इसमें कई विकृतियां उत्पन्न हो गई है । भारतीय दार्शनिकों, चिंतकों एवं समाज सुधारकों द्वारा समय-समय पर इन विकृतियों के विरोध में आवाज उठाई गई । प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य उन समस्त सुधारवादी आन्दोलनों से आपका परिचय कराना है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि:

- प्राचीन भारत के सुधार आंदोलन कौन से हैं?
- बौद्ध व जैन धर्म के प्रमुख सिद्धांत कौन से है?
- भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताऐं क्या हैं?
- राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्भव व विकास कैसे हुआ?
- समाजवाद का क्या स्वरूप है?

6.1 प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय समाज ने प्राचीन काल से ही बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं । वर्तमान भारतीय समाज के स्वरूप का निर्माण कई शताब्दियों में हुआ। देश-काल के अनुरूप समाज में परिवर्तन होते रहे है । समाज का दोषपूर्ण प्रवृत्तियों में बदलाव लाने हेतु भारतीय जनमानस हमेशा से सक्रिय रहा है ।

भारतीय इतिहास परिवर्तन हेतु किये गये प्रयासों से परिपूर्ण है, जो आंदोलनों के रूप में उभरे। भारतीय इतिहास में बहुत से सुधार-आन्दोलन हुए, जिनकी चर्चा इस इकाई में की जायेगी।

6.2 प्राचीन भारत में सुधार आन्दोलन छठी

छठी शताब्दी ई.पू. भारतीय इतिहास में एक व्यापक धार्मिक और आध्यात्मिक क्रांति का युग था । इस शताब्दी में प्राचीन संसार के अन्य देशों, जैसे - चीन, फारस, यूनान आदि में भी धर्म सुधार एवं क्रांति की लहरें दिखाई देती हैं । भारतवर्ष में इस धार्मिक क्रांति के संकेत उपनिषद् तथा प्राचीन बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में देखे जा सकते हैं, जिनके अनुसार इस समय अनेकानेक धर्माचार्य और विचारक धार्मिक और दार्शनिक प्रश्नों पर नाना प्रकार के मत

प्रतिपादित कर रहे थे । इनमें पर्याप्त संख्या में ऐसे श्रमण और तपस्वी थे, जिनके धार्मिक आदर्श एवं विश्वास निवृत्तिपरक थे और प्राय: वैदिक विचार धाराओं से बिलकुल प्रतिकूल थे । इस धार्मिक क्रांति की चरम परिणति बौद्ध एवं जैन जैसी दो प्रभावशाली चिन्तनधाराओं के अभ्युदय में दिखाई पडती है । ये दोनों धर्म निवृत्तिपरक धार्मिक आन्दोलन के द्योतक हैं, जिनमें त्याग, वैराग्य या सन्यास के लिए आग्रह है और कामकाजी संसार से संबंध-विच्छेद का आदर्श प्रस्तुत किया गया है, लेकिन निवृत्तिपरक धार्मिक आदर्श भी छठीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के लिए एकदम आकस्मिक और नूतन नहीं था । वैदिक साहित्य में भी यदा-कदा श्रमणों और मुनियों के ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जो एक ओर वैदिक विचारधारा से मेल नहीं खाते और दूसरी ओर निवृत्तिपरक आदर्श के निकट प्रतीत होते हैं ।

उत्तर वैदिक काल तक दार्शनिक विचाराधाराओं का संघर्ष पर्याप्त सघन हो गया था । इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के सम्पर्क में संघर्ष की पृष्ठभूमि में ही छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व की धार्मिक क्रान्ति एवं आन्दोलन को समझा जा सकता है, जिनके फलस्वरूप आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, कर्म आदि प्रश्नों पर नाना-प्रकार के मत प्रतिपादित हो रहे थे । इस धार्मिक क्रांति से तत्कालीन भारत में दार्शनिक वाद-विवाद की प्रचुरता दिखाई देती है और कठोर तप के आदर्श पर विशेष बल मिलता है, साथ ही वैदिक परम्पराओं के हिंसात्मक यज्ञों में विश्वास कम होता है । बौद्ध धर्म भी इसी प्रकार के वैदिक एवं अवैदिक विचारों के बीच हुए संघर्ष एवं उससे उत्पन्न समन्वय का परिणाम है । जैन धर्म के उत्थान में भी उपर्युक्त प्रक्रिया का पर्याप्त योगदान है । यद्यपि उनमें श्रमण परम्परा के अवैदिक तत्वों की ही प्रधानता है । उत्तर वैदिक काल में धार्मिक जीवन मे परिवर्तन दिखाई देता है । नवीन धार्मिक विचारधाराओं क्रियाविधियों और परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ । इस समय यज्ञों का स्वरूप जटिल हो गया था। धार्मिक कर्मकाण्डों (जादू-टोना, वशीकरण, इन्द्रजाल) का महत्व बढ गया था । उपनिषद् साहित्य में नवीन दार्शनिक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ एवं षड्दर्शन (सांख्य, योग, न्याय, वैशैषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा) का विकास हुआ । अध्यात्मवाद के प्रमुख सिद्धान्तों ब्रह्म, कर्म, पुर्नजन्म, मोक्ष आदि का विकास हुआ । ब्रह्म को एक माना गया । आत्मा उसका ही अंश है । व्यक्ति के कर्मों से ही व्यक्ति को पुनर्जन्म धारण करना पड़ता है । कर्मों के अपात्र से मुक्ति होने पर पुनर्जन्म नहीं होगा । आत्मा 'ब्राह्म से एकाकार हो जायेगी व मोक्ष की स्थिति प्राप्त करेगी । उपनिषदों में तप व सन्यास पर जोर दिया गया है । तप करने वाला वह व्यक्ति होता है, जो सांसारिक जीवन को त्याग करके वन की निर्जनता में जीवन की आध्यात्मिक समस्याओं पर निष्ठा और एकाग्रता से मनन और चिन्तन करता है । इस प्रकार वैदिक युग में दो प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराएं समानान्तर चली । प्रवृत्तिवादी व निवृत्तिवादी । एक संसार के प्रति मोह उत्पन्न करती है, दूसरी वैराग्य की भावना का विकास करती है । वेदों में जटिल कर्मकाण्डों पर जोर दिया गया है व दूसरी ओर तप, ज्ञान, ब्राह्म, आत्मा की विशद् व्याख्या भी की गई है । इसी दार्शनिक ज्ञान के कारण उपनिषदों का महत्त्व बढ गया है ।

6.2.1 बौद्ध धर्म एवं उनके सिद्धान्त

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध नेपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु के शाक्य गणराज्य के प्रमुख अथवा राजा शुधोदन के पुत्र थे । बचपन से ही चिन्तनशील गौतम ने 20 बर्ष की आयु में दुःखी और विशादग्रस्त संसार के स्वरूप को देखकर सम्पूर्ण राजकीय वैभव और परिवार का त्याग कर सन्यास ग्रहण कर लिया । शुरू से ही उन्होंने कुछ समय तक आलार कालाम और उद्दालक रामपुत्त जैसे गुरुओं के साथ रहकर अध्ययन किया, किन्तु इससे जब उनकी जिज्ञासा शान्त न हुई, तब आधुनिक बौद्ध गया के निकट उरुवेला के जंगल में उन्होंने तपस्या एवं साधना के मार्ग का अनुसरण किया । अन्त मे 35 वर्ष की आयु में एक दिन सहसा ध्यानमग्न गौतम को सत्य के दर्शन हुए और उन्होंने संबोधि अथवा स्वत प्राप्त किया । जिस दुरूह एवं असाधारण सत्य अथवा ज्ञान का बुद्ध ने दर्शन किया था, उनकी शिक्षा सांसारिक जीवन में फंसे हुए तृष्णाग्रस्त मानवों को देने के प्रश्न को लेकर उनके मन में पर्याप्त तर्क-वितर्क हुआ, किन्तु अन्त में अपने ज्ञान का आलोक उन तक पहुंचाने का निश्चय कर उन्होंने अपना सर्वप्रथम उपदेश सारनाथ में किया । अपने जीवन के शेष 45 वर्षों में गौतम बुद्ध तात्कालिक भारत में काशी, कौशल, मगध, वैशाली, शाक्य आदि जनपदों में भ्रमण करते रहे और शिक्षा देते रहे । 60 वर्ष की अवस्था में आधुनिक उत्तरप्रदेश के देवरिया जिले में कुशीनगर नामक स्थान पर उनका महा निर्वाण हुआ ।

भगवान बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात पहली बार उनके उपदेशों का संग्रह राजग्रह का में संगति हुआ । आगे भी उनमें विकास और विस्तार होता रहा और बौद्ध धर्म के ग्रंथ त्रिपिटक अपने वर्तमान रूप में संभवत पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में सिंहल में लिखे गये । त्रिपिटक सम्मिलित रूप से विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक को कहते हैं । विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुओं के लिए आचार-विहार के नियम हैं । सुत्तपिटक में बुद्ध की नैतिक और धार्मिक शिक्षाऐं है और अभिधम्मपिटक में उन शिक्षाओं में निहित दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन और विश्लेषण है । बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों को इन्हीं त्रिपटकों में ढूँढना चाहिए । महात्मा बुद्ध के मूल उद्देश्य सर्वथा सरल प्रायोगिक एवं व्यवहारिक थे । युद्ध की शिक्षाओं में नैतिकता का आग्रह था, जिनमें मानव का चर्मोत्कर्ष संभव हो सके ।

(1) चार आर्य सत्य

बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के आधार उनके चार आर्य सत्यों में निहित हैं । सारनाथ के अपने प्रथम धर्मोपदेश (धर्म चक्र परिवर्तन) में महात्मा बुद्ध ने संभवत: इन्ही का उपदेश दिया था ।

दुःख बुद्ध के अनुसार समस्त मानव जीवन दुःखमय है । चारों ओर दुःख ही दुःख है और सारा संसार दुःख की आग में चल रहा है । जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु ये सभी दुःखपूर्ण हैं। अप्रिय बस्तु का न मिलना, प्रिय वस्तु का वियोग और ऐच्छिक वस्तु की अप्राप्ति, इन सभी में दुःख व्याप्त है

दुःख-समुदाय दुःख की उपर्युक्त व्यापकता अकारण नहीं है । दूसरे आर्य-सत्य दुःख समुदाय के अन्तर्गत उन्हीं कारणों को स्पष्ट किया गया है । बौद्ध धर्म के प्रतीत्यसत्मुपाद के

नियमानुसार सभी वस्तुयें कारणों और परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं । अतः दुःख का भी कारण है । दुःख का मूल कारण अविद्या को बताया गया है । जिसका तात्पर्य है अपने वास्तविक स्वरूप के संबंध में मिथ्या धारणा । अविद्या और तृष्णा मनुष्य के दुःख के मूल कारण हैं ।

दुःख-निरोध प्रतीत्य समुत्पाद के नियम के अनुसार ही यदि दुःख के कारण का मूलोच्छेदन कर दिया जाये तो दुःख का भी निरोध हो जायेगा । अविद्या और तृष्णा के निरोध से दुःख का निरोध संभव है ।

दुःख-निरोध मार्ग अविद्या और तृष्णा से उत्पन्न दूषित मनोवृत्तियों और संस्कारों के निरोध के लिए दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा का विधान किया गया है, जिसे अष्टागिंक मार्ग भी कहते हैं । संभवतः बुद्ध ने स्वयंशील, समाधि और प्रज्ञा को ही दुःख निरोध का मार्ग बताया था,। शील अर्थात् आचार विचार के नियम जैसे अहिंसा, करूणा आदि से मनुष्य के कर्म नियन्त्रित हो जाते है और वह अनैतिक तथा स्वार्थमय कर्मों से अलग रहता है । समाधि का तात्पर्य है चित्त की एकाग्रता, जिससे तृष्णा का उपशमन् हो जाता है । तत्पश्चात मनुष्य के एकाग्र चित्त में प्रज्ञा, अथवा अलौकिक ज्ञान का उदय होता है और अविद्या रूपी अन्धकार समाप्त हो जाता है । यही चरम सत्य निर्वाण की स्थिति है । कालान्तर में इन्हीं तीन का अष्टांगिक मार्ग में विस्तार कर दिया गया । अष्टांगिक मार्ग के 8 अंग इस प्रकार हैं- 1. सम्यक् दृष्टि अर्थात् सत्य विश्वास, 2. सम्यक् संकल्प अर्थात् सत्य संकल्प या विचार, 3. सम्यक् वाक् अर्थात् सत्य वचन, जिससे दूसरों को कष्ट न हो. 4. सम्यक् कर्मान्त अर्थात दया दान, करूणा, मैत्री, अहिंसा आदि सदाचारपूर्ण आचरण, 5. सम्यक् आजीव अर्थात् जीविका के लिए ऐसे साधनों का उपयोग जो सदाचारपूर्ण हो, 6. सम्यक् व्यायाम अर्थात् नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये निरन्तर श्रम करना, 7. सम्यक् स्मृति अर्थात् शरीर एवं मन की दुर्बलताओं की निरन्तर स्मृति, जिससे मनुष्य के कार्य विवेकपूर्ण हो और 8. सम्यक् समाधि अर्थात चित्त की एकाग्रता ।

बौद्ध धर्म के उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग को मध्यमा प्रतिपदा भी कहा गया है । यह दो अतियों के बीच का मार्ग है, जिसमें न तो अत्यधिक तपस्या के लिए आग्रह है और न ही अत्यधिक शारीरिक सुख एवं विलासिता के लिये अवकाश ।

(2) निर्वाण

बौद्ध धर्म का चरम लक्ष्य है निर्वाण, जो मनुष्य के वर्तमान जीवन में संभव है । निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है बुझ जाना या शान्त हो जाना । इस अवस्था में मनुष्यों को अविद्या, तृष्णा, दुःख, पुनर्जन्म आदि से छुटकारा मिल जाता है । निर्वाण के निषेधात्मक विशेषणों का तात्पर्य यह नहीं है कि बौद्ध धर्म की समस्त आध्यात्मिक साधना उच्छेद में समाप्त होती है । निर्वाण का स्वरूप दुरूह और अतर्क्य होते हुए भी उसकी परमार्थता निर्विवाद है । निर्वाण में दुःख का उपशमन हो जाता है, किन्तु सभी कुछ समाप्त हो जाता है, ऐसा नहीं है । यह कोई ऐसी अवस्था नहीं है जो मरणोपरान्त प्राप्त होती हो, वरन् मनुष्य के जीवित रहते हुये ही यह पूर्णता की अवस्था प्राप्त हो सकती है और जीवन मुक्ति की अवस्था के

समान है । निर्वाण की अवस्था से सामान्य जीवन की संकीर्ण रुचियां समाप्त हो जाती हैं और शक्ति पूर्ण शांति और समत्व का जीवन अतीत करता है । निर्वाण परमज्ञान तथा पूर्ण विशुद्धि की अवस्था है, जिसे पा लेने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता । बौद्ध ग्रंथों में इसे नित्य, अनन्त, अनिर्वचनीय, शांति एवं सुख कहा गया है । निर्वाण परम शांति और आनन्द की अवस्था है ।

(3) प्रतीत्यसमुत्पाद्

दुःख के अस्तित्व को प्राय: अधिकांश भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं । छठीं शताब्दी ई.पू. की धार्मिक और आध्यात्मिक क्रांति के फलस्वरूप दुःख के कारण को लेकर अनेक प्रकार के मत प्रतिपादित किए गये, जैसे अहेतुवादी, नियतिवादी, अज्ञानवादी निराशावादी आदि । महात्मा बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद के नियम से दुःख की उत्पत्ति की संख्या की । इसके अनुसार संसार का कोई भी विषय अकारण नहीं है । सभी के पीछे कुछ न कुछ कारण है । उदाहरण के लिये जन्म के कारण ही जरा मरण होता है । प्रतीत्य समुत्पाद का शाब्दिक अर्थ है प्रतीत्य इसके होने से, समुत्पाद यह उत्पन्न होता है । इस प्रकार बौद्ध धर्म नितान्त कारणवादी है । किसी कारण के बिना अकस्मात् कोई घटना नहीं हो सकती । यह नियम स्वयं परिचालित होता है । इसके पीछे कोई बाह्य चेतन सत्ता नहीं होती ।

प्रतीत्य समुत्पाद को मध्यमा प्रतिपदा कहा गया है अर्थात् प्रतीत्य समुत्पाद आस्तिक (शाश्वतवाद) और नास्तिकता (उच्छेदवाद) के इन दो अन्तों के बीच का मार्ग है । बुद्ध ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया । उनके अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व है, लेकिन वे नित्य नहीं है । उनकी उत्पत्ति कुछ कारणों पर आश्रित है । साथ ही वस्तुओं का पूर्ण नाश नहीं होता वरन् उनका कुछ भाग या परिणाम शेष रह जाता है । अत: न तो शाश्वतवाद पूर्णत: सही है न ही उच्छेदवाद । वास्तव में प्रतीत्य समुत्पाद के दो पक्ष हैं- (1) पारमार्थिक और (2) व्यावहारिक । पहला पक्ष परमार्थ को सत् और असत् इन दो कोटियों से परे बताता है और दूसरा पक्ष संसार की कार्य-कारण नियम के अनुसार व्याख्या है । अर्थात् पहले के अनुसार संसार को सत् समझ लेना ही दुःख का मूल कारण है, यही अविद्या है और अविद्याग्रस्त चित्त, कर्म, तृष्णा आदि में लिप्त दुःखात्मक संसार चक्र में भ्रमण करता रहता है ।

(4) कर्म का सिद्धान्त

बौद्ध धर्म में कर्म का सिद्धान्त उसके प्रतीत्य समुत्पाद के नियम पर ही आधारित है । इस नियम के अनुसार मनुष्य के वर्तमान जीवन का कारण उसके पूर्ववर्ती जीवन में निहित है । कर्म का भी यही सिद्धान्त है कि वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल है और वर्तमान जीवन का भविष्य के जीवन के साथ भी वही सम्बन्ध है, जो पूर्ववर्ती जीवन का वर्तमान जीवन के साथ है । वर्तमान जीवन के कर्मों के अनुरूप ही भविष्य का जीवन निर्धारित होता है । महात्मा बुद्ध ने कहा था कि कर्म ही जीवों का अपना है, कर्म ही उनकी विरासत है, कर्म ही उनका बन्धु और कर्म ही उनका सहारा है । कर्म ही प्राणियों को हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है । बौद्ध धर्म में कर्म का अर्थ वैदिक कर्म-काण्ड से मित्र है । महात्मा बुद्ध ने कर्म का सार मानसिक संकल्प अथवा कर्म करने का मानसिक निर्णय बताया है और उसे चेतना

कहा है । अर्थात् चेतनापूर्वक की गई मनुष्य की समस्त कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टायें ही उसका कर्म है । इस प्रकार बौद्धों की कर्म की कल्पना जैनों के कर्म से भिन्न है, जहाँ कर्म को सूक्ष्म भूतत्व माना गया । बौद्ध धर्म कर्म प्रधान धर्म है । आस्तिक धर्मों में जो महत्व ईश्वर का है, वही महत्व यहाँ कर्म के सिद्धान्त का है । कर्म ही मनुष्य के सुख दु:ख का दाता है ।

(5) अनित्यता एवं क्षणिकवाद के सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध ने संसार की सभी वस्तुओं को अनित्य और निरन्तर परिवर्तनशील बताया था । इस नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और प्रतिक्षण नयी हो जाती है । यद्यपि सामान्य अनुभव में हमें ऐसा लगता है कि अमुक वस्तु वही है, जिसे हमने पहले देखा था, किन्तु वास्तव में उन दोनों में केवल सादृश्य मात्र है, जिसे हम तादाम्य समझ लेते हैं । जिस प्रकार नदी के जल अथवा दिये की लौ प्रतिक्षण बदलते रहने पर भी नित्य या स्थायी प्रतीत होती है, वैसे ही जगत् अनित्य होने पर भी प्रवाह रूप से बने रहने के कारण नित्य या स्थायी प्रतीत होता है । इस सिद्धान्त के विरूद्ध के आपत्ति यह हो सकती है कि यदि आत्मा भी प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है, तो स्मृति कैसे बनी रहती है । इसके उत्तर में बौद्धों ने कार्य-कारण नियमानुसार यह कहा कि प्रत्येक आगामी अवस्था में सभी पूर्वगामी अवस्थायें अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है । यद्यपि मनुष्य किन्हीं दो क्षणों में वही नहीं रहता, लेकिन वह एकदम भिन्न भी नहीं होता । इसी आधार पर बौद्ध धर्म में नैतिक दायित्व भी स्थापित किया गया है । परवर्ती बौद्ध धर्म में अनित्यता का यह सिद्धान्त अपने अन्दर निहित तर्क के कारण क्षणिकवाद के सिद्धान्त में रूपान्तरित हो गया, जिसके अनुसार न केवल कोई वस्तु शाश्वत अथवा नित्य नहीं है, वरन् उसका अस्तित्व कुछ काल के लिये नहीं बल्कि एक ही क्षण के लिये रहता है ।

(6) अनात्मवाद

बुद्ध के समय में आता के अस्तित्व के प्रश्न पर शाश्वतवादी और उच्छेदवादी ये दो प्रमुख धारणायें प्रचलित थीं । इन दोनों का बुद्ध ने खण्डन किया । अपने प्रतीत्य समुत्पाद और अनित्यता के सिद्धान्तों के अनुसार महात्मा बुद्ध ने आत्मा की स्थायी सत्ता को नहीं स्वीकार किया । मनुष्य जिन दैहिक और चेतसिक तत्वों से बना है, वे सभी स्वतंत्र अथवा परतन्त्र (प्रतीत्य समुत्पन्न) तल हैं और उनका लक्षण ही है अनित्यता, दु:खात्मकता और अनात्मता । महात्मा बुद्ध के अनुसार मनुष्य दैहिक या भौतिक और चैतसिक तत्वों का केवल समष्टि या संघात मात्र है । जिस प्रकार चक्र धुरी आदि के समूह को रथ कहते हैं, उसी प्रकार चैतसिक और दैहिक (नाम-रूप) तत्वों या स्कन्धों के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं । रूप स्कन्ध दैहिक तत्व है, जिसका तात्पर्य है मनुष्य के शरीर का आकार, रंग आदि । नाम के अन्तर्गत 4 स्कन्ध बताये गये हो- वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान । जब तक इन संघातों की समष्टि बनी रहती है, तभी तक मनुष्य का अस्तित्व भी बना रहता है, और जब ये नष्ट हो जाती है, तब मनुष्य का भी अन्त हो जाता है । अत: इस संघात के अतिरिक्त वही आता जैसी कोई

सत्ता नहीं है । परिवर्तनशील स्कन्धों के इस संघात या समष्टि में आता की प्रतीति उसी प्रकार का भ्रम है, जैसे दर्पण में मुख तो दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में वहाँ कुछ भी नहीं होता ।

आत्मा की स्थाई सत्ता को अस्वीकार करने पर कठिनाई यह पैदा होती है कि पुनर्जन्म किसका होता है और कर्मफल कौन भोगता है? वास्तव में आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए भी बौद्ध धर्म जीवन को एक क्रमबद्ध प्रवाह मानता है । विभिन्न अवस्थाओं की सन्तति ही जीवन है । इस सन्तति मे वर्तमान अवस्था की उत्पत्ति पूर्ववर्ती अवस्था से हुई है और वर्तमान अवस्था आगामी अवस्था को जन्म देगी । जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में कारण कार्य का सम्बन्ध है, जिससे जीवन एकमय मालूम पडा है । जिस प्रकार दीपक की ज्योति प्रतिष्ठा नयी और भिन्न होते हुए भी अभिन्न लगती है, उसी तरह जीवन में भी एकसूत्रता दिखाई देती है ।

इस विषय पर भी बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया । उन्होंने यह कहा कि आत्मा का अस्तित्व है और न यह कहा कि आत्मा का अस्तित्व नहीं है । वास्तव में दुःख और दुःख निरोध की समस्या के लिये वे इस प्रश्न को बिल्कुल अनावश्यक समझते थे, लेकिन जिस प्रकार की आत्मा संबंधी धारणायें तत्कालीन विचारधाराओं में प्रचलित थी, उनका खण्डन करना उन्होंने आवश्यक समझा । आता का निषेध ही बौद्ध धर्म में अनात्मवाद व नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त में विकसित हुआ ।

(7) पुनर्जन्म

अन्य भारतीय दर्शनों की तरह बौद्ध धर्म भी पुनर्जन्म में विश्वास करता है । चूँकि बौद्ध धर्म आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करता है, इसलिए पुनर्जन्म आत्मा का नहीं होता है, वरन् चरित्र का होता है । मूल व्यक्ति के कर्मानुसार पुनर्जन्म होता है और उसके संस्कार वाला दूसरा व्यक्ति पैदा हो जाता है ।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि बुद्ध के मूल उपदेश और बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्त अत्यन्त सरल, नीतिमूलक व्यावहारिक एवं तर्कसंगत थे । जगत-थापी दुःख और दुःख का निराकरण ही इन शिक्षाओं की आधारशिला है ।

6.2.2 बौद्ध संगीतियां

बुद्ध ने अपने अनुयायियों को नाना दिशाओं में बौद्ध धर्म का प्रचार करने की आशा दी। बौद्ध धर्मानुयायियों की लगन और निष्ठा तथा अनेकानेक अन्य अनुकूल कारणों से बौद्ध धर्म का प्रचार सभी दिशाओं में बहुत द्रुत गीत से हुआ और शीघ्र ही इसका प्रचार न केवल सम्पूर्ण भारत वरन् विदेशों में भी हो गया । बौद्ध धर्म के प्रसार और विकास में बौद्ध संघ और संगीतियों का महत्वपूर्ण योगदान है । बुद्ध ने अपने अनुयायियों को संघ के रूप में सुगठित किया था । भिक्षु बौद्ध विहारों में रहते थे और वर्षाकाल को छोड़कर शेष सभी ऋतुओं में बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे । जनहित के आदर्श से प्रेरित एवं अपनी त्यागपरता, सदाचारिता एवं अध्यवसायिता के जीवन से इन्होंने धर्म का विकास किया । इस सन्दर्भ में चार बौद्ध संगीतियां या धर्म सभाये भी उल्लेखनीय हैं । पहली संगीति बुद्ध के महापरिनिर्वाण के कुछ सप्ताह बाद राजगृह में हुई थी । इसमें बुद्ध की शिक्षाओं का संकलन सुत्त और विनयपिटक के रूप में किया

गया । दूसरी संगीति वैशाली में बुद्ध के निर्वाण के लगभग 100 वर्ष बाद हुई थी । इस सभा में बौद्ध धर्म में मतभेद पैदा हो गया और बौद्ध धर्मानुयायी महासांधिक और स्थविर नामक दो संप्रदायों में विभक्त हो गये । मतभेद की इस प्रक्रिया का आगे भी बहुत तेजी से विकास हुआ और तीसरी महासभा अगले सौ बर्ष बाद मौर्य सम्राट अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई । इसके बीच बौद्ध धर्म में कुल 18 संप्रदायों का उदय हो गया । पाटलिपुत्र की संगीति में स्थविरवादी सम्प्रदाय की प्रधानता थी, जो अपने को मूल बौद्ध धर्म का पोषक और समर्थक मानते थे । इन्होंने बौद्ध धर्म में बढ़ती हुई सामदायिकता को रोकने के लिये इस संगीति में अन्य सम्प्रदायों के मतों का विधिवत खण्डन किया और अभि के कथावस्तु नाम के ग्रंथ का संकलन किया । इस ग्रंथ में स्थविरवादी दृष्टिकोण से अन्य सम्प्रदायों के लगभग 250 मतों का खण्डन सुरक्षित है । लगभग इसी समय अशोक के प्रोत्साहन और प्रयासों से बौद्ध धर्म पश्चिमी और दक्षिणी एशिया में फैलने लगा । चौथी संगीति प्रथम शताब्दी ई. में कुषाण नरेश कनिष्ठ के समय में कश्मीर में हुई थी । इस संगीति में सर्वास्तिवादी, सम्प्रदाय की प्रधानता थी । इस प्रकार एक ओर जहां भारत और भारत के बाहर, बौद्ध धर्म के प्रचार के फलस्वरूप उसका बाह्य विकास हो रहा था, उसकी भौगोलिक सीमायें बढ रही थी और बौद्ध धर्मानुयायियों की संख्या में दुतगति से वृद्धि हो रही थी, वहीं दूसरी ओर नाना सम्प्रदायों का उदय इसके मूलभूत सिद्धान्तों के आन्तरिक विकास का भी परिचाचक है, जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध साहित्य और सिद्धान्तों में पर्याप्त सम्वर्धन और परिवर्धन हो रहा था ।

6.2.9 बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय

(1) हीनयान और महायान

विकास और विस्तार के इस क्षेत्र में ईसा पूर्व तीसरे और दूसरी शताब्दी में जिन नाना बौद्ध सम्प्रदायों और मतों का अभ्युदय हुआ, पीछे उनका विभाजन मोटे तौर पर दो विचारधाराओं अथवा सम्प्रदायों 'हीनयान' और महायान में दिखाई देता है । स्थविरवादी एवं सर्वास्तिवादी जैसे सम्प्रदायों को सम्मिलित रूप से हीनयान की कोटि में रखा गया है, जबकि महायान के बीज महासन्धिक एवं लोकोत्तरवादी जैसे सम्प्रदायों में दिखाई देते है । वैसे महायान सम्प्रदाय का उदय लगभग प्रथम शताब्दी ई.पू. में स्वीकार किया जाता है । महायान के अभ्युदय से बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और अनुयायियों में गहरा विभेद उत्पन्न हो गया ।

महायान 'बौद्ध धर्म के अनुयायी ही दूसरे अन्य बौद्ध धर्मानुयायियों को हीनयानी कहते थे। महायान का शाब्दिक अर्थ है उत्कृष्ट मार्ग और हीनयान का तात्पर्य है निम्न या निकृष्ट मार्ग। स्पष्ट है कि ये नाम महायान के अनुयायियों द्वारा रखे गये हैं । हीनयान में स्थविरवादी एवं सर्वास्तिवादी जैसे बौद्ध धर्मानुयायियों की प्रमुखता थी जो अपने को मूल बौद्ध धर्म का संरक्षक मानते थे । इस आधार पर हीनयान को प्राचीन बौद्ध धर्म कहा जाता है, ।किन्तु यह उल्लेखनीय है कि महायान के अनुयायी भी अपने को कम प्राचीन नहीं मानते थे । महायान सूत्रों के अनुसार बुद्ध ने सारनाथ के अपने प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन में हीनयान के सिद्धान्तों की ही शिक्षा दी थी, लेकिन महायान का उपदेश उन्होंने राजगृह के पास गृंधकुट पर्वत पर

बोधिसत्वों की सभा में दिया था । यहाँ अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के साथ-साथ महायानी यह भी प्रदर्शित करना चाहते हैं कि बुद्ध की शिक्षायें दो तरह की थीं, व्यक्त और गुह्य । पहली शिक्षा साधारण कोटि के अनुयायियों या श्रावकों के लिये थी, जिसे श्रावकयान, सहजयान या हीनयान कहा गया है, जिसमें पुद्गल नैरात्म्य के सिद्धान्त पर बल था । इस प्रकार के सिद्धान्त में एक प्रकार की स्वार्थपरता निहित थी, क्योंकि व्यक्ति केवल अपने निर्वाह को ही अपना लक्ष्य बनाता है । दूसरी ओर गुह्य शिक्षायें कठिनयान बुद्धयान या महायान के अनुयायियों के लिये थी, जिसमें धर्म नैरात्म्य पर बल दिया जाता था । यह स्वार्थ का सिद्धान्त नहीं था । महायान का अनुयायी असीमित करूणा से प्रेरित है और सबके निर्वाण को अपना लक्ष्य मानता है ।

हीनयान बौद्ध धर्म का अनुसरण बिना गृहस्थ जीवन का त्याग किये संभव नहीं था । इसके लिए सांसारिक जीवन को छोड़कर भिक्षु-जीवन ग्रहण करना आवश्यक था । ये बुद्ध को कोई अलौकिक अवतार अथवा देवता नहीं मानते थे वरन् अन्य सामान्य मनुष्यों की तरह उनका भी मानव रूप स्वीकार करते थे । सामान्य लोगों से बुद्ध में भेद था कि अपनी अलौकिक प्रतिभा और प्रयास में उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त कर ली थी । इस प्रकार वे एक महापुरूष और तीर्थंकर हो गये थे । हीनयान के अनुयायियों के आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य अर्हत-पद प्राप्त करना था । अर्हत् उस भिक्षु को कहते हैं जिसे निर्वाण प्राप्त हो चुका है । महात्मा बुद्ध अर्हत थे । इस मार्ग के अनुयायी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के बाद संतुष्ट हो जाते थे और दूसरों को इस लक्ष्य को प्राप्त करने का केवल मार्ग बता देना ही अपना कर्तव्य समझते थे । महायानियों का लक्ष्य इससे भिन्न था । अपने निर्वाण मात्र से ही संतुष्ट हो जाना और दूसरों के निर्वाह के लिये चिन्ता न करने के इस आदर्श के आधार पर ही महायानियों ने इन्हें स्वार्थी मार्ग का अनुयायी बताया । बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों को हीनयान स्वीकार करता था जैसे चार आर्य सत्य तथा अष्टांगिक मार्ग । ये अनित्यता अथवा क्षणभंगुरता तथा अनात्मवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार करते थे । इनके अनुसार संसार परिवर्तन का एक प्रवाह या सन्तान मात्र है, जिसमें कार्यकारण नियम के अनुसार सभी कुछ निरन्तर परिवर्तनशील और अनित्य है । जीव अथवा व्यक्तित्व केवल रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नाम के पाँच स्कन्धों या धर्मो का एक संग्रह मात्र है, जिसे जीव या पुद्गल कहते है, इसके पीछे आता नाम की कोई नित्य सत्ता नहीं है । इसी को हीनयान का आत्म-शून्यता या पुदगुल-शून्यता का सिद्धान्त कहा गया है ।

महायान की उत्पत्ति प्रथम शताब्दी ई.पू. में दक्षिण के आन्ध्र प्रदेश में मानी जाती है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दक्षिण का यह प्रदेश तथाकथित विदेशी जातियों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त था । बौद्ध धर्म के सुप्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन ने अपनी अद्‌वितीय प्रतिभा द्‌वारा इस सम्प्रदाय को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया । महायान के अभ्युदय के साथ अनेक बौद्ध ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये ।

महायान महात्मा बुद्ध को मरणधर्मा सामान्य मनुष्य नहीं मानता । महायानियों ने बुद्ध को ईश्वर तुल्य पारमार्थिक या अलौकिक सत्ता और उसके अवतार के रूप में स्वीकार किया । महायान में बुद्ध की तरह बौधिसत्वों की अलौकिकता का भी विकास हुआ । बोधिसत्व भावी बुद्ध को कहते हैं, जो बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग पर चल रहे हो । शाक्य मुनि बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने

के पूर्व अनेक जन्मों में बोधिसत्व के रूप में जन्म लिया था और अपने निरन्तर प्रयास के अन्त में बुद्धत्व प्राप्त किया । महायान सम्प्रदाय में बोधिसत्व के सिद्धान्त को पर्याप्त विकास हुआ और बोधिसत्वों का अस्तित्व माना गया और उनके स्वरूप तथा महात्म्य की कल्पना अलौकिक एवं देवताओं के समान है । इन बुद्धों और बोधिसत्वों की पूजा तथा भक्ति का महायान में पर्याप्त विकास हुआ ।

हीनयान के अर्हत् के आदर्श के विपरीत महायान ने बोधिसत्व का आदर्श प्रस्तुत किया। महायान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में बोधिसत्व बनने की क्षमता रहती है । साधारण उपासक और गृहस्थ भी अन्तिम लक्ष्य (निर्वाण) प्राप्त कर सकते है । हीनयान में निर्वाण प्राप्त करने के लिये भिक्षु-जीवन ग्रहण करना आवश्यक समझा जाता था । महायान बौद्ध धर्म में यह आवश्यक नहीं समझा गया । महायान बौद्ध धर्म में बोधिसत्वचर्या का पर्याप्त विकास हुआ । बोधिसत्व के लिये 10 पारमितायें अर्थात् सद्गुण एवं नैतिक तथा चारित्रिक पूर्णतायें प्राप्त करने का विधान था । ये पारमितायें क्रमश: निम्न मानी गई । 1-दान, 2-शील अर्थात् सदाचार, 3-शान्ति अर्थात सहनशीलता, 4-वीर्य अर्थात् मानसिक शक्ति, 5-ध्यान अर्थात् मन की एकाग्रता, 6-प्रज्ञा अर्थात् परम सत्य का ज्ञान, 7-उपाय-कौशल्य अर्थात् साधनों के प्रयोग में कुशलता, 8-पणिधान अर्थात् तत, संकल्प और इच्छा शक्ति, 9-बल अर्थात् शक्तियों की उपलब्धि और 10-ज्ञान अर्थात सत्य का ज्ञान । बोधिसत्व के आध्यात्मिक विकास की दस क्रमित भूमियां अथवा अवस्थाएं मानी गई । 1 -प्रमुदिता अर्थात् सदैव प्रसन्न रहना, 2-विमला अर्थात् दुगुर्णो एवं दोषों से दूर रहने की अवस्था, 3-प्रभावकारी अर्थात् बुद्धि की निर्मलता, 4-अर्चिष्मती अर्थात् शुद्ध ज्ञान का उदय जिससे अविद्या और वासनाओं का उपशमन हो, 5-सुदुर्जया अर्थात् वह अवस्था जिसमें बोधिसत्व अजेय बन जाता है, 6-अभिमुखी अर्थात् प्रज्ञा के उदय की अवस्था जिसमें सत्यज्ञान का विकास होने लगता है, 7-दूरगमा अर्थात् आध्यात्मिक विकास के पद पर पर्याप्त आगे बाढ़ जाने की अवस्था और 8-अचला अर्थात् सर्वोच्च ज्ञान की अवस्था, 9-साधुमति अर्थात् शुभ एवं शुद्ध ज्ञान की अवस्था और 10-धर्ममेघ अर्थात् बह अवस्था, जिसमें बोधिसत्व दुःख से संतप्त मानवता के लिये धर्म का मेघ बनकर लोगों के अविद्याजनित ताप को शान्त करने का सक्रिय प्रयास रहता है ।

महायान हीनयान के अर्हत् के लक्ष्य को अपना चरम लक्ष्य नहीं मानता । महायान में बुद्धत्व प्राप्ति को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया गया । हीनयान के पुद्गल शून्यता के सिद्धान्त का विकसित रूप महायान में धर्म शून्यता सिद्धान्तों के रूप में मिलता है । पुद्गल शून्यता या आत्मा शून्यता के सिद्धान्त का तात्पर्य जैसा कि ऊपर कहा गया है कि किसी भी प्राणी में शरीर या आत्मा नाम की कोई नित्य सत्ता नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत कार्य-कारण, नियम पर आश्रित होने के कारण निरन्तर परिवर्तनशील है । इसी सिद्धान्त को व्यापक रूप देकर धर्म शून्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ । इसके अनुसार किसी भौतिक तल या धर्म में कोई स्थाई तब, स्वरूप या व्यक्तिगत गुण नहीं रहता ।

बुद्ध एवं बोधिसत्वों की पूजा और भक्ति की भावना के विकास से महायान बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा का प्रादुर्भाव हुआ और बौद्ध धर्म में मूर्तिपूजा का व्यापक प्रचार हुआ । इससे एक

ओर सर्वसाधारण को बौद्ध धर्म ने आकृष्ट किया और इसकी लोकप्रियता में वृद्धि हुई और इसके साथ ही दूसरी ओर भारतीय कला को प्रचुर प्रोत्साहन मिला । बड़ी संख्या में बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियों का निर्माण होने लगा था । भारतीय मूर्तिकला में नयी शैलियों का जन्म हुआ ।

6.2.4 बौद्ध धर्म का प्रसार

पूर्वी भारत में उदित हुआ बौद्ध धर्म शीघ्र ही भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में फैल गया। भारत की सीमाओं को लांघ कर यह धर्म मध्य एशिया, कोरिया, चीन, जापान, तिब्बत, नेपाल आदि देशों में फैल गया । दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों में भी इसका व्यापक प्रसार हुआ । लंका, बर्मा, कम्बुज (कम्बोडिया), चम्पा(वियतनाम), इन्डोनेशिया श्याम और मलव आदि देश भी बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ गये । बौद्ध धर्म का इतना व्यापक प्रसार भारतीय संस्कृति का एक गौरवपूर्ण अध्याय है । यह प्रसार कई कारणों से संभव हुआ । महात्मा बुद्ध के महान् व्यक्तित्व एवं सरल शिक्षाओं ने जनसाधारण को आकर्षित किया । यह मानवतावादी धर्म था, जिसके द्वार सभी के लिए खुले थे । यह धर्म निम्न वर्गों में अधिक लोकप्रिय हुआ । इसके प्रसार में बौद्ध संघ ने महत्वपूर्ण योग दिया । संघ एक अनुशासित और भली प्रकार संगठित संस्था थी और उनके भिक्षु-भिक्षुणी नियमित रूप से धूम-घूमकर प्रचार करते थे । बौद्ध धर्म के प्रसार में राज्याश्रय का भी बहुत महत्व था । मौर्य सम्राट अशोक तथा कुषाण सम्राट कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दिया ।

6.2.5 बौद्ध धर्म का भारतीय संस्कृति को देन

(1) धार्मिक क्षेत्र में देन

महात्मा बुद्ध तथा अन्य बौद्ध विचारकों ने अपनी-अपनी शिक्षाओं में सदाचार के उच्च आदर्श- क्षमा, अहिंसा, शील, विनय, मानव कल्याण, करूणा आदि पर बल दिया । महायान मत ने करुणा के विचार को विकसित किया और समस्त दुःखी मानवता को दुःख से मुक्ति दिलाने का संकल्प लिया । इससे भारतीय जनजीवन में नैतिक चेतना जाग्रत हुई । बौद्ध धर्म ने ऊंच-नीच के भेद पर आधारित व्यवस्था का खंडन किया और सबकी समानता की घोषणा की । नारी को संघ में सम्मिलित होने तथा अपना आध्यात्मिक विकास करने का पूर्ण अधिकार प्रदान किया । बुद्ध ने एक सरल व कर्मकाण्ड रहित धर्म जनता को दिया । मूर्तिपूजा को महायानियों ने अपनाया । पौराणिक हिन्दू धर्म में भी आगे जाकर मूर्तिपूजा प्रारम्भ हुई । बौद्ध संघ का संगठन धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था । इस संगठन प्रणाली को हिन्दुओं ने भी अपनाया ।

(2) साहित्यिक क्षेत्र में देन

बौद्ध धर्म हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियों ने पालि भाषा के साहित्य को तथा महायान के लेखकों ने संस्कृत भाषा के साहित्य को समृद्ध बनाया । बौद्धों की महत्वपूर्ण देन बौद्धिक स्वतंत्रता है । बुद्ध ने स्वतंत्र विचारों को हमेशा प्रोत्साहन दिया । उन्होंने अपने शिष्यों को 'आत्मदीप' (स्वयं मार्गदर्शक) होने का उपदेश दिया । बौद्ध दार्शनिक ने तर्क को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, वसुबंधु तथा धर्मकीर्ति की संसार के ।३ दर्शनशास्त्रियों में गणना की जा सकती है । दिङ्नाग नामक बौद्ध आचार्य का भारतीय तर्क शास्त्र में बहुत ऊँचा

स्थान है । शिक्षा-क्षेत्र में बौद्ध धर्म की देन अनुपम है । नालन्दा और विक्रमशिला के विश्व-विख्यात विश्वविद्यालय तथा अन्य अनेक मठ शताब्दियों तक भारत में शिक्षा प्रदान करते रहे।

(3) कला के क्षेत्र में देन

भारतीय कला का वास्तविक इतिहास बौद्ध कलाकृतियों से प्रारम्भ होता है । अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भ भारतीय कला के गौरव हैं । बौद्धों ने भारत में अनेक सुन्दर स्तूप, चैत्य, बिहार तथा बौद्ध प्रतिमाएं बनवाई । गान्धार में यूनानी कला की प्रेरणा से बुद्ध की प्रतिमा बनना प्रारंभ हुई । बुद्ध प्रतिमा के निर्माण में भारतीय मूर्तिकला को प्रेरणा प्रदान की । मथुरा, नालंदा, सारनाथ में मूर्तिकला की प्रसिद्ध शैलियां विकसित हुई । अजंता के विश्व प्रसिद्ध गुफा में अधिकतम दृश्य महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं से संबंधित है ।

(4) भारतीय संस्कृति कीं देन

भारतीय संस्कृति बौद्ध धर्म की ऋणी है । बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति का मध्य एशिया, चीन, कोरिया, मंचूरिया, जापान, लंका, बर्मा, नेपाल, तिब्बत तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के सुमात्रा, मलाया, कम्बोडिया, वियतनाम व इन्डोनेशिया आदि देशों में प्रसार हुआ ।

स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म सदाचार व बुद्धिवाद पर आधारित है । इसमें अंधविश्वास, रूढ़िवादिता; कर्मकाण्ड का स्थान नहीं है । यह एक जनवादी धर्म है, जिसके द्वारा शुद्ध व स्त्रियों के लिए खुले हुए थे । इस धर्म का प्रमुख उद्देश्य मानव को दुःख से मुक्त कर सुखी बनाना है । बुद्ध की शिक्षाओं को लेकर उनके महापरिनिर्वाण के बाद एक विवाद उत्पत्र हो गया था । विभिन्न बौद्ध संगीतियों में उनकी शिक्षाओं पर विचार-विमर्श किया गया व बौद्ध ग्रंथों का संकलन किया गया ।

6.3 जैन धर्म एवं उनके सिद्धान्त

जैन परम्पराओं के अनुसार तो यह धर्म अनादि काल से चला आ रहा है । इसकी स्थापना इसके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने की । इस धर्म के कुल चौबीस तीर्थंकर हुये हैं । तीर्थंकर का अर्थ है ऐसे उपाय बताने, वाला, जो संसार सागर से पार कर दे । महावीर स्वामी इसके अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं । तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक तेजस्वी तीर्थंकर एवं ऐतिहासिक पुरूष थे ।

(1) पार्श्वनाथ

जैन साधनों के अनुसार पार्श्वनाथ बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र थे । इनका जन्म महावीर स्वामी से करीब 250 वर्ष पूर्व हुआ था । 30 वर्ष की अवस्था में इन्होंने यह त्याग दिया तथा सन्यासी बन गये । इन ये अनुयायी निग्रन्थ कहलाये, जिनकी संख्या करीब पांच लाख मानी जाती है । इनमें स्त्री व पुरुष दोनों ही के थे । इन्होंने निम्नांकित चार सिद्धान्तों के पालन पर जोर दिया । अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक संचित नहीं करना) । पार्श्वनाथ ने कर्मकाण्ड का विरोध किया ।

(2) महावीर स्वामी

महावीर चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थंकर माने जाते है । इनका जन्म वैशाली के पास कुण्ड ग्राम में ज्ञातृक कुल में हुआ था । पिता का नाम सिद्धार्थ था, जो राजसी घराने के थे,

तथा माता का नाम त्रिशला था । जो वैशाली के राजा चेटक की बहिन थी । महावीर के बचपन का नाम वर्धमान था । इनके जन्म के अवसर पर पिता ने अनेक कर, कर्ज तथा दण्ड माफ कर दिये । बाल्यकाल में वर्धमान की उचित शिक्षा का प्रबन्ध किया गया । यशोदा नामक राजकुमारी से इनका विवाह हुआ तथा प्रियदर्शना नामक पुत्री भी उत्पन्न हुई । 30 वर्ष की अवस्था में पत्नी एवं पुत्री को छोड़ बड़े भाई की आज्ञा से गृह त्याग कर सन्यासी हो गये । महावीर ने कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी तथा 12 वर्ष तक इस तपस्या में लगे रहे । अन्त में इन्हें केवल्य (ज्ञान) की प्राप्ति हुई । तभी से वे 'केवलिनं कहलाने लगे । इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण वे 'जिन' कहलाये । अनेक कष्टों के उपरान्त भी अपनी तपस्या में लगे रहे । इस अपूर्व साहस दिखलाने के कारण उनका नाम महावीर पड़ा तथा समस्त सांसारिक बन्धनों को तोडने के कारण वे 'निग्रन्थ भी कहलाये ।

ज्ञान प्राप्त होने के बाद महावीर ने धर्म प्रचार प्रारम्म किया । उनका कार्यक्षेत्र मगध, काशी, कौशल आदि थे । राजवंश से संबंधित होने के कारण तत्कालीन शासकों ने महावीर का बड़ा सम्मान किया । उनके त्याग व तपस्या से साधारण वर्ग प्रभावित हुआ । 42 वर्ष की अवस्था में मल्लों की राजधानी पावा में उनको मोक्ष की प्राप्ति हुई ।

6.3.1 जैन धर्म के मुख्य सिद्घान्त

जैन धर्म दुःखवाद पर आधारित है । संसार और जीवन को दुःख का मूल माना गया है। दुःख का कारण मनुष्य की कभी तृप्त न होने वाली तृष्णा है । दुःख का निरोध सम्यक् (सत्य) ज्ञान तथा नैतिक आचरण द्वारा संभव है । जैन धर्म के मुख्य सिद्घान्त निम्न हैं-

(1) जीव एवं अजीव का जैन विचार

जैन दर्शन समस्त जगत को दो द्रव्यों में विभाजित करता है- जीव चेतन तत्व है और अजीव अचेतन । जीव अपने शुद्व रूप में सर्वज्ञ और स्वयं प्रकाशमान है । वह चेतन तत्व आता है । यह अनन्त, अपार और सर्वव्यापक है । जीव की यह जैन दर्शन की धारणा अन्य भारतीय दर्शनों की आत्मा की धारणा के समान ही है । किन्तु जैन मत में जीवों की संख्या अनन्त है और सब नित्य हैं । जीव जब पुद्गल या भूतद्रव्य में संयुक्त हो जाता है तो उसका शुद्व स्वरूप लुप्त हो जाता है ।

अजीव द्रव्य चेतना शून्य है, इसका विभाजन काल, आकाश, धर्म एवं अधर्म तथा पुद्गल (भूतद्रव्य) इन द्रव्यों में किया गया है । पुद्गल भूत द्रव्य है, जिसके अणुओं से ही सभी वस्तुएं बनी है । समस्त जगत् उसी से रचित है । पुद्गल ही कर्म हे, जो जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर संसार का कारण बनता है ।

(2) कर्मवाद एवं पुनर्जन्म

जैन धर्म अनीश्वरवादी है । उसके अनुसार ईश्वर विश्व का नियंता नहीं है वरन् मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है । कर्म ही मृत्यु का कारण है, मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता है । कर्मफल से विमुक्ति ही मोक्ष प्राप्ति है । यह जानने के लिए कि जीव किस तरह कर्म से सम्बद्व होता है और किस तरह उससे मुक्त होता है । हमें

जैन दर्शन के सात तत्वों की योजना पर विचार करना होगा । ये सात तत्व हैं-जीव, अजीव, आसव, बन्द, संवर. निर्जरा और मोक्ष । इनमें प्रथम दो की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं ।

(3) बंध

बन्धन से मुक्ति दिलाना जैन दर्शन का प्रधान उद्देश्य है । बन्धन 'का अर्थ है - जन्म ग्रहण । जीवन चेतन तत्व है, किन्तु शरीर धारण करने से वह बन्धन में पड़ जाता है । जीव का शरीर से जुडना ही बन्धन है । कर्म ही वह कडी है, जो जीव को अपने शरीर से जोड़ती है। कर्म ही बंधन का कारण है । जीव अपने कर्मों के प्रभाव से ही शरीर धारण करता है । पूर्व जन्म के कर्मों के प्रभाव से जीव में वासनाएं उत्पन्न होती है, जिनसे जीव पुद्‌गल (भूतद्रव्य) को अपनी ओर खींचता है । जीत और पुद्‌गल का संयोग ही बन्धन है ।

(4) आस्रव

अज्ञान तथा दूषित मनोभावों के कारण कर्म पुद्‌गल जीव की ओर आना शुरू हो जाता है । कर्म पुद्‌गल के जीव की ओर प्रवाह को ही आस्रव कहते हैं ।

(5) संवर एवं निर्जरा

ये दोनों कर्म से जीव को मुक्त कराने की क्रियाएं हैं । सम्यक् ज्ञान द्‌वारा नये कर्म की ओर जीव के प्रवाह को रोकना संवर है । पूर्वजन्म के संचित कर्मों (जो जीव पर छाए हुए है) के प्रभाव को कठोर तप द्‌वारा हटाने की क्रिया को निर्जरा कहते हैं ।

(6) मोक्ष या कैवल्य

साधना का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है, जिसमें जीव और कर्म के संबंध का पूर्ण विच्छेद हो जाता है । जीव कर्म बंधन से ही भौतिक तब शरीर से बंधा है । भौतिक तत्व से मुक्त होने पर जीव विशुद्ध हो जाता है और उसे आता में निहित ज्ञान का साक्षात्कार होने लगता है । भौतिक तत्व (कर्म पुद्‌गल) से आता का मुक्त हो जाना ही मोक्ष है ।

(7) अनेकात्मवाद

जैन धर्म की मान्यता है कि जीव भिन्न-भिन्न होते हैं और उनमें आत्माएं भी भिन्न-भिन्न होती है । आत्मा के सम्बन्ध में जैन धर्म का यह विचार उपनिषदों के आत्मा के सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है । उपनिषद् सारे संसार मे व्याप्त एक आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं, परन्तु जैन धर्म एक आत्मा पर विश्वास नहीं करता ।

(8) त्रिरत्न

जैन धर्म ज्ञान तथा आचरण दोनों पर जोर देता है । कर्मफल का नाश करने के लिए तथा इस जन्म के कर्मफल से बचने के लिए जैन धर्म त्रिरत्न का मार्ग अपनाता है ।

त्रिरत्न हैं :- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चरित्र । त्रिरत्न ही मोक्ष का मार्ग है ।

(i) समयर्क दर्शन यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा ही सम्यक् दर्शन है । जैन शास्त्रों के उपदेशों मे पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए ।

(ii) सम्यक् ज्ञान जैन धर्म व दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान होना चाहिए । ज्ञान के मार्ग में कर्म बाधक होते हैं । अत: कर्मों का पूर्ण नाश हो जाने पर ही सम्यक् ज्ञान संभव है ।

(iii) सम्यक् चरित्र सम्यक् चरित्र या आचरण द्वारा ही जीव अपने कर्मों से मुक्त हो जाता है ।

(9) स्याद्वाद

स्याद्वाद या अनेकांतवाद जैन दर्शन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, जो इस मान्यता पर आधारित है कि तत्व का स्वरूप सर्वथा अनिश्चित है । स्याद शब्द अस (होना) धातु से बना है और इसका अर्थ हुआ 'हो सकता हैं, संभवत इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष हैं, इसलिए उसे अनेक दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है । कोई भी मानव दावा नहीं कर सकता कि उसी का विचार सत्य है और दूसरों का असत्य । जैन दर्शन में इसे सप्तभंगी न्याय' द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

1. शायद वह है (स्वाद अस्ति) ।
2. शायद वह नहीं है (स्यात् नास्ति) ।
3. शायद वह है भी और नहीं भी (स्यात् अस्ति व नास्ति व ।
4. शायद वह है, किंतु कहा नहीं जा सकता (स्यात् अस्ति च अवक्तव्य:) ।
5. शायद वह है नहीं, किंतु कहा नहीं जा सकता (स्यात् अस्ति च अवक्तव्य:) ।
6. शायद वह नहीं और कहा भी नहीं जा सकता (स्वाद नास्ति च अवक्तव्य:) ।
7. शायद वह है, नहीं है और कहा भी नहीं जा सकता (स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य)

जैन धर्म के इस सिद्धान्त में धार्मिक उदारता तथा सहनशीलता का सुंदर विचार मिलता है । यह सिद्धान्त यह प्रदर्शित करता है कि कोई भी दृष्टिकोण निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं हो सकता, यह केवल सापेक्ष रूप से ही सत्य हो सकता है ।

(10) पंच महाव्रत

नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिये जैन धर्म में पांच महाव्रतों का कठोरता से पालन करने का आदेश दिया गया है । ये महाव्रत सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रहमचर्य हैं । प्रथम चार तो पार्श्वनाथ ने ही प्रतिपादित किये थे । महावीर ने उसमें ब्रहमचर्य और जोड दिया था ।

(11) पांच अणुवत

जैन गृहस्थों के लिये पंच अणुव्रतों का प्रावधान रखा गया है । ये सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य है, गृहस्थों को इनके पालन में कठोरता का आदेश नहीं है ।

स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म की मुख्य समस्या भी दुःख का निरोध करना है । दुःख का कारण तृष्णा है, जो जीव को कर्म एवं पुनर्जन्म से बांधती है । वह धर्म कर्म प्रधान है। इसमें कर्मकाण्ड तथा यज्ञवाद का खण्डन किया गया है ।

जैन धर्म के दो सम्प्रदाय हैं- श्वेताम्बर और दिगम्बर । दार्शनिक दृष्टि से इनमें अधिक भेद नहीं हैं । केवल विश्वास व व्यवहार में थोड़ा अन्तर है । दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु संपत्ति का पूर्ण त्याग करते हैं, यहाँ तक कि वे वस्त्र भी धारण नहीं करते । दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार स्त्री के लिए मोक्ष संभव नहीं है । श्वेताम्बर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं । दिगम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा श्वेताम्बर का प्रसार अधिक हुआ।

6.3.2 जैन धर्म का प्रसार

महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद जैन धर्म का काफी प्रसार हुआ। दक्षिण में श्रवण बेलगोला तक व पश्चिमी भारत में गुजरात, काठियावाड तथा राजस्थान में यह धर्म प्रसारित हुआ। बौद्ध धर्म की तरह इसका प्रसार भारत के बाहर नहीं, बल्कि मध्य में ही हुआ। लेकिन भारत में आज भी जैन धर्म विद्यमान है, जबकि बौद्ध धर्म का भारत में लगभग लोप हो चुका है।

6.3.3 जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

जैन धर्म ने बहुत सी नवीन विचारधाराओं को उत्पन्न किया । स्याद्वाद, कर्म, पुनर्जन्म आत्मवाद, सृष्टि आदि पर बिचार व्यक्त किए । इसने तर्क-वितर्क शक्ति को प्रोत्साहन दिया । महावीर स्वामी ने अहिंसा व शुद्ध आचरण पर जोर दिया । सदाचार के ये आदर्श आज भी भारत में लोकप्रिय हैं । भारतीय समाज पर अहिंसा के सिद्धान्त का विशेष प्रभाव पड़ा । जैन साधुओं ने भारत में सन्यास तथा तप विचारधारा को लोकप्रिय बनाया ।

साहित्य एवं कला के क्षेत्र में जैन धर्म का महति योगदान है । प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य के विकास में जैन लेखकों की देन उल्लेखनीय है । अपभ्रंश भाषा से ही आगे चलकर हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि प्रादेशिक भाषाएं जन्मी । जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों शाखाओं के आचार्यो ने अनेक ग्रंथ लिखे । श्वेताम्बर ग्रंथ 'अंग' कहलाते हैं, ये ग्यारह हैं । इन्हें अर्ध मागधी में लिखा गया है । बारह उपांग हैं । पांच कल्पसूत्र, छः छंदसूत्र, चार मूल सूत्र हैं । दिगम्बर मत के ज्यादातर ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये । गुजरात के राजा कुमारपाल के दरबारी आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण, कोष, गणित आदि के अनेक ग्रंथ लिखे । पंचतंत्र पर जैन विद्वानों ने आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की । जैन विद्वानों ने दक्षिणी भाषाओं दगे भी समृद्ध बनाया । उन्होंने तमिल, तेलुगू कन्नड, आदि में अपनी रचनायें लिखीं । जैन धर्म ने भारतीय स्थापत्य कला को भी प्रभावित किया है । उदयगिरी, खन्डगिरी (उड़ीसा) में अनेक जैन गुफाऐं हैं, जो प्रथम सदी ई.पू. की हैं । इनमें रानी गुफा, गणेश गुफा विशेष आकर्षक हैं । ऐलोरा में भी जैन गुफाएं हैं, जो आठवीं, नवीं सदी की है । खजुराहों में दसवीं, ग्यारहवीं सदी के अनेक जैन मन्दिर हैं । राजस्थान में आबू एवं रणकपुर के जैन मंदिर अत्यन्त भव्य हैं । यहां भारतीय कला चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई हैं ।

सौराष्ट्र में गिरनार, राजस्थान में रणकपुर, बिहार में पारसनाथ, एवं कर्नाटक में श्रवण बेलगोला में मूर्ति निर्माण कला के विकसित रूप के दर्शन होते हैं । श्रवण बेलगोला में गोमतेश्वर की 23 मीटर ऊंची प्रतिमा है । इसे गंग नरेश के मंत्री चामुण्डराव ने बनवाया था । बडवानी (मध्यप्रदेश) में 25 मीटर ऊँची जैन तीर्थकर की प्रतिमा है, जो पत्थर काट कर बनाई गई है । मथुरा में काफी संख्या में जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं । जैन मतानुयाइयों ने स्तम्भों का भी निर्माण कराया था । चित्तोड का कीर्ति स्तम्भ इनमें प्रसिद्ध है । यह चौकोर है, जिसमें सीढ़िया बनी हैं, जिनके द्वारा ऊपर तक जाया जा सकता है । अनेक हस्तलिखित ग्रंथों में जैन चित्रकला का दिग्दर्शन होता है । जैन धर्म की अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि ने भारतीय समाज

के नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने में काफी सहायता प्रदान की तथा शूद्रों एवं स्त्रियों के लिये अपने धर्म का द्वार खोल कर उन्हें ऊंचा उठाने का प्रयास किया । साथ ही पशुबलि आदि हिंसक प्रथाओं की समाप्ति पर भी अपना योगदान दिया ।

6.4 जैन धर्म व बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन

जैन व बौद्ध धर्म दोनों में बहुत सी समानताएं व असमानताएं हैं । दोनों का ही प्रारम्भ सामाजिक तथा नैतिक आन्दोलन के रूप में हुआ। दोनों धर्म वेदों की प्रमाणिकता का खण्डन करते हैं और दोनों के ही हार शूद्र आदि सभी वर्गो के लिए खुले हैं, लेकिन दोनों ने ही वर्ण व्यवस्था की निंदा नहीं की है । दोनों ही धर्मो में अहिंसा पर जोर दिया गया है और हिंसात्मक वैदिक यज्ञों का विरोध किया गया है । दोनों धर्मो के प्रचारकों ने संस्कृत की अपेक्षा लोकभाषाओं में अपने उपदेश दिये है । बौद्धों' का मूल साहित्य पालि भाषा में है और जैनों का प्राकृत भाषा में है । दोनों ही अनीश्वरवादी धर्म है संसार का रचयिता ईश्वर को नहीं मानते हैं । दोनों में ही त्याग, वैराग्य व सन्यास की प्रधानता है ।

दोनों धर्मो में कई भेद भी हैं, जैसे- जैन धर्म मोक्ष के लिए तप और साधना के कठिन मार्ग का निर्देश वारता है । इसके विपरीत बौद्ध धर्म तप और भोग के बीच मध्यम मार्ग को निर्वाण का साधन बतलाता है । बौद्ध धर्म में संसार को परिवर्तनशील एवं नाशवान माना गया है। बुद्ध ने क्षणिकवाद ब अनात्मवाद पर अधिक जोर दिया है । जैन धर्म में सृष्टि को नित्य, अनादि और कभी नष्ट न होने वाली माना गया है । इसके अलावा जैन दर्शन में आत्मा की सत्ता पर विश्वास किया गया है । उपनिषदों की तरह आत्मा को एक नहीं माना गया है, वरन् बहुत सी आत्माओं के अस्तित्व में विश्वास किया गया है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म व जैन धर्म दोनों का विकास छठी शताब्दी ई.पू. में हुआ था । दोनों ही धर्मों का विकास जन साधारण के मध्य हुआ था । यह एक सामाजिक तथा नैतिक आन्दोलन था । वैदिक कर्मकाण्डों के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में इन धर्मो का विकास हुआ। ये सरल धर्म थे, जिसके द्वारा सभी के लिए खुले हुये थे । दोनों ही धर्मो का मुख्य उद्देश्य दुःख का विरोध करना था ।

6.5 भक्ति आन्दोलन

मध्यकाल में भारत में अनेक ऐसे धार्मिक विचारक हुए, जिन्होंने भक्ति को अधिक महत्व दिया और 'धर्म सुधार का एक नया आन्दोलन प्रारंभ किया, जो भक्ति-आन्दोलन के नाम से विख्यात हुआ। गीता में सुझाए गए मोक्ष प्राप्ति के भक्तिमार्गों साधन ने शताब्दियों तक विभिन्न संतों के माध्यम से अपनी पुनरावृत्ति की । दक्षिण-भारत के आलवार व नयनार आदि संतों ने क्रमश: वैष्णव एवं शैव भक्तिमार्ग का तीसरी व चौथी शताब्दी में प्रचार किया । इन्होंने आत्मा व परमात्मा के मध्य तादात्म्य का साधन विशुद्ध भक्ति को निर्धारित किया जो ज्ञान, तप, कर्मकाण्ड, योग एवं दर्शन की जटिलताओं से विमुक्त तो था ही, साथ ही अद्वैतवाद की परम्परा का जन्मदाता भी था । मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन से पूर्व निर्गुणवादी परम्परा को उपनिषदों ने जन्म देकर एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में स्थापित कर । दूसरी ओर एक वैदिक

कर्मकाण्डीय सगुणवाद भारत के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक युग ने गतिमान रहा था । अत: मध्ययुग के चिन्तकों पर इनकी परम्पराओं ने स्पष्ट प्रभाव अंकित किये । यद्‌यपि पाश्चात्य विद्‌वानों ने भक्ति-आन्दोलन को भारतीयों की मूल प्रेरणा स्वीकार नहीं की । दूसरी ओर अनेक भारतीय विद्‌वान भी मुस्लिम शासन को इसका अंकुरण स्रोत मानकर इस्लाम की शरा में इसका आधार स्वीकार करते हुये इस तथ्य में आस्था व्यक्त करते हैं कि - भारतवर्ष की समचयकरी संस्कृति ने द्रविड आग्नेय, मंगोल, आर्यों की प्राचीन दार्शनिकताओं को हिन्दू संस्कृति में गुप्त-युग में समेट कर भक्ति-मार्ग की पूर्ण पृष्ठभूमि निर्मित कर दी थी, जो आठवीं शत में शंकराचार्य के अद्‌वैतवाद ब मायावाद द्‌वारा बौद्ध सिद्धान्तों के भारतव्यापी खण्डन के क युगान्तकारी ।

पाँचवी-छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में वैष्णव भक्ति-आलवारों और शैव संत नायनमारो ने भक्ति का जो तीव्र आन्दोलन चलाया, उसमें ऐसे आकर्षक अनेक तत्व थे, जिसके कारण भक्ति-आन्दोलन व्यापक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर सका । वैष्णव आलवारों तथा शैव नायनमारों के विचारों में अनेक बातों में समानता थी और उन दोनों का उद्देश्य मूलत: एक ही था । वह यह कि- नास्तिक विचारों का सामना करना और आस्तिक विचारों का प्रतिपादन कर जनता में वास्तविक मुक्ति-भावना का जागरण कराना । इसके लिए दोनों ने तमिल में ऐसे साहित्य का निर्माण किया, जो उच्चकोटि की भक्ति-भावना से ओतप्रोत हैं । आलवारों और नायनमारों ने सबसे पहले जो महत्वपूर्ण कार्य किया था, वह यह था कि पूर्व प्रचलित भक्ति-परम्परा में उपलब्ध भक्ति का सरलीकृत रूप प्रस्तुत किया । इसी लिए यहाँ भक्ति को जन-आन्दोलन का रूप मिला, जिसमें सभी जातियों और वर्गो के लोग सम्मिलित हो सके ।

भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में भक्ति संबंधी सक्रियता, जो पाँचवी-छठी शताब्दी में आलवार-नायनमारों के द्‌वारा व्यक्त हुई, वहीं शंकराचार्य की अद्‌वैतवादी व्याख्या ने भारतीय चिंतन का पूनर्जागरण किया । आचार्य रामानुज ने भक्ति-आन्दोलन की बागडोर संभाली, जिसे दक्षिण से उत्तर-भारत में जाने का पुनीत कार्य आचार्य रामानन्द ने किया और धीरे-धीरे यह भक्ति-आन्दोलन की लहर कबीर, नानक, दादू रैदास, सूर, तुलसी, मीरां, नामदेव, चैतन्य इत्यादि के द्‌वारा सम्पूर्ण उत्तर-भारत में फैल गई । इन संत-सुधारकों ने न केवल भारत की त्रस्त-जनता को ईश्वर से परिचित करवाया वरन् धार्मिक आडंबरों और सामाजिक, राजनीतिक अत्याचारों से पीड़ित जनता को नवचेतना भी प्रदान की । परिणामत: रामानन्द की विचारधारा से एक नवीन-आन्दोलन का आरम्भ हुआ, जो उत्तर से दक्षिण, एवं पूर्व से पश्चिम तक एक दूसरे से जुड़ता हुआ दिखाई दिया ।

वस्तुत: भक्ति-आन्दोलन कोई सुव्यवस्थित योजनाबद्ध और क्रमिक रूप से चलने वाला आन्दोलन नहीं था, प्रत्युत् समय-समय पर धार्मिक विचारकों एवं सुधारकों के द्‌वारा जो धर्म के स्वरूप को परिष्कृत करने का प्रयत्न हुआ । यही प्रयत्न भक्ति-आन्दोलन कहलाया । इस

आन्दोलन में सूफियों का भी महत्त्वपूर्ण प्रदेय रहा है, जो हमारी मिली-जुली संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

6.5.1 भक्ति का उद्भव

भारत में भक्ति का समारम्भ कब हुआ तथा इसके बीज कहां-कहां विकीर्ण थे, इसके संबंध में विद्वानों में काफी मतभेद है । एक तो वेद में 'भक्ति' को अनुपस्थित देखकर तथा दूसरे मोहन-जोदाड़ो की खुदाई से मिलने वाले निशानों में भक्ति का यत्किंचित प्रमाण पाकर विद्वान यह अनुमान लगाने लगे हैं कि भक्ति आर्येत्तर-तत्व है । मतों की इस अस्थिरता से प्रोत्साहित होकर कुछ विद्वानों ने अब यह भी कहना आरम्भ कर दिया है कि भक्ति का वास्तविक विकास भारतवर्ष में मुसलमानों के आगमन के बाद हुआ ।

पाश्चात्य विद्वान वैबर भक्ति को विदेशी प्रभाव मानते है । वे लिखते हैं कि भारतवर्ष में इसका प्रदेश ईसाई-धर्म के साथ हुआ । डॉ. ग्रियर्सन वैबर के विचारों को प्रामाणिक मानते हुए बताते है- बिजली की चमक के समान अचानक समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के उपर फैल गई । अत: कोई भी यह नही जानता कि भक्ति कहाँ से आई और न ही इसके प्रादुर्भाव को निश्चित किया जा सकता है ।

बार्थ ने वैबर तथा ग्रियर्सन के विचारों का खण्डन करते हुए भक्ति का आदि स्रोत भारत बताया है । सेनार्ट भी भक्ति का प्रादुर्भाव भारत में बतलाते है । डी. युसुफ हुसैन ने भी बार्थ एवं सेनार्ट के विचारों को स्वीकार करते हुए भक्ति को भारतीय वातावरण की उपज स्वीकारते हैं ।

कुछ विद्वान भक्ति के उद्भव को वेद, उपनिषद, पुराण में ही इंगित नहीं करते वरन् सैधव सभ्यता के पशुपति शिव, योगी की प्रतिमा, मातृ देवी की मृण मूर्तियां आदि में होना प्रमाणित करते है । बाद में आर्येत्तर जातियों की भक्ति-भावना और उपासना पद्वति को वैदिक आर्यो ने अपनाया । डी. रामधारी सिंह दिनकर भी भक्ति को 'आर्येत्तर-तत्व मानते हैं ।

6.5.2 भक्ति की प्राचीनता

भक्ति के इतिहास को कहां से प्रारम्भ किया जाये, इस संदर्भ में साधु-समाज में एक दोहा प्रचलित है, जिसके अनुसार भक्ति का विकास दक्षिण भारत में हुआ था--

भक्ति द्राविड पिंजी, लाये रामानंद ।
परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप नौ खंड ।।

इसी भाव से मिलता-जुलता एक संस्कृत श्लोक है, जो भागवत और पदमपुराण दोनों ही ग्रंथों में पाया जाता है । भागवत में स्वयं भक्ति नारद जी से कहती है-

'उत्पन्न द्राविडे चाहं कर्णाटे वृद्धिभागता,
स्थिता किचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतागता ।.

अर्थात मैं द्राविड़ देश में जन्मी, कर्नाटक में विकसित हुई कुछ समय महाराष्ट्र में रही और गुजरात पहुंचकर मैं जीर्ण हो गई ।

भागवत् की रचना आठवीं या नवीं सदी में हुई थी, ऐसा विद्वान मानते हैं, किन्तु आठवीं सदी से पूर्व या भक्ति का भारत में कहीं पता ही नहीं था? भक्ति के प्रमाण विष्णु पुराण, में भी है, श्रीमद् भागवत् में भी और सूर्य, वायु तथा शिव-पुराणों में भी । अन्य पुराणों के बारे में भले ही ये कहा जाये कि वे भागवत के समकालीन हैं अथवा वे उसके बाद रचे गये हैं, किन्तु विष्णु पुराण की प्राचीनता असंदिग्ध है । इससे भी अधिक निश्चित प्रमाण यह है कि महाभारत में भक्ति अत्यन्त सुविकसित रूप में मिलती है और गीता, जो महाभारत का अंश है, भक्ति का प्रतिपादन बहुत ही स्पष्ट भाषा में करती है । गीता भक्ति का आधारभूत ग्रंथ माना गया है । गीता में कृष्ण मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म के साथ ही साथ भक्ति-मार्ग को भी प्रधानता देते है । इसमें भक्ति की प्राचीनता का स्वत: ही अनुमान लगाया जा सकता है । जैसा कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेंक शरणं ब्रज ।
अहं ता सर्वपापेभ्यो मोक्षीयषामि मा शुचः ।।

अर्थात् हे अर्जुन । तुम सब धर्मो को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानंद वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर ।

वस्तुतः स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भक्ति की परंपरा काफी पुरानी है। अमिलेखयी स्रोतों से भी यह ज्ञात होता है कि भक्ति का भारत में दूसरी शताब्दी ई.पू. भी अखिल था और री गार्ड को पाली साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है। विदेशी विद्वान बुहलर भी यह मानते है कि भारत में ईसा से आठ सौ वर्षो पूर्व भी भक्ति का उल्लेख मिलता है। फ्रांसिसी विद्वान सेनार्ट के अनुसार भारत में भक्ति का सिद्वान्त अत्यन्त प्राचीन है।

6.5.3 भक्ति का स्वरूप

भक्ति आन्दोलन ने जिस भक्ति पर जोर दिया था, उसका सरूप सरल एवं पवित्र था। उसका कोई धर्मग्रन्थ, पुरोहित तथा कर्मकाण्ड न थे। भक्तिमार्गी संत बहुदेववाद के विरोधी थे। वे एकेश्वरवाद में रखते थे और राम, कृष्ण, शिव, करीम, रहीम, अल्लाह आदि को उस एक ईश्वर के ही विभिन्न नाम मानते थे। अधिकांश संतों ने मूर्तिपूजा का भी विरोध किया। उनके अनुसार ईश्वर अन्तःकरण में निवास करता है और केवल भक्ति के माध्यम से ही सम्पर्क किया जा सकता है। इसके लिए हृदय की निर्मलता आवश्यक है, जो कि सांसारिक समस्त विकारों से मुक्त होना आवश्यक है। इन संतों का कहना था कि - भक्त को पूर्ण निष्ठा, त्याग एवं श्रद्धा के साथ ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए। भक्ति के मार्गदर्शन के लिए सच्चे गुरु की आवश्यकता होती है। भक्तिमार्गी सन्तों ने लोकभाषा के माध्यम से भजन, गीत और दोहों के सहारे जन-सामान्य को उपदेश दिए।

भक्ति आन्दोलन के अन्तर्गत भक्ति के दो स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं- एक प्रबुद्ध विचारकों द्वारा प्रचारित स्वरूप तथा दूसरा; अशिक्षितों द्वारा स्थापित जन साधारण की प्रवृत्ति के अनुकूल स्वरूप। यद्यपि बौद्ध एवं जैन धर्म ने सामाजिक अन्याय के विरूद्ध तीखा मर प्रकट

किया, किन्तु सभी वर्गो के लिए धर्म अथवा भक्ति का कोई समुचित स्वरूप प्रकट नहीं किया। सिद्धों की शून्य ब्रहम उपासना निराकार-भक्ति-साधना की चरम-सीमा तक तो पहुंच सकती है, लेकिन आरंभिक स्थिति में कठिन है। इसी कारण इस काल में सगुण-उपासना पर अधिक बल दिया गया और अवतारवाद की स्थापना कर ब्रहम के साकार स्वरूप को ही अधिक प्रचारित किया गया। इस प्रकार एक ओर सगुण ब्रहम उपासक-रामानन्द:. निम्बार्क, चैतन्य, सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि की भक्ति स्वरूप का बोलबाला रहा, दूसरी ओर कबीर, नानक इत्यादि की निर्गुण ब्रहम-उपासना की प्रधानता रही। सगुण ब्रहम के उपासक मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड आदि में विश्वास रखते थे, तो निर्गुण-रह के उपासक उन्हें वाहय-आडम्बरों से युक्त मानते थे।

6.5.4 इस्लाम का भारत आगमन

भारत में इस्लाम के आगमन के पश्चात् भक्ति-आन्दोलन का जो रूप निर्धारित हुआ, उसका तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्थितियों से काफी गहरा संबंध है। इन स्थितियों के बीच जो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य इस्लाम की राजसत्ता तथा उसके प्रति भारतीय प्रतिक्रिया भी थी।

भारत में हिन्दु-समाज में आध्यात्मिक जटिलता से अबोधजन धर्म में दुरूहता का अनुभव कर रहे थे तथा दूसरी ओर शासक वर्ग एवं उच्च-वर्ग की भोग-विलासिता एवं निष्क्रियता से जनता में असन्तोष व्याप्त हो रहा था। ऐसी स्थिति में इसका लाभ उठाया इस्लाम ने और अपने को एक सामाजिक, धार्मिक मतवाद तथा राजनीतिक सत्ता के रूप में स्थापित करना शुरू कर दिया।

समय के साथ-साथ भारतीय समाज एवं शासक वर्ग के भीतर प्रतिक्रियाजन्य अनुभूतियों का जन्म हुआ और यहाँ के शासक तथा जनसामान्य ने इस्लाम की नीतियों के सरूप को पहचानने का प्रयास किया। अतएव इस्लाम के बढ़ते हुए प्रसार को रोकने के लिए हिन्दु-धर्म को जनवादी बनाना आवश्यक हो गया। इसके लिए हिन्दु-धर्म में सुधार करना भी आवश्यक था। निम्न जातियों के लिए हिन्दू धर्म में भी मोक्ष का द्वार खोलना जरूरी था, क्योंकि दे ही इस्लाम की तरफ सबसे अधिक आकर्षित हो रही थी। मूर्तिपूजा तथा बहुदेववाद के स्थान पर निराकार एवं अगोचर एकेश्वरवाद की पूजा वा उपासना आवश्यक थी।

परिणामत: तत्कालीन परिस्थितियों ने 14-15वीं शताब्दी में एक व्यापक जन-आन्दोलन खड़ा कर दिया।

6.5.5 भक्ति-आन्दोलन की उत्पत्ति के कारण

मध्यकालीन भारत में विदेशी आक्रमणों के कारण आये परिवर्तनों से यहाँ की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति डाँवाडोल होने लगी। ऐसे समय में कुछ हिन्दू-धर्म-सुधारकों ने इसे संतुलित करने का प्रयास किया और देश में जन-सामान्य स्तर पर एक आन्दोलन चलाया, जिसका मूल-मंत्र भक्ति माना। अत: इस भक्ति आन्दोलन

नाम से सम्बोधित किया गया। इस आन्दोलन के उत्पन्न होने के कुछ प्रमुख कारण निम्नांकित है-

(i) हिन्दू-धर्म की जटिलता

हिन्दू धर्म और समाज में व्याप्त कठोर व्यवस्था ने भक्ति-आन्दोलन को बल दिया। निम्न वर्ग के व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए मार्ग तलाशने लगे। वह मार्ग भक्ति-आन्दोलन के संत-सुधारकों ने सुझाया। इन्हीं के द्वारा ज्ञात हुआ कि भक्ति-मार्ग में ऊँच-नीच एवं जाति-पाँति का कोई प्रश्न ही नहीं है।

(ii) समाज में शूद्रों की स्थिति

समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त विचारणीय थी। उन्हें किसी प्रकार के धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। इस्लाम-धर्म के समानता तथा भ्रातृभाव के सिद्धान्त से प्रभावित हो, अनेक मुसलमान बनने लगे। अत: भक्ति-आन्दोलन में हिन्दू-धर्म के इन भेदभावों को रोकने तथा शूद्रों के साथ अच्छा व्यवहार करने की दृष्टि से इन सन्तों ने सराहनीय कदम उठाया।

(iii) हिन्दुओं में ज्ञानमार्गी भक्ति की क्लिष्टता

इस समय हिंदू धर्म में शंकराचार्य ने जो 'अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, वह गढ़ दार्शनिकता से पूर्ण था। ज्ञान-मार्ग की रहस्य-साधना की क्लिष्टता के कारण लोग ईश्वर से दूर होते जा रहे थे।

अस्तु तत्कालीन कुछ भक्त-कवियों ने इस प्रकार की स्थिति देख; उन्होंने मोक्ष प्राप्ति का सरल मार्ग भक्ति' बताया, जो कि अत्यन्त सरल था और सहज-भाव से जनता ने स्वीकारा। इस प्रकार भक्ति के सरल मार्ग की ओर प्रवृत करने के लिए भक्ति-आन्दोलन में प्रयास किया गया।

(iv) मुस्लिम शासकों को निरंकुशता एवं संकीर्ण शासन व्यवस्था

दिल्ली के मुस्लिम शासकों के निरंकुश एवं संकीर्ण शासन के अन्तर्गत हिन्दुओं की स्थिति बड़ी दयनीय हो रही थी। उन्हें राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। उन्हें इन सुविधाओं को भोगने का अधिकार प्राप्त नहीं था। मन्दिरों एवं मूर्तियों को अस्त किया जा रहा था। मनमाने कर वसूल किये जाते थे जैसे जजिया। हिन्दुओं की जान-माल एवं इज्जत सुरक्षित न थी और गुहार के लिए न्याय के हार भी बन्द थे। हिन्दू अपने ही देश मैं विदेशी की भॉति हो गये थे। ऐसे विकट समय में पीडित हिन्दु-जनता को एक ही आशा की किरण दिखाई दी, वह थी ईश्वर भक्ति। मुस्लिम शासकों से भयभीत हिन्दू जनता ने ईश्वर को पुकारा और उसी की भक्ति में लीन होकर अपने दुःख-दर्द को भूलने का प्रयास किया । इस मनोवृत्ति से भक्ति-आन्दोलन को बल मिला और वह समस्त उत्तरी-भारत में व्यापक-रूप से फैल गया।

(v) इस्लामी-पराधीनता से मुक्ति का मार्ग

तत्कालीन युग में हिन्दू इस्लामी पराधीनता के कारण अपना अस्तित्व खोने लगे थे। वे राजनीतिक व सामाजिक स्वतंत्रता खोकर इस्लामी प्रभुत्व के शिकंजे में फंसने लगे थे। ऐसी अंधकारपूर्ण स्थिति में इस्लामी-पराधीनता के बंधन से मुक्त होने की राह नजर नहीं आ रही

थी, ऐसे समय में भक्ति-आन्दोलन के इन संत सुधारकों ने हिन्दुओं को ईश्वर-भक्ति रूपी प्रकाश मार्ग से अवगत कराया। इस प्रकार इस्लामी अत्याचारों से हिन्दू-जनता के हृदय में जो उदासी छा गई थी, भक्ति-आन्दोलन ने इस भयभीत जनता का हृदय में पुन: उत्साह तथा आशा का संचार किया। यही कारण था कि भक्ति-आन्दोलन की नहर तीव्रता पकडने लगी।

(vi) इस्लाम के बढ़ते हुए प्रसार को रोकना

इस्लाम के बढ़ते हुए प्रसार को रोकने के लिए हिन्दू-धर्म को जनवादी बनाना आवश्यक हो गया था क्योंकि निम्न वर्ग की प्रताड़ित जनता इस्लाम-धर्म के निराकार एवं एकेश्वरवाद की ओर सर्वाधिक आकर्षित हो रही थी। अत: हिन्दू धर्म में भी सुधार की आवश्यकता महसूस हुई।

(vii) हिन्दुओं को क्रियात्मक शक्ति का पुन: संगठन

इस्लाम के आगमन के पश्चात् मध्यकालीन जनता में समस्त राजनीतिक, सामाजिक अधिकार छिन जाने से यहां की जनता में निष्क्रियता आ गई, क्योंकि उन्नति के सभी मार्ग अवरुद्ध हो चुके थे। ऐसी स्थिति में उनमें पुन: शक्ति का संचार कर नियोजित करना आवश्यक था और वह था- भागवत भजन एवं आत्म-चिन्तन। भक्ति-आन्दोलन ने हिन्दुओं में आत्म-विश्वास जाग्रत किया, जिससे उनकी क्रियात्मक शक्ति का पुन: संगठन होने लगा।

(viii) सूफियों का प्रभाव

सूफी संतों ने जिस उदारता, सहिष्णुता. एवं प्रेम के साथ एकेश्वरवादी इस्लाम का प्रचार किया, उससे हिन्दु विचारक एवं जनता बहुत अधिक प्रभावित हुई और हिन्दुओं में भी अपने धर्म को बुराईयों तथा आडंबरों से दूर रखने की इच्छा जाग्रत हुई। अत: अनेक हिन्दू सूफी-संतों के शिष्य रन गए और उनके मार्ग से हिन्दुओं में ईश्वर प्रेम तथा भागवत-भक्ति के भाव जाग्रत हुए। भक्ति आन्दोलन इसी भावना से प्रेरित था।

(ix) हिन्दू-मुस्लिम को निकट लाने को प्रेरणा

मुसलमानों के भारत में बस जाने के बाद हिन्दू-मुसलमानों में धीरे-धीरे सामाजिक-सम्पर्क का विकास हुआ। सांस्कृतिक क्षेत्र में विचारों का आदान-प्रदान होने लगा। इस नये वातावरण में दोनों तरफ के सुधारक नेताओं ने दोनों के मध्य समानता एवं एकीकरण की आवश्यकता का अनुभव किया और भक्ति-मार्ग ही ऐसा था, जो दोनों जातियों को परस्पर निकट लाया। दोनों ही धर्म के नेताओं ने अपने-अपने धर्म के कर्मकाण्डों एवं आडम्बरों का खुलकर विरोध किया और एकेश्वरवाद पर बल दिया। जैसा की कबीर ने भी कहा-

"हिन्दू कहं मोहि राम पियारा, तुरक कहै रहिमाना।
कबीरा लड़ि -लड़ि दोऊ मुए, मरमन काहू न जाना ।।"

इस प्रकार यह आन्दोलन तत्कालीन पीरीस्थतियों की उपज था। हिन्दू-मुस्लिम के मध्य सामाजिक-धार्मिक भाईचारे की भावना उत्पन्न करने की इच्छा का परिणाम था। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में आफ आडम्बर, जाति-पांतिगत भेदभाव, ऊंच-नीच के भेद को समाप्त करने का कुछ संत-सुधारकों का प्रयास था, जो देश की परिस्थिति के हिसार से सफल एवं अनुकूल था।

6.5.6 भक्ति आन्दोलन के प्रमुख संत

मध्यकाल के दौरान दो परस्पर विरोधी आस्थाओं एवं विश्वासों के खिलाफ धार्मिक सुधार अति आवश्यक हो गया था। इस समय समाज में ऐसे सुधार की सख्त आवश्यकता थी, जिसके द्वारा ब्राह्मण-धर्म के कर्मकाण्ड एवं इस्लाम में कट्टरपंथियों के प्रभाव को कम किया जा सके। दसवीं शताब्दी के बाद इन परम्परागत रूढ़िवादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए इस्लाम व हिन्द-धर्म में दो महत्वपूर्ण रहस्यवादी आन्दोलन सूफी एवं भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इन आन्दोलनों ने व्यापक आध्यात्मिकता एवं अद्वैतवाद पर बल दिया, साथ ही निरर्थक कर्मकाण्ड, आडम्बर एवं कट्टरपंथियों के स्थान पर प्रेम, उदारतावाद एवं गहन भक्ति को अपना आदर्श बनाया।

भक्ति-आन्दोलन सर्वप्रथम दक्षिण के आलवार-नायनमारो संतों से प्रारम्भ हुआ। दक्षिण भारत में ही रामानुजाचार्य से यह परम्परा रामानन्द ने आत्मसात् की और रामानन्द की शिष्य-परम्परा में 15वीं शताब्दी से कबीर, चैतन्य, नामदेव, रैदास, निम्बार्क, मथ, नानक, दादू मीरा, धन्ना, पीपा, सूर, तुलसी आदि ने इस आन्दोलन की बागडोर अपने हाथों में ली। इन संत सुधारकों के अतिरिक्त सूफियों ने भी अपना सक्रिय योगदान दिया। इन संतों का संक्षिप्त जीवन-वृतान्त इस प्रकार है-

(1) आलवार एवं नायनमार

इनका समय छठी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक का माना जाता है। नायनार आलवारों की भाँति अर्चा अवतार नहीं मानते थे, परन्तु शिव का शक्तिमय रूप स्वीकार किया गया। ये सभी वर्णो एवं वर्णो से संबंधित थे। दक्षिण के इन वैष्णव आलवारों और शैव नायनारों ने बौद्ध-जैन धर्म को गम्भीर चुनौती देकर भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया और यह ऐतिहासिक प्रदेय है। इनमें आलवारों ने अपने प्रार्थनाभाव को मन्दिरों से जोड़ा। इन्हें जन-समर्थन व्यापक रूप में मिला।

(2) रामानुजाचार्य

ये मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के प्रथम वैष्णव संत थे। ये सगुण ईश्वर के उपासक थे। इन्होंने एकेश्वरवाद का उपदेश देते हुए यह माना कि त्याग भावना के साथ निःस्वार्थ ईश्वर की अनन्य भक्ति ही मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन है। प्रारंभ में ये शंकराचार्य के विचारों के समर्थक थे। ये विशिष्टाद्वैतवाद के दर्शन से प्रभावित थे। इन्होंने शूद्र और जातिच्युत लोगों के लिए भी वैष्णव -धर्म में आने का मार्ग खोला।

(3) रामानन्द

रामानन्द को दक्षिण से उत्तर-भारत में वैष्णव-भक्ति को लाने का श्रेय प्राप्त है। रामानन्द 'ने पुरानी परम्पराओं को त्यागकर शद्रों, निम्न वर्ग, उच्च वर्ग व मुसलमान शिष्यों को अपने सम्प्रदाय में स्वागत किया। इन्होंने जाति-पांति, वर्गगत भेदभाव, मूर्तिपूजा की निन्दा की। इनकी शिष्य-परम्परा में सभी जाति एवं बर्ग के लोग थे, यथा- कबीर-जुलाहा, रैदास-चमार, सेना-नाई, सुरसीर, पद्मावती आदि।

(4) मध्याचार्य

रामानुज की भाँति माधवाचार्य भी लक्ष्मी नारायण के उपासक थे । उन्होंने वेदान्त के निर्गुण-रख के स्थान पर की प्रतिष्ठा की। वे कट्टर द्वैतवादी एवं भेदाभेदवादी हैं। उन्होंने पूर्ण मुक्ति को अत्यन्त दुर्लभ मानते हुए स्वीकारा कि मुक्ति के लिए वैराग्य को स्वीकारा। इनका सम्प्रदाय ब्राह्म' या स्वतंत्रास्वतंत्रवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

(5) निम्बार्क

ये रामानुज के समकालीन थे। निम्बार्क मध्यमार्गी थे अर्थात् उन्होंने दवैतवाद एवं 'अद्वैतवाद दोनों को माना। अत: उनका सिद्धान्त 'द्वैताद्वैत' कहलाया। वे राधा-कृष्ण के उपासक थे तथा उन्होंने कृष्ण के प्रति पूर्ण-समर्पण एवं अनन्य भाव-भक्ति पर जोर दिया।

(6) चैतन्य

चैतन्य भक्ति-आन्दोलन के महान् संत तथा वैष्णव-भक्ति शाखा के प्रमुख संत थे। इनका धर्म समस्त रस्मों और आडम्बरों से मुक्त था। इन्होंने ईश्वर भक्ति के लिए संगीत एवं नृत्य का सहारा लिया, जो कि संकीर्तन कहलाया । यह संकीर्तन प्रथा सहज हृदयग्राही होने के कारण बंगाल ही नहीं, वरन् सर्वत्र लोकप्रिय हो गई।

(7) वल्लभाचार्य

वैष्णव-संप्रदाय की कृष्ण-भक्ति-शाखा मे इनका स्थान विशिष्ट था। इन्होंने गृहस्थ जीवन को आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाधक नहीं माना। ये 'श्रीकृष्ण के उपासक एवं पुष्टिमार्ग' के प्रवर्तक थे। इनका मत 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाया। वल्लभाचार्य ने अपनी शिष्य-परम्परा के साथ ब्रज, राजस्थान एवं गुजरात में भक्ति-आन्दोलन को काफी लोकप्रिय बनाया।

(8) ज्ञानेश्वर

महाराष्ट्र में भक्ति-आन्दोलन को सक्रिय करने में इनका विशेष योगदान रहा। इन्होंने बारकरी-सम्प्रदाय को उत्कर्ष दिलाया। इस सम्प्रदाय में गीता और 'भागवत को महल प्राप्त है । इन्होने सभी प्रकार की संकीर्णता का विरोध किया।

(9) नामदेव

ये ज्ञानेश्वर के मित्र तथा महाराष्ट्र में भक्ति-आन्दोलन के महान् संत थे। इन्होंने एकेश्वरवाद, हिन्दु-मुस्लिम-समन्वय पर जोर दिया तथा समस्त रूढ़ियों एवं कर्मकाण्डों का विरोध किया। इनकी शिष्य-परम्परा में सभी वर्ण एवं वर्ग के लोग थे, ये स्वयं भी दर्जी-जाति के थे।

(10) कबीर

भक्ति-आन्दोलन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान कबीर का है। ये एक क्रांतिकारी-संत-सुधारक थे तथा रामानन्द के शिष्य थे, लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों की मांग के अनुरूप निराकार ईश्वर की उपासना पर बल दिया। ये ऐसे संत थे जिन्होंने सूफी मत से प्रभावित होकर राम और रहीम के एकत्व पर जोर दिया। ये जाति-पांति, व्यर्थ के रीति-रिवाजों एवं धार्मिक बाह्याडंबरों के घोर विरोध थे। इनकी शिष्य परम्परा में अधिकांश निम्नवर्गीय एवं जाति-च्युत ही थे। स्वयं एक जुलाहे थे। इन्होंने भई गृहस्थ जीवन को भक्ति में बाधक नहीं माना।

(11) गुरुनानक

कबीर के बाद नानक दूसरे प्रमुख निर्गुण संत थे, जिन्होंने भक्ति-आन्दोलन की लहर में सक्रिय योगदान दिया। नानक समन्वयकारी संत थे, जिनका उद्देश्य विभिन्न धर्मगत-संघर्षों का अन्त करना था। ये मी कबीर के समान बाह्याडम्बरों एवं रूढ़ियों के विरोधी थे। इनकी शिष्ट-परम्परा में निम्न वर्ग से अधिक उच्चवर्ग के लोग थे। ये स्वभाव से शांति-प्रवृत्ति के थे।

(12) दादू

चैतन्य और नानक के बाद 'भक्त-सम्प्रदाय' के अन्य. नेताओं में दादू का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने भी मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, व्रत-उपवास, अन्धविश्वासों का खण्डन कर परस्पर विरोधी सम्प्रदायों को भ्रातृत्व प्रेम में बाँधने का प्रयास किया। इनके शिष्यों ने इस पंथ को दादू-पथ कहा। इनकी गद्दी नारायणा नामक स्थान पर स्थित है।

(13) रैदास

ये रामानन्द की शिष्य-परम्परा में माने जाते है। रैदास ने भी बाह्याडम्बरों का खण्डन किया तथा ईश्वर-प्राप्ति के पूर्ण-समर्पण-भाव आवश्यक माना। इनका निम्न जातियों के लोगों पर विशेष प्रभाव पडा। ये स्वयं चमार जाति के थे। कालांतर में इनका पंथ रैदासी-सम्प्रदाय नाम से विख्यात हुआ।

(14) सूरदास

सगुणधारा के कृष्णाश्रयी शाखा में सूर कार नाम सर्वोपरि है। सूर की भक्ति प्रारम्म में दैन्यभाव की थी, किन्तु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के उपरान्त उन्होंने कृष्ण को सखा मान सखा-भाव की भक्ति की । यद्यपि ये न तो उपदेशक थे, न ही सुधारक थे, न ही किसी पंथ के संस्थापक तथापि तत्कालीन इस्लामिक वातावरण में कृष्ण के इस बाल्य रूप की भक्ति से हिन्दू जनता को बड़ा सरल मिला।

(15) तुलसी

तुलसी भारत के सबसे बडे लोकनायक माने गये। वास्तव में तुलसी ने रामचरितमानस की रचना कर समाज को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्राचीनता का संस्कार ले उसमें नवीन दृष्टिकोण से उचित सुधार करके जातिगत संस्कृति का उत्थान किया। वे श्रीराम के उपासक थे। भक्ति-आन्दोलन की लहर में शील-शक्ति-सौन्दर्य के अवतार थी राम जनता के आश्रय बने। अत: तुलसी का योगदान अविस्मरणीय है।

(16) मीरा

राजस्थान में सगुण-भक्ति-रस की कृष्ण-धारा को प्रवाहित करने वालों में मीरा का नाम सर्वोपरि है। इन्होंने कृष्ण की माधुर्य-भाव से भक्ति की। यह भक्ति-लहर शीघ्र ही समस्त उत्तर भारत में लोकप्रिय हो गई।

(17) संत धन्ना.

ये राजस्थान के पहले संत थे, जिन्होंने भक्ति-आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में ली। राजस्थान के धार्मिक-जीवन को एक नया मोड देने का प्रयास किया। प्रारम्म में ये मूर्तिपूजक थे, किन्तु रामानन्द की प्रेरणा से उन्होंने निर्गुण-भक्ति ग्रहण कर ली।

(18) संत पीपा

राजस्थान में राजसी परिवार से संबंधित होते हुए भी ईश्वर-भजन एवं भक्ति के कारण समस्त वैभव का त्याग कर गुरू रामानन्द की प्रेरणा से साधु-सन्तों की सेवा करने लगे।

(19) सत जाम्भोजी

मध्यकाल में हितू-मुस्लिम-सम्प्रदायों के बीच सौहार्द उत्पन्न करने का प्रयास करने वाले संतों में राजस्थान के जाम्भोजी का नाम अग्रणी है। इन्होंने जाति-पाँति इत्यादि के भेद का विरोध करते हुए 'विश्नोई-सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया।

(20) सूफी संत

सूफियों के उदार दृष्टिकोण एवं एकेश्वरवादी सिद्धान्त से हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों ही आकृष्ट हुए । दोनों ही समुदायों में इनके उपदेशों को सम्मान हुआ। इन्होंने ईश्वर प्राप्ति के लिए थोड़े संयम की आवश्यकता बताई। हिन्दु-मुस्लिम एकता का अथक प्रयास किया। परिणामस्वरूप दोनों एक-दूसरे के धर्मो को आदर के भाव से देखने लगे। आपस की घृणा त्याग कर सहयोगात्मक रवैया अपनाने लगे, जो कि भक्ति-आन्दोलन का वास्तविक उद्देश्य था।

इसके प्रमुख संत थे - जियाउद्दीन, निजामुद्दीन औलिया, जायसी, हजरत मुइनुद्दीन चिश्ती, बाबा फरीद, महात्मा गैसूबराज खाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द, शेख नूरूद्दीन आदि।

भारत में इनके कई सम्प्रदाय प्रमुख रूप से विख्यात हुए-चिश्ती, सुहराबर्दीया, फिरद्रौसिया कुबराबिआ, शत्तारी, कादरी और नक्शबंदिया इत्यादि।

इनके अतिरिक्त उत्तर-भारत में संत तुकाराम, एकनाथ, बहिनाबाई, हेमाद्री चक्रधर, जनाबाई, नित्यानंद, बाबा रामदास, गोगाजी, रामदेवजी तेजाजी, मल्लिनाथ, पाबूजी इत्यादि संत सुधारक हुए, जिन्होंने भक्ति-आन्दोलन में महत्ती भूमिका निभाई।

6.5.7 भक्ति आन्दोलन को विशेषताएं

यद्यपि भक्ति-आन्दोलन दो विचारधाराओं के मध्य चला- (1) निर्गुण और (2) सगुण। तथापि इसके सभी संतों की शिक्षाएं अथवा विशेषताएँ बहुत कुछ साम्यता रखती हैं। उनमें से कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है-

(1) गुरू को महत्ता पर बल

इस युग में यह एक पड़ी विशेषता थी कि गुरू को भगवान का रूप बताया गया है। गुरू-महिमा मध्य-युग के साधकों को अपने पूर्ववर्ती तांत्रिकों एवं सहजयान के साधकों से उत्तराधिकार के रूप में मिली थी। कबीर ने एक स्थान पर गुरू का दर्जा ईश्वर से भी ऊंचा बताते हुए कहा

'गुरू गोविन्द दोउ खड़ै, काकै लागू पाई।
बलिहारी गुरू आपकी, जिन गोविन्द दिया बताई।

(2) सामाजिक समानता पर बल

भक्ति-आन्दोलन के सभी सन्तों ने सामाजिक समानता पर रल दिया। उन्होंने जाति-पांति और ऊंच-नीच की भाव को दूर करने का प्रयास किया तथा मानव मात्र को मोक्ष का

अधिकारी घोषित किया। इन संतों ने उच्च-बर्ग, निम्न-वर्ग, उंची जाति एवं नीची जाति सभी को अपने शिष्य-परम्परा में स्वीकारा। इनका सिद्धान्त था

"जाति-पौति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि को होई।" रामानन्द)

(3) एकेश्वरवाद पर बल

इन संतों ने बहुदेववाद का खण्डन किया। यद्यपि इनमें से अधिकांश संत सगुणोपासक थे, जिनमें कुछ के आराध्य राम थे, तो कुछ के चूमा, किन्तु सभी का मूल मंतव्य एक ही ईश्वर है' था। निर्गुण सन्तों ने एकेश्वरवादी विचारधारा का प्रबल विरोध किया, साथ ही मूर्ति पूजा की भी निन्दा की। ईश्वर के सगुण व निर्गुण रूप के उपासक होते हुए भी उनमें एक-दूसरे के अनुयायियों के प्रति उच्च कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। इन्होंने समस्त संसार ही ब्रह्ममय मानते हुए कहा.

"'लाली मेरे लाल की, जित देखूँ उत लाल ।

लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल ।"

(4) नाम स्मरण

मध्य-युग के निर्गुण एवं सगुण दोनों प्रकार के मत के संतों ने नाम की महिमा खूब गाई है । नाम-महात्म्य की महिमा भागवतादि पुराणों में भी प्राय: पाई जाती है, लेकिन मध्ययुग में इसे विशेष महत्ता प्रदान हुई।

"भगति भजन हरिनाव है, दूजा दुक्ख अपार ।

मनसा बाचा कर्मणा, कबीर सुमिरन सार ।।"

(5) धार्मिक-आडम्बरों का विरोध

सभी संतों ने धर्म के बाह्याडम्बरों और कर्मकाण्डों का खण्डन किया। उनका मानना था कि मोक्ष की प्राप्ति दे लिए इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। इसके लिए व्यक्ति को अपने आचरण और चरित्र की शुद्धता पर ध्यान देना चाहिए और ईश्वर की भक्ति करना चाहिए। भक्ति के द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति संभव है। इसके लिए भक्ति को पूर्ण रूप से ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण कर देना चाहिए। नामदेव ने अपनी वाणी में इस प्रकार विरोध प्रदर्शित किया

"हिन्दू अन्धा, तुरको काना। सी तो ज्ञानी सयाना।

हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद। नामा कोई सेविया जहं देहरा न मसीद।

(6) प्रपत्ति. अथवा ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण

भक्ति-आन्दोलन के संतों की मान्यता थी कि, ईश्वर के सम्मुख सर्वस्व समर्पण भाव की भक्ति करने से ईश्वर प्राप्ति होती है. अन्यथा शक्ति सांसारिक भ्रम में भटकता रहता है एवं उसकी "मुक्ति भी नहीं होती

'भाव भगति सी हरि न अराधा।

जनम-मरन की मिटी न साधा ।।"

(7) हिन्दू-मुस्लिम समन्यय पर जोर

भक्ति-आन्दोलन के अधिकांश संतों ने हिन्दुओं और मुसलमानों में विद्यमान पारस्परिक मतभेदों की खाई को पाटने का काम किया। उन्होंने दोनों जातियों के लोगों को एक दूसरे के समीप लाने तथा उनमें आपसी सद्भभवना तथा प्रेम स्थापित करने के उपदेश दिये।

"बंदे इक्क खुदाय के, हिन्दू मुसलमान ।
दावा राम रसूल करख लडदे बेईमान ।।"

(8) निवृति मार्ग का विरोध

अधिकांश संतों के अनुसार भक्ति के लिए घर-गृहस्थी को छोड़कर सन्यासी होना आवश्यक नहीं था। इस संसार में रहते हुए और अपने सांसरिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए भी ईश्वर की भक्ति की जा सकती है। जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं- कबीर, नानक।

(9) जन-भाषाओं का प्रयोग

इन सती ने अपने उपदेश स्थानीय भाषाओं में ही दिये, जिससे जन-साधारण उन शिक्षाओं को आसानी से हृदयंगम कर सके। अनेक वैष्णव संतों ने हिन्दी, ब्रज,बंगाली, मराठी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं में विपुल साहित्य लिखा व इन भाषाओं के विकास 'में सराहनीय कदम उठाया। इनके अनुसार भाषा आत्मा की आवाज होनी चाहिए।, जैसा कि कबीर ने कहा है- संसकिरत भासा कूप जल भासा रहता नीर।'

6.5.8 भक्ति-आन्दोलन का समाज पर प्रभाव एवं महत्व

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन भारत में एक विराट जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ, जिसने सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया तथा उसका प्रभाव कई शताब्दियों तक जनता के मानस पटल पर रहा। डॉ. आशीर्वाद लाल श्रीवास्तव के अनुसार - शायद बौद्ध धर्म के पश्चात् भक्ति-आन्दोलन जैसा देश-व्यापी जन-आन्दोलन हमारे देश में दूसरा नहीं हुआ था।"

भक्ति-आन्दोलन की सबसे बडी देन सार्वभौम मानवतावाद । मानवतावाद के साथ-साथ व्यक्तिवाद भी समय कर दिया और स्पष्ट किया कि, व्यक्ति का भगवान से सीधा एवं व्यक्तिगत भक्ति में ही मुक्ति की आन्दोलन हो जाती है। इस प्रकार यह आन्दोलन धार्मिक पुनर्जागरण और सुधारवादी आन्दोलन था।

हिन्दु-धर्म में व्याप्त बुराइयों का एक सीमा तक नाश हुआ। इन सभी संतों ने बहुदेववाद, बाह्याडंबर, धार्मिक-पाखण्ड, कर्मकाण्ड, जाति-पाँति, ऊंच-नीच के भेदभाव का घोर विरोध किया । इससे समाज में सुधार की एक व्यापक लहर फैली और पीड़ित हिन्दू-जन में आत्मविश्वास की भावना जागत हुई।

इस आन्दोलन में हिन्दु- एकता को प्रोत्साहित किया गया तथा सद्भावना एवं मैत्री को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। कबीर, नानक इत्यादि सन्तों ने अपने उपदेशों और सिद्धान्तों से दोनों सम्प्रदायों में विद्यमान पारस्परिक विद्वेष और संकीर्णता को दूर करने का प्रयास किया।

इस आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण प्रभाव जो दृष्टिगोचर हुआ, वह था नवीन-सम्प्रदायों का उदय। विभिन्न धर्म प्रचारकों के न चाहते हुए भी उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने

पृथक-पृथक सम्प्रदायों का निर्माण करके हिन्दू धर्म के अनेक नवीन सम्प्रदाय बना दिये। ये सम्प्रदाय एक प्रकार से कालान्तर में संकीर्ण विचारधारा के प्रतीक बन गये, जो समाज में कोई नवीन सुधार न ला सके।

भक्ति आन्दोलन की एक महति देन है- प्रान्तीय भाषाओं में साहित्य का विकास। तत्कालीन शासकों ने भारत में संस्कृत तथा यहां की प्रान्तीय भाषाओं को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। अध्ययन एवं अध्यापन की सुविधा से वंचित हिन्दुओं का बौद्धिक स्तर गिरता जा रहा था। भक्ति-आन्दोलन के संतों ने इन जन-भाषाओं में अपने उपदेशों एवं सिद्धान्तों को रचकर एवं गाकर इसे लोकप्रिय बनाया, जिससे प्रान्तीय भाषाओं में साहित्य निर्माण होने लगा।

इस्लाम के आगमन के बाद यहाँ की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। अपने ही देश में समस्त सुविधाओं से वंचित हिन्दुओं की दशा निराशाजनक एवं उदासीन हो गई थी। मुसलमानों के अत्याचारों से आतंकित हिन्दु-जनता में घोर भय व्याप्त हो गया था, वह अन्दर से छूने लगी थी। ऐसे विषम-वातावरण में भक्ति-आन्दोलन ने समाज में नवस्फूर्ति और नवजागृति फूँकी, जिससे हिन्दु-समाज को दृढ़ आत्मविश्वास, आत्मशक्ति और अपूर्व नैतिक बल मिला।

इस प्रकार तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार भक्ति-आन्दोलन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य हुए, लेकिन कालान्तर में यह देशभक्ति-आन्दोलन आगे प्रगति न कर सका, जो कि उस समय के संतों का चिर विश्वास था। न ही यह स्थायी रूप धारण कर सका। तथापि भक्ति-आन्दोलन के महत्व को और उसके व्यापक प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। क्योंकि हमें भक्ति-आन्दोलन के द्वारा ही मध्यकाल में एक अनुपम सांस्कृतिक अभ्युत्थान का दर्शन होता है।

वस्तुत: सोलहवीं (16वीं) शताब्दी के प्रारम्भ में समाज प्रगतिहीन और अस्थिर न रह सका। मुसलमानों के संसर्ग से वह उद्वेलित होकर परिवर्तित हो उठा तथा नवीन प्रगति के लिए उत्तेजित हो उठा।

6.5.9 भक्ति आन्दोलन को समीक्षा

भारत पर इस्लाम के आक्रमण से यहां की राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई और उस युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस काल में जो नये पंथ और संप्रदाय बने, उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया और दोनों धर्मों में प्रचलित आडंबरों का खण्डन कर एक विशुद्ध एवं अन्धविश्वासरीहत धर्म स्थापित करने की कोशिश की।

हिन्दू-धर्म में वेद, पुराण और शास्त्रों की जटिलता के कारण उनके गढ़ और रहस्यवादी सिद्धान्तों को समझना जन-साधारण के लिए अत्यन्त दुष्कर था। अत: इन जटिल रातों के स्थान पर नैतिक आचरण, गुरू-भक्ति, ईश्वर में विश्वास, भक्ति-भाव आदि मोक्ष प्राप्ति के ऐसे माध्यम थे, जिनकी सभी पंथों एवं संप्रदायों में मान्यता थी। धर्म के प्रति आस्था तर्क-संगत-

सिद्धान्तों पर आधारित होने लगी। अशिक्षित- धर्म-जिज्ञासु के लिए भी मोक्ष और शान्ति का मार्ग सुलभ हो गया।

भक्ति-आन्दोलन के संतों ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए नाम-स्मरण की महत्ता पर बल दिया, लेकिन इसके लिए गुरू का मार्ग-निर्देशन आवश्यक माना। उन्होंने नैतिक-जीवन अतीत करने पर भी बल दिया। फलस्वरूप समाज मे 'प्रचलित पाखण्डों का विरोध प्रारम्म हुआ। पूजा के विविध प्रकार, मन्दिरों एवं मूर्तियों की स्थापना, शास्त्रों के प्रति मान्यता इत्यादि का इस नवीन प्रवृत्ति में कोई स्थान नहीं था । वरन् यह एक आडम्बरहीन व सादा लोक-धर्म था, जिसमें सभी जातियों एवं वर्गो को एक मानकर पंथ एवं समुदाय की सीमाएँ निश्चित की गई। इन सीमाओं में रहने से जनता एक सूत्र में बँधती जा रही थी । समाज में वर्गगति एवं वर्णगत कट्टरताऐ कम होने लगी थी। इन समस्त विशेषताओं के - साथ-साथ इन समुदायों के सन्तों के उपदेश, बोलचाल की भाषा में होने के कारण ये शीघ्र ही लोकप्रिय होने लगे।

लेकिन जहाँ इन सम्प्रदायों में विशिष्टताएं दृष्टिगत होने लगी, वहीं शनैः-शनैः इनमें दोष भी आने लो। कालान्तर में इन पथो एवं सम्प्रदायों के उत्तराधिकारियों में दुर्गुण होने लगे। महन्तों एवं साधारण साधुओं मे धन-संग्रह को लालसा, भौतिक सुख-सुविधाओं का आकर्षण, स्त्रियों से सम्पर्कादि व्यसन पैदा हो गये, जिसके कारण ये पंथ बदनाम होने लगे। ये दुर्गुण इतने उजागर होने लगे कि सरल-जन मानस को आघात लगने लगा और दे इनसे दूर होने लगे। फलत: समाज का ढाँचा जो संकीर्णताओं और अंधविश्वासों में जकडा हुआ था, पुणतः मुक्त न हो सका और समाज में ऊंच-नीच का भाव पूर्ण रूपेण समाप्त नहीं हो सका। परन्तु इन दोषों के रहते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि इस धर्म एवं समाज- सुधार आन्दोलन ने जन-साधारण की आन्तरिक भावनाओं को किसी सीमा तक विशुद्ध बनाने में सहायता पहुंचाई और जनता इनसे प्रेरित होकर सन्मार्ग की ओर अग्रसर हुई। सन्तों की वाणी-साहित्य' से लोगों को नई प्रेरणा प्राप्त हुई और भ्रमित लोगों के लिए आज भी वह पथ-प्रदर्शक रना हुआ है। इन सन्तों के 'कवियों' एवं पद' आज भी भक्ति-साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं।

अस्तु इसमें कोई संशय नहीं है कि भक्ति-आन्दोलन में सक्रिय संत एक निर्मल भविष्य के स्वप्न-दृष्टा थे। उनमें असत्य, असमानता तथा आडम्बर एवं अहंकार का सर्वथा अभाव था । वे समाज के दृढ़ और निर्भय आलोचक रहे। इन सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम समन्वय, जाति-पाँति के भेद को दूर करने का प्रयत्न किया, इस प्रकार ये हितू-मुस्लिम-एकता के महान् अग्रदूत थे, जिन्होंने विशुद्ध मानव-धर्म का उपदेश दिया था। इन संत-कवियों ने अगाध भक्ति और ईश्वर के भजन को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना।

समग्रत: कहा जा सकता है कि भक्ति आन्दोलन एक देशव्यापी जन-आन्दोलन था, जिसका प्रभाव शताब्दियों तक रहा। इस्लाम की विचारधारा एवं रीति-रिवाजों ने भी इसे प्रभावित किया।

इस आन्दोलन के दो उद्देश्य थे, एक तो धर्म सुधार करना तथा दूसरा दोनों धर्मो के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करना। प्रथम उद्देश्य में तो आन्दोलन पर्याप्त सफल रहा, क्योंकि

उपासना-विधि सरल हो गयी और जाति संबंधी नियम उदार हो गये। फलत: निम्न कोटि के लोगों ने संतों के सत्संग में आकर अपने दुराग्रह त्याग कर मुक्ति-प्राप्ति के उपाय ढूंढना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु यह आन्दोलन अपने दूसरे उद्देश्य अर्थात् हिन्दू मुस्लिम-एकता स्थापित करने में ज्यादा सफल न हो पाया, लेकिन फिर भी भक्ति-आन्दोलन के योगदान को मध्यकाल की चिर विस्मरणीय एवं तत्कालीन परिस्थितियों की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता।

6.6 राष्ट्रीय आन्दोलन

भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन को राष्ट्रीय आंदोलन भी कहा गया है । प्राय: यह माना जाता है कि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना से पूर्व राष्ट्रवाद जैसी कोई चीज अस्तित्व में नहीं थी।

राष्ट्रवाद का उदय अंग्रेजी साम्राज्य के शोषण के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया थी । साम्राज्य के शोषण ने भारत में राष्ट्रवाद को जन्म दिया। राष्ट्रवाद की भावना पंक्ति के भाषात्मक लगाव को स्पष्ट करती है। व्यक्ति अपने परिवेश, समाज, प्रवृति, दार्शनिक मूल्यों, सामाजिक लोकाचार के प्रति रागात्मक अनुभूति स्थापित करता है। इससे देशभक्ति, देश की रक्षा, माल बलिदान जैसी भावनाएं विकसित होती है। मातृभूमि के प्रति प्रेम के साथ-साथ व्यक्ति का किसी राजनीतिक इकाई से जुड़ाव ही राष्ट्रवाद है।

यह काफी हद तक ठीक है कि राष्ट्रीयता की भावना का उदभव ब्रिटिश शासन का प्रभाव था, लेकिन इसका यह आशय नहीं कि भारतवासी अपने राष्ट्रीय स्वरूप से अनभिज्ञ थे। भारतीयों को सदैव स्वयं की विशिष्ट सांस्कृतिक परंपरा का आभास रहा है, भले ही कितने सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन होते रहे हैं। भारतीय राष्ट्रवाद भारत भूमि वासियों की व उसके प्रति श्रद्धा होने के साथ शुरू हु आ।

अति प्राचीन काल से ही हमें ऋग्वेद के मंत्रों में राष्ट्रवाद के आधारभूत सिद्धान्तों का अस्तित्व दिखाई देता है। अथर्ववेद के भूमि सूक्त में आर्यो की निवास भूमि के रूप में धरती माता का यशोज्ञान किया गया है। भूमि का माता के रूप में गुणगान किया गया है। राष्ट्रभक्त आर्य की यह कामना थी कि पृथ्वी माता मुझ बालक को दूध पिला दो। वे आकाश को पिता व भूमि को अपनी माता मानते थे। भूमि से मातृत्व प्रेम में राष्ट्रवाद की ही भावना निहित है। स्पष्ट है कि राष्ट्रवादी भावना का विकास अति प्राचीनकाल से हो चुका था।

भारत में ब्रिटिशकाल के दौरान राष्ट्रवाद के उदय ब विकास की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल रही है । बहु त से कारणों के साथ अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये जा रहे शोषण की प्रतिक्रिया स्वरूप भारत में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हु आ । राष्ट्रीयता की भावना ने ही भारतीय जनता को स्वाधीनता आन्दोलन के लिए प्रेरित किया ।

6.6.1 भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के कारण

(1) परिवर्तित आर्थिक संरचना

अंग्रेजों ने भारतीय ग्रामीण आत्मनिर्भर व्यवस्था को नष्ट कर नई पूँजीवादी व्यवस्था भारतीयों पर थोप दी। भारत से कच्चा माल ले जाकर वहाँ का मशीनी माल यहां बेचा जाने

लगा। अंग्रेजों ने कृषि क्षेत्र में जमींदारी प्रथा का विकास किया, जिससे भारतीय किसानों का शोषण होने लगा। रैन्यतवादी व्यवस्था का विकास हुआ, जिससे किसान को जमीन का मालिक बनाया गया। जमीन का क्रय-विक्रय प्रारंभ हुआ। ग्रामीण समाज कृषि संबंधी आर्थिक व न्यायिक कार्यो से अलग हो गया। कृषि के वाणिज्यीकरण का प्रारंभ हुआ। नई तकनीक व मशीनों से किसानों की गरीबी व ऋणग्रस्तता बढ़ी, परिणामत: असंतोष में वृद्धि हुई।

(2) स्वदेशी उद्योग धन्धों का विकास

भारत के प्राचीन हस्तशिल्प उद्योग धन्धे नष्ट कर दिये गये। विभिन्न प्रकार के कर लगा दिये गये। लोहे. कांच, चमडा, चीनी के उद्योग नष्ट हो गये। वस्त्र उद्योग भी नष्ट हो गया। भारत में ब्रिटेन का बना कपड़ा बिकने लगा। ब्रिटिश पूंजीपति अपने कारखाने का माल भारत भेजने लगे जिससे भारत में आर्थिक विपन्नता बढ़ी।

(3) नवीन सामाजिक ढांचा

अंग्रेजों की नीतियों के फलस्वरूप भारतीय समाज में नये-नये वर्गो का उदय हुआ। जमींदार, काश्तकार, किसान, मजदूर, व्यापारी, सूदखोर, उद्योगपति तथा एक मध्यमवर्ग का उदय हुआ। इन सभी भारतीयों के हित लगभग एक से थे। इन वर्गो में राष्ट्रवादी भावना विकसित हुई और इन्होंने अखिल भारतीय संगठन बनाये।

(4) आवागमन के नयनि साधनों का विकास

अंग्रेजों ने अपने राजनैतिक, आर्थिक एवं सैनिक हितों की भूमि के लिए यातायात के साधनों का विकास किया। अव भारतीय जनता एक सूत्र में बंधने लगी। उनके राजनैतिक आंदोलनों को संगठित करना सरल हो गया था। एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र में जाने लगे, विचारों का आदान-प्रदान हुआ। फलत: राष्ट्रीय आन्दोलनों में गीत आयी।

(5) अंग्रेजी शिक्षा

अंग्रेजी भाषा के प्रचार से भारतीयों को एक सम्पर्क भाषा मिली, जिससे वे नवीन विचारधाराएं दर्शन से परिचित हो सके। ब्रिटिश कवियों व लेखकों को पढने से भी राष्ट्रवादी व प्रगतिशील विचारों का विकास हुआ। मैकाले ने भारत में ऐसी शिक्षा व्यवस्था लाग की, जिसका उद्देश्य 'क्लर्क' पैदा करना था. लेकिन अनजाने में ही अंग्रेजी ने राष्ट्रवादियों को सहायता पहुँचायी, विदेशों में भी राष्ट्रीय आन्दोलन संचालित किये गये लेकिन कालांतर में राष्ट्रवादियों ने यह अनुभव किया कि राष्ट्रवाद का विकास भारत की स्थानीय भाषाएं व हिन्दी ही कर सकती हैं। ये यहाँ की जनभाषाएं हैं, इनमें अभिव्यक्ति स्वाभाविक होती है।

(6) समाचार पत्र व साहित्य

समाचार पत्रों ने भारतीयों को राजनीतिक रूप से शिक्षित करने का काम किया, उन्हें लोकतांत्रिक व स्वाधीनता के विचारों से उद्वेलित किया। "हिन्दू पैट्रिअट", 'अमृत बाजार पत्रिका.. 'हिन्दू आदि पत्रों ने राष्ट्रीयता का विकास किया।

राष्ट्रीय साहित्य ने राष्ट्रीय आंदोलन को नवीन दिशा प्रदान की । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, बंकिमचन्द्र मुहम्मद हुसैन, ख्वाजा अलताफ हुसैन, सुब्रह्मण्यम् भारती आदि की

रचनाएं देश प्रेम की भावना से भारत दुर्दशा नामक नाटक में अंग्रेजी शासन में भारत की दर्दनाक स्थिति का चित्रण किया।

(7) इसाई धर्म का प्रचार

अंग्रेजी शासन के दौरान ब्रिटिश मिशनरियों ने भारत में ईसाई धर्म का द्रुत गति से प्रचार किया। अंग्रेज भारतीयों को सभ्य बनाने के लिए ईसाई धर्म का प्रचार करते थे। इस आघात ने भारतीयों को अपने धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए प्रेरित किया। ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, राम-कृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि की स्थापना हुई। हिन्दू धर्म की बुराईयों व अच्छाइयों दोनों की ओर का ध्यान आकर्षित करता गया।

(8) सुधार आन्दोलन

धर्म सुधार आन्दोलनों के माध्यम से सामाजिक ब धार्मिक कुरीतियों को दूर करने के प्रयास किये गये। स्त्री शिक्षा व पुनर्विवाह पर जोर दिया गया। इन प्रयासों ने भारतीय समाज में आत्मबल एवं विश्वास पुन: स्थापित कर राष्ट्रीयता की भावना विकसित की।

(9) एकीकृत प्रशासनिक व्यवस्था

अंग्रेजी शासन ने सम्पूर्ण भारत में केन्द्रीय सत्ता स्थापित कर दी, जिससे भारतीयों का राजनीतिक व प्रशासनिक एकीकरण हुआ। इससे देश में एकता की भावना को बल मिला। सम्पूर्ण देश में संचार तथा यातायात के आधुनिक साधनों (जैसे रेल, तार-डाक सेवा, सडकों का विकास) ने एकता में वृद्धि की। समान शिक्षा व्यवस्था से एक शिक्षित वर्ग उत्पन्न हुआ। सम्पूर्ण देश में समान न्याय व्यवस्था स्थापित हुई, कानूनों को संहिताबद्ध किया गया। कानूनी दृष्टि से सभी नागरिक समान माने गये। प्रारम्भ में भारतीयों द्वारा अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोहों (ये किये गये, लेकिन इन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किसान और जनजातीय आंदोलनों शो इसकी श्रेणी में रखा जा सकता है। इनकी संख्या बहुत अधिक है, लेकिन प्रमुख आन्दोलन थे- ट्रिवनकोर (1800-1809), मील आन्दोलन (1881-1831), हो आन्दोलन (1820-1821), कोल आन्दोलन (1831), संथाल आन्दोलन (1855-1856), वाहवी आंदोलन (1813-1869) और फौजी आंदोलन (1834-1847) भी महत्वपूर्ण थे। 'हरी जनता ने भी अंग्रेजों के विरूद्ध आवाज उठायी। बनारस की हडताल व बरेली आन्दोलन इसके उदाहरण है।

6.6.2 (1834-1857) का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम

अंग्रेजी नीतियों के विरूद्ध व्यापक असंतोष 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में प्रतिभूत हुआ। 1857 महान जागरण था, जिसे अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी हुकूमत को जबरदस्त चुनौती दी थी। इसे प्रथम स्वाधीनता संग्राम कहा जा सकता है। इस संग्राम ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव को हिला दिया था। प्रारंभ में यह सिपाही विद्रोह के रूप में भड़का, लेकिन शीघ्र ही इसने उत्तर भारत के क्षेत्र की जनता एवं कृषक वर्ग को शामिल कर लिया। इस संग्राम ने इतना व्यापक रूप धारण कर लिया था कि उस समय के पर्यवेक्षकों ने इसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की संज्ञा दी है। 27 मार्च 1857 को बैरकपुर में तैनात एक युवा सैनिक मंगल पाण्डे ने अकेले ही ब्रिटिश अधिकारियों पर हमला कर दिया, उसे फांसी दी गयी। विद्रोह का तात्कालिक

कारण ग्रीज लगे कारतूसों के प्रयोग से इन्कार करना था, क्योंकि यह ग्रीज गाय व सूअर की चर्बी से बनी थी, इससे हिन्दू -मुस्लिम दोनों सिपाही नाराज हो गये। मेरठ में भी विद्रोह हुआ, जो बाद में उत्तरी-पश्चिमी भारत ब बंगाल में फैल गया। प्रथम संग्राम हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक था । हिन्दु-मुस्लिम सिपाही एकजुट हो गये। बहादुरशाह को सम्राट घोषित किया गया ब 'दिल्ली चलो' का आहवान किया। इस आंदोलन के प्रमुख नेतृत्वकर्ता ने बख्त खां, नाना साहेब, ताँत्या टोपे, अवध की बेगम, कुंवर सिंह ब रानी लक्ष्मीबाई। लक्ष्मीबाई ने वीरतापूर्वक अंग्रेजों का मुकाबला किया । वह बहुत लोकप्रिय नेता थी, उनका मानना था कि हिन्दू कानून का उल्लंघन कर उनके शासन अधिकारों को छीना गया है।

प्रथम संग्राम के स्वरूप को लेकर इतिहासकारों में विवाद है। कुछ इसे सिपाही विद्रोह ही मानते हैं, जबकि कुछ भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम कहते हैं। वी.डी. सावरकर ने इसे प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम कहा है। एस.वी. चौधरी ने भी इसका समर्थन करते हुए इसे 1857 का जन-जागरण कहा है। आर.सी. मजूमदार ने 1657 का विद्रोह एक कमजोर व्यवस्था अपनी खोयी हुई मर्यादा को पाने का अंतिम प्रयास था।

इस संग्राम ने विदेशी शासन के विरूद्ध जन भावनाओं को भडका दिया था। 1857 में पहली बार अंग्रेजों की भारत के संगठित एवं व्यापक प्रतिरोध का मुकाबला करना पड़ा। अंग्रेज साम्राज्यवादियों द्वारा इसे कुचल दिया गया। इसमें सिपाहियों, किसानों, कामगारों की भूमिका रही। प्रथम बार इस संग्राम में जनता राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित हुई थी। एस.एन. सेन ने अपनी पुस्तक 'अठारह सौ सत्तावन' में इस महत्व को दर्शाया है। अंग्रेजों ने इसका क्रूरतापूर्वक दमन किया।

इसके बाद भी 19वी शताब्दी के अंत तक विभिन्न क्षेत्रों में अंग्रेजी शासन के विरूद्ध जनता का संग्राम जारी रहा। 1657 के उपरान्त भी बहुत से किसान आन्दोलन हुए, जैसे बंगाल में नील आन्दोलन (1659-60), ।त्रिपुरा में कुक्की आन्दोलन (1360-90), पंजाब में कूडा आन्दोलन (1669-72), दक्षिणी बिहार में विरपा मुंडा आन्दोलन आदि। विदेशी शासन के खिलाफ एक लम्बे और संगठित संघर्ष के लिए तैयारी हो गई, जो कि अंतत: 1947 में विदेशी शासन को समाप्त कर देश में आजादी ला सका।

1858 के बाद अंग्रेजी साम्राज्यवादी स्वरूप में परिवर्तन आया। महारानी विक्टोरिया की घोषणा द्वारा भारत में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन को समाप्त कर भारत को सीधे अंग्रेजी ताज के नियंत्रण में ले लिया गया।

6.6.3 नवनिर्मित सस्थाओं का गठन

भारतीय मध्यम वर्ग की चेतना ने राष्ट्रीय भावना का विकास किया। राजनीतिक चेतना के विकास के फलस्वरूप बहुत सी नवीन संस्थाओं का गठन हुआ। भारत की प्रथम राजनीतिक संस्था लँड होल्डर्स सोसाईटी 1838 में गठित की गयी। 1843 में बंगाल में ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन का गठन किया गया। दादाभाई नौरोजी ने ईस्ट इंडिया एसोसियेशन' की स्थापना की व सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इंडियन एसोसियेशन की। इन संस्थाओं के माध्यम से भारतीयों की

आवाज अंग्रेजी सरकार तक पहुंचने लगी। लेकिन अभी भी अखिल भारतीय स्तर पर इस तरह की संस्था का अभाव था, जो भारतीयों के लिए काम करें।

दादाभाई नौरोजी, रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इस आवश्यकता को महसूस कर रहे थे। 28 दिसम्बर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ए.ओ. हयूम ने की। गोकुल दास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय बम्बई के सभा भवन में इसकी स्थापना हुई। इसी समय अंग्रेजी सरकार ने कुछ दमनकारी कानून भी पारित किए जैसे कि बर्नाकुलर प्रेस एक्ट और भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के लिए आयु का कम किया जाना। जनता पर दोनों ही कानूनों की तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

कांग्रेस की स्थापना के बाद के काल में राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य मांगे प्रस्तुत की गयी। इसकी प्रमुख मांग स्वराज (सुशासन) प्राप्त करना था। कांग्रेस की उपलब्धि यह थी कि यह स्वदेशी आंदोलन (जिसे बंगाल विभाजन के विरोध में प्रारंभ किया गया था) के माध्यम से भारतीय जनता के महत्त्वपूर्ण वर्गो को, अंग्रेजों के विरूद्ध संघटित कर सका। 1365 से 1918 तक के राष्ट्रीय आंदोलन को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला 1885-1905 का समय. जिसे उदारवादी राष्ट्रवाद के नाम से जाना जाता है। 1919 के बाद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन अधिक व्यापक हुआ। उसका विस्तार सामाजिक एवं भौगोलिक दोनों दृष्टि से हुआ। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब. गुजरात, संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य भारत, राजपूताना एवं आंध्रप्रदेश तक राष्ट्रवाद फैल चुका था। शहरों से छोटे कस्बों एवं गाँवों में बढ़ा। समाज के अधिकतर सभी बंगाल (मध्यम, बुद्धिजीवी, पूँजीपति, निम्न मध्यम, किसानों, श्रमिकों, साधु संत आदि) में राष्ट्रवाद का विकास हुआ। 1930 के बाद देशी राज्यों में जनता के आंदोलन बढ़े। 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन ने भारतीय जनता के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को आगे बढाया। 1942 के भारत छोडो आंदोलन ने क्रांति का रूप धारण कर लिया। 1945 के बाद जन आंदोलनों का विकास हुआ और अंततः 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ।

6.6.4 असहयोग आन्दोलन

प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों ने भारत की जनशक्ति एवं अर्थशक्ति को युद्ध में झाँक दिया। भारत में अकाल, महामारी, कृषि व उद्योग-धन्धों में गिरावट से भारतीयों पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ा। लगभग 1 करोड़ 20 लाख लोग काल कवलित हो गये थे। मारतीयों के रहन-सहन में काफी गिरावट आयी। किसान मेहनतकशों व दूसरे शहरी तबके की हालत बिगड़ने लगी। रक्षा-व्यय में वृद्धि करने से जनता पर करो का बोझ गया। युद्धोपरान्त भारत में औद्योगिक विकास होने से श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई। पूँजीपति वर्ग भी तेजी से प्रगति करने लगा। श्रमिकों के संगठन व आंदोलनों में तेजी से वृद्धि हुई। इस समय पूँजीवाद व उपनिवेशवाद के खिलाफ अन्तर्राष्ट्रीय उभार था। युद्ध से लौटे सिपाही भी क्रांतिकारी विचारों से ओत-प्रोत थे। सैनिकों ने प्रजातांत्रिक व्यवस्था, स्वतन्त्रता, समृद्धि, मातृत्व के विचारों को बताया व नयी चेतना का संचार किया। 1919 की रूस की बोल्शेविक क्रांति ने भारतीय जनता को काफी प्रभावित

किया। तिलक व एनीबेसेंट ने स्वशासन की मांग के लिए होमरूल आंदोलन चलाया। सरकार ने अपना दमनचक्र तेज कर दिया।

भारतीय क्रांतिकारियों ने गदर पार्टी व अन्य क्रांतिकारी गुटों द्वारा ब्रिटिश सत्ता को भारत से उखाड़ने की कोशिश की। कितने ही क्रांतिकारियों को फांसी, गोली व आजीवन कारावास की सजा दी गयी। इनकी प्रेरणा से अन्य जन भी ब्रिटिश शासन के दमनात्मक स्वरूप के खिलाफ उठ खड़े हुए। अब विश्व के पराधीन देशों की स्वाधीनता का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। 1917 में भारत सचिव मांटेग्यू चेम्सफोर्ड ने भारत में शासन सुधारो संबंधी घोषणा प्रकाशित की। इसके आधार पर 1919 का भारत सरकार अधिनियम ब्रिटिश संसद ने पास किया। इससे भारतीयों को निराशा हुई । ब्रिटिश शासक हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को भड़काकर भारतीय स्वाधीनता संघर्ष को क्षीण करना चाहते थे। 18 मार्च 1919 को रौलेट एक्ट पारित किया गया, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय आंदोलन के दमन को सरल करना था। इसके द्वारा युद्धकाल में लगे नागरिक अधिकारों पर नियंत्रण को जारी रखने का प्रयास किया गया था। राजनीतिक अपराधियों को बिना मुकदमा चलाए न्यायिक हिरासत में लिया जा सकता था। संगठन, समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध लगाने, सभाओं को भंग करने तथा तलाशी लेने का अधिकार ब्रिटिश प्रशासन को मिल गया। रौलेट एक्ट से भड़की जनता को गाँधीजी का नेतृत्व प्राप्त हुआ। 1915 में गांधीजी भारत लौटे, उन्होंने 1917 के चम्पारन व खेडा के किसान आन्दोलन एवं 1918 में अहमदाबाद मिल मजदूरों के आंदोलनों का संचालन किया। 23मार्च 1919 को रौलेट एक्ट विरोधी आन्दोलनों का नेतृत्व संभाल लिया । जगह-जगह पर अहिंसात्मक तरीके से गिरफ्तारियां दी गयी। विभिन्न शहरों - दिल्ली, अमृतसर, लाहौर, मुल्तान, जालंधर. करनाल. अहमदाबाद में प्रदर्शन, हडताल व सभाऐं हुई। पंजाब में आंदोलन का स्वरूप उग्र रहा, क्योंकि युद्धकाल में सेना में अनिवार्य भर्ती और अनाज वसूली से यही प्रांत सबसे अधिक प्रभावित रहा।

13 अप्रेल 1919 के अमृतसर के जलियांवाला बाग में हो रही शांतिपूर्ण सभा पर जनरल डायर के आदेश पर गोलीबारी की गयी, जिसमें 1000 लोग मारे गये। इस हत्याकांड की खबर संपूर्ण भारत में आग की तरह फैल गयी। रौलेट एक्ट व जलीयांबाला राग हत्याकांड ने जल आन्दोलन का रूप ले लिया था। दिसम्बर, 1920 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में इस स्थिति पर चर्चा हुई। अहिंसक आन्दोलन के माध्यम से स्वराज प्राप्ति को संघर्ष का लक्ष्य घोषित किया गया। भारतीयों ने सरकारी पद त्याग दिये, दफ्तरों-स्कूलों का बहिष्कार किया गया, भूमि समेत किसी भी प्रकार का लगान नहीं देना था। खिलाफत आन्दोलन एवं असहयोग आन्दोलन का संयुक्त अभियान दिसम्बर 1920 से आरम्भ हो गया। विदेशी वस्तुओं का परित्याग ब स्वदेशी का नारा दिया गया । गांधीजी आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। सरकार ने गांधीजी एवं अली बन्धुओं में फूट डालने की कोशिश की। 1921-22 में असहयोग आन्दोलन के प्रभाव स्वरूप भारत में किसान आन्दोलनों पर प्रभात पड़ा। यूपी., केरल, आंधप्रदेश आदि में किसान व आदिवासी आन्दोलन हुए। राजपूताना में भी सामंती एवं साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ किसानों एवं मीलों के आन्दोलन हुए, जिनके नेतृत्वकर्ता विजयसिंह पथिक व मोतीलाल तेजावत जैसे व्यक्ति थे। दिसम्बर 1921 में स्वयं सेवी संगठनों को अबैध घोषित कर दिया

गया। क्रांतिकारी नेताओं को जेल में डाल दिया गया। अगले दो महिनों में 30 हजार व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। 4 फरवरी, 1922 को चोरी-चौरा की घटना से आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। किसानों की उत्तेजित भीड ने 21 सिपाहियों समेत सारी पुलिस चौकी को जला डाला था। राष्ट्रीय कांग्रेस के इस आत्म समर्पण से ब्रिटिश शासकों को स्वाधीनता संघर्ष के पहले राष्ट्रव्यापी उभार का दमन करने में सफलता मिली। असहयोग आंदोलन के बन्द होने से स्वतंत्रता के लिए चल रहे जन-आंदोलनों को भारी आघात पहुंचा।

6.6.5 राष्ट्रीय आन्दोलन 1922 -1937

1922-1937 के मध्य भी राष्ट्रीय आंदोलन जारी रहा, जिसकी आजादी का मार्ग प्रशस्त किया। सरकार को स्वराज दल का प्रतिरोध सहना पड़ा। चितरंजनदास एवं मोतीलाल नेहरू ने विधानसभाओं के अन्दर संघर्ष चलाने के लिए इस दल की स्थापना की। वह 1927 तक ही प्रभावी रह पाया।

नवंबर, 1927 को साइमन कमीशन नियुक्त किया गया, जिसका कार्य भारत के भावी संविधान का निर्माण करना था। इसमें एक भी भारतीय सदस्य नहीं था। भारत में इसका विरोध हुआ। लाहौर में इसके प्रदर्शनकारियों पर हुए लाठी प्रहार में लाला लाजपतराय की मृत्यु हो गयी। मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारत का संविधान निर्माण के लिए कमेटी नियुक्त की। इसका संविधान नेहरू रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है। इसमें भारत की प्रस्तावित भावी स्थिति 'डोमीनियन स्टेट्स' अर्थात् ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वायत्तता की थी। सभी ने इसकी आलोचना की, क्योंकि भारत की जनता पूर्ण स्वाधीनता चाहती थी। कांग्रेस की साख जनता में गिर चुकी थी। वामपंथी एवं क्रांतिकारी आन्दोलनों ने इस बीच बल प्राप्त कर लिया था। असहयोग आन्दोलन वापस लेने से जनता में निराशा प्राप्त हो गयी थी। 1926 तक ट्रेड यूनियनों की संख्या तीन लाख तक पहुंच चुकी थी। 1925 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। इसी समय भारत का युवा आन्दोलन काफी आगे बढ़ चुका था। पंजाब में भारत 'नौजवान सभा' का गठन भगत सिंह जैसे क्रांतिकारियों ने किया। इसी समय भगतसिंह, राजगुरु एवं सुखदेव ने 'हिन्दु सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' रखा गया। इसका उद्देश्य स्वाधीनता प्राप्त करना और समाजवादी राज्य की स्थापना की घोषणा करना था। ये उपनिवेशवाद, पूंजीवाद सामंतवाद को समूल नष्ट करना चाहते थे। 1922-1929 का काल इन्हीं नौजवानों की कुर्बानियों से भरा पडा है। 8 अप्रेल 1929 में भगतसिंह एवं बटुकेश्वर दत्त ने दिल्ली में केन्द्रीय विधानसभा में बम फेंके। भारत की आजादी के पर्चे बाँटे। दोनों पर लाहौर षडयन्त्र केस का मुकदमा चला, उन्हें व उनके साथियों को गिरफ्तार कर लिया गया। 23 मार्च, 1931 को भगतसिंह, राजगुरू एवं बटुकेश्वर दत्त को फांसी दे दी गयी। परिणामस्वरूप देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति की ललक तीव्र हो उठी। कांग्रेस ने भी पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य घोषित किया। 1929 का विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने जनता की तकलीफों को बढ़ा दिया था। किसानों की फसलें सरकार के टैक्स व जमींदारों के लगान में जाने लगी।

6.6.6 सविनय अवज्ञा आन्दोलन

दिसम्बर 1929 में कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य घोषित किया व सविनय अवज्ञा आन्दोलन की घोषणा की। 26 जनवरी, 1930 का दिन स्वाधीनता दिवस घोषित किया गया। 12 मार्च, 1930 को गांधीजी डांडी गांव के लिए पैदल रवाना हुये। 5 अप्रेल 1930 को नमक बनाकर नमक कानून तोड़ा। राष्ट्रव्यापी आंदोलन की घोषणा की गयी। विदेशी सामानों की होली जलाई गयी। करोंडों लोगों ने इसमें भाग लिया। जेलों में बंद सत्याग्रहियों की संख्या 60,000 से अधिक हो गई थी। क्रांतिकारियों की गतिविधियां भी तीव्र हो उठी थीं। 5 मार्च 1931 को गांधी-इरविन समझौता हुआ। गांधीजी क्रांतिकारियों की रिहाई की शर्त स्वीकार नहीं करवा सके। पुन: विशाल जन आन्दोलन को वापिस ले लिया गया। 1935 में भारतीय शासन विधान के विरोध से आन्दोलन का माहौल फिर बना। 1922-1937 के मध्य राष्ट्रीय आन्दोलन में जनता. की भागीदारी बढ़ी व स्वतन्त्रता सेनानियों की मांग पूर्ण स्वराज में बदल गयी।

6.6.7 1937-1947 भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन

यह निर्णायक दौर था, जिसमें अंग्रेजी दासता से मुक्ति के भरपूर प्रयास हुए। 1938 के बाद देशी रियासतों में जन आन्दोलन बढ़े। देशी रियासतों की जनता को तिहरे शोषण का मार ढोना पड रहा था। अंग्रेजी सत्ता, देशी महाराजा एवं जागीरदार के शासन का तिहरा भार इन पर था । प्रजा मण्डल आंदोलनों के माध्यम से ही देशी राज्यों के जन आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा में शामिल हो गये। इससे कांग्रेस का प्रभाव बढ़ा व राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक शक्तिशाली हो गया।

राष्ट्रव्यापी आंदोलन के अंतिम चरण में साम्प्रदायिकता का विकास हुआ। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों में पृथकतावादी प्रवृत्ति का विकास किया ब पाकिस्तान की मांग की। 1940-46 के मध्य मुस्लिम लीग अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति में लगी रही तथा 1947 में पृथक राज्य पाकिस्तान को प्राप्त करने में सफल रही।

6.6.8 भारत छोड़ो आन्दोलन

यह 1937-1947 के मध्य का प्रभावी आंदोलन था। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो चुका था। कांग्रेस ने घोषित कर दिया था कि युद्ध में समर्थन तभी मिलेगा, जब भारत को पूर्ण स्वराज प्राप्त होगा। 1942 में जापान की फौजें रंगून तक आ पहुंची थी। युद्ध की संभावना को देखते हुए अंग्रेज कांग्रेस का समर्थन चाहते थे। 23 मार्च 1942 को क्रिप्श मिशन भारत आया, जो भारत को 'डोमिनियन स्टेट्स' (अंग्रेजों के अधीन स्वायत्तता) का दर्जा देना चाहता था, लेकिन कांग्रेस उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार बनाये जाने की माँग कर रही थी।

कांग्रेस ने 14 जुलाई 1942 को अहिंसात्मक आंदोलन प्रारम्भ किया। देश भर में प्रदर्शन व हडताले होने लगी। 8 अगस्त से आंदोलन अहिंसात्मक सत्याग्रह के रूप में चलाए जाने की घोषणा बंबई में कांग्रेस वर्किंग कमेटी में की। अंग्रेजों ने दमन की नीति अपनाते हुए 9

अगस्त को गाँधीजी सहित कांग्रेस प्रखर कार्यसमिति के सभी नेताओं को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया। नेतृत्व विहीनता की स्थिति में जनता ने स्वयं अपना रास्ता चुना। प्रदर्शन व जुलूस निकाले गये। विद्‌यार्थी, किसान, मजदूर, निम्न मध्यम वर्ग आंदोलन में कूद पडा। कांग्रेसी प्रशासन को अस्त-व्यस्त करने के लिए रेल लाईन, पुल-सड़के तोडी गई, टेलीफोन के खम्बे उखाड़े गये। अंग्रेजों ने बर्बरतापूर्वक इसे कुचल दिया। लेकिन परिणामस्वरूप अब अंग्रेज यह समझ चुके थे कि भारतवासी अधिक समय तक दासता को सहने वाले नहीं है।

6.6.9 आजाद हिन्द फौज

सुभाषचन्द्र बोस ने सशस्त्र संघर्ष के माध्यम से भारत को स्वतंत्र कराने की योजना बनायी । उन्होंने जर्मनी व जापान (इंग्लैण्ड विरोधी खेमे के देशों) के सहयोग से अंग्रेजी शासन की समाप्ति के प्रयास किये। 1 सितंबर 1942 को आजाद हिन्द फौज की स्थापना हुयी। 21 अक्टूबर 1943 को सुभाष बोस ने सिंगापुर में अस्थाई भारत सरकार की स्थापना की। फरवरी 1944 से जून 1944 तक आजाद हिन्द फौज ने सफलतापूर्वक जापानी सेना के साथ मिलकर अंग्रेजों की सेना के साथ युद्ध किया। इसका आधार क्षेत्र बर्मा को बनाया गया। जापान की शक्ति क्षीण होने पर आजाद हिन्द फौज की शक्ति कम हो गयी। बहुत से सैनिकों को 1946 में अंग्रेजों ने बंदी बना लिया। सुभाषचन्द्र बोस की हवाई दुर्घटना में 13 अगस्त 1945 को मृत्यु हो गयी। यह सशस्त्र संघर्ष भले ही असफल रहा, लेकिन इसने आजादी व देशभक्ति की मशाल को भारतीयों के दिलों में जगाये रखा।

14 मई 1945 को बैबेल ने शिमला में सम्मेलन बुलाया. जिसका उद्देश्य भारतीयों को कुछ रियायतें देना बताया गया, जिनका आधार साम्प्रदायिक था।

आजाद हिन्द फौज के कैदियों पर मुकदमे चलाने का विरोध किया गया। अंग्रेजों ने लगभग 20,000 कैदियों पर मुकदमा शुरू किया। जन-आंदोलन आरंभ कर दिये गये। जनवरी 1948 को ब्रिटिश सरकार ने कैबिनेट मिशन भारतीय नेताओं से बात-चीत करने भारत भेजा, किन्तु कोई निर्णय नहीं हुआ। नौसेना का बंबई में विद्रोह हुआ, किसानों के विद्रोह हुए। कलकत्ता में आजाद हिन्द फौज के अबुल रशीद को दी गयी 7 वर्ष की कठोर सजा के विरोध में 11 फरवरी से 13 तक आंदोलन प्रारम्भ हुआ।

बढ़ते जन संघर्ष से मजबूर होकर 20 फरवरी, 1947 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने घोषणा की कि जून 1948 तक भारतीयों को स्वतंत्र सत्ता सौंप दी जायेगी। जून 1947 में भारत व पाकिस्तान को बांटने का फैसला ब्रिटिश सरकार ने लिया। 14,अगस्त, 1947 को पाकिस्तान एवं 15 अगस्त 1947 को भारत को स्वतन्त्र गया। इस प्रकार भारत स्वतंत्र हुआ 26 जनवरी, 1950 को भारत का नया संविधान लागू हुआ। भारतीय जनमानस ने एक लम्बे संघर्ष व कुर्बानी के बाद ब्रिटिश सत्ता के जुए को उतार फेंका।

6.7 समाजवाद

समाजवाद आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण परिकल्पना है; यह एक ऐसे शोषणयुक्त समाज की परिकल्पना है, जहां विश्व के संसाधनों का उपयोग समान रूप से हो। इस समाज में उत्पादन के साधनों पर से निजी स्वामित्व के स्थान पर सार्वजनिक स्वामित्व की रचना की जाती है। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वे सभी संसाधन जिनसे पूँजी का निर्माण होता है, जैसे- भूमि, कारखाने, खदानें, रेलें, बैंक आदि किसी एक व्यक्ति या समूह की संपत्ति नहीं रहते, प्रस्तुत सार्वजनिक संपत्ति हो जाते हैं। चार्ल्स फोरियर राबर्ट ओवेन आदि प्रारंभिक समाजवादी माने गये हैं, लेकिन उनकी विचाराधारा कल्पना के निकट है। सबसे समाजवादी विचारक कार्ल मार्क्स थे, जो अपने वैज्ञानिक चिंतन व दूरदृष्टि के कारण समाजवाद के प्रणेता बने। उन्होंने वर्ग विहीन, शोषणमुक्त समाज की परिकल्पना की। अपनी रचना 'दास कैपिटल' व 'कम्युनिस्ट' में उनके विचार मिलते हैं। उनके अनुयायी कम्युनिस्ट कहलाये व उनके विचार मार्क्सवाद। बाद मेर 1917 ई. की रूसी क्रांति के बाद लेनिन के विचारों ने भी साम्यवाद को विकसित किया।

भारत के स्वतन्त्रता आंदोलन के इतिहास में कांग्रेस के समाजवादी व साम्यवादी दलों से संबंधों का अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

अब प्रश्न उठता है, वामपंथ क्या है? कम शब्द का प्रयोग ऐसे दलों एवं आंदोलनों के लिए किया जाता है, जो समाज के वंचित व पीड़ित बंगाल के हितों को प्रमुखता देते हैं व समाज ब अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन चाहते हैं। भारत में मार्क्सवाद से प्रभावित होकर बहु त से वामपंथी दलों का निर्माण किया गया- भारतीय क्रांतिकारी साम्यवादी दल. क्रांतिकारी समाजवादी दल, भारतीय बोल्शेविक पार्टी, फारवर्ड काक आदि। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन पर रूसी क्रांति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा 7 नवम्बर 1917 को लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने जार के राजशाही शासन को उखाड़ फेंका और पहले समाजवादी राज्य की स्थापना की घोषणा की गई। इससे भारतीय आन्दोलनकारियों को यह प्रेरणा मिली कि आम भारतीय जनता (मजदूर-किसान आदि) व बुद्धिजीवी वर्ग भी संगठित होकर ब्रिटिश साम्राज्य का तख्ता पलट' सकते हैं। कांग्रेस के अन्तर्गत भी कई समाजवादी दल अस्तित्व में आये। भारत के समाजवादियों को दो तरह की श्रेणी में रखा जा सकता है।

1. जो मार्क्सवादी नीतियों के अनुरूप स्वतंत्र समाजवाद में विश्वास करते थे।
2. वे युवा, जो समाजवाद में विश्वास तो करते थे, लेकिन प्रशासनिक परिवर्तन के लिए हिंसा का सहारा लेना नहीं चाहते थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादियों के आवेदनों, अपीलों व स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु धीमे प्रयासों से त्रस्त युवा वर्ग असहयोग आंदोलन से जुडकर भी इसके परिणामों से नाखुश थे। कांग्रेस को बुर्जुआ संगठन बनाया गया व गांधीजी को एक प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में देखा जाने लगा। समाजवाद में आस्था रखने बाले 'हु त से क्रांतिकारियों ने कांग्रेस से संबंध विच्छेद कर लिया।

कांग्रेस के अंदर भी बहुत से प्रखर नेता समाज़वादी विचारधारा में विश्वास रखते थे। जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस भी पिछडे वर्गो के उत्थान के लिए समाजवाद को आवश्यक मानते थे। जयप्रकाश नारायण भी समाजवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। कांग्रेस के 1927 के मद्रास अधिवेशन में वामपंथ का प्रभाव नजर आने लगा। इसमें राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य पूर्ण स्वतंत्रता घोषित किया गया।

1928-29 में जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस ने जगह-जगह साम्राज्यवाद एवं पूंजीवाद विरोधी भाषण दिये। अमृत डांगे ने 'गांधी व लेनिन' नामक एक पर्चा प्रकाशित किया और समाजवादी साप्ताहिक सोशलिस्ट' का भी प्रकाशन शुरू हुआ। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में औद्योगिक विकास से मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। ट्रेड यूनियनों का निर्माण तेजी से हुआ।

1923-30 की विश्व में आर्थिक मंदी ने समाजवाद की ओर लोगों को आकर्षित किया। भारत में वामपंथी आंदोलन की दो मुख्य धाराएं थी

1. साम्यवादी (कम्युनिस्ट) जो सोवियत उस के कामिन्टर्न (अन्तराष्ट्रीय संगठन) से नियंत्रित थी।
2. कांग्रेस समाजवादी दल की।

असहयोग आंदोलन के वापस लिये जाने से कांग्रेस के अन्दर समाजवादी विचारधारा विकसित हुई। राममनोहर लोहिया ने भी इसका समर्थन किया। 1928 में नेहरू ने लाहौर अधिवेशन में कहा है समाजवादी और लोकतंत्रवादी हूं। यदि इस देश को अपनी गरीबी और असमानता समाप्त करनी है तो भारत को एक समग्र समाजवादी कार्यक्रम अपनाना होगा। '

भगतसिंह, राजगुरू. सुखदेव को फांसी दिये जाने से जनता सुख थी। राजनीतिक रिक्तता को दूर करने के लिए ऐसे राजनीतिक संगठन की स्थापना की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, जो समाजवादी सिद्धान्तों के साथ राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत-प्रोत हो। सर्वप्रथम उत्तरी बिहार में समाजवादी संघों की स्थापना 1931 में की । प्रफुल्ल प्रसाद बर्मा रामवृक्ष बेनीपुरी, बाबा दामोदर दास (राहुल सांकृत्यायन) अब्दुल बारी आदि के सहयोग से जयप्रकाश ने 1931 में बिहार समाजवादी पार्टी की स्थापना की थी।

जयप्रकाश नारायण

बिहार के मध्यवर्गीय कायस्थ परिवार में 11 अक्टुबर 1902 में इनका जन्म हुआ 1922 में ये उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका चले गये। वहां समाजवादी साहित्य का गहन अध्ययन किया। व 1929 में भारत लौटे तो वे पक्के समाजवादी थे। उनके प्रवास के दौरान उनकी पत्नी प्रभावती देवी गाँधीजी के आश्रम में रही। 'वाय सोशलिज्म' नामक ग्रंथ जयप्रकाश ने लिखा व भारत में समाजवाद की प्रासंगिकता पर जोर दिया। इन्होंने युवाओं को इस विचारधारा से जोड़ा।

महाराष्ट्र के एम.आर. मसानी, अद्य पटवर्धन व अशोक मेहता भी समाजवादी गतिविधियों से जुडे रहे।

आचार्य नरेन्द्र देव

आचार्य नरेन्द्र देव का जन्म 1889 मे उत्तरप्रदेश में हुआ। प्रारम्भ में तिलक, लाला हरदयाल एवं अरविन्द जैसे राष्ट्रवादियों के सम्पर्क में रहे। बाद में मार्क्सवाद के प्रबल समर्थक बने और राष्ट्रीय आन्दोलन को समाजवादी स्वरूप प्रदान करने और इसमें किसानों की सक्रिय भूमिका के हिमायती थे।

राम मनोहर लोहिया

उत्तरप्रदेश. के मारवाडी परिवार में लोहिया का जन्म 1910 में हुआ। बनारस व कलकत्ता से शिक्षा प्राप्त कर इन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. की। लोहिया यूरोप के समाजवादी जनतंत्र व गांधी जी के विचारों से प्रभावित थे । कांग्रेस सोशलिस्ट' नामक पत्रिका इन्होंने प्रारंभ की, जो बाद में समाजवादी पार्टी का हिस्सा बनी ।

1934 में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की प्रथम सभा हुई. सम्मेलन के सभापति सम्पूर्णानंद थे। इसमें समाजवादी पार्टी, के कार्यक्रम घोषित किये गये, जो समाजवादी विचारधारा के अनुकूल थे। इसकी प्रमुख घोषणाएं इस प्रकार थी

1. राज्य की संपूर्ण शक्तियों का जनता में हस्तान्तरण,
2. देश का योजनाबद्ध आर्थिक विकास करना।
3. देश के प्रमुख उद्योगों, इस्पात, जूट, रेलवे, जहाजरानी, बैंक आदि का समाजीकरण करना।
4. विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार,
5. राजाओं, जमींदारों, शोषक वर्गो के विशेष अधिकारों की क्षतिपूर्ति करके समाप्ति।
6. राज्य का सहकारिता व सामूहिक खेती को प्रोत्साहन,
7. किसानों-मजदूरों के बकाया ऋणों की समाप्ति,
8. किसानों में भूमि का पुनर्वितरण
9. आर्थिक जीवन के असंगठित क्षेत्रों में उत्पादन, वितरण तथा ऋण के लिए सहकारी संस्थाओं का निर्माण।
10. रोजगार का अधिकार अथवा राज्य द्वारा जीविकोपार्जन हेतु वित्त सुविधा,
11. वयस्क मताधिकार
12. प्रत्येक को आवश्यकतानुसार आर्थिक वस्तुओं के वितरण का आधार,
13. राज्य द्वारा स्त्री-पुरूषों का भेदभाव समाप्त,
14. भारत के सार्वजनिक ऋण को अस्वीकृत करना।
15. राज्य द्वारा समस्त धर्मो के बीच अभेद स्थापित करना, धर्म के आधार पर भेदभाव का अभाव।

नासिक में 1932-33 में केन्द्रीय कारावास में कुछ कांग्रेसी नेताओं ने अखिल भारतीय समाजवादी दल के निर्माण पर विचार विमर्श किया। ये थे- जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता, ताराचन्द भट्टाचार्य ने 1933 में एक कांग्रेस समाजवादी गुट का संगठन किया। बम्बई में कांग्रेस समाजवादी दल का निर्माण यूसुफ मेहर अली, अच्युत पटवर्धन, कमला

देवी चट्टोपाध्याय ने किया। केरल. दिल्ली, पंजाब में भी कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना पर विचार किया गया। इसकी नीतियां व कार्यप्रणाली तैयार की गई। आचार्य नरेन्द्र देव, डी. राममनोहर लोहिया, गंगाशरण सिंह, कमला देवी चट्टोपाध्याय आदि भी इससे जुड गये।

जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस इस विचाराधारा से ओत-प्रोत तो थे, लेकिन इस दिशा में वे अधिक सक्रियता नहीं दिखा पाये। गांधीजी इस दल के विरोधी रहे थे।

कुछ प्रारंभिक समाजवादियों के बारे में परिचय पाना उचित रहेगा।

समाजवादी पार्टी अपने कार्यक्रम को कांग्रेस द्वारा स्वीकारवाना चाहती थी ब स्वाधीनता व समाजवाद के लिए मजदूरों व किसानों को संगठित करना चाहती थी। महिलाओं व युवाओं को समाजवादी कार्यक्रम से जोडना चाहती थी। अंग्रेजी सरकार का भारत को साम्राज्यवादी युद्धों में शामिल करने का विरोध व स्वतंत्रता आन्दोलन को तीव्र करने का प्रस्ताव भी शामिल था। पार्टी का कार्यक्रम आकर्षक था, लेकिन व्यवहारगत: इसकी क्रियान्विति कठिन थी।

1936 में कांग्रेस समाजवादी पार्टी व कम्युनिस्टों ने संयुक्त मोर्चा खोला। कम्युनिस्ट कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन हु आ। देश के प्रमुख कम्यूनिस्ट नेता नम्बूदरीपाद पी. सुन्दरैया पीसी. जोशी. पी. रामभूमि आदि संयुक्त मोर्चे में शामिल हो गये। यह मोर्चा जन साधारण के हित में कार्य करना चाहता था। कृषक ब मजदूरों के अधिकारों में वृद्धि करना चाहते थे। प्रो. एम.जी. रंगा. इंदुलाल याग्निक सहजानंद ने किसान सभाओं के माध्यम से जमीदारीप्रथा की समाप्ति, भूमि करो में कमी की मांग की। कांग्रेस समाजवादी पार्टी का अस्तित्व 1934-1947 तक रहा। इस दल में कई की समाजवादी विचारधारा के लोग शामिल थे-मार्क्सवादी एवं समाजवादी विचारधारा (जयप्रकाश नारायण, युसुफ मेहर अली), फेवियनवादी विचारधारा (एम.आर. मसानी), उदारवादी समाजवादी (पटवर्धन एवं मेहता) आदि। बाद में साम्यवादियों से दल के मतभेद उभरने लगे।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी राष्ट्रीय स्तर पर सशक्त व प्रभावशाली पार्टी के रूप में नहीं उभर सकी। नेहरू व बोस पार्टी के कार्यकलापों से जुड़े रहे, लेकिन औपचारिक रूप से पार्टी के सदस्य नहीं बने। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान पार्टी में मतभेद व अन्तर्विरोध उभरने लगे । गांधीजी व अन्य दक्षिण पंथी इस पार्टी की नीतियों के विरोधी थे। स्पष्ट है कि पार्टी की असफलता निश्चित थी। लेकिन नेहरू का दृढ़ निवास था कि भारत की समस्याओं का समाधान समाजवाद द्वारा ही संभव था।

यद्यपि कांग्रेस समाजवादी दल असफल रहा तथापि राष्ट्रीय आंदोलन में उसकी भूमिका व योगदान महत्वपूर्ण था। कांग्रेस इस विचारधारा के माध्यम से समाज के निम्न आय वर्ग के लोगों व युवाओं को अपने कार्यक्रम से जोड़ने में सफल रही। उनकी नीतियों की क्रियान्विति की कोशिश भारत की स्वाधीनता के बाद सरकार द्वारा की गयी।

6.8 सारांश (Summary)

भारतीय समाज ने प्राचीन काल से ही कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। छठी शताब्दी ई.पू भारतीय इतिहास में एक व्यापक धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रांति देखने को मिलती है। इस धार्मिक क्रांति की चरम परिगति दौड एवं जैन धर्म के विकास के रूप में हु ई।

बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त के आधार चार आर्य सत्य है-दुःख, दुःखसुमुदय, दुःख निरोध, दुःख निरोध मार्ज । बौद्ध अष्टांगिक मार्ग के अंग इस प्रकार है- 1. सम्यक् दृष्टि, 2. सम्यक् संकल्प 3. सम्यक् वाक् '4. सम्यक् कर्मान्त 5. सम्यक् आजीव 6. सम्यक् व्यायाम 7. सम्यक् स्मृति 8. सम्यक् समाधि का चरम लक्ष्य है निर्वाण। महात्मा बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद के नियम से दुःख की उत्पति की व्याख्या की कर्म के सिद्धान्त में यह माना जाता है कि मनुष्य के वर्तमान जीवन का कारण उसके पूर्ववर्ती जीवन में निहित है। सभी वस्तुएं अनित्य एवं परिवर्तनशील है। बौद्ध धर्म आत्मा की स्थाई सत्ता को स्वीकार नहीं करता परन्तु पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। हीनयान और महायान बौद्ध धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय है।

जैन धर्म को प्राचीनतम एवं अनादिकाल से प्रचलित धर्म माना जाता है। जैन दर्शन में जीव-अजीव का विचार किया गया है। जैन धर्म कर्म को ही मृत्यु का कारण मानता है। कर्मफल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता। स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद् रूपी दर्शन जैन धर्म की महत्वपूर्ण देन है। नैतिक जीवन अतीत करने के लिए जैन धर्म में पाँच महाव्रतों का पालन करने का आदेश दिया गया है: सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य। जैन धर्म के दिगम्बर व श्वेताम्बर मुख्य समुदाय हैं।

भक्ति आन्दोलन कोई सुव्यवस्थित, योजनाबद्ध व क्रमिक रूप से चलने वाला आन्दोलन नहीं है। भारत में भक्ति को प्राचीनकाल से ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मध्यकालीन भारत में कई सन्त महात्माओं ने भक्ति आन्दोलन को सुधारवादी आन्दोलन के रूप में चलाया एवं जन सामान्य को हिन्दु धर्म से जोड़े रखा।

भारत के स्वाधीनता संग्राम को राष्ट्रीय आन्दोलन कहा गया है। भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कई कारण थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में समय-समय पर कई मोड आए। सर्वप्रथम 1357 में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रयास किया गया वाद में गांधीजी के नेतृत्व में वर्षो तक अहिंसात्मक संघर्ष के उपरान्त भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। समाजवाद के रूप में बाद में एक महत्वपूर्ण विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु आजकल उदारवाद एवं बाजारयुग में समाजवादी आन्दोलन की ताकत कम हुई है।

6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए -

1. बौद्ध संगीतियाँ क्या हैं? (150 शब्द)
2. जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को क्या देन है? (250 शब्द)
3. भक्ति आन्दोलन के प्रभाव को बताइए? (250 शब्द)
4. (166) की क्रांति के महत्व को बताइए? (150 शब्द)
5. समाजवाद को परिभाषित कीजिए? (150 शब्द)
6. बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों पर एक लेख लिखिए? (500 शब्द)
7. भक्ति आन्दोलन के प्रमुख संतों का परिचय दीजिए? (500 शब्द)
8. भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन के उद्भव व विकास पर एक लेख लिखिए। (500 शब्द)

6.10 संदर्भ ग्रंथ की सूची

1. गौतम एवं कमलेश शर्मा, 'प्राचीन भारत. जैन प्रकाश मंदिर, चौडा रास्ता, जयपुर।
2. आरसी. मजूमदार 'भारत का वृहद इतिहास”
3. कमलेश भारद्वाज, 'भारतीय संस्कृति के मूलाधार', पोइंटियर जयपुर।
4. डी. आशीर्बादीलाल श्रीवास्तव 'मुगलकालीन भारत
5. ओझा 'मध्यकालीन भारत की संस्कृति,
6. विपिन बन्द, 'भारत का स्वतंत्रता संघर्ष. हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
7. ताराचंद, 'भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग 1 व 2
8. पी.एल. गौतम,.आधुनिक भारत, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

इकाई - 7

किसान समाज एवं आन्दोलन - ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

इकाई को रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 प्राचीन काल मे किसानों की दशा

7.3 मध्यकालीन युग में किसानों की दशा

7.4 ब्रिटिश शासन में किसानों की बिगडती हुई दशा व उसके कारण

7.5 ब्रिटिश शासित प्रदेशों में किसानों के आन्दोलन (1772-1 858)

7.6 ब्रिटिश सरकार द्वारा कृषकों की दशा को सुधारने के असफल प्रयत्न

7.7 ब्रिटिश शासित प्रदेशों में किसानों के आन्दोलन (1858-1900)

7.8 ब्रिटिश शासित प्रदेशों में किसानों के आन्दोलन (1901-1947)

7.9 देशी राज्यों में कृषकों के आन्दोलन

7.10 कृषक आन्दोलनों का स्वरूप

7.11 सारांश

7.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.13 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

7.0 उद्देश्य (Objectives)

कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत में प्राचीन काल से ही किसान समाज की प्रधानता रही है। ऋग्वेद काल से लेकर राजपूत काल तक कृषकों की दशा में हुए परिवर्तनों का संक्षिप्त वर्णन पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि इस युग में किसानों की दशा संतोषजनक थी। इस काल में सभी शासकों ने किसानों की भलाई करना अपना कर्तव्य समझा तथा अकाल व सूखों के समय में उनकी सहायता की। मध्यकालीन युग में कृषकों का जीवन पहले की अपेक्षा कठोर व संघर्षमय हो गया।

ब्रिटिश शासन की स्थापना से लेकर 1858 तक अंग्रेजों द्वारा शासित प्रदेशों में किसानों की दशा में निरन्तर अवनति हुई। इसका प्रमुख कारण सरकार द्वारा किसानों का शोषण था। इसके अनेक कारण थे। इस समय में सरकार के विरुद्ध अनेक कृषक आन्दोलन हुए। 1358 के वाद ब्रिटिश सरकार ने किसानों की दशा को सुधारने के लिए कुछ कदम उठाये लेकिन दे अपर्याप्त थे। 1658 से 1900 की अवधि में भी ब्रिटिश शासित प्रदेशों में विभिन्न स्थानों पर किसानों के आन्दोलन हुए। उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारत के अनेक प्रदेशों में सूखे अथवा अकाल के प्रकोप से किसानों की दशा में गिरावट आई। 1901-1947 तक ब्रिटिश शासित प्रदेशों में उनके' कई आन्दोलन हुए।

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे कि:

- प्राचीन भारत में कृषकों की क्या दशा थी?
- मध्य काल में मुस्लिम शासकों के काल में किसानों का जीवन' किस प्रकार संघर्षमय हो गया।
- ब्रिटिश शासन में कौनसे तत्व किसानों की दशा के लिए उत्तरदायी थे।
- किसानों ने अपनी स्थिति के प्रति सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिए किस प्रकार आन्दोलनों का सहारा लिया।
- ब्रिटिश काल में किसानों -की दशा सुधारने के लिए क्या कदम उठाए गए।

7.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्राचीन काल से ही भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। यहां की अधिकांश जनता गांवों में रहती हैं तथा उनका मुख्य व्यवसाय कृषि व पशु पालन रहा है। प्राचीन काल में किसानों की दशा अत्यन्त संतोषजनक थी। यद्यपि निरन्तर युद्धों व उथल-पुथल के कारण मध्यकालीन युग में किसानों का जीवन पहले की अपेक्षा कठोर व संघर्षमय हो गया किन्तु फिर भी वे संतोषजनक जीवन अतीत करते रहे तथा उन्होने शासन के विरूद्ध कोई आन्दोलन नहीं किया।

1765 में बंगाल में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना तथा उसके बाद भारत के अनेक प्रदेशों में अंग्रेजी शासन के विस्तार के समय कृषकों की दशा बिगड़ने लगी। बिपिन बन्द के अनुसार औपनिवेशिक आर्थिक नीतियां, भू-राजस्व की नई प्रणालियां और उपनिवेशवादी प्रशासनिक व न्यायिक अवस्था ने किसानों की कमर तोड दी। इसके फलस्वरूप 1772 से लेकर 1947 तक ब्रिटिश शासित प्रदेशों में किसानों के अनेक आन्दोलन हुए। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में देशी राज्यों में भी किसानों ने अनेक स्थानों पर आन्दोलन किये। इस इकाई में प्राचीन काल से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक किसानों की दशा में हुए परिवर्तनों, शासकों की उनके प्रति नीति तथा ब्रिटिश शासन काल में किसानों द्वारा किए गए आन्दोलनों के कारणों की विवेचना की गई है तथा इनका संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

7.2 प्राचीन काल में किसानों को दशा

वैदिक युग से अब तक भारत कृषि प्रधान देश रहा है। ऋग्वेद काल में आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। इसके साथ दे पशु पालन भी करते थे। प्रत्येक गाद में एक किसान परिवार खेती व पशु पालन के साथ कुछ कुटीर उद्योगों से भी धन कमाता था।

उत्तर वैदिक काल में आर्या ने कृषि के क्षेत्र में काफी उन्नति कर ली थी। कृषि उपज बढ़ाने के लिए दे खाद का प्रयोग करने लगे थे।

महाकाव्य काल में कृषि के क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति हुई। इस काल में एक राजा अपने राज्य में रवि की सुखा तथा सिंचाई की अवस्था करता था। वह किसानों से उनकी पैदावार का 1/1 भाग से 1/6 माग कर के रूप में लेता था। अकाल के समय कर (Tax) माफ कर दिया जाता था। आर.एस. त्रिपाठी व जायसवाल के अनुसार यद्यपि एक किसान को अपनी भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व अधिकार प्राप्त थे किन्तु वह गांव की पंचायत अथवा परिषद की अनुमति के बिना अपना खेत न तो बेच सकता था और न ही रहन (Mortgage) रख सकता था। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में किसान समाज की दशा का वर्णन किया है। उसके

अनुसार हर राज्य का यह कर्तव्य था कि वह कृषि की उन्नति तथा पशुओं के कल्याण के लिये कार्य करे। इस काल में राजा की अपनी भूमि भी होती थी, जहां वह कृषक श्रमिकों से खेती कराता था। भूमि के वर्गीकरण के आधार पर राजस्व की दर का निर्धारण किया जाता था। इस काल में विभिन्न प्रान्तों में पड़े अकालों व सूखों का भी उल्लेख मिलता है। चंद्रगुप्त मौर्य के समय में बिहार में एक भयंकर अकाल पड़ा। इसके कारण वहां से जैन मुनि भद्र राहु अपने स शिष्यों के साथ दक्षिण चले गये थे। दुर्भिक्षों से बचने के लिए अनेक स्थानों पर जलाशयों एवं नदियों को बांध कर कृत्रिम सिंचाई की व्यवस्था राज्यों द्वारा की गई। पहले की भांति किसानों का जीवन संतोषमय था। मौर्य काल गुप्त काल के बीच के समय में किसानों की दशा पहले जैसी ही बनी रही। किन्तु इस समय में तथा गुप्त काल में राज्य किसानों के बीच मध्यस्थों की संख्या में वृद्धि होने लगी। एक राजा द्वारा गांव की भूमि दान में दी जाने के अतिरिक्त सैनिक व प्रशासनिक अधिकारियों को उनके वेतन की भूमि दी जाने लगी। इससे कृषकों पर करों का भार बढ़ा। काफी संख्या में कृषक मजदूर इन नये भूपतियों की भूमि पर कार्य करने लगे। राजपूत काल में सामंतवादी व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों को उनके अधीन रहना पड़ता था। यद्यपि सामंत बर्ग उनसे बेगार लेता था तथा भू-राजस्व के अतिरिक्त कुछ अन्य कर वसूल करता था किंतु किसानों के साथ उनका बहार सद्भावना पूर्ण था।

7.3 मध्यकालीन युग में किसानों की दशा

मोरलैंड के अनुसार मध्यकालीन युग में भारतीय कृषकों का जीवन पहले की अपेक्षा कठोर ब संघर्षमय हो गया। क्योंकि बाहर से आने वाले अधिकांश मुस्लिम सेना में भर्ती हो जाते थे, अत: कृषि कार्य प्रधानत: हिंदूओं के हाथ में ही रहा। अधिकांश मुस्लिम शासक साम्राज्य विस्तार के लिए किए गए युद्धों में व्यस्त रहते थे, तथा उन्हें अपने अमीरों के विद्रोहों का सामना भी करना पडता था। अत: उन्होने किसानों की दशा सुधारने की ओर ध्यान नही दिया। केवल फिरोज तुगलक व कुछ अन्य मुस्लिम शासकों ने कृषि की उन्नति व विकास के लिए प्रयत्न किए। सल्तनत काल में जागीरदारी व जमींदारी प्रथा के उदय व विकास ने कृषकों पर करों का बोझ बढ़ा दिया। इस वर्ग ने किसानों का शोषण भी किया। पहले की भांति अकालों के समय कृषकों को यथोचित सहायता नहीं पहुंचाई गई। इस प्रकार की स्थिति मुगल काल में भी बनी रही । शाहजहां ने दक्षिण व गुजरात में दुर्भिक्ष-पीडित किसानों को राहत पहुंचाने के लिए प्रबंध किए किंतु अकाल की गंभीरता को देखते हुए किसानों को दी गई सहायता पर्याप्त नहीं थी। औरंगजेब के शासन काल के अन्तिम पच्चीस वर्षा के अभियानों ने दक्षिण के कृषकों की कमर तोड़ दी।

यहां यह भी बताना उचित होगा कि इस युग में भारत के कुछ उपजाऊ प्रदेशों-बंगाल, पंजाब आदि - में कृषकों की दशा ठीक थी। अनेक प्रदेशों में कपास, नील, अफीम, गन्ना, जूट आदि नकद फसलों की बुवाई के कारण उनकी आमदनी बढ़ गई थी। इरफान हबीव के अनुसार इसके अतिरिक्त गांवों में किसान दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं का उत्पादन भी करते थे। कुछ विदेशी यात्रियों के अनुसार मुगल काल में कुछ प्रदेशों को छोड़ कर कृषकों की दशा सामान्य थी, किंतु कुछ अन्य ने उनकी दशा खराब बताई है।

7.4 ब्रिटिश शासन में किसानों की बिगड़तीं हुई दशा व उसके कारण

मुगल साम्राज्य के पतन के समय में अराजकता के कारण किसानों की दशा बिगड़ने लगी। 1757 गे बंगाल सूबे में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना हुई। आरंभ से ही ईस्ट इंडिया कंपनी की स्वार्थपूर्ण नीतियों के कारण किसानों के शोषण की प्रक्रिया आरंभ हुई। बंगाल के बाद भारत के अन्य देशों में भी ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार हुआ। इन प्रदेशों में भी अंग्रेजी सरकार ने कृषकों का शोषण किया। अत: भारत के किसान गरीब होते चले गये तथा उन्होने सरकार के विरूद्ध आन्दोलन किये। किसानों की अवनति के लिए ब्रिटिश सरकार की निम्नांकित नीतियाँ मुख्य रूप से जिम्मेवार थी

1. **अधिक लगान की वसूली-** बंगाल में कंपनी शासन स्थापित होने के बाद वहाँ लगान में वृद्धि की गई। स्थायी बन्दोबस्त में भी जमींदारों से अधिक लगान वसूल किया गया जो उन्होने कृषकों से वसूल कर के अदा किया। महालवाडी व रैयतबाडी व्यवस्थाओं से भी किसानों पर लगान का भार पड़ा।
2. **जमींदारों व उनके कारिंदों तथा लंबरदारों की ज्यादतियां -** जमींदारों व उनके कारिंदों ने मनमाने ढंग से कृषकों से भू-राजस्व वसूल किया। लम्बरदारों ने भी कृषकों के हितों की चिन्ता नहीं की।
3. **न्यायिक व्यवस्था से परेशानी** ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित न्यायिक प्रणाली इतनी खर्चीली व भ्रष्ट थी कि जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध एक कृषक न्यायालय में अपील करने में स्वंय को समर्थ नहीं पाता था।
4. **भू-राजस्व अधिकारियों का व्यवहार** इस समय में भू-राजस्व अधिकारियों का किसानों की शिकायतों के प्रति सहानुभूति पूर्ण रवैया नहीं था।
5. **कृषि का व्यवसायीकरण** अंग्रेजों ने भारत में कृषि का व्यावसायीकरण किया। इसके फलस्वरूप गा गे की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई। नकद फसलों के उत्पादन से अन्न की कमी हो गई। किसानों पर ऋणग्रस्तता बढ़ती गई। दस्तकारियां उजड़ गई।
6. **विऔद्योगिकरण की नीति** अंग्रेजों ने विऔद्योगिकरण की नीति अपना कर किसानों की आमदनी कम कर दी।
7. **भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा का प्रचलन** अंग्रेजों के शासन काल में भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा का प्रचलन हुआ। अब महाजन व अन्य लोग ऋण अथवा प्रलोभन देकर कृषकों से भूमि खरीद सकते थे। अत: बहुत से किसान भूमि से बेदखल हो गये।
8. **भूमि का विखंडीकरण** भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा का प्रचलन होने से एक किसान की भूमि उसके पुत्रों में बंट जाती थी। इससे छोटे आकार के खेतों में वृद्धि हुई और किसानों की उपज में कमी आई।
9. **जमींदारों व साहूकारों को सरकार का समर्थन** सरकार ने जमींदारी व साहूकारों की ज्यादतियों पर नियन्त्रण नहीं किया। फलस्वरूप वे किसानों का शोषण करते रहे।

10. भूमि पर दबाव में वृद्धि बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भूमि पर दबाव बढा। शहरों में दस्तकारियों के विनाश के कारण भी कई व्यक्तियों ने खेती करनी शुरू की।

11. कृषकों के हितों के प्रति सरकार की उदासीनता ब्रिटिश सरकार ने काफी समय तक कृषकों के हितों के लिये कदम नहीं उठाये। उन्होनें सिंचाई के साधनों में वृद्धि नहीं की।

12. अकाल व महामारी के समय किसानों को पर्याप्त राहत न पहुंचाना ब्रिटिश सरकार ने प्राकृतिक आपदाओं के समय किसानों को पर्याप्त सहायता नहीं दी तथा अकाल के पश्चात् उनके पुनर्वास के लिए भी समुचित प्रबन्ध नहीं किये।

अंग्रेजों की स्वार्थपूर्ण नीतियों के फलस्वरूप किसानों की दशा में सुधार नहीं हुआ। अतएव ब्रिटिश शासन की स्थापना से लेकर 1947 ई. तक भारत में अनेक कृषक आन्दोलन हुए।

7.5 ब्रिटिश शासित प्रदेशों में किसानों के आन्दोलन (1772-1858)

1. सन्यासी आन्दोलन (1772 ई.) ऐसे विरोध आन्दोलनों में सबसे पहले सन्यासी विद्रोह का उल्लेख किया जाता है। भू-राजस्व की वसूली में कड़ाई से जमींदारों, किसानों और कारीगरों को भयंकर आर्थिक क्षति पहुँची। बंगाल में 1770 ई. के दुर्भिक्ष ने स्थिति को और बिगाड़ दिया। 1772 ई. में बंगाल के फोर्ट विलियम के अध्यक्ष ने कंपनी के निदेशक मण्डल को लिखा कि सन्यासियों और फकीरों के झुंड, जिनके साथ भूखे मरने वाले किसानों की भीड इकट्ठी हो जाती है, दक्षिणी बंगाल में खड़ी फसल पर टूट पड़ते हैं और पचास हजार तक की संख्या में आगजनी और लूट मार करते हैं। इस विद्रोह को दबाने के लिये सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग किया गया।

2. मद्रास प्रेसीडेंसी में आन्दोलन (1775 - 1801 ई) तारा बंद के मत में बंगाल में जो कुछ मी हुआ उसकी प्रतिध्वनि भारत के दूसरे भागों में भी हुई। जहां-जहां भी ब्रिटिश शासन फैलता गया, - वहां-वहां असंतोष के कारण उठ खडे हुए, तथा किसानों ने विद्रोह किये। परन्तु स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विरोध का स्वरूप अलग-अलग रहा। मद्रास प्रेसीडेंसी में रैयतबाडी पद्धति के अन्तर्गत किसान सरकार को सीधा लगान देते थे और बिचौलियों को मुनाफे का एक हिस्सा हड़पने का मौका नहीं मिलता था। किन्तु रमेश चन्द्र दत्त के अनुसार "इन किसानों पर कम्पनी की वैसी ही जकड़ रही जैसी गुलामों की मालिक पर रहती है और वह उन्हें जिन्दा रहने भर छोड कर बाकी उनकी सारी कमाई हड़प लेती थी।" इस कारण तथा भूमि पर स्थायी अधिकार न होने के कारण खेती की उन्नति में रैयत रूचि नहीं ले पाता था। फिर भी पोलिगरों की जमींदारियों कायम रह गई और मुख्यतः सरकार को उन्हीं के विरोध का सामना करना पडा। इनमें से पहला विद्रोह आंध्रप्रदेश के विजयनगर के राजा का था। 1775 ई. में कम्पनी ने उससे तीन लाख रूपये की पेशकश की। बाद में यह रकम तिगुनी कर दी गई और उसे सेना भंग करने को कहा गया। राजा के न मानने पर उसकी जमींदारी जक कर ली गई। इस पर उसने विद्रोह कर दिया जो सस्ती के साथ दबा दिया गया। तिन्नेवल्ली, पंजल कुरूचि, रामनाड और शिवगिरि के पोलिगरों में भी विरोध के लक्षण प्रकट हुए। 1801 ई. में डिंडीगुल और मलावार में उथल-पुथल हुई। इन

विरोध आन्दोलनों को भी दबा दिया गया। इसके पश्चात भी इन प्रदेशों में पोलिगरों के विद्रोह होते रहे।

3. **आदिवासी किसानों के आन्दोलन** छोटा नागपुर क्षेत्र की जन जातियों, भीलों, गौड आदि आदि निवासियों ने भी समय-समय पर विद्रोह किये। इनका मुख्य कारण, आर्थिक कठिनाईयाँ थी। अन्य क्षेत्रों में भी जन जातियों के किसानों को भी नई राजस व्यवस्थाओं की कठोरता ने गरीब बना दिया था। छोटा नागपुर में पहाड़ी क्षेत्रों में घाटबालियों के माफी के पट्टे रह करने के कारण एक विद्रोह हुआ।

4. **रंगपुर का आन्दोलन (1783 ई.)** ब्रहमपुत्र घाटी के रंगपुर के सीमावर्ती क्षेत्रों में हिन्दू तथा मुसलमान रैयत ने अधिक लगान की मांग से क्रुद्ध होकर 1763 ई. में ठेका देने वाले ईजारेदारों और उनके प्रतिनिधियों के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। उनके एक नेता नूरूद्दीन ने अपनी सरकार बना ली। एक अन्य नेता नारायण को नवाब बनाया गया। उन्होने कचहरी और कोतवाली पर हमला कर दिया। इस विद्रोह को भी सस्ती के साथ दबा दिया गया।

5. **मैमनसिंह का आन्दोलन (1824 ई.)** 1824 ई. में रंगपुर के दक्षिण में मैमनसिंह के प्रदेशों में किसानों का विद्रोह भड़क उठा। यद्‌यपि इन क्षेत्रों के जमींदारों के पारस्परिक झगड़ों तथा ब्रहमपुत्र के बहाव में परिवर्तन के कारण ग्रामीण अर्थ व्यवस्था चौपट हो गई थी, फिर भी लगान की वसूली में कोई कमी नही की गई। 1820 ई. में स्थानीय जमींदारों ने हाथीखेडा में बेगार को अनिवार्य कर दिया। किसानों ने इसका विरोध किया। 1824 ई. में जमींदारों ने सड़क निर्माण के कार्यो में किसानों को बेगार पर लगाया। युवा किसानों ने टीपू नामक फकीर को अपना नेता बनाया। वह उस क्षेत्र के पागलपंथी सम्प्रदाय के नेता करमशाह का पुत्र था। टीपू ने किसानों को राजस्व अदा न करने का आदेश दिया। उन्होंने जमींदारों के मकानों पर आक्रमण किया। 1825 ई. में ब्रिटिश सेना व किसानों में सशस्त्र संघर्ष चलता रहा। इस वर्ष के अन्त में सरकार ने सड़क निर्माण का कार्य रोक दिया तथा लगान वसूली पर फिर से विचार करने का आश्वासन दिया। फलत: विद्रोह शांत हो गया। 1827 ई. में टीपू को गिरफ्तार किया गया। 1633 ई. में विद्रोह फिर भड़क उठा क्योंकि कर वसूली में कोई रियायत नहीं की गई थी। कुछ समय बाद किसानों ने सरकार से बातचीत द्‌वारा अपनी समस्या को सुलझाने का निश्चय किया।

6. **बारसाल का आन्दोलन (1831.1837 ई.)** 1831 ई. में कलकत्ता के निकट टीटू मीर ने, जो कि एक जुलाहा था और जमींदार का लठैत रह चुका था, किसानों को विद्रोह के लिये उकसाया। यह विद्रोह जमींदारों द्‌वारा लगाये 'दांडी कर' और सामान्यत: अंग्रेजों के प्रभुत्व के विरूद्ध था । किसानों ने एक नील फैक्ट्री पर हमला कर वहां के दस्तावेज नष्ट कर दिये। 1837 ई. में भी विद्रोह हुआ। टीटू मीर को भावी नेता सैयद अहमद से स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की प्रेरणा मिली थी। क्योंकि इसी सस्ता अफगानिस्तान कीं सीमा पर सैयद अहमद ने विद्रोह कर दिया था। अतएव ब्रिटिश आशंकित हुए। बार:- में नील विद्रोह जिसका वर्णन इसी अध्याय में किया गया है।

7. **मालाबार में जन्मियों के विरूद्ध किसानों (मोप्पीलों) का आन्दोलन (1886-51ई.)** हैदर अली व टीपू के शासन काल में मालाबार के हिन्दू जमींदार (जती) दक्षिण की ओर भाग गये थे. तथा उनके काश्तकारों (मोप्पिलों) ने भूमि पर अधिकार कर लिया था। अंग्रेजों ने जन्मियों को भूमि पर वापस कब्जा दे दिया तथा रैयत को उनका रेहनदार बना दिया। अब जन्मी अपनी इच्छानुसार उन्हें बेदखल कर सकते थे। जन्मियों ने लगान की दरों में वृद्धि कर दी। इसके फलस्वरूप किसानों ने जन्मियों पर हमले किये। 1635 ई. से 1640 ई. के मध्य उन पर सोलह बार आक्रमण हुए। इस अवधि में बेदखली भी सर्वाधिक हुई। जिन लोगों ने इन हमलों में भाग लिया उनमें से अनेक धार्मिक उन्माद से ग्रस्त थे और उल्मा वर्ग, विशेषकर सैयद अली और उसके पुत्र फजल अली, से प्रभावित थे। 1851 ई. के प्रमुख मोप्पिल्ला विद्रोह के बाद सैयद अली मालाबार से चला गया और अंग्रेजों ने अपराधियों के विरूद्ध कठोर कानून बनाये। फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विरोधों की संख्या कम हो गई।

7.6 ब्रिटिश सरकार द्वारा कृषकों की स्थिति को सुधारने के असफल प्रयत्न

1857 ई. के बाद ब्रिटिश सरकार ने निम्नांकित कारणों से कृषकों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया

1. भू-राजस्व की आमदनी में कमी कृषि उत्पादन में कमी तथा अकालों के कारण सरकार की भू-राजस्व आमदनी में कमी हो गई थी।
2. इंग्लैंड में अन्न की आवश्यकता इंग्लैण्ड में औद्योगिक प्रगति के कारण अन्न के उत्पादन में कमी हो गई थी। फलस्वरूप वह अन्न का आयात करने लगा था। अत: भारत में अन्न के उत्पादन को बदले के लिये कुछ कदम उठाना आवश्यक था।
3. 1858 ई. के बाद कृषकों ने चाय, काफी आदि बागानों के विदेशी मालिकों तथा स्थानीय जमींदारों ब साहूकारों के विरूद्ध अपना असंतोष प्रकट किया। उनके बढ़ते हुए असन्तोष को दबाना आवश्यक था। अत: कृषि की उन्नति के लिये सरकार ने निम्नांकित कदम उठाये:
    1. प्रायोगिक फार्मों की स्थापना 1870 ई. व 1880 ई. के मध्य सरकार ने मध्य भारत के कुछ स्थानों में कृषि की उन्नति के लिये प्रयोगात्मक फार्म खोले। इनमें कृषि के आधुनिक तरीका और औजारों का-प्रदर्शन किया गया।
    2. केन्द्र व प्रान्तों में कृषि विभागों की स्थापना 1879 ई. के दुर्भिक्ष आयोग की सिफारिश पर केन्द्र में एक पृथक कृषि विभाग खोला गया। ब्रिटिश प्रान्तों में भी कृषि विभागों की स्थापना की गई।
    3. सिंचाई के साधनों का प्रबन्ध सरकार ने इस दिशा में सामान्य रूचि दिखाई। उत्तर प्रदेश, मद्रास व अन्य प्रदेशों में नहरों का निर्माण किया गया कर्जन ने सिंचाई के साधनों के विकास के लिये एक आयोग नियुक्त किया।

4. कृषक को भूमि से बेदखल न होने देने के लिए पारित कानून : इसके लिए भारत सरकार ने बंगाल, अवध, पंजाब व मध्य प्रदेश में कानून बनाये। इन कानूनों में किसी भी गैर-कृषक को कृषि योग्य भूमि खरीदने का अधिकार नहीं दिया गया था।
5. सहकारी संस्थाओं की स्थापना किसानों को कर्ज देने, उनको बीज देने व उनकी उपज को बाजार में पहुंचाने के लिये अनेक स्थानों पर सहकारी संस्थाएं खोली गई।
6. कृषि अनुसंधान को प्रोत्साहन सरकार ने पूसा में एक कृषि अनुसंधान संस्थान खोला। उसके बाद पूना व अन्य स्थानों में कृषि कालेज खोले गये ।

सुधारों को असफलता

लेकिन इन सुधारों से कृषकों को विशेष लाभ नहीं हुआ। यद्यपि खेती के कुल. क्षेत्र में वृद्धि हुई किन्तु यह वृद्धि बढ़ती हुई आबादी के अनुपात में कम थी। पहले के समान नकद फसलों की खेती जारी रही। इसका लाभ किसानों को न मिल कर अंग्रेज पूंजीपतियों को मिला। कृषकों की ऋणग्रस्तता बढ़ती गई। तारा बन्द के अनुसार जहां 1886 ई. से 1874 ई. के मध्य साहूकारों ने पंजाब में 88,000 एकड़ भूमि पर कब्जा किया था वहां 1850 ई. से 1895 ई. के बीच उन्होंने 3,38,000 एकड़ भूमि हथिया ली। आबादी की वृद्धि के साथ जोतों के आकार छोटे होते चले गये। इन परिस्थितियों में किसान असंतुष्ट ही बना रहा तथा उसने समय-समय पर प्रदर्शन अथवा विद्रोह किए।

7.7 ब्रिटिश शासित प्रदेशों में किसानों के आन्दोलन (1858-1900)

1. **नील आन्दोलन(1859-60 ई.)** बंगाल में नील की खेती का नियन्त्रण अंग्रेज पूंजीपतियों के हाथ में था। वे किसानों को पेशगी रूपया देकर उन्हें नील की खेती करने पर मजबूर कर देते थे तथा उनसे नील की उपज बहुत कम मूल पर खरीद लेते थे। 1859-60 ई. में बंगाल में नील की खेती करने बाले कृषकों ने विद्रोह किया। सरकार ने बेरहमी के साथ उनका दमन किया। बंगाल के शिक्षित बर्ग ने किसानों के समर्थन में आवाज उठाई । विवश होकर सरकार ने एक आयोग की नियुक्ति की। लेकिन किसानों व ब्रिटिश पूंजीपतियों के बीच संघर्ष कुछ समय तक चलता रहा।
2. **दरभंगा ब चम्पारन में कृषकों का आन्दोलन (1866-68 ई.)** बिहार के दरभंगा व चंपारन जिलों में भी नील की खेती करने वाले कृषकों ने 1866-68 ई. में बडे पैमाने पर विद्रोह किया। इस विद्रोह को भी दल दिया गया।
3. **पूर्वी बंगाल के कृषकों का आन्दोलन (1872-76 ई)** पूर्वी बंगाल में जमींदार व उनके कारिन्दे कृषकों पर मनमाना अत्याचार करते थे। वे उनको अनुचित तरीकों से तंग करते थे। 1872 ई. में पूर्वी बंगाल के कृषकों ने भू-राजस्व न अदा करने का आन्दोलन चलाया। उन्होंने पूर्वी बंगाल के अनेक स्थानों पर जमींदारों व उनके कारकुनों पर हमले किये। सरकार ने उनका दमन किया। यह विद्रोह 1878 ई. में लेकिन इसके बाद भी इन प्रदेशों मैं किसानों के यदा-कदा प्रदर्शन होते रहे।

4. **महाराष्ट्र में आन्दोलन (1875 ई.)** महाराष्ट्र में सरकार का प्रत्यक्ष संबंध किसानों से था। सरकार ने भू-राजस्व की दरें वहुत अधिक निश्चित की थी। किसानों को इसे अदा करने के लिये साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था। फलस्वरूप काफी संख्या में किसान अपनी भूमि से बेदखल हो गये। 1875 ई. में पूना व अहमदनगर जिले के किसानों ने साहूकारों का सामाजिक बहिष्कार आरम्भ किया। इस आन्दोलन ने शीघ्र ही उपद्रवों का रूप धारण कर लिया। किसानों ने ऋण पत्रों व कचहरी के बेदखली के आदेशों को जला कर अपनी भूमि पर वापस अधिकार कर लिया। पुलिस द्वारा उपद्रवों पर काबू न पाने के कारण पूना से सेना बुलाई गई तथा कृषक विद्रोह को दवा दिया गया। इस विद्रोह में भी शिक्षित वर्ग की सहानुभूति कृषकों के साथ थी।
5. **मोपिल्ला उपद्रव (1870-80 ई.)** 1836 ई. से 1654 ई. के मध्य उत्तरी केरल के मालाबर प्रदेश में मोपिल्ला कृषकों ने 22 बार विद्रोह किये थे। 1679-30 ई. में पुन: इस प्रदेश में कई स्थानों पर प्रदर्शन हुए।
6. **असम में कृषकों का आन्दोलन (1893-94 ई.)** असम के कुछ भागों में भू-राजस्व की ऊंची दरों के निर्धारण के विरूद्ध कृषकों ने असन्तोष प्रकट किया। उन्होंने बढ़ी हुई दरों पर लगान देने से इनकार किया। भू-राजस्व विभाग के अधिकारियों ने किसानों को भूमि पर कब्जाकरने से रोका। सरकार ने पुलिस व सेना की सहायता से विद्रोह को दबाया गया। पुलिस के लाठी चार्ज व सेना की गोलियों से कई किसान मारे गये।

7.8 ब्रिटिश शासित प्रदेशों में किसानों के आन्दोलन (1901-1947)

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम बार दशकों में भारत के कई भागों को अकाल अथवा सूखे का सामना करना पड़ा। इनमें 1896 ई. तथा 1899-1900 ई. का अकाल सबसे भयंकर था। दुर्भिक्ष व महामारी ने सहस्त्रों लोगों की जान ले ली। सरकार की ओर से अकाल पीडितों की सहायता का पर्याप्त प्रबन्ध नहीं किया गया। कांग्रेस ने इस सम्बन्ध में भारत सरकार की आलोचना की। 1901 ई. में कर्जन ने प्रान्तों के कृषि विभागों में समन्वय बनाये रखने के लिये केन्द्र में एक अधिकारी की नियुक्ति की। कृषि अनुसंधान को प्रोत्साहन दिया गया। 1904 ई. में सरकारी साख अधिनियम पारित किया गया। किन्तु अन्य उपायों की भांति सरकार के ये कदम भी अपर्याप्त सिद्ध हुए। कृषकों में असन्तोष बना रहा।

1. **चम्पारन का आन्दोलन (1917 ई.)** बिहार के चम्पारन जिले में नील की खेती करने वाले किसानों की दशा शोचनीय थी। सरकार ने उनकी मांगों पर कोई ध्यान नहीं दिया। विवश होकर वहां के किसानों ने गांधीजी को बुलाया। सरकार ने गांधीजी के प्रवेश पर निषेधाज्ञा लगा दी। इसकी परवाह न करते हुए वे वहां गये। गांधीजी की सलाह पर किसानों ने सत्याग्रह किया। अन्त में सरकार ने उनकी अधिकांश मांगें मान ली।
2. **खेड़ा आन्दोलन (1918 ई.)** गुजरात के खेड़ा जिले में फसल के बर्बाद होने पर भी सरकार ने लगान वसूल करने की चेष्टा की। गांधी जी ने किसानों को सत्याग्रह करने की सलाह दी। इस पर किसानों ने लगान अदा नही किया। गांधीजी के नेतृत्व में

बल्लभ भाई पटेल व इंदु लाल याज्ञनिक ने इस आन्दोलन का संचालन किया। अन्त में सरकार ने किसानों की अधिकांश मांगें मान ली।

3. **असहयोग आन्दोलन में किसानों का सहयोग (1921-22 ई.)** बिहार में छोटा नागपुर के आदिवासियों ने ताना भगत के नेतृत्व में लगान अदा नहीं किया । उड़ीसा में कणिका प्रदेश के किसानों ने अगारों को अदा करने से इनकार किया। मलाबार के दक्षिण में पेन्डाना, डिपाडू गंटूर कृष्ण व गोदावरी जिले में भी किसानों ने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। उत्तर प्रदेश में रायबरेली तथा फैजाबाद जिलों में गैर कानूनी लगान व अबवाब अदा नहीं किये गये।
4. **अकाली मोर्चे का किसान आन्दोलन (1921-22 ई.)** प्रथम महायुद्ध के वाद पंजाब में किसान आन्दोलन ने जोर पकडा। पंजाब में अकाली मोर्चे ने सिक्स किसानों के आन्दोलन का नेतृत्व किया। पंजाब में जमींदारों व महन्तों के पास काफी अधिक भूमि थी। गुरूद्वारों के महन्त अपने अधीन भूमि की आमदनी गुरूद्वारों के रख-रखाब पर खर्च नहीं करते थे। जमींदार कृषकों पर अत्याचार करते थे। इन दोनों के विरूद्ध एक आन्दोलन आरम्भ किया गया जिसने शीघ्र ही साम्राज्यवाद विरोधी रूप धारण कर लिया। महन्तों ने सरकार का साथ दिया। 1922 ई. में अकालियों पर गुरू का बाग नामक स्थान पर पुलिस ने गोलियां चलाई जिनमें कुछ व्यक्ति मारे गये। 1923 ई. में यह आन्दोलन दवा दिया गया।
5. **मलाबार का किसान आन्दोलन (मोपिल्ला विद्रोह - 1921-23 ई.)** 1921 ई. में मलाबार के किसानों ने पुन: आन्दोलन किया। 30.000 से अधिक मोपिल्ला किसानों को गिरफ्तार कर लिया गया। उनके विरूद्ध अभियान में सेना ने निर्दयता से काम लिया। मालगाड़ी के एक डिब्बे में सौ मोपिल्ला ठूंस दिये गये। इनमें से सत्तर दम घुटने से मर गये। जनता की मांग पर एक जांच आयोग नियुक्त किया गया। अगस्त, 1924 ई. में तिरूरगाधी की एक मस्ज़िद पर सेना ने किसानों पर हमला किया। इसके जवाब में पांच हजार किसानों ने आक्रमणकारियों को घेर लिया। उन पर मशीनगनों की बौछार की गई। किसानों ने स्वराज्य की घोषणा कर दी तथा खलीफा का झंडा लहराया। दो तालुको पर भी उनका दस्ता हो गया। इन प्रदेशों का शासक अली मुसालियर को बनाया गया। इस विद्रोह में हिन्दू किसानों ने मोपिल्लों का साथ दिया। इस माह के अन्त तक ब्रिटिश सेना ने विद्रोह को दबा दिया। अली मुसालियर व अन्य नेता गिरफ्तार कर लिए गये। इसके बाद विद्रोह का नेतृत्व बेरियन कुन्नाथ कुन अहमद हाजी ने किया। जनवरी, 1922 ई. में उसे गिरफ्तार किया गया व गोली से मार दिया गया। सरकार ने मलाबार में मार्शल लॉ लगा दिया। अक्तूबर, 1922 ई. में समस्त मलाबार में ब्रिटिश सेना भेज दी गई और विद्रोह दबा दिया गया ।
6. **संयुक्त प्रान्त में किसान आन्दोलन (1921-22 ई.)** आगरा के प्रदेशों में सामंतवाद व साम्राज्यवाद के विरूद्ध किसानों ने आन्दोलन किए । अकाल के कारण इन प्रदेशों के किसानों ने हताश होकर हथियार उठाये । सशस्त्र किसानों ने धनी व्यापारियों व जमींदारों को लूटा । पुलिस और उनके बीच अनेक संघर्ष हुए । 1921 ई. में अवध में

बडी संख्या में किसानों को बेदखल किया गया । उन्होने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया । फैजाबाद व उसके आस-पास के इलाकों में दस हजार किसानों ने प्रदर्शन किए तथा पुलिस से लोहा लिया । रायबरेली में भी प्रदर्शन हुए । सब जगह लगान अदा न करने का प्रचार किया गया । इस प्रकार किसानों ने सामन्तों के विरोध के साथ-साथ साम्राज्यवाद का विरोध भी किया । 1922 ई. में यह आन्दोलन संयुक्त प्रान्त के अन्य भागों में भी फैल गया। बरेली ब गोरखपुर में पुलिस ने किसानों पर लाठी चार्ज किया । इसके फलस्वरूप चौरी-चीरा में पुलिस थाना जला दिया गया । अवध में किसानों ने एका नाम की एक संस्था की स्थापना की । कई प्रदेशों में किसानों और पुलिस में संघर्ष हुए । सरकार ने सेना की मदद से आन्दोलन को दबा दिया ।

7. **1930-31 ई. के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में किसानों की भूमिका** एम.एन.राय व उसके अनुयायियों ने इलाहाबाद जिले में लगान न अदा करने के आन्दोलन में कांग्रेस का साथ दिया । बंगाल के किशनगंज जिले में जूट की खेती करने वाले किसानों ने भू-राजस्व अदा करने से इनकार कर दिया । उनको दबाने के लिए कलकत्ता से सेना भेजी गई । बरार के बुलडाना जिले में कपास उगाने वाले कृषकों ने जमींदारों द्वारा लगाने में की गई वृद्धि को देने से इनकार कर दिया । कुछ स्थानों पर जमींदारों के मकानों में आग लगा दी गई । उनके आन्दोलन को दबाने के लिए पुलिस व सेना भेजी गई

   किसान संघों की स्थापना 1930 ई. बिहार में स्वामी सहजानन्द ने किसान सभा का गठन किया जो शीघ्र ही बिहार व उत्तर प्रदेश के किसानों में लोकप्रिय हो गई । बिहार के पिछडे इलाकों में कर्यानन्द शर्मा का किसानों में काफी प्रभाव था । उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में खुदाई खिदमतगार तथा महाराष्ट्र में एम.एन.राय के कार्यकर्ता किसानों के हित में कार्य कर रहे थे । हैदराबाद में रामानन्द तीर्थ ने किसानों के शोषण के विरोध में आवाज उठाई । बिहार के आदिवासी कृषकों में गांधीजी का प्रभाव बढ़ रहा था । साम्यवादी भी अपने तरीकों से किसानों को संगठित कर रहे थे । कांग्रेस नेता व कार्यकर्ता कृषकों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अंहिसात्मक तरीके अपनाने पर जोर देते थे और दे उनके आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन का एक भाग मानते थे । साम्यवादी नेता उन्हें इसका अंग नहीं मानते थे । कुछ स्थानों पर कृषकों ने केवल स्थानीय समस्याओं के समाधान के लिए ही आन्दोलन किया । इनमें से कुछ का संचालन धार्मिक नेताओं ने किया । लेकिन इस प्रकार के मतभेदों के होते हुए भी किसानों ने अनेक बार सम्मिलित रूप से आन्दोलन किये ।

8. **तेआगा आन्दोलन (1946 ई.) 1946** ई. में बंगाल में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे । ऐसे समय में नोआखली के निकट के प्रदेश के किसानों ने आन्दोलन आरम्भ किया । हिन्दू व मुस्लिम किसानों ने फसल के दो-तिहाई हिस्से की मांग की । यह आन्दोलन बंगाल के 15 जिलों में फैल गया । नवम्बर,1946 ई. से फरवरी, 1947 ई. तक किसानों ने पुलिस का डट कर मुकाबला किया । कई स्थानों पर पुलिस ने गोलियाँ भी

चलाई जिनमें 73 किसान मारे गए । सरकार ने सख्ती के साथ इस आन्दोलन को दबा दिया।

9. **सिक्ख कृषकों का आन्दोलन (1946 ई.)** लायलपुर के सिक्स किसानों ने लगान की कमी और कर्जा को निरस्त करने के लिये आन्दोलन किया । किसान सभा ने इसका नेतृत्व किया।

7.9 देशी राज्यों में कृषक आन्दोलन

बीसवीं सदी के प्रथम दशक से देशी राज्यों में भी कृषकों के अनेक आन्दोलन हुए। बीजोलिया आन्दोलन राजस्थान में मेवाड़ राज्य के बिजौलिया की जागीर में जनता से 84 प्रकार की लागतें वसूल की जाती थी । किसानों को पैदावार का लगभग आधा भाग लगान व अबवाब के रूप में अदा करना पड़ता था । 1897 ई. में उन्होंने अपना असंतोष प्रकट किया किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं पडा । 1903 ई. में किसानों ने खेतों में हल नहीं चलाए । इस पर जागीरदार ने लगान में कुछ कमी कर दी । 1906 ई. में बिजौलिया के नये जागीरदार ने महाराणा को तलवारबंदी के लिए देने वाली रकम प्रजा से वसूल की । इसका विरोध किसानों ने किया । 1913 ई. में फिर किसानों ने भूमि नहीं जोती तथा लगान अदा नहीं किया । जागीरदार ने उनके दो नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और अनेक किसानों को निर्वासित कर दिया । प्रथम महायुद्ध की अवधि में भी उसने किसानों से चंदा वसूल किया । अब किसानों ने बेगार करना बंद कर दिया और सत्याग्रह आरम्भ किया । इस समय विजय सिंह पथिक, जो एक क्रान्तिकारी थे, ने बिजौलिया आकर किसानों के आन्दोलन का नेतृत्व किया । पथिक की अपील पर लोकमान्य तिलक ने महाराणा को इस बारे में लिखा । इसके बाद कुछ समय तक शांति रही किन्तु किसानों को फिर अनेक लागतें व अबवाब देने को मजबूर किया गया । इसका विरोध करने पर माणिक्य लाल वर्मा और साधु सीताराम दास गिरफ्तार कर लिए गए । अनेक किसानों की फसले नष्ट कर दी गई । पथिक ने कानपुर से लौट कर महाराणा व भारत सरकार का ध्यान बिजौलिया की समस्याओं की ओर आकर्षित किया । 1919 ई. में बिन्दुलाल भट्टाचार्य की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया । लगान कम करने की आयोग की सिफारिश पर कोई निर्णय नही लिया गया । किसानों का आन्दोलन जारी रहा । समस्या की गम्भीरता को देखते हुए मदन मोहन मालवीय उदयपुर आकर महाराणा से मिले तथा गाँधीजी ने भी महादेव देसाई को मेवाड भेजा । लेकिन इन प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकला । 1921 ई. में जमना लाल बजाज उदयपुर आए । उनके प्रयत्नों से दोनों पक्षों में एक समझौता हुआ । महाराणा ने वचन दिया कि ऐसी भूमि, जो किसानों ने छोड दी है अथवा उनसे छीन ली गई है. किसानों को लौटा दी जायेगी । किन्तु जागीरदार ने महाराणा के द्वारा दिये गयें वचनों का पालन नहीं किया । अतएव आन्दोलन फिर से आरम्भ किया गया । अन्त में 1941 ई. में किसानों को उनकी भूमि लौटा दी गई ।

1. **बेंगू आन्दोलन (1921-23 ई.)** के निकट बेंगू में भी किसानों ने आन्दोलन किया । इनकी समस्याएं भी बिजौलिया के किसानों के समान थी । राजस्थान सेवा संघ के तत्वाधान में बनी किसान पंचायत ने आन्दोलन का संचालन किया । पथिक ने राम

नारायण चौधरी को वहां भेजा । उनके नेतृत्व में किसानों ने सत्याग्रह किया । किसानों का आन्दोलन दबाने की कोशिश की गई । दो वर्ष के संघर्ष के बाद वहां के जागीरदार को समझौता करना पड़ा । लेकिन इसे मेवाड़ के महाराणा ने नहीं माना तथा उसने एक अंग्रेज अधिकारी ट्रेंच को वहां भेजा । ट्रेंच ने एकपक्षीय निर्णय दिया । 1923 ई. में किसानों की एक सभा पर गोली चलाई गई जिसमें दो व्यक्ति मारे गये । 500 से अधिक किसान गिरफ्तार किए गए । इससे स्थिति और बिगड़ गई तथा वहां सेना भेजी गई । पथिक को गिरफ्तार करके सजा दी गई । इसके बाद आन्दोलन धीरे-धीरे समाप्त हो गया ।

2. **अलवर आन्दोलन (1925 ई.)** अलवर में किसानों का आन्दोलन 1925 ई. में आरम्भ हुआ । नीमूचाना गांव में किसानों की एक सभा पर पुलिस ने गोलियाँ चलाई जिससे सैकड़ों व्यक्ति मारे गये । इनमें स्त्री व बच्चे भी थे । अनेक गांव भी जला दिए गए । इस कांड की सर्वत्र निन्दा की गई । अन्त में दोनों पक्षों में समझौता हुआ ।
3. **बूंदी आन्दोलन (1926 ई.)** नयनू राम शर्मा के नेतृत्व में 1926 ई. में बूंदी में किसान आन्दोलन शुरू हुआ । वहां के किसानों की शिकायतें भी बिजौलिया व बेगू के समान थी । इस आन्दोलन में स्त्रियों ने भाग लिया । डाबी गांव में किसानों के सम्मेलन पर पुलिस ने गोली चलाई जिसमें नानक मील मारा गया । नयनू राम व अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया । इससे किसानों का उत्साह कम हो गया व आन्दोलन दबा दिया गया ।
4. **तेलंगाना का मोर्चा (1945-46 ई.)** हैदराबाद के तेलंगाना प्रदेश में सरकार किसानों से कम दामों पर अन्न वसूल करती थी । 1945 ई. में इसके विरूद्ध आन्दोलन आरम्भ हुआ । 1946 ई. में तेलंगाना की किसान समा के एक साम्यवादी कार्यकर्ता कमख्या को पुलिस ने मार दिया । किसानों के विरूद्ध जुलूस पर पुलिस व रजाकारों ने हमला किया । इसका जवाब किसानों ने पत्थरों से दिया । किसानों ने कई गांवों पर अधिकार किया । निजाम की सरकार ने किसानों की भूमि को अन्य किसानों में बांट दी ।1947 ई. में किसानों ने यह मांग की कि हैदराबाद को स्वतन्त्र भारत में मिलाया जाय ।
5. **पुन्नपा-वायालार आन्दोलन (1946 ई.)** 1948 ई. में त्रावनकोर के किसानों ने सामंतों के शोषण के विरूद्ध आवाज उठाई । रियासत ने भाषण तथा हडतालों पर रोक लगा दी। साम्यवादी दल के कार्यालयों पर पुलिस ने हमले किए व इस दल के कई नेताओं को गिरफ्तार कर लिया । 22 अक्टूबर, 1946 ई. को पुन्नपा में पुलिस की गोलियों से लगभग एक सौ प्रदर्शनकारी मारे गए । बायालार में भी पुलिस की गोली से कई लोग मारे गये । इस प्रकार यह आन्दोलन दबा दिया गया ।

7.10 कृषक आन्दोलनों का स्वरूप

1919 ई के पहले के किसान आन्दोलनों तथा उसके बाद के आन्दोलनों के स्वरूप में कुछ भिन्नताएं पाई जाती हैं । 1919 ई. के पहले के आन्दोलन की निम्नलिखित विशेषताएं थीं-

1. इस समय के आन्दोलनों के उद्देश्य सीमित थे । किसानों की अधिकांश मांगें स्थानीय जमींदारों, साहूकारों व सरकारी अधिकारियों के शोषण का अंत करने के सम्बन्ध में थी। उन्होने ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित उस आर्थिक ढांचे में परिवर्तन की मांग नहीं की जो उनके शोषण का मुख्य आधार थी ।
2. आम तौर पर ये आन्दोलन अपने क्षेत्रों तक ही सीमित थे ।
3. इस समय के आन्दोलनों में दीर्घकालीन एकता व संगठन की भावना का अभाव था ।
4. इस अवधि के किसान नेताओं ने किसी भी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक ब राजनैतिक कार्यक्रमों में भाग नहीं लिया था ।
5. इस समय के आन्दोलनों में हिसंक घटनायें भी हुई लेकिन ये अनियंत्रित नहीं थी । जमींदार, सरकारी अधिकारी, तथा बागानों के मालिक उनके प्रमुख लक्ष्य थे ।
6. यद्यपि 1875 ई. के बाद कृषक आन्दोलनों को सार्वजनिक संस्थाओं का समर्थन मिला किन्तु 1918 तक इस प्रकार का समर्थन व्यापक नही था ।
7. इस अवधि के कुछ आन्दोलनों में भाग लेने वाले किसान मुसलमान थे और जमींदार हिन्दू, जैसा कि बंगाल व मलाबार में था, किन्तु मलाबार को छोड कर, जहां मौलवियों ने मोपिल्ला कृषकों मे धार्मिक जोश भर दिया था, साम्प्रदायिकता की भावना देखने को नहीं मिलती ।
8. तारा चंद के अनुसार किसानों की समस्याओं की विशालता को देखते हुए इस अवधि के किसान आन्दोलन छोटे और छुटपुट थे । प्रथम महायुद्ध के बाद के किसान आंदोलनों में किसान संगठनों व राजनैतिक दलों ने सक्रिय माग लिया । विपन चंद के मत में उन्होंने किसानों के प्रतिरोध को साम्राज्यवादी नीतियों के विरोध का स्वरूप दिया ।

1919 ई. से 1947 ई. तक के कृषक आन्दोलन की विशेषताएं

1. कृषि व्यवास्था के दोषों के निराकरण की चेष्टा इस समय के आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य कृषि के ढाबे में आमूल परिवर्तन नहीं करना था वरन कृषि व्यवस्था के कुछ कष्टदायक पहलुओं का अंत करना था ।
2. किसान संघों व सभाओं का नेतृत्व किसान संधों ब सभाओं ने कृषकों के हित में सभाऐं, रैलियों प्रदर्शनी एवं सम्मेलनों का आयोजन किया ।
3. राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग इस समय के कृषक आन्दोलनों तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में अटूट रिश्ता था । वस्तुत: किसान आन्दोलन वहीं उभरे जहां राष्ट्रीय आन्दोलन पनप रहे थे ।
4. वामपंथियों का नेतृत्व 1942 ई. तक किसान आन्दोलन का नेतृत्व किसान सभा आदि संस्थाऐं करती रहीं लेकिन इसके बाद कुछ स्थानों में साम्यवादी तत्वों ने इसका नेतश्त किया ।
5. साम्राज्यवादी विरोधी आन्दोलन में भाग लेना विपन चंद के अनुसार बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में किसानों का प्रतिरोध साम्राज्यवादी प्रतिरोध में समाहित हो गया । फलस्वरूप

एक ऐसा वातावरण तैयार हुआ जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कृषि ढांचे में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक हो गया ।

7.11 सारांश (Summary)

प्राचीन काल से ही भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है । यहां की अधिकांश जनता गांवो में रहती थी, तथा कृषि व पशु-पालन द्वारा अपना जीवन निर्वाह करती थी । यद्यपि भूमि पर उनको वैयक्तिक स्वामित्व प्राप्त था किंतु वे गांव की पंचायत अथवा परिषद की अनुमति के बिना अपना खेत न तो बेच सकते थे और न ही गिरवी रख सकते थे । आम तौर पर शासक किसानों के हितों का ध्यान रखते थे । वे सिंचाई की व्यवस्था करते थे तथा अकालों व सूखों के समय उनकी मदद करते थे । गुप्त काल तक राज्य व किसानों के बीच मध्यस्थों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई थी । इन नये भूपतियो, जिनमें सैनिक व प्रशासनिक अधिकारी तथा राज्य से दान में मिली हुई भूमि के स्वामी भी थे, की भूमि पर कृषक मजदूर कार्य करते थे । सामंतवादी व्यवस्था में किसानों पर कुछ भार बढ़ा किंतु उनकी दशा संतोषजनक रही । मध्यकालीन युग में भारतीय किसानों का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक कठोर व संघर्षमय हो गया । अधिकांश मुस्लिम शासकों ने किसानों के हितों की चिन्ता नहीं की। अकालों व सूखों के समय उन्हें पर्याप्त सहायता पहुंचाने की अवस्था नहीं की । इस युग के अन्त में भारत के विभिन्न प्रदेशों में स्थानीय जलवायु के अनुसार अनेक प्रकार की फसलें जिनमें नकद फसलें भी थी, बोई जाने लगी । ब्रिटिश शासन की औपनिवेशिक नीतियों के कारण किसानों का शोषण किया गया । इसके फलस्वरूप किसानों के अनेक आन्दोलन हुए । 1919 से राजनैतिक दलों व किसान संगठनों ने इनसे सक्रिय भाग लिया। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में देशी राज्यों में भी किसानों में आन्दोलन हुए । अन्त में इस इकाई में 1772 से लेकर 1947 तक ब्रिटिश शासित प्रदेशों तथा देशी राज्यों में हुए किसान आन्दोलनों एवं उनके स्वरूप की विवेचना की गई है ।

7.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्राचीन व मध्यकालीन युग में भारत के किसान समाज की दशा का वर्णन कीजिये।
2. ब्रिटिश काल में कृषकों की अवनति के कारणों का विश्लेषण कीजिये ।
3. ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध हुए कृषक आन्दोलनों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये ।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये -
   (1) ब्रिटिश शासन के विरूद्ध किसान आन्दोलनों का स्वरूप
   (2) देशी राज्यों के कृषक आन्दोलन

7.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. Tara Chand -History of Freedom Movement in India (Vol.I-IV)
2. Bipan Chand -Struggle for Independence in India.
3. Mukherjee, Radha Kumud -Ancient India.
4. Tripathi, R.S.-History of Ancient India.

5. Ishwari Prasad-History of Medieval India.

इकाई - 8

राष्ट्रीय विरासत - ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

इकाई को रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 भारतीय मूल्य व परंपराएं
8.3 भारतीय संस्कृति की विशेषताएं
8.3.1 भारत की सारभूत अखंड एकता
8.4 अभिजात संस्कृति
8.5 लोक संस्कृति
8.6 जनजाति संस्कृति
8.7 राष्ट्रीय स्मारक
8.8 सारांश
8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
8.10 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

8.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का उद्देश्य आपको हमारे पूर्वजों द्वारा स्थापित की गई परंपराओं और जीवन के मूल्य जिनका पालन हम अभी भी करते हैं से परिचित कराना है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- विभिन्नता में निहित एकता के प्राचीनता व निरंतरता जैसी हमारी संस्कृति की अन्य विशेषताओं से आपको अवगत हो सकेंगे;
- ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में अभिजात संस्कृति का विश्लेषण कर सकेंगे;
- लोक संस्कृति की विशेषताओं का भारत के विभिन्न भागों में रहने वाली जनजातियों के सामाजिक संगठनरहन-सहन, आर्थिक व्यवस्था आदि से परिचित हो जाएंगे. एवं
- राष्ट्रीय विरासत में स्मारकों के महत्व एवं ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार उनका उल्लेख करने के योग्य हो जाएंगे ।

8.1 प्रस्तावना (Introduction)

भारत की संस्कृति एक अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है । इस देश की संस्कृति की अनेक परंपराएं हैं तथा उसके अपने मूल्य हैं । एक भारतीय का जीवन धर्म प्रधान होता है, तथा वह आध्यात्मिकता को महत्व देता है । उसमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना प्राप्त है। यहां की संस्कृति अन्य धर्मो व संस्कृतियों के अच्छे गुणों को समाहित करने की क्षमता रखती है । भारतीय संस्कृति की समन्वय शक्ति के कारण मुस्लिमों से पहले विदेशों से आई अनेक अन्य

जातियों ने यहां की संस्कृति को ग्रहण किया । विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा विश्व बंधुता की भावना भी हमारी संस्कृति की मूल्यवान परंपराएँ हैं । वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रणाली, पितृसतालक अवस्था, शिष्टाचार के नियम तथा नारी को सम्मान प्रदान करना हमें विरासत में प्राप्त हुए हैं ।

विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत में सारभूत एकता का विद्यमान होना भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है । हमारी संस्कृति की प्राचीनता व निरन्तरता पर हमें गर्व है । ऐतिहासिक पीरपेहम में अभिजात एवं लोक संस्कृति के बदलते हुए रूपों का भी इस इकाई में अध्ययन किया गया है । इसके साथ जनजातियों की संस्कृति का भी अध्ययन किया गया है । राष्ट्रीय स्मारकों में मुख्य रूप से पुरातत्व विभाग द्वारा की गई खुदाईयॉ गुफाएं, स्तम्भ, मंदिर ब किलों का उल्लेख कालक्रम के अनुसार किया गया है ।

8.2 भारतीय मूल्य एवं परम्पराएं

1. **धर्म की प्रधानता** भारतीय जीवन में धर्म का बडा महत्व है । भारतीय संस्कृति के अनुसार धर्म का वास्तविक तात्पर्य 'कर्त्तव्य" से हैं । एक मावद अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कर्त्तव्य करता हुआ अपने इहलौकिक व पारिलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में सुख-शांति की कल्पना करता है । वेदों, उपनिषद व अन्य धार्मिक ग्रन्थों में धर्म की विस्तृत व्याख्या की गई है । इनमें कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों में विश्वास प्रकट किया गया है । कर्म सिद्धान्त के कारण भारतीयों ने संयम. त्याग, प्रेम, अहिंसा, दान, दया और सहिष्णुता को काफी महत्व दिया है । भक्ति मार्ग भी हिंदुओं के धर्म का एक प्रमुख अंग है । इनके अतिरिक्त भी धार्मिक आचरण के अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं । जिन्हें हिंदू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय अपनी आस्थाओं के अनुसार पालन करते हैं ।
2. **आध्यात्मिकता** प्राचीन काल से भारतीय जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आध्यात्मिकता की भावना व्याप्त रही है । यही कारण है कि हमारे देशवासियों ने इहलौकिक सुख की अपेक्षा पारलौकिक सुख को अधिक महत्व दिया है । आत्मा तथा परमात्मा में उनका अटूट विश्वास है । इस प्रकार जहां पश्चिमी संस्कृति भौतिकवादी है, वहां भारतीय संस्कृति आध्यातिम्कवादी है ।
3. **धार्मिक सहिष्णुता** की भावना हमारे देश में हिंदूओं के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं । यद्यपि इन विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्यों में कभी-कभी टकराव की नौबत आई किंतु आम तौर पर उन में सद्भावना बनी रही । वे एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार करते रहे । उदाहरणार्थ सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म का विदेशों तथा भारत में प्रचार करने के लिए अथक प्रयास किए किंतु उसने अपनी प्रजा पर बोद्ध धर्म थोपने का प्रयास नहीं किया । वैष्णव मत के अनुयायी होते हुए भी गुप्त शासकों ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया। यद्यपि कुछ मुस्लिम शासकों ने धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन किया किंतु गांवों में हिंदू व मुसलमान ने व सहयोग के साथ जीवन व्यतीत करते रहे । ब्रिटिश शासन में हिंदूओं व मुसलमानों के बीच बढ़ता हुआ वैमनस्य अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो ' नीति का परिणाम था ।

4. **विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता** धार्मिक सहिष्णुता के साथ-साथ विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हमारी संस्कृति की एक प्रमुख देन है । इसके कारण जितना अधिक धार्मिक चिन्तन हमारे देश में हुआ है उतना किसी अन्य देश में नही हुआ ।
5. **समन्वय शक्ति** आर्यों के समय से ही हमारे देशवासियों ने अपनी समन्वय शक्ति का परिचय दिया है । आयी ने अनायों को अपनी सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था में इस प्रकार समा लिया कि कालान्तर में दोनों में कोई अन्तर नहीं रहा । यद्यपि शक हुआ, कुषाण आदि विदेशी आक्रमणकारियों को राजनीतिक विजय प्राप्त हुई किंतु वे सांस्कृतिक विजय प्राप्त करने में असफल रहे । भारतीयों ने उनको अपने समाज का एक अंग बना लिया तथा उनका कोई पृथक अस्तित्व नही रहा । यह सत्य है कि इस्लाम धर्म की विशेषताओं के कारण भारतीय समाज उसके अनुयायियों को आत्मसात नहीं कर सका किंतु भारत में आकर इस्लाम का स्वरूप काफी बदल गया । डॉडवेल का यह कथन उचित है कि भारतीय संस्कृति एक महासमुद्र के समान है जिसमें अनेक नदियां आकर विलीन होती रही है ।
6. **ग्रहणशीलता** विश्व की अन्य संस्कृतियों से अच्छी बातों को ग्रहण करने की परम्परा भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है । प्राचीन काल में भारतीयों ने रोम व यूनान की सभ्यता स ज्योतिष के सिद्धांत ग्रहण किये । मुस्लिम सभ्यता के कुछ अच्छे तत्वों को उन्होने अपनाया । आधुनिक काल में भी यह प्रक्रिया जारी रही ।
7. **विंश्वबधुता को भावना** विश्वबधुता का सिद्धांत भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख आधार है। प्राचीन काल से ही भारतीय 'वसुधेव कुटंबकम' ' के सिद्धान्त का पालन करते आये हैं ।
8. **वर्ण व्यवस्था** वैदिक युग में कार्य विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर समाज को चार वर्णो - ब्राहमण. क्षत्रिय. वैश्य व शुद्र में विभाजित किया गया था । यह वर्ण व्यवस्था आगे चल कर जाति व्यवस्था में बदल गई । कालांतर में इस व्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न हो गए किंतु यह प्रथा अब भी प्रचलित है ।
9. **संयुक्त परिवार प्रणाली व पितृसत्तात्मक व्यवस्था** ये दोनों व्यवस्थाएं भी आर्यो की देन है। संयुक्त परिवार में रहने से सभी सदस्यों को किसी न किसी रूप में लाभ मिलता है ।
10. **नारी का सम्मान** ऋग्वेदिक कालीन समाज में नारी को पूर्ण सम्मान प्राप्त था । यद्यपि इसके बाद नारी के प्रति सम्मान की भावना तथा उनके अधिकारों में कमी आई किंतु आजकल भी एक नारी की मान मर्यादा बनाये रखना प्रत्येक भारतवासी के सामने एक आदर्श बना हुआ है ।
11. **शिष्टाचार के नियम** प्राचीन काल से ही भारतवासियों में गुरूजनों, वृद्ध व्यक्तियों, अतिथियों, अध्यापकों आदि के प्रति आदर प्रदर्शित करने की भावना पाई जाती है । इस सम्बंध में बनाये गये नियमों का पालन आज तक किया जाता है ।
12. **आश्रम व्यवस्था** हमारे ऋषियों व मुनियों ने एक मनुष्य की औसतन आयु 100 वर्ष की मान कर उसके जीवन को ब्रहमचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम. वानप्रस्थान आश्रम तथा सन्यास आश्रम में विभाजित किया था । लेकिन अब इस परंपरा का निर्वाह लगभग नहीं के बराबर किया जा रहा है

8.3 भारतीय संस्कृति की विशेषताएं

1. **प्राचीनता** भारतीय संस्कृति को विश्व की एक प्राचीन सभ्यता माना जाता है । इस देश की संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है!
2. **निरंतरता** भारत व चीन ही ऐसे दो देश हैं जहां की संस्कृति में निरंतरता के चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं । यद्‌यपि अनेक विदेशी जातियों ने राजनैतिक क्षेत्र में विजय प्राप्त की किंतु वे यहां की संस्कृति को नष्ट नही कर सके । इसी कारण यह कहा जाता है कि जहां रोम, यूनान और मिस्त्र की प्राचीन संस्कृतियां लुप्त हो चुकी हैं वहां भारतीय संस्कृति की धारा पिछले पांच हजार वर्षो से अबाध गति से बह रही है ।

8.3.1 भारत कीं सारभूत अखंड एकता

विभिन्नताओं में निहित सारभूत एकता इस देश की प्रमुख विशेषता है । भारत विभिन्नताओं का देश हैं । विशाल आकार होने के कारण इसके विभिन्न प्रदेशों के जलवायु,उपज,रहन-सहन, आकृति, भाषा आदि में विषमताएं दृष्टिगोचर होती है । भारतीयों के सामाजिक जीवन, आर्थिक स्तर, धार्मिक विचार और राजनीतिक क्षेत्र में भी विभिन्नताओं की झलक देखने को मिलती हैं किन्तु इस सम्बंध में गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत की संस्कृति में एक सारभूत अखंड एकता की एक ऐसी विशेषता है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती । इसके पहले कि हम इस मौलिक एकता का दिग्दर्शन करें हमारे देश की विभिन्नताओं पर एक दृष्टि डालना उचित होगा ।

जलवायु व भूमि की भिन्नता भारतीय उपमहाद्‌वीप में सभी प्रकार के जलवायु पाये जाते हैं । एक और हिमालय के प्रदेशों में आर्कटिक सागर के तटीय जलवायु जैसा शीत पाया जाता हैं तो दूसरी ओर मरूभूमि में भयंकर गर्मी पडती है । जबकि आसाम के कुछ प्रदेशों में एक साल में लगभग 460 इन्द्र वर्षा होती है, लेकिन राजस्थान के कुछ प्रदेशों में नाम मात्र की वर्षा होती है। हिमालय व उसकी तलहटी के प्रदेश पहाडी हैं, गंगा व यमुना के प्रदेश मैदानी है, सिंध व राजस्थान मरूस्थल हैं तथा दक्षिण में पठार हैं । विन्ध्याचल, सतपुड़ा, पूर्वी घाट, पश्चिमी घाट और अरावली के प्रदेशों में पहाडियां है । देश का कुछ भाग समुद्र तट पर स्थित हैं ।

वनस्पति की भिन्नता भूमि और जलवायु को इन विभिन्नताओं के कारण अपने देश में सभी प्रकार के अनाज, फल व सब्जियां उत्पन्न होती हैं । फलस्वरूप विविध क्षेत्रों के निवासियों के खान-पान में अन्तर होना स्वाभाविक है । उदाहरणार्थ पंजाब का निवासी गेहूं और दक्षिण का निवासी चावल खाता है ।

पशुओं व पक्षियों की विविधता जलवायु की विभिन्नताओं के कारण भारत में जितने अधिक प्रकार के पशु व पक्षी पाये जाते हैं उतने शायद ही किसी अन्य देश में पाये जाते हों ।

प्रजातिय विभिन्नता इस देश में अनेक प्रजातियों की सन्ताने रहती है । हिमालय के कुछ प्रदेशों में मंगोलों, शेष भारत के अधिकांश प्रदेशों में आर्यों और दक्षिण में द्रविड़ के वंशज निवास करते हैं । हबशियों, हुर्णो, शकों और साथियों की सन्तानें भी यहां रहती हैं ।

आकृति की विभिन्नता विभिन्न प्रकार के जलवायु में रहने तथा भिन्न-भिन्न नस्लों के वंशज होने के कारण इस देश के निवासियों की आकृतियों में विभिन्नता पाई जाती है । यहां गोरे व काले रंग के मनुष्य हैं । तिबत व पूर्वी सीमा के पास के प्रदेशों के निवासियों की चमडी पीले रंग की है । कोई मनुष्य लम्बा है, कोई साधारण कद का और कोई ठिंगना है । चेहरे के आकारों में भी भिन्नता पाई जाती है ।

धार्मिक भिन्नता भारतवर्ष में हिन्दू बौद्ध, जैन, सिक्ख, पारसी, इस्लाम और इसाई धर्मो को मानने वाले व्यक्ति काफी संख्या में रहते हैं । इनमें से कुछ धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हैं ।

सामाजिक जीवन में भिन्नता इस देश के विशाल जन समूह के सामाजिक जीवन में भी हमें भिन्नता दिखाई देती है । खान-पान, रहन-सहन. देश-भूषा और रीति-रिवाजों में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी अपनी परम्पराओं का पालन करते हैं ।

यह देश सामाजिक विकास की प्रत्येक गतिविधि का प्रतिनिधित्व करता है । लूनिया के अनुसार प्रागैतिहासिक काल के आदिवासियों से लेकर, जो आज भी आखेट तथा जंगली उपज संग्रह कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, अर्वाचीन वैज्ञानिक शिक्षा से परिपूर्ण सभ्रान्त नागरिक भी यहां विद्यमान हैं ।

आर्थिक विभिन्नता भारत उन देशों में एक प्रमुख देश है जहां विभिन्न आर्थिक स्तर के लोग रहते हैं । टाटा व बिरला जैसे धनी व्यक्तियों और कठिनाई से दिन में अपना एक बार पेट भरने वाले वक्तियों के बीच के सभी आर्थिक स्तरों के मनुष्य इस देश में निवास करते हैं ।

भाषा की विभिन्नता भारतीय संविधान के निर्माण के समय हिन्दी को राष्ट्र भाषा और पन्द्रह क्षेत्रीय भाषाओं को सरकार ने मान्यता प्रदान की था । इन क्षेत्रीय भाषाओं में भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अन्तर है । देश के विभिन्न प्रांतों और प्रांतों के विभिन्न प्रदेशों में लोग विभिन्न भाषाऐं या बोलियां बोलते हैं ।

सांस्कृतिक विभिन्नता इस देश के विभिन्न भागों की संस्कृति में कुछ अन्तर पाया जाता है । रूढ़ियों, आस्थाओं, त्यौहारों तथा आचार विचार में भी विविधता द्दष्टिगोचर होती है ।

राजनैतिक एकता का अभाव वस्तुत: उन्नीसवी शताब्दी तक भारत ने कभी भी समग्र रूप से राजनैतिक एक्य का आनन्द नहीं भोगा । कुछ प्रतापी सम्राटों के शासन काल को छोड़ कर भारत के अधिकांश भागों में स्थानीय शासक ही राज करते रहे । विकेन्द्रीकरण की भावनाओं ने देश में लोकप्रिय राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं होने दिया ।

भारत में विभिन्नताओं का अध्ययन करने के पश्चात हम एकता के उन तत्वों का अध्ययन करें जिनके आधार में हम विन्सेंट स्मिथ के इस कथन को सही बता सकते हैं कि, 'भारत में वंश, वर्ण, भाषा, वेष-भूषा, व रीति-रिवाज सम्बन्धी अनगिनत विभिन्नताओं में भी एक अखंड सारभूत एकता हैं ।" हर्बर्ट रिजले ने भी इस मौलिक एकता को स्वीकार किया है । इन अंग्रेज विद्वानों के इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि आधुनिक घटनाओं के प्रतिफल से इस एकता का विकास हुआ है । वस्तुत: हमारे ऋषियों, धर्म प्रचारकों तथा दिग्विजयी सम्राटों ने प्राचीन काल से इस एकता का अनुभव किया है ।

भौगोलिक एकता आरम्भ से ही भारत को एक भौगोलिक इकाई माना गया है । विष्णु पुराण के अनुसार 'समुद्र के उत्तर में. हिमालय के दक्षिण में जो (वेश) है. बह भारत नाम का खण्ड कहलाता है और जहां के लोग भारत की सन्तान कहलाते हैं ।' ' विदेशियों ने भी इस भूखण्ड को इण्डिया' नाम दिया । हमारे देश के चार पवित्र तीर्थस्थल-बद्रीनाथ, द्वारिका पुरी और रामेश्वरम-चारो दिशाओं मे स्थित है । हिन्दुओं ने भारत की सभी नदियों को पवित्र माना है । वास्तव में भारत को एक सम्पूर्ण देश बनाने का काम भूगोल ने किया है ।

प्रजातीय एकता भारत में रहने वाली प्रजातियां आपस में इतनी घुल मिल गई हैं कि आज शुद्ध रूप से किसी एक प्रजातीय की सन्तान यहां नहीं मिलती ।

आकृति की एकता यद्यपि हमारे देश के निवासियों की शारीरिक बनावट में विभिन्नताएं पाई जाती हैं किन्तु फिर भी उसमें एक ऐसी एकरूपता दृष्टिगोचर होती है जिसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता । जदुनाथ सरकार के अनुसार सदियों से एक ही देश में रहते हुए हमारी आकृति में कुछ ऐसी विशेषताऐं समाहित हो गई हैं कि हम भारतीय लगते हैं । जब हमारा एक देशवासी बाहर जाता है तो सहज ही में वहां का निवासी उसे भारतीय कह कर पुकार उठता है ।

धार्मिक एकता लूनिया के मत में भारत के विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय भारत के मूल प्राचीन आध्यात्मिक तत्वों और सिद्धांतों से ही निकले हैं । वैसे भी सभी धर्मो के मूल सिद्धान्तों में काफी समानता पाई जाती हैं । हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी एकेश्वरवाद, कर्म, पुनर्जन्म, आत्मा का आवागमन, मोक्ष आदि आध्यात्मिक विचारों को मानते हैं । ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम और कृष्ण की पूजा करते हैं । धार्मिक संस्कारों 'और कर्मकांडों में भी समानता पाई जाती है । समस्त देश में फैले हुए तीर्थस्थल प्रत्येक हिन्दू को पूजनीय हैं ।

सामाजिक एकता समूचे देश के सामाजिक जीवन का मौलिक आधार समान है । वर्ण व्यवस्था, सरकार और अनेक अनुष्ठान आदि समान रूप से प्रचलित हैं । उपनयन संस्कार, विवाह पद्धति, मृत्यु के समय की जाने वाली क्रियाओं आदि का सभी जातियों में लगभग समान रूप से पालन किया जाता है । यद्यपि त्योहारों को मनाने की विधि में थोडा अन्तर पाया जाता है किन्तु दीपावली, दशहरा और होली आदि त्योहार देश के अधिकांश भागों में उत्साह के साथ मनाये जाते हैं । प्राचीन काल से लेकर आज तक हमारे देश के पुरूषों और स्त्रियों के पहनावें और आभूषण लगभग समान हैं ।

भाषा की एकता लूनिया के अनुसार प्राचीन युग में समस्त देश के विद्वत् समाज को एक सूत्र में पिरोने का कार्य प्रथम संस्कृत और फिर प्राकृत ने किया । बाद में अंग्रेजी और आज हिन्दी यह कार्य कर रही है । उत्तरी भारत की सभी भाषाओं का विकास अपभ्रंश से, जो कि संस्कृत का बदला हुआ रूप था, हुआ । दक्षिण की सभी भाषाओं पर भी संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव है। अतएव संस्कृत को देश की अनेक भाषाओं का मूल स्रोत माना जा सकता है ।

सांस्कृतिक एकता हुमायू कबीर के मत में 'भारतीय संस्कृति की कहानी, एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मतों के पूर्ण सहयोग की उन्नति की कहानी है ।" यदि सांस्कृतिक क्षेत्र में यह एकता नष्ट हो जाती तो भारत की संस्कृति भी उसी प्रकार से

मृतप्राय: हो जाती जिस प्रकार से विश्व की अनेक प्राचीन संस्कृतियां नष्ट हो गई । इस एकता की झलक हमें अपने रीति-रिवाजों, उत्सवों, जीवन की प्रणालियों, धार्मिक. विचारों. सामाजिक प्रथाओं और कला के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है ।

राजनैतिक एकता राजनैतिक दृष्टि से भारत को सर्वदा एक समझे जाने पर भी ब्रिटिश शासन के पहले हम राजनैतिक में एकता प्राप्त नहीं कर सके । इसके बावजूद भी प्राचीन काल से ही चक्रवर्ती सम्राट बनने का आदर्श भारतीय राजाओं के सम्मुख रहा है । अश्वमेघ यज्ञ और राज सूर्य यज्ञ करने की महत्वकांक्षा सभी शासकों के मन में सदैव रही है । अशोक, समुद्रगुप्त व अन्य राजाओं ने भारत के अधिकांश भागों को जीत कर अपना आधिपत्य. स्थापित किया । मध्य युग में अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक, अकबर, औरंगजेब और मराठों ने समस्त भारत को राजनैतिक दृष्टि से एक करने का प्रयास किया । अन्त में अंग्रेज इस सम को प्राप्त करने में सफल हुए । उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत के प्रतापी राजाओं का आदर्श देश को राजनैतिक एकता प्रदान करना था ।

यह पहले ही बताया गया है कि ऋषियों ने प्राचीन काल से ही भारत की मौलिक एकता का अनुभव करके देशवासियों में एकता की भावना जागृत करने का प्रयास किया । हमारे धार्मिक ग्रन्थों में भी इस तथ्य पर जोर दिया गया । बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य आदि धर्म प्रचारकी ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार सारे देश में किया । प्राचीन विश्वविद्यालयों तथा तीर्थ स्थानों ने भी भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाये रखने में अपना योगदान दिया । चक्रवर्ती सम्राटों ने भी समय-समय पर देश के विशाल भागों को अपने अधीन कर एकता की भावना बढ़ाई । प्राचीन व आधुनिक युग में समस्त भारत की ऐतिहासिक स्मृतियों का समान होना इस बात का प्रमाण है कि हमारे देश में आन्तरिक एकता की भावना आरम्भ से विद्यमान थी । यद्यपि 1947 में देश का विभाजन होने से इस उपमहाद्वीप की राजनैतिक एकता समाप्त हो गई, किन्तु स्वतन्त्र भारत में देशी राज्यों के विलीनीकरण, समूचे राष्ट्र के लिए एक संविधान तथा शासन व्यवस्था और समान नागरिकता ने मौलिक एकता की भावना को बल प्रदान किया है । पाकिस्तान एवं चीन के साथ युद्ध के समय पर समस्त देशवासियों ने अपने भेद-भावों को मूल कर इस एकता का प्रमाण प्रस्तुत किया है ।

8.4 अभिजात संस्कृति

"अभिजात' ' शब्द की व्याख्या करते हुए बोटोमोर ने लिखा है कि वर्तमान काल में ऐसे समूह, जो कि समाज में किसी कारणवश उच्च स्तर के माने जाते हैं, अभिजात (Elites) कहलाते हैं । यदि एक व्यक्ति राजनैतिक. आर्थिक, सामाजिक तथा किसी अन्य क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त कर ले तो वह अभिजात वर्ग का सदस्य बन जाता है ।

ऋग्वैदिक काल के आरंभ में अभिजात वर्ग का उदय नहीं हुआ था । किंतु शनै: शनै: राजतंत्र के उदय ब विकास के साथ राजा, उसके निकट सम्बन्धी तथा उन प्रशासनिक व सैनिक अधिकारियों का एक समूह बन गया तथा उन्हें अभिजात समझा जाने लगा । उत्तर वैदिक काल में ब्राहमण व क्षत्रिय भी स्वंय को अन्य जातियों से उच्च मानने लगे । कुछ समय बाद में अभिजात वर्ग में धनी व्यापारी व सामंत भी सम्मिलित हो गये ।

प्राचीन काल के अभिजात वर्ग की संस्कृति अपनी कुछ विशेषताएं लिए हुए थी । राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता का उपयोग करने वाले वर्ग ने हमारे देश में जनपदों के साथ साथ राजतंत्र का भी विकास किया । कालान्तर में जनपदों की संख्या सीमित हो गई तथा राजतांत्रिक अवस्था की प्रधानता हो गई । किंतु इस काल के राजा अपनी प्रजा के हितों का ध्यान रखते थे। वे धर्म व संस्कृति के रक्षक थे । उनमें से अनेक ने कला व साहित्य को प्रोत्साहन दिया । यद्यपि समय के साथ-साथ सामाजिक क्षेत्र में विषमताएं बड़ी किंतु फिर भी उस समय के समाज में एक प्रकार की एकता विद्यमान थी । इस युग की संस्कृति की एक अन्य विशेषता यह है कि आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत सन्यास लेने वाले व्यक्तियों तथा अन्य वि विद्वानों ने भारतीय संस्कृति का एक आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया । उनके द्वारा भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के मूल विचारों पर उस काल में रचित उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । जैन धर्म, बौद्ध धर्म व अन्य सम्प्रदायों के सिद्धांतों ने भी भारतीय संस्कृति पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है । यहां के धनी व्यपारियों ने भी अपने प्रदेशों तथा आस-पास के व्यापारियों ने भारत की संस्कृति का प्रसार किया ।

यद्यपि भारत के मुस्लिम शासकों ने स्वयं को अपना एक पृथक अस्तित्व बनाये रखा किंतु उन्होनें हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वय की प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया । अनेक मुस्लिम शासकों तथा अधिकारियों ने हिंदू स्त्रियों से विवाह किये तथा इन नारियों के माध्यम से हिंदू मुस्लिम समन्वय की प्रक्रिया में सहायता मिली । इसके फलस्वरूप कला के क्षेत्र में एक समन्वित कला का विकास हुआ । मुस्लिम अभिजात वर्ग के अनेक सदस्यों ने अपने महलों में दास-दासियां रखने की प्रथा को बडे पैमाने पर अपनाया । उनके सम्पर्क में आकर कुछ हिंदू राजा व सामंत भी विलासी जीवन व्यतीत करने लगे ।

ब्रिटिश काल में भारत में अभिजात वर्ग .की संरचना में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए । ए.आर. देसाई के अनुसार अनेक कारणों से इस काल में अभिजात वर्ग में कुछ अन्य वर्ग भी सम्मिलित हुए जिनका विवरण इस प्रकार है ।

(अ) कृषि क्षेत्र

1. नव निर्मित जमींदार वर्ग
2. अन्यत्रवासी भू-वासी
3. जमींदार और अन्यत्रवासी भू-स्वामियों के मातहत पट्टेदार वर्ग
4. व्यापारियों का नया वर्ग
5. सूदखोर महाजनों का नया वर्ग

(ब) नगर क्षेत्र

1. वाणिज्यिक वित्तीय पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का वर्ग
2. देशी राज्यों के राजा, नवाब व सामंत ।

उपर्युक्त सामाजिक वर्गो को अभिजात वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है ।

सामान्य जनता में गांवों में काश्तकार, खेतीहर मजदूर तथा शहरों में छोटे व्यापारी व दुकानदार तथा साधारण पदों पर काम करने वाले कर्मचारी थे ।

इस काल का नवीन अभिजात वर्ग ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामीभक्त था । अधिकांश जमींदार अपने क्षेत्रों में न रह कर शहरों में रहते थे । उनके पट्टेदार व एजेंट किसानों का शोषण करते थे । धनी व्यापारी, सूदखोर महाजन. धनी व्यापारी. पूंजीपति, उद्योगपतियों का जीवन सुखमय था । अभिजात वर्ग के कुछ सदस्य शिक्षा ग्रहण करने के लिए विदेश जाने लगे । इसके फलस्वरूप भारत का सम्पर्क विदेशों के साथ फिर स्थापित हुआ । इस समय में धार्मिक व सामाजिक सुधार आन्दोलन भी हुए । मध्यम वर्ग के साथ अभिजात वर्ग के अनेक सदस्यों ने राजनैतिक आन्दोलनों में मी भाग लिया ।

8.5 लोक संस्कृ

भारत की अधिकांश जनता ग्रामों में रहती है । अतएव भारत की लोक संस्कृति को जन्म व उद्भव गांवों में ही हुआ । हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था की विशेषता बताते हुए एस.सी.दुबे ने लिखा है कि जजमानी व्यावस्था के अन्तर्गत प्राचीन काल से ही नाई, चमार. स्वर्णकार, लुहार, बढ़ई आदि उद्यमी श्रमिकों ने समाज में अपना स्थान बना लिया था । उस समय में एक ग्राम आत्मनिर्भर था । पंचायतों के द्वारा ग्राम मे सहयोग की भावना को बनाये रखा जाता था । अत: उस समय की लोक संस्कृति की अन्तरात्मा में शांति व सहयोग की भावना व्याप्त थी । अभिजात संस्कृति के साथ लोक संस्कृति इस काल में शहरों में रहने वाले कारीगरों व कलाकारों ने भी अपने अपने क्षेत्र में लोक संस्कृति का विकास किया । मुस्लिम काल में यह परंपरा जारी रही । मुस्लिम शासकों ने ग्रामों की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने की चेष्टा नहीं की । यद्यपि कुछ मुसलमान शासकों ने धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन किया किंतु गांवों में हिंदू व मुसलमानों में वैमनस्य व कटुता की भावना व्याप्त थी । इस युग में वे एक दूसरे के त्याँहारों तथा उत्सवों में मिल-जुल कर भाग लेते थे

ब्रिटिश काल में लोक संस्कृति में गिरावट आई । सामान्य काश्तकारों, खेतिहर मजदूरों, काँफी, चाय आदि के बागानों में कार्य करने वाले श्रमिकों; खनिज उत्खनन तथा औद्योगिक इकाईयों में काम करने वाले मजदूरों की दशा शोचनीय होती चली गई । नवोदित अभिजात वर्ग के कुछ सदस्यों ने उनका शोषण किया । अत: लोक संस्कृति को आघात पहुंचा ।

8.6 जनजाति संस्कृति

आदिवासी शब्द का प्रयोग भारत की आदिमजातियों के लिए ही किया जाता है परन्तु किसी भी प्रकार उनका अपमान करने की भावना से नही बल्कि यह संकेत करने के लिए कि वे इस देश के वर्तमान निवासियों में सबसे प्राचीन हैं । सभी जातियों की न तो संस्कृति एक है और न ही ये एक भाषा बोलती है और न इनकी एक ही मूल जाति है । इन सभी बातों में इनमें पर्याप्त अन्तर पाया जाता है ।

मोटे रूप से इनके क्षेत्रों के आधार पर हम इन्हें तीन वर्गों में बांट सकता हूँ । प्रथम वर्ग की जातियां उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी पर्वत-घाटियों और भारत के पूर्वी. सीमान्त प्रदेशों में रहती है । दूसरे वर्ग की जातियां मध्यवर्ती भारत की उन प्राचीन पहाडियों और पठारों में रहती हैं जो दक्षिण भारत को सिन्धु गंगा के मैदान से पृथक करते हैं । तीसरे वर्ग की जातियां वे है जो भारत के सुदूरवर्ती दक्षिण-पश्चिमी भागों की पहाड़ियों और पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों के

किनारों पर रहती हैं । यद्‌यपि इन तीनों वर्गों की जातियों में काफी हद तक समान तब विद्‌यमान हैं यद्‌पि भाषा, संस्कृति और शारीरिक विशिष्टताओं के कारण ये अलग-अलग पहचानी जा सकती है । इन आदिम जातियों का सांस्कृतिक तथा प्रादेशिक विभाजन आकस्मिक नहीं है बल्कि यह उनके इस देश में विभिन्न कालों में आने, उनकी प्रकृति तथा उनके मूल निवास स्थानों के कारण है ।

यदि हम उपर्युक्त तीनों वर्गो में से अन्तिम वर्ग की जातियों को अर्थात 16^0 अक्षांश रेखा से नीचे बसने वाली दक्षिण भारतीय जातियों को लें तो पता चलता है कि वे वायनाड से कुमारी अन्तरीप तक फैले हुए पश्चिमी घाटों के सुदूर दक्षिणी भाग में मुख्य रूप से बसी हुई है। इन जातियों का इन प्रदेशों में बसना, तथा संगम कालीन प्राचीनतम तमिल साहित्य के अभिलेख दोनों ही इस बात के प्रमाण हैं कि ये भारत में रहने वाली वर्तमान जातियों में सबसे पुरानी जातियां हैं जो देश में अधिक समुन्नत जातियों के अनधिकार प्रदेश के कारण अपने वर्तमान क्षेत्रों में जाने के लिए विवश हो गई थी क्योकि यहां उन्हें नित्य-प्रति बढ़ते हुए दबाव के विरूद्ध आश्रय और सुरक्षा मिल सकती थी ।

चेंचू जाति का वास उत्तर-पूर्व से लेकर कृष्णा नदी के पार नल्लइमल्लइ पहाडियों में तथा हैदराबाद राज्य में है । पश्चिमी घाट के किनारे-किनारे दक्षिण कर्नाटक की कोरगा से लेकर कुर्ग की पहाड़ियों की निचली ढलानों पर रहने वाली युरूव, वायनाड की ईरूल, पणियन और कुकम्ब जातियों के अलावा कोचीन तथा तिरुवांकुर की पहाडियों से लेकर कुमारी अन्तरीप तक और निर्जन जंगली में काडर, कणिक्कर और मलपन्तरम जैसी भारत की सबसे प्राचीन आदिम जातियां रहती हैं ' जिनमें अभी तक उनकी बहुत सी प्राचीन परम्पराएं प्रचलित है ।

नीलगिरी पहाड़ियों में रहने बाली टोडा, बड़गा और कोटा जातियों को छोड़ कर जिनका एक अलग आर्थिक अस्तित्व है, इन शेष आदिवासी यो के जीवन का मूल आधार आखेट और खाद्‌य पदार्थो को इकट्ठा करना ही है क्योंकि इनमें अभी तक एक सुव्यवस्थित सामुदायिक जीवन का विकास नहीं हो पाया है और ये भोजन की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमते रहते हैं । खोदने की लकडी और नुकीली कील जैसे सादे औजारों की सहायता से ये खाने योग्य कन्द-मूल, मधु आदि का संग्रह करते और चिड़िया और छोटे जानवर आदि का आखेट करते है क्योंकि उनके जीवन के मुख्य आधार ये वस्तुएं ही हैं । घर्षण अथवा बरमें से आग उत्पन्न की जाती थी और अभी कुछ ही दिन पूर्व तक वेश-भूषा के नाम पर ये केवल छल अथक पत्तों का बना हुआ लबादा पहना करते थे ।

उनका सामाजिक ढांचा एक दोहरे संगठन पर आधारित है । मुख्य अधिकार मुखियों के हाथ में रहते हैं जो झगडों का फैसला करते हैं और आखेट से सम्बन्धित संस्कारों को पूरा करते हैं । ये मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के अनुयायी हैं और इनमें उत्तराधिकार का प्रश्न "मरुमक्क्थ्यम' कानून के अनुसार तय होता था । काडर जैसी कुछ जातियों में सौन्दर्य- वर्धन के लिए दांतो को रेतने और शरीर को गुदवाने की प्रथा प्रचलित है । अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है कि इनकी मूल भाषा अथवा भाषाएं क्या थी । अब ये जिन प्रदेशों में रहते हैं अथवा

जिन लोगों के साथ सम्पर्क में आते हैं उनके अनुसार ये मलयाली, तमिल, तेलुगु कन्नड जैसी प्राचीन द्रविड भाषाओं के अपभ्रंश रूप बोलते हैं ।

शरीर से वह नाटे और मध्यम कद के होते हैं । उनका रंग गहरा चाकलेट-भूरा, नाक चौड़ी, चपटी और ओंठ मोटे होते हैं । उनका सिर लम्बा और शरीर सुगठित होता है । पहाड़ियों के आन्तरिक भागों में, विशेष रूप से काडर, ईरूल और पुलयन जाति के लोगों के मलानीशियन लोगों के समान छोटे और घुंघराले बाल होते है जो अंडमान द्वीप की आदिमजातियों के छोटे और उलझे बालों से भिन्न हैं रक्त की कुछ वि विशेषताओं में ये बहुत कुछ मलानीशियन और पूर्वी अफ्रीकी नीग्रो आदिम जातियों से मिलते-जुलते हैं । आजकल इन जातियों का काफी सम्मिश्रण हो गया है और मूल रूप से ये जातियां केवल सबसे आन्तरिक भागों में ही पाई जाती है ।

आदिवासियों के प्रमुख वर्गों में से द्वितीय वर्ग की जातियां नर्बदा और गोदावरी के बीच के पहाड़ी भागों में रहती हैं । यह पहाडी भाग उत्तरी भारत और दक्षिण भारत को एक-दूसरे से अलग करता है और बहुत प्राचीन काल से ही इन आदिवासियों का निवास स्थल रहा है । प्राचीन संस्कृत साहित्य में इन लोगों के साथ ' युद्ध के उल्लेख मिलते हैं और इनकी मुख्य शारीरिक विशेषताओं का चित्रात्मक वर्णन है । भारत के आदिवासियों का बहुत बडा भाग इन्हीं जातियों का है ।

पूर्वी घाट और उडीसा की पहाड़ियों में रहने वाली खण्ड, भूमिजी तथा भूया जातियां इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली अन्य प्रमुख आदिम जातियों में से हैं । मुण्ड, ओराव, हो और बिरहोर जाति के लोग छोटा नागपुर के पठारों में रहते हैं । इससे आगे बढ़ कर पश्चिम में विन्धाचल के पहाडी प्रदेश में कोल और भील रहते हैं । भील जाति के लोग तो उत्तर-पश्चिम में अरावली की पहाडियों तक निवास करते है । संख्या की दृष्टि से सन्थालों के बाद गोण्ड जाति का स्थान है । ये लोग गोण्डवाना में रहते हैं और दक्षिण में हैदराबाद और उससे मिले हुए कांकर तथा बस्तर प्रदेश तक में फैले हुए है ।

सतपुड़ा पर्वतमाला के दोनों ओर और मैकल पहाडियों के चारों ओर भी इसी प्रकार की आदिमजातिया जैसे कोरकू अंगारियां परिधान और बेगा आदि रहती हैं । बस्तर प्रदेश की पहाड़ियों में कुछ अत्यन्त उल्लेखनीय आदिम जातियां जैसे मुरिया, अबुझमार पहाड़ियों के पहाड़ी माड़िया और इन्द्रावति घाटी के माड़िया लोग रहते हैं । दक्षिणी वर्ग के विपरीत इनकी मूल भाषाएं अभी तक प्रचलित हैं यद्यपि मील, कोल, गोण्ड औराव जातियों ने आर्य और द्रविड़ परिवारों की बोलियां अपना ली हैं । इस परिवार की मूल भाषा, जो अभी भी काफी हद तक प्रचलित है, स्ट्रिप भाषा-परिवार की मुण्ड शाखा से सम्बन्धित है । परन्तु भारतवर्ष में गोदावरी नदी के दक्षिण में यह भाषा नहीं मिलती ।

साधारणतया ये आदिमजातिया दक्षिण के आदिवासियों की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं । आखेट करने और खाद्य पदार्थो का संग्रह करने के बदले ये जातियां कुल्हाड़ी और फावडे आदि औजारों की सहायता से स्थान परवर्ती खेती-बाडी करती हैं । मध्यवर्ती पहाड़ियों और पठारों के

आन्तरिक भागों में रहने वालों को छोड़-कर ये लोग अपने हिंदू पड़ोसियों की संस्कृति से काफी प्रभावित हुए हैं और इन्होने उनके रीति-रिवाज आदि को भी बड़ी उदारतापूर्वक अपना लिया है ।

प्राचीन समय में वे लोग कुछ छाल के बने हुए वस्त्र पहनते थे । क्योंझर तथा पाल लहरा जैसे स्थानों में रहने वाले जुआंग आदि आदिवासियों के सारे वस्त्र पत्तों के ही बने होते थे। अब ये अपने हिन्दु पड़ोसियों से खरीदकर मिल के बने हुए सूती वस्त्र पहनते हैं । ये लोग बुनाई के काम से अनभिज्ञ रहे हैं परन्तु टोकरी बनाने और लकड़ी पर खुदाई करने का काम खूब अच्छी तरह जानते हैं । ये मजबूत झोपड़ियां बनाकर सुव्यवस्थित समुदायों में रहते हैं और इनका सामुदायिक जीवन गांव के मुखिया के नेतृत्व में अपेक्षाकृत अधिक सुसंगठित रहता है । इनमें से सन्थाल जैसी अधिक सभ्य आदिमजातियो में तो न केवल "धीरी ' (ग्राम परिषद) ही होती है, बल्कि गांवों के झगडों का निपटारा करने के लिए एक शिकार परिषद् या सर्वोच्च परिषद् भी होती है जिसका चुनाव समूची जाति के लोग पूर्ण लोकतन्त्रीय ढंग से करते हैं ।

सामान्यत: ये आदिमजातियां पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था को मानती हैं । इनके सामाजिक जीवन के केन्द्र 'धूमकड़िया' होते हैं जो अविवाहित छात्रावास होते हैं । इसी प्रकार बस्तर की मुरिया जाति में भी घोटुल नामक संस्था का आश्चर्यजनक विकास हुआ है जहां लडके (चेलिक) और लड़कियां (मोतियार) दोनों ही रखे जाते हैं । इनमें कुमार और युवा लड़के लड़कियों को कठोर अनुशासन सिखाया जाता है और उन्हें गांव के लिए अनवरत परिश्रम करना पड़ता है । इन आदिमजातियों के जीवन में लोक-नृत्य तथा संगीत का विशेष महत्व है और 'घूमकड़िया' इनके केन्द्र होते हैं । शारीरिक रचना की दृष्टि से ये छोटे और मध्यम कद के होते हैं । इनकी मुख्य विशेषता यह है कि इनके माथे का निचला हिस्सा इनकी छोटी, चौड़ी और दबी हुई नाक से जुड़ा रहता है । शरीर रचना की दृष्टि से इनका आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के साथ घनिष्ठ सबन्ध है जिनमें ये विशेषताएं स्पष्ट देखी जा सकती हैं । इनका शरीर सुदृढ़ और सुगठित होता है ।

तृतीय वर्ग की आदिमजातियां समस्त हिमालय की तराई में और भारत के पूर्वी सीमान्त प्रदेशों की पर्वत घाटियों में, जो दक्षिण-पूर्व में अदृश्य रूप से वर्मा की पर्वत-घाटियों में मिल जाती हैं, निवास करती हैं । बलिपुर, अबोर और मिशमी पहाड़ियों के प्रशासकीय जिलों के अन्तर्गत आने वाले असम और तिब्बत के बीच के क्षेत्रों में रहने वाली आदिमजातियों में सुबनसिरी नदी के पश्चिम में अका, डफला, मिरी और अपातमी और डिहांग घाटी मैं गलोंग। मिनयोंग, पासी पदम और पगी जातियां उल्लेखनीय हैं ।

मिशमी आदिमजातिया डिबग और लोहित नदियों के बीच की ऊंची पहाड़ियों में रहती हैं। पूर्व की ओर खमटी और सिंहपो जातियां पाई जाती है और उसके आगे दक्षिण में पटकाई के दोनों ओर की पर्वत-घाटियों में विभिन्न नागा आदिमजातिया रहती है । यह घाटियां भारतीय सीमान्त प्रदेशों से आगे बढ़ कर वर्मा की हुक्वांग घाटी तक फैली हुई है ।

नागा आदिमजातियो को पांच प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - उत्तर में रंगपण और कोन्यक: पश्चिम में रेंगमा; सेमा और अंगामी; मध्य में आओ लोहता, फोम, चग, सन्थम और यिम्स्तसुंगर; दक्षिण में कचा और काबुई तथा पूर्वी क्षेत्रों में तंखुल और काल्यो-

केंगु। मणिपुर, त्रिपुरा और चिटगांव के पर्वतीय प्रदेशों से लेकर वर्मा की अराकान पहाडियों तक विस्तृत नागा पहाड़ियों के दक्षिण में कूकी, लुशाई, लाखेर, चिन आदि जातियां रहती हैं जिनमें से बहु त सी जातियां यथार्थ में सीमान्त पार के प्रदेशों से आई हैं ।

वास्तव में भारत के उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेशों में पटकोई से चिन पहाडियों तक असम और वर्मा के बीच जाति सम्बन्धी कोई स्पष्ट बिभाजन रेखा नही है और इन जातियों में सांस्कृतिक और जातीय दोनों दृष्टियों से घनिष्ट सम्बंध है । यह जातियां तिब्बत-चीनी परिवार की भाषाएं बोलती हैं जो मूल रूप से एक स्वरीय हैं, यद्यपि असम की आदिमजातियों में कुछ सीमा तक सरल परन्तु संयुक्त अक्षरों का प्रयोग आरम्भ हो चला है । इन भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें क्रिया नहीं होती जिसके कारण इन भाषाओं में सूक्ष्म भावनाओं और उन विचारों को वक्त करना कठिन हो जाता है यद्यपि स्थूल विचारों को व्यक्त करने की ये बहु त अच्छी माध्यम है । इनमें से कुछ जातियों में, जैसे खासी जाति में आस्ट्रिक परिवार की एक शाखा 'मोंन ख्मेर' भाषा बोली जाती है ।

सिक्किम और दार्जिलिंग के उत्तरी भागों में बहु त सी पुरानी आदिम जातियां हे जिनमें लेपचा जाति सबसे अधिक प्रसिद्ध है । हिमालय की तराई के पूरे भाग में लेपचा और गलौंग जैसी अनेक जातियों में बहु-पति की प्रथा प्रचलित है परन्तु मुख्यत: एक विवाह का ही प्रचलन है और संभवतया उनके समाज का मूलाधार मातृसत्तात्मक है । इसका पूर्ण विकास हमें खासी और गारो जातियों में मिलता है जिनके समाज में स्त्रियों को जितना सम्मान दिया जाता है उतना अन्य किसी जाति में नही । इनमें से कुछ जातियां अभी तक मृतक के सम्मान में पत्थर के स्मारक बनवाती हैं।

उत्तर-पूर्व सीमान्त वर्ग के आदिवासियों की संख्या भी काफी है यद्यपि उनकी कुल संख्या भारत के मध्यवर्ती वर्ग के आदिवासियों जितनी नहीं है । कछार पहाड़ियों के दीमापुर और वहां की पर्वत घाटियों के विभिन्न भागों में प्राप्त विशाल पत्थरों के अवशेषों से ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से बहु त सी जातियां भारत में काफी पहले आ गई थीं यद्यपि उपर्युक्त दोनों वर्गो के पहले नहीं। इन लोगों का सामाजिक संगठन सादा है और ये निरन्तर आपस में लडते-झगड़ते रहते हैं परन्तु फिर भी इन्हें किसी भी प्रकार पिछडा हु आ नहीं कहा जा सकता।

मणिपुर और नागा पहाड़ियों में रहने वाली पूर्वी वर्ग की आदिम जातियों ने पहाड़ों की ऊंची-नीची सीढ़ीनुमा पट्टियों में खेती करने में काफी प्रगति कर ली है, परन्तु उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में अभी तक स्थान-परिवर्ती कृषि की ही प्रथा प्रचलित है। कुछ जातियों में स्त्री और पुरूष दोनों के लिए कुछ सुसंगठित संस्था 'धूमकड़िया पाई जाती है जहां युवा-युवतियों को केवल उनके' प्राचीन जातीय जीवन की ही शिक्षा नहीं दी जाती वरन् उनके प्राचीन आख्यानों, संगीत. नृत्य और कला की परम्पराएं भी सुरक्षित रखी जाती हैं ।

उत्तर-पूर्वी भारत की अधिकांश आदिमजातियों में छोटे करघों पर बुनाई की कला पूर्ण समुन्नत अवस्था में विद्यमान है जो सम्भवत: उन्होनें तिब्बत से सीखी होगी। जंगल जला कर साफ किए गए (झूम) खेतों में कपास, चावल और ज्वार व बाजरा, पैदा किए जाते हैं। बुनाई-कताई का काम स्त्रियां करती है। इन जातियों का समस्त संगठन सैनिक-संगठन है। ये अपने

गांव पहाड़ की चोटियों पर अथवा ऐसे सुविधाजनक स्थानों पर बसाती हैं, जहां शत्रुओं के अनवरत आक्रमणों से रक्षा की जा सके।

इनमें से बहुत सी जातियों में, विशेष रूप से नागा जाति में नरमुण्ड का शिकार. करने की एक विचित्र प्रथा का पालन किया जाता था। ये जातियां आत्मा की शक्ति में विश्वास करती हैं अर्थात् इनका विचार था कि शरीर के पंच भूतों के अतिरिक्त एक सूक्ष्मतर शक्ति और है जो व्यक्ति को जीवन और बल प्रदान करती है तथा जो एक विशेष संमय पर विशेष स्थान अथवा विशेष जाति में एक निर्धारित मात्रा में ही होती है? इनका विश्वास था कि यदि आत्मा की शक्ति क्षीण हो जाती है तो फसल खराब होने लगती है और बीमारियां फैलती हैं। इस प्रकार की आपत्तियों से बचने के लिए आता की अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता होती। इसलिए जिस परिवार अथवा जाति को ऐसी आवश्यकता हो, वह नरमुण्ड का शिकार करके और खोपड़ियों को घर में रख कर क्षीण शक्ति पुन: प्राप्त कर सकती है। नरमुण्ड का शिकार करने की यह प्रथा नागा जातियों तक ही सीमित नहीं थी परन्तु भारतीय सीमा के पार ओशनिया और मलानीशिया में भी प्रचलित थी। इसका आधार बहीं पुराना विचार है जिसके अनुसार व्यक्तिगत अथवा जातीय समृद्धि बढ़ाने के लिए मनुष्यों की बलि दी जाया करती थी।

शारीरिक रचना की दृष्टि से उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेशों की आदिमजातिया मंगोल होती हैं। इनकी त्वचा हल्की, बाल सीधे और नाक चपटी होती है। इनकी आंखो को देखने से ऐसा लगता है जैसे आधी बन्द और आधी खुली हुई हों और पलकों के ऊपरी भाग ने आंख को आशा या पूरा ढक लिया हो। इनके पलकों के ऊपरी परत मंगोलों की भांति भारी और मोटी होती है। अधिकांश आदिमजातियां मध्यम कद और लम्बे सिर वाली हैं परन्तु तिब्बती सीमान्त प्रदेशों में रहने वाली कुछ आदिमजातियो में लोगों का सिर और चेहरा गोल होता है। इन लोगों के रक्त में भारत के अन्य आदिवासियों के विपरीत "ए", 'बी' ' और "ओ" प्रतिजन का अनुपात अधिक उचित मात्रा में पाया जाता है। इन सभी जातियों में स्त्री और पुरूष, दोनों के शरीर सुगठित और पिंडलियों की मांसपेशियां अत्यधिक विकसित होती है। इन जातियों के लोग पहाडों पर बढ़ने में बहुत कुशल होते हैं। ये स्वस्थ, परिश्रमी, और स्वतन्त्र विचारों के होते हैं। सामान्य पहाड के निवासियों के समान इनके जीवन में एक ओर कठोर परिश्रम और दूसरी ओर स्वस्थ मनोरंजन का सुन्दर सामंजस्य होता है जिससे इनका जीवन सुखद बना रहता है।

8.7 राष्ट्रीय स्मारक

एक देश के राष्ट्रीय स्मारक उस के अतीत का परिचय देते हैं। हमारे देश के स्मारकों में सबसे प्राचीन सैन्धव घाटी की सभ्यता के अवशेष है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ों व अन्य स्थानों पर की गई खुदाईयों से यह ज्ञात होता है कि यह सभ्यता पश्चिम में मकरान, दक्षिण में काठियावाड़ और उत्तर में शिवालिक पर्वतमाला तक फैली हुई थी। हमें अनेक स्थानों पर अशोक द्वारा बताये गये कुछ स्तम्भ मिलते हैं जिनमें बनारस के निकट स्थित सारनाथ की स्तम्भ सबसे भव्य है। इसके बीच बनाये गये। "धर्म चक्र" को स्वतंत्र भारत के प्रतीक चिन्ह के रूप में अपनाया गया है। शुंगकाल में बनाया गया भोपाल के निकट सांची का स्तूप भी दर्शनीय है। स्तंभों के अतिरिक्त अशोक ने शिलाओं और गुफाओं पर भी अभिलेख उत्कीर्ण कराये थें।

इलाहाबाद के किले में अशोक द्वारा निर्मित एक स्तंभ पर समुद्रगुप्त के दरबारी कवि हरिसेण द्वारा. रचित प्रशस्ती उत्कीर्ण है । इससे हम समुद्रगुपा के समय की घटनाओं की जानकारी मिलती है।

ईसा की प्रारंभिक सदियों से 750 ई. तक औरंगाबाद के निकट अजन्ता में लगभग तीस गुहाओं का निर्माण किया गया। अजंता की कुछ गुफाएं अपने भित्ति चित्रों एवं स्तंभों के अलंकरण के लिए प्रसिद्ध हैं। इन गुफाओं में बुद्ध के परवर्ती जीवन के अनेक दृश्य चित्रित हैं। ऐलोरा की गुफाएं औरंगाबाद जिले में दौलताबाद के समीप स्थित है। इनका निर्माण 500 ई. से 750 ई. के मध्य हुआ था। इनमें दस नम्बर की गुफा, जो विश्वकर्मा के नाम से प्रसिद्ध हैं, दर्शनीय है। बाघ की गुफाऐं अजंता के उत्तर-पश्चिम में मालवा में स्थित है।

यद्यपि गुप्तकाल के पहले मन्दिर की वास्तु कला के अवशेष नहीं मिलते किंतु गुप्त काल में निर्मित अनेक मंदिर अभी भी विद्यमान है। इनमें सांची, तिगवा भूमरा, देवगांव और भीतर गांव के मंदिर उल्लेखनीय है। इनसे हमें मध्य भारत व उत्तरी भारत में मंदिर कला के उद्‌भव के समय की विशिष्ट शैली का आभास मिलता है।

सल्तनत कालीन इमारतों में दिल्ली में स्थित कुतुब मीनार प्रसिद्ध है। इसमें हिंदू व मुस्लिम कला का सम्मिश्रण है। इसके प्रांगण में कुव्वायतुल इस्लाम मस्जिद भी देखने योग्य हैं। कुतुबुद्दीन के समय में अजमेर में बनाया गया अढ़ाई दिन का झोंपड़ा भी दर्शनीय है। इस समय की प्रान्तीय इमारतों में जौनपुर की इमारतें उल्लेखनीय हैं। इनमें अटाला मस्जिद प्रमुख है। बंगाल की राजधानी गौड में सुनहली मस्जिद तथा हुसेन शाह का मकबरा देखने योग्य है। मालवा की राजधानी मांडू के खंडहर अभी भी देखे जा सकते है। बहमनी सुल्तानों द्वारा बीदर, गुलबर्ग व अन्य स्थानों पर बनाई गई इमारतें प्रसिद्ध हैं। गुलबर्ग के मकबरे स्थापत्य कला के सुन्दर नमूने हैं। बीजापुर का गोल गुम्बद एक भव्य इमारत है।

प्राचीन काल व मध्यकालीन युग में निर्मित अनेक किले भी अपनी भव्यता के लिए प्रसिद्ध है। चित्तौड के किले में कुम्भा (1433-1468) द्वारा बनाया गया कीर्ति स्तम्भ उस समय की कला का एक विशिष्ट नमूना है। जयपुर के निकट आमेर का किला भी दर्शनीय है। दौलताबाद व गोलकुंडा के किले अपनी बनावट व सुदृढ़ता के कारण जाने जाते है। ग्वालियर का किला भी दर्शनीय है।

इनके अतिरिक्त भी देश के विभिन्न भागों में अनेक किले हैं। बिहार के सहसराम नामक स्थान पर शेरशाह द्वारा बनाया गया स्वयं का मकबरा कला का एक श्रेष्ठ नमूना है। अकबर के समय में दिल्ली में निर्मित हुमायूं के मकबरे पर फारसी प्रभाव स्पष्ट है। उसके शासन काल में आगरा व इलाहबाद के किले बनाये गये। फतहपुर सीकरी में अकबर ने अनेक इमारतों का निर्माण कराया । इनमें दीवाने खास, पंच महल, हाथी पोल, बुलंद दरवाजा व शेख सलीम चिश्ती का मकबरा प्रमुख है। जहांगीर के समय में आगरा के निकट सिकन्दरा में निर्मित अकबर का मकबरा दर्शनीय है। आगरा में नूरजहां द्वारा निर्मित एतमातुद्दौला के मकबरे का मुख्य भाग संगमरमर का बना हुआ है। शाहजहां ने आगरे के किले में दीवाने खास, दीवाने आम, खास महल व मच्छी भवन आदि इमारतों का 'निर्माण कराया। इस किले में उसने तीन मस्जिदें भी बनवाई। किले के मुख्य द्वार से कुछ दूरी पर शाहजहां द्वारा बनाई गई जामा

मस्जिद देखने योग्य है। शाहजहां के समय की सबसे प्रसिद इमारत ताज महल है। सफेद संगमरमर से बनी यह इमारत अपनी सुंदरता सादगी के लिए प्रसिद्ध है।

शाहजहां ने दिल्ली शहर की स्थापना की तथा लाल किले का निर्माण कराया। इसमें दीवाने आम व दीवाने खास देखने योग्य है। किले से कुछ दूरी पर शाहजहां द्वारा निर्मित जामा मस्जिद है।

ब्रिटिश काल में बड़ी संख्या में ऐसे भवनों का निर्माण नहीं किया गया जो स्थापत्य कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखती हों। इस काल में निर्मित इमारतों में अमृतसर का स्वर्ण मंदिर, कलकत्ता के सरकारी भवन तथा नई देहली का राष्ट्रपति भवन, सचिवालय तथा इंडिया गेट का उल्लेखनीय हैं। शिमला के वायसरिगल लॉज को भी एक राष्ट्रीय स्मारक माना जाता है। पोरबंदर में गांधी जी, तथा इलाहाबाद में नेहरू परिवार के निवास स्थान आनंद भवन को भी राष्ट्रीय स्मारक माना गया है।

8.8 सारांश (Summary)

राष्ट्रीय विरासत के रूप में भारतीय संस्कृति ने इस देश के निवासियों को अनेक मूल्यों एवं परंपराऐं प्रदान की हैं। एक भारतीय के जीवन में धर्म की प्रधानता होती है तथा वह आध्यात्मिकता को महत्व देता है। उसमें भारतीय संस्कृति मे धार्मिक सहिष्णुता की भावना के साथ-साथ ग्रहणशीलता व समन्वय शक्ति भी पाई जाती है। विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मानना भारतीय संस्कृति की देन है। प्राचीन काल से ही इस देश के निवासी विश्वबन्धुता के सिद्धांत में आस्था रखते है। सामाजिक क्षेत्र में वर्ण (जाति) व्यवस्था, वर्णाश्रम धर्म, संयुक्त परिवार प्रणाली. समाज व परिवार में नारी का सम्मान तथा शिष्टाचार के नियम हमें विरासत में मिले है।

भारतीय संस्कृति की प्राचीनता व निरंतरता इसकी अपनी विशेषताएं हैं। हमारे देश की संस्कृति की एक अन्य प्रमुख विशेषता विभिन्नताओं में प्रच्छन्न मौलिक एकता है।

इस इकाई में ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में अभिजात वर्ग के उदय तथा विकास एवं उनकी संस्कृति का अवलोकन किया गया है। इसके साथ साथ भारत की लोक संस्कृति का भी परिचय दिया गया है ।भारत की जनजातियों की संस्कृति की विशेषताओं की विवेचना की गई है।

अंत में ऐतिहासिक कालक्रम के प्रमुख राष्ट्रीय स्मारको का उल्लेख किया गया है।

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय संस्कृति की परंपराओं तथा मूल्यों की व्याख्या कीजिये।
2. भारत में अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी यहां पर सारभूत एकता के चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। विवेचना कीजिये।
3. हमारे देश की अभिजात, लोक व जनजातियों की संस्कृति के प्रमुख तत्वों की विवेचना कीजिये।
4. संक्षिप्त में टिप्पणी लिखिये :-

    (अ) राष्ट्रीय स्मारक

8.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. S.C. Dube- Indian Society
2. S.C. Dube- Tradition & Development
3. T.B. Bottomore- Elites and Society
4. A.R. Desai- Social Background of India Nationalism
5. प्रकाशन विभाग सूचना व प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार - आदिवासी
6. राधा कुमुद मुकर्जी - हिंदू सभ्यता
7. रामधारी सिंह दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय
8. Ishwari Parsad- History of Medieval India
9. Tara Chand- History of Freedom Movement in India (Vol.I-IV)
10. B.N. Lunia- History of Indian Culture.

इकाई-9

अर्थ व्यवस्था-अर्थ, प्रकार, आर्थिक समस्या की प्रकृति, अर्थ व्यवस्था की आधारभूत समस्याएं एवं उनका हल

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 अर्थव्यवस्था का अर्थ

9.2.1 अर्थव्यवरूग़ क्या है?

9.2.2 अर्थव्यवस्था की परिभाषा

9.2.3 अर्थव्यवस्था उत्पादकों के मध्य सहयोग की एक प्रणाली है

9.2.4 अर्शव्यवस्था आपसी विनिमय की एक प्रणाली है

9.2.5 अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएं

9.2.6 विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के अन्तर के आधार

9.3 आर्थिक समस्याओं की प्रकृति

9.4 अर्थव्यस्था के कार्य अथवा आधारभूत समस्याएं

9.5 स्वतंत्र उद्‌यम अर्थव्यश्स्था में आर्थिक समस्याओं का समाधान

9.6 केन्द्रीय नियोजित अर्थव्यवस्था में आर्थिक समस्याओं का समाधान

9.7 मिश्रित अर्थव्यवस्था में आर्थिक समस्याओं का समाधान

9.8 सारांश

9.9 शब्दावली

9.10 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

9.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि-

- अर्थ व्यस्था किसे कहते है एव इसकी क्या विशेषताएं हैं?
- अर्थ व्यस्था की विभिन्न विद्‌वानों द्‌वारा दी गई परिभाषाओं से अवगत हो सकेंगे।
- अर्थ थवस्था के विभिन्न प्रकार क्या हैं? एवं इनमें किन आधारों पर अन्तर किया जाता है?
- आर्थिक समस्याओं की प्रकृति क्या है?
- अर्थ व्यवस्था के कार्य अथवा आधारभूत समस्याएं कौन-कौन सी है?

9.1 प्रस्तावना (Introduction)

सामान्यत: विद्‌यार्थी अर्थशास्त्र को एक जटिल विषय मानते हैं इसका मुख्य कारण यह है कि अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों के बारे में उनको जानकारी नहीं होती। प्रारम्भिक

पाठ्यक्रम का यह खण्ड उन सभी सिद्धान्तों को आधारभूत रूप में आपके सम्मुख रखने का प्रयास है। इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप अर्थशास्त्र के स्वरूप, उसकी प्रकृति एवं अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इस इकाई में यह भी स्पष्ट किया गया है कि एवं स्वतंत्र उद्यम अर्थव्यवस्था में मूलभूत आर्थिक समस्याओं का समाधान किस प्रकार होता है।

9.2 अर्थव्यवस्था का अर्थ (Meaning of Economy)

9.2.1 अर्थव्यवस्था क्या है?

अर्थव्यवस्था अथवा आर्थिक संगठन के बारे में विस्तृत अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक अर्थव्यवस्था के अर्थ को भलीभांति समझ लिया जाये। मानव ने प्रारम्भ से ही इस विश्व मे विभिन्न प्रकार के संगठन बनाएं हैं। इन संगठनों में आर्थिक संगठन भी एक प्रकार का मानव निर्मित संगठन है। अर्थव्यवस्था अथवा आर्थिक संगठन कोई दैविक शक्ति द्वारा बनाया गया संगठन नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि मानव ने आर्थिक संगठन क्यों बनाये? अर्थात् इन सगंठनों का अथवा अर्थव्यवस्था का क्या उद्देश्य है? प्रत्येक आर्थिक संगठन का उद्देश्य मानव की आवश्यकताओं को संतुष्ट करना हैं। आवश्यकताओं की प्रकृति का गहराई से अध्ययन करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आवश्यकताएं अनन्त है। एक आवश्यकता के पूरा होते ही दूसरी आवश्यकता सिर उठाकर खड़ी हो जाती है। इसके साथ ही कुछ आवश्यकताएं एक बार संतुष्ट होने के बाद दूसरे समय में फिर उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् मानव इस आवश्यकता रूपी दुष्चक्र के घेरे से बाहर नहीं निकल पाता है। मानव की आवश्यकताएं भी अलग-अलग प्रकार की होती है, कुछ आवश्यकताएं प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होती है परन्तु कुछ का जन्मदाता समाज है । हम सभी दिन रात इसी चिन्ता में लगे रहते हैं कि हम किस प्रकार अपनी इन अनन्त आवश्यकताओं में से अधिक आवश्यकताएं पूरी करके अधिक से अधिक संतुष्टि प्राप्त कर सकते हैं।

इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हम में से प्रत्येक को कोई न कोई कार्य करना पड़ता है। ऐसा कार्य जिससे हमें कुछ आमदनी हो और हम उस आय को व्यय करके हमारे उपयोग की वस्तुएं व सेवायें खरीद सके। इस प्रकार हम जिस किसी वस्तु को देकर अपनी जरूरत का समान प्राप्त करते हैं उसे हम अर्थशास्त्र की भाषा में साधन कहते हैं। ये साधन जब आवश्यकताओं के सन्दर्भ में रखे जाये तो सदैव सीमित नजर आते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मानव कि आवश्यकताएं अनन्त हैं और इन आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन दुर्लभ और सीमित हैं। साधनों की एक अन्य और विशेषता यह है कि इन साधनों के वैकल्पिक उपयोग है अर्थात् एक साधन को हम एक से अधिक उपयोग में लगा सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि हम किसी साधन विशेष को किस उपयोग में लगाए? इस सन्दर्भ में किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन तो नहीं किया जा सकता परन्तु इतना निश्चित है कि हम सर्व प्रथम उसी उपयोग में अपने साधनों को व्यय करेंगे जो हमे सर्वाधिक संतुष्टि प्रदान करते हैं। अर्थ व्यवस्था, इस प्रकार वह मानव निर्मित संगठन है जो अनन्त आवश्यकताओं और दुर्लभ एवं वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों के संतुष्टि से संबंधित विभिन्न समस्याओं का हल

खोजने का प्रयास करती है। इस सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोणों का अध्ययन इसके स्वरूप को पूर्णत: स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है।

9.2.2 अर्थव्यवस्था की परिभाषाएं

विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर अर्थव्यवस्था को अपने नजरिये से देखने का प्रयास किया है। प्रो.ए.जे.ब्राउन के अनुसार "एक अर्थव्यवस्था वह प्रणाली है जिसके द्वारा व्यक्ति जीविकोपार्जन करते हैं"। इस परिभाषा में प्रो. ब्राउन ने "जीविकोपार्जन" शब्द पर अत्यधिक बल दिया है। जीविकोपार्जन करने के तरीके समय-समय पर विभिन्न जगहों पर अलग हो सकते हैं। पुरातन ग्रामीण अर्थव्यवस्था में मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के तरीके बहुत साधारण थे परन्तु आज की जटिल अर्थव्यवस्था में ये तरीके इतने साधारण नही रहे हैं। जीविकोपार्जन के लिए एक व्यक्ति कृषि कर सकता है, उद्योगों में कार्य कर सकता है, एक वाहन चालक, एक अध्यापक, डॉक्टर या इन्जीनियर बन सकता है अथवा स्वंय का कोई व्यापार अथवा व्यवसाय प्रारम्भ कर सकता है। दूसरे शब्दों में वह एक सेवायोजक के लिए कार्य कर सकता है अथवा अपनी सेवायें कई व्यक्तियों को प्रदान कर सकता है, जैसे डॉक्टर, वकील, अथवा व्यापारी अपने कई ग्राहकों के लिए अपनी सेवायें प्रदान करते हैं। जीविकोपार्जन के उपर्युक्त उल्लेखित सभी तरीके सामाजिक व कानूनी दृष्टि से मान्य तरीके हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जीविकोपार्जन के दूसरे तरीके व्यक्ति काम में न ले। कुछ सामाजिक व कानूनी रूप से अमान्य तरीके भी हैं जैसे डकैती, तस्करी अथवा वैश्यावृति। जीविकोपार्जन के ये तरीके एक व्यक्ति के लिए आर्थिक आमदनी का स्रोत हो सकते हैं परन्तु अर्थव्यवस्था में इनका समावेश उचित नहीं है।

प्रो. ब्राउन के अनुसार जीविकोपार्जन के उन्हीं तरीकों का समावेश किया जाना चाहिए जो सामाजिक व कानूनी रूप से मान्य हो। इस परिभाषा में आर्थिक प्रणाली के एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू को उजागर किया गया है परन्तु अर्थव्यवस्था केवल मात्र जीविकोपार्जन की प्रणाली नहीं है अत: अन्य विद्वानों के दृष्टिकोणों का अध्ययन आवश्यक है।

डब्ल्यू एन. लोउक्स के अनुसार "एक आर्थिक प्रणाली में देश के निवासियों के वे समस्त तरीके शामिल होते हैं जो मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के कार्य में साधनों के उपयोग के संबंध में प्रयोग में आते है मुख्य रूप से ये तरीके उस राष्ट्र के कानूनों में व्यक्त किये जाते हैं लेकिन इसके अतिरिक्त वहां की प्रथाओं, आदतों व नैतिक नियमों में भी पूरक रूप से पाये जाते हैं जो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधनों का उपयोग करते समय लागू होते हैं। लोउक्स की परिभाषा में देश के कानूनों के साथ-साथ वहीं के निवासियों की आदतों, प्रथाओं नैतिकता के प्रच लित नियमों को भी महत्व दिया गया है और ऐसी मान्यता है कि ये पूरक अवस्थाएं कभी-कभी देश के कानूनों से भी ज्यादा प्रभावी व शक्तिशाली होती है। लोउक्स की परिभाषा से यह बात स्पष्ट होती है कि एक देश की अर्थव्यवस्था के स्वरूप में कानून बनाकर आवश्यक परिर्वतन किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये यदि सरकार आवश्यक समझे तो कानून पास कर समस्त कृषि भूमि का राष्ट्रीयकरण कर सकती है अथवा सम्पति की हदबन्दी की सकती है। प्रत्येक देश की अपनी अलग-अलग संस्थाएं होती है, अलग अलग

कानून, प्रथाएं व रीति रिवाज होते हैं और इन्हीं सभी को मिलाकर संयुक्त रूप में देखने पर अर्थव्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट होता है।

यद्यपि अर्थव्यवस्था के संबंध में लोउक्स के विचार ब्राउन से विस्तृत है परन्तु यह आधुनिक जटिल अर्थव्यवस्था के सभी आवश्यक पहलुओं पर विचार नहीं करती है। आज के युग में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति देश के अपने साधनों के प्रयोग से ही सम्भव नहीं है। मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति न केवल एक देश के साधन स्वामी एवं कार्यकर्त्ता सहयोग करते हैं बल्कि यह सहयोग की एक व्यापक प्रणाली है। अर्थव्यवस्था की परिभाषा में यह दृष्टिकोण प्रो. जे. आर. हिक्स ने प्रस्तुत किया है।

9.2.3 अर्थव्यवस्था उत्पादकों के मध्य सहयोग को एक प्रणाली है

हम सभी को अपने आपको किसी न किसी आर्थिक क्रिया में संलग्न करना पड़ता है। अत: एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो हमारे कार्य के बदले हमें कुछ चुकान को तैयार हो। अब प्रश्न यह उठता है कि कोई नियोक्ता हमें चुकाने. के लिये क्यों तैयार होगा? कोई भी नियम हमें चुकाने के लिये इसलिए तैयार हो सकता है कि हमारे द्वारा किया गया कार्य नियोक्ता के लिये प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी हो सकता है अथवा वह यह सोचता है कि कोई अन्य व्यक्ति उसे उसके द्वारा चुकाये गये मूल्य से अधिक चुकाने को तैयार होगा क्योंकि वह वस्तु उस व्यक्ति के लिये उपयोगी होगी। नियोक्ता यहां पर एक मध्यस्थ होता है। इस प्रकार हिक्स के अनुसार अर्थव्यवस्था उत्पादकों व श्रमिकों के बीच सहयोग है जिससे उन वस्तुओं का निर्माण किया जा सके जो उपभोक्ता चाहते हैं।

आजकल उत्पादन की प्रक्रिया सरल नहीं है। पहले एक अकेला श्रमिक एक वस्तु के उत्पादन की समस्त प्रक्रियाओं को पूरा कर अंतिम रूप से वस्तु उत्पादन वह स्वंय करता था। अब एक श्रमिक एक वस्तु का बहुत ही छोटा हिस्सा उत्पादित करता है और इस प्रकार के कार्य का अलग से कोई महत्व नहीं है जब तक कि दूसरे कुछ श्रमिक उसी वस्तु के अलग-अलग आवश्यक हिस्सों का उत्पादन न करे। उत्पादक जो कि वास्तव में मध्यस्थ है, इन विभिन्न कार्यो को करने वाले श्रमिकों के बीच सहयोग स्थापित करता है और अंतिम उत्पाद को सम्भव बनाता है। ये उत्पादक मध्यस्थ अपनी आय इन अंतिम वस्तुओं को उपभोक्ताओं को बेचकर प्राप्त करते है।

9.2.4 अर्थव्यवस्था आपसी विनिमय की एक प्रणाली है

आधुनिक युग में उत्पादन व उपभोग का संगठन क अत्यन्त ही पेचीदा मामला है। आज हम उत्पादन की उस व्यवस्था की कल्पना नही कर सकते, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वंय की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन स्वंय कर लेता था। अर्थव्यवस्था आज के युग में विनिमय की एक प्रणाली है। विभिन्न व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेते हैं और आपस में सहयोग करते हुए उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तथा अपनी जरूरत की वस्तुओं के लिए आपस में विनिमय कर लेते हैं। प्रारम्भ में सहयोग का आधार बहुत ही प्राथमिक होता था 'जैसे तुम मेरे लिये यह कर दो मैं तुम्हारे लिए

वह कर दूंगा"। इस प्रकार के सहयोग से कुशलता में वृद्धि के साथ-साथ वस्तुओं की उत्पादन लागत कम करने में मदद मिलती है। सहयोग का यह दायरा आज के युग में एक देश की सीमायें लांघ कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने लगा है। विभिन्न देशों के बीच इस सहयोग का उदाहरण है। इसलिये हिक्स अर्थव्यवस्था को इसी रूप में परिभाषित करता है। उसके शब्दों में "एक ओर हम इसे उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उत्पादकों के सहयोग के रूप में देख सकते हैं, और दूसरी ओर इस बात को ध्यान में रखते हुए कि उत्पादक व उपभोक्ता बहुत कुछ एक ही व्यक्ति होते हैं, हम इसे विनिमय की आपसी प्रणाली के रूप में देख सकते हैं। इस प्रकार हिक्स अर्थव्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उत्पादकों के सहयोग को अधिक महत्वपूर्ण मानता है । परन्तु साथ ही वह अर्थव्यवस्था को विनिमय का समूह भी मानता है। अर्थव्यवस्था की विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात् हम इसकी प्रमुख विशेषताओं को संक्षेप में व्यक्त कर सकते हैं।

9.2.5 अर्थव्यवस्था को मुख्य विशेषताएं

1. **आर्थिक संस्थाएं मानव निर्मित होती है** आर्थिक संस्थाएं बिल्कुल वैसी ही होती है जैसी मानव उन्हें बनाता है। यह संस्थाएं हमें किसी दैविक शक्ति द्वारा प्राप्त नहीं हुई बल्कि हमने ही इस पृथ्वी पर इन संस्थाओं को निर्माण किया है और अर्थव्यवस्था उनमें से एक है।
2. **आर्थिक क्रियाओं का स्तर बदलता रहता है** किसी अर्थ व्यवस्था में मुद्रा प्रसार व मुद्रा संकुचन आर्थिक क्रियाओं के स्तर को प्रभावित करते हैं। अत: आर्थिक क्रियाओं का स्तर बदलता रहता है।
3. **आर्थिक संस्थाएं जन्म लेती है, बदलती है एवं उनका विनाश होता है** देश के निवासियों की क्रियाओं के फलस्वरूप आर्थिक संस्थाएं जन्म लेती है, बदलती है एवं उनका विनाश होता है। उदाहरणार्थ. सामन्तवादी युग की प्रमुख भू-धारण प्रणालियां-जमींदारी व जागीरदारी प्रथा. का अब उन्मूलन कर दिया गया है। भारत वर्ष में हमने क्रांतिकारी भू-सुधार कार्यक्रम भूधारण की सुरक्षा, भूमि की हदबन्दी एवं जोतों की चकबन्दी आदि लागू किये हैं। सरकारी नीतियों का उपयोग साधनों को इच्छित दिशा प्रदान करने के लिये किया जाता है।
4. **उत्पादक य उपभोक्ता एक ही व्यक्ति है** यह बात मानना आवश्यक है कि उत्पादक व उपभोक्ता एक ही व्यक्ति है। उपभोक्ताओं की भूमिका अर्थव्यवस्था में दोहरी होती हैं वे उद्योगों में श्रमिकों की भांति कार्य करते हुये वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, इस प्रकार वे उत्पादक हैं तथा दूसरी ओर दे ही उपभोक्ता हैं।
5. **उत्पादन उपभोग एवं विनियोग अर्थव्यवस्था के आवश्यक तत्व है** मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये अर्थव्यवस्था में उत्पादन, उपभोग व विनियोग क्रियाएं निरन्तर चलती रहती है। उत्पादन की प्रक्रिया में पूँजी ह्यास को नई पूंजी के विनियोग से पूरा किया जाना चाहिए। परन्तु यदि हमारा ध्येय देश की उत्पादन क्षमता

का भविष्य में विस्तार करना है तो हमारी बचतों से देश में वास्तविक पूंजी निर्माण होना चाहिए।

6. **मुद्रा का उपयोग** पुरातन ग्रामीण अर्थव्यवस्था व नवीन अर्थव्यवस्था में मुख्य अन्तर विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का उपयोग है। आधुनिक युग में जबकि विशिष्टीकरण बड़े पैमाने पर उत्पादन व श्रम विभाजन बहुत अधिक हो चुका है हम ऐसी व्यवस्था की कल्पना भी नहीं कर सकते जिसमें मुद्रा का उपयोग न होता हो।
7. **सरकार की बढ़ती भूमिका** सभी अर्थव्यवस्थाओं में सरकार की भूमिका बढ़ रही है। विकासशील राष्ट्र अब "स्वतंत्र छोड़ो" की नीति में विश्वास नहीं रखते वरन् प्रत्येक क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप देखने को मिलता है।

9.2.6 विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में अन्तर के आधार

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व एक ही प्रकार की अर्थव्यवस्था थी। वह "स्वतंत्र छोडो" अथवा स्वतंत्र उद्यम अर्थव्यवस्था अथवा पूँजीवाद के नाम से जानी जाती थी। परन्तु अब स्थिति बदल चुकी है। आज पूँजीवाद अन्य आर्थिक प्रणालियों में से एक है। केन्द्रीय आयोजन प्रणाली अथवा समाजवाद दूसरे प्रकार की अर्थव्यवस्था है। पूंजीवाद में जहां व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अत्यधिक बल दिया जाता है, वही समाजवाद में समाज की अहम् भूमिका होती है। इन दो सम्भावनाओं के बीच में एक और आर्थिक प्रणाली है जिसमें इन दोनों का मिश्रण किया है। उसे मिश्रित अर्थव्यवस्था के नाम से सम्बोधित किया जाता है। वास्तव में विभिन्न आर्थिक प्रणालियां एक दूसरे से पूर्णतया पृथक करके नहीं देखी जा सकती है। अब प्रश्न यह है कि आधुनिक विश्व में प्रचलित विभिन्न आर्थिक प्रणालियों में किन आधारों पर अन्तर किया जाय। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के बीच भेद करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण आधार नीचे दिये जा रहे हैं-

1. **साधनों का स्वामित्व** इस प्रश्न का उत्तर ढूंढना आवश्यक है कि साधनों का स्वामित्व किसके पास है। साधन दो प्रकार के होते है (अ) मानवीय साधन (ब) पूँजीगत साधन । मानवीय साधनों में उत्पादन प्रक्रिया में प्रयुक्त श्रम शक्ति को सम्मलित किया जाता है। जब कि पूंजीगत साधनों में बिल्डिंग, मशीनें. भूमि, खनिज इत्यादि सम्मलित होते हैं। पूँजीवादी अवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का काफी महत्व होता है। सभी साधनों पर निजी स्वामित्व होता है। सरकार स्वामित्व अधिकारों की रक्षा करती है। व्यक्ति नई सम्पति प्राप्त कर सकता है, खरीद सकता है एवं बेच सकता है। व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकारों की रक्षा न्यायालयों द्वारा की जाती है।

दूसरी ओर समाजवाद में साधनों का स्वामित्व मुख्यत: समाज के हाथ में होता है। अत: साधनों के स्वामित्व के आधार पर हम विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में अन्तर कर सकते हैं। यहां पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि विश्व में कोई भी देश ऐसा नहीं है जहां कि अर्थव्यवस्था को हम शुद्ध समाजवादी अथवा शुद्ध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का नाम दे सके। सभी अर्थव्यवस्थाएं मिश्रित है। यद्यपि कुछ का झुकाव पूँजीवादी की ओर है एवं कुछ अन्य का झुकाव समाजवाद की ओर है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में भी कुछ सामाजिक आवश्यकताएं होती

है जिन्हें राज्य द्वारा पूरा किया जाता है। इस कारण कुछ साधन राज्य सरकार के स्वामित्व में रहते हैं। दूसरी ओर समाजवाद में भी कुछ साधन निजी स्वामित्व में रहते हैं।

2. निर्णय किस प्रकार लिये जाते हैं विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में अन्तर करने के लिए दूसरा आधार उन अर्थव्यवस्थाओं की निर्णय प्रक्रिया है। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं की निर्णय प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। पूँजीवाद में निर्णय लेने में बाजार तंत्र की मांग व पूर्ति की शक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

दूसरी ओर समाजवादी अर्थव्यवस्था में निर्णय केन्द्रीय नियोजन अधिकारी द्वारा लिये जाते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी प्रणाली में जहां बाजार तंत्र की प्रधानता होती है वहीं समाजवादी अर्थव्यवस्था में आदेश तंत्र का सहारा लिया जाता है।

3. प्रेरणाओं के प्रकार विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में विभिन्न प्रकार की प्रेरणाओं का सहारा लिया जाता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मौद्रिक प्रेरणाएं दी जाती है जैसे अधिक मजदूरी, लाभांश में हिस्सा, अतिरिक्त वेतन वृद्धि, भला एवं बोनस। समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में गैर-मौद्रिक प्रेरणाओं का सहारा लिया जाता है जैसे विशेषाधिकार, कार्य की सराहना, पदच्युत करने का भय आदि।

4. सरकार की भूमिका स्वतंत्र उद्‌यमवाली अर्थव्यवस्था में सरकार अधिक हस्तक्षेप नहीं करती जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप अत्यधिक होता है। अत: यदि सरकारी हस्तक्षेप अधिक होता है तो अर्थव्यवस्था को समाजवादी कहा जायेगा उसके विपरीत यदि हस्तक्षेप कम होता है तो वह अर्थव्यवस्था पूँजीवादी श्रेणी में आयेगी। विभिन्न अर्थव्यवस्था में सरकार सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों की स्पष्ट रूप से घोषणा करती है तथा उनमें उचित समन्वय व संतुलन बनाये रखती है।

इस प्रकार पूँजीवादी में उपभोक्ता की स्वतंत्रता, बाजारतंत्र व मौद्रिक प्रेरणाएं मुख्य है तो समाजवाद में सार्वजनिक स्वामित्व, गैर-मौद्रिक प्रेरणाएं एवं ओदशतंत्र प्रमुख है। परन्तु जैसा कि हम पहले ही यह बता चुके हैं कि विश्व में किसी भी देश की अर्थव्यवस्था उसके शुद्ध रूप में विद्‌यमान नहीं है। अत: हम सभी सहमत हैं कि अर्थव्यवस्थाओं के बीच अन्तर सूक्ष्म है, आधारभूत अन्तर नहीं है। आज विश्व की सभी अर्थव्यवस्थाएं मिश्रित है ।

बोध प्रश्न - 1

1. अर्थव्यवस्था से क्या आशय है ?

   - - - -- - - -- - - - - - - -- - --- -- -- - - --- --- -- - -- - -- -

   - - - -- -- - - -- -- - -- - - - -- -- - - - -- - -- -- -- -- - - -- --

2. अर्थव्यवस्था की कीन्ही तीन विशेषताओं को लिखिए

   1. - - -- --- - --- -- -- -- --- - -- - 2. - -- -- -- - - - -- --

   3. - - - --- - --- -- --- ------ -- -- - --- -- -- -- - ----- --

विश्व के प्रत्येक अर्थव्यवस्था चाहे वह पूँजीवादी हो, अथवा समाजवादी उसे कुछ मूलभूत अथवा केन्द्रीय समस्याओं का हल खोजना होता है। अब सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि ये समस्याएं क्यों पैदा होती है? अथवा आर्थिक समस्याओं की प्रकृति कैसी है।

9.3 आर्थिक समस्याओं की प्रकृति (Nature of Economic Problems)

आवश्यकताएं अनन्त हैं एवं साधन सीमित है यही आर्थिक समस्या है। साधन न केवल सीमित है बल्कि उनके वैकल्पिक उपयोग है, अर्थात एक साधन को एक से अधिक उपयोग में लाया जा सकता है। साधनों की सीमितता एवं उसके वैकल्पिक उपयोगों के कारण चयन की समस्या जन्म लेती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक समस्याओं की प्रकृति जटिल है। इसमें निम्न तत्व प्रमुख है-

1. मानवीय आवश्यकताएं अर्थव्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण संचालक शक्ति मानवीय आवश्यकताएं है। सभी आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य आवश्यकताओं को संतुष्ट करना है। प्रो. रिवार्ड लेफ्टविच के मतानुसार आवश्यकताओं की जननी हमारी जैविक अथवा सांस्कृतिक अनिवार्यताएं हैं। जिन तरीकों से हम इन आवश्यकताओं को संतुष्ट कर सकते हैं वे अलग-अलग है। उदाहराणार्थ भूख सबसे महत्वपूर्ण जैविक अनिवार्यता है इसे संतुष्ट करने के लिए हम विभिन्न प्रकार का भोजन कर सकते हैं। चाहे वह शाकाहारी हो अथवा मांसाहारी भोजन हो। एक व्यक्ति अपनी आवश्यकता किस प्रकार शांत करेगा यह उसके स्वादों, आदतों और समाज की परम्पराओं पर निर्भर करेगा। आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए समाज को अपने साधनों को वस्तुओं के उत्पादन के कार्य में लगाना पड़ेगा। अगर अधिक वस्तुएं उत्पादित होगी तो समाज की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की क्षमता भी अधिक होगी। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के संबंध में एक अर्थव्यवस्था की क्षमता उस अर्थव्यवस्था में ज्ञात साधनों की मात्रा की उपलब्धता पर निर्भर होती है।

2. साधनों की दुर्लभता जब आवश्यकताओं के सन्दर्भ में रख कर देखा जाय तो एक अर्थव्यवस्था के साधन सीमित नजर आते हैं। यही वजह है कि आवश्यकताओं को साधनों की तुलना में असीमित कहा जाता है। साधनों की दुर्लभता एक सापेक्ष धारणा है। अर्थात् यह सीमितता किसी निश्चित मात्रा के कारण नहीं है बल्कि आवश्यकताओं की तुलना में यह सीमित प्रतीत होते हैं। इसके साथ ही साधनों की उपलब्धता समय के साथ बढ़ अथवा घट भी सकती है। साधनों को दो भागों में बांटा जा सकता है (अ) मानवीय साधन, और (व) अमानवीय साधन।

मानवीय साधनों की उपलब्धता देश में जनसंख्या की मात्रा पर निर्भर करती है परन्तु कुछ दूसरे तत्व जैसे प्रतिभागी दर, आयु लिंग, स्वास्थ्य शिक्षा एवं प्रशिक्षण भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। गैर मानवीय साधनों में हम भवन, मशीनें, भूमि, खनिज संसाधन, कच्चा माल, अर्धनिर्मित माल एवं मालतालिकाएं सम्मलित करते हैं जो उत्पादन प्रक्रिया में प्रयुक्त होते हैं।

किसी समय ऐसा भी संभव है कि एक अर्थव्यवस्था में साधनों की प्रचुरता प्रतीत हो, परन्तु यह तभी संभव है जब साधनों का उपयोग विकास कार्यो में न हो पा रहा हो। अगर उपलब्ध साधनों का कुशलता से किया जाय तो आवश्यकताओं की तुलना में साधन सदैव सीमित होते हैं।

3. वैकल्पिक उपयोग आर्थिक समस्या के उत्पन्न होने का तीसरा प्रमुख कारण साधनों की सीमितता व दुर्लभता के साथ-साथ उनके वैकल्पिक उपयोग है। सामान्य रूप से एक साधन को कई प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त किया जा सकता है। शायद ही ऐसा कोई साधन हो जिसे एक से अधिक उपयोगों में नहीं लिया जा सके। इन साधनों का उपयोग इस प्रकार होना चाहिए जिससे अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके। सबसे पहले साधन का उपयोग उस क्षेत्र के लिये किया जाना चाहिए जिससे सर्वाधिक सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके। उदाहरणार्थ, विद्युत शक्ति का उपयोग देश में कृषि उद्योग. खनन, परिवहन जैसे आवश्यक उपयोगों में किया जा सकता है अथवा बिजली की सजावट जैसे अनावश्यक कार्य में भी इसका उपयोग हो सकता है अब यदि विद्युत शक्ति प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाये तो दोनों ही प्रकार के कार्यो में इसका उपयोग किया जा सकता है। परन्तु यदि अर्थव्यवस्था में विद्युत की कमी हो तो बिजली के सजावट जैसे कार्य में उसका उपयोग न कर अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण व आधारभूत क्षेत्रों के लिए उसका उपयोग किया जाना चाहिए सामाजिक कल्याण में वृद्धि होगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आर्थिक समस्या के उदय का कारण आवश्यकताओं की असीमितता एवं साधनों की दुर्लभता एवं उनके वैकल्पिक उपयोग है। सभी आवश्यकताओं को पूरा कर पाना संभव नहीं है अत: एक समाज को अपनी प्राथमिकताओं का क्रम निर्धारित करना पडता है। साधनों व साध्यों की बहुलता से आर्थिक समस्या जन्म लेती है। परन्तु यदि साध्य एक हो और साधनों की बहुलता हो तो वह तकनीकी समस्या कही जायेगी। हम एक अर्थशास्त्री की हैसियत से आर्थिक समस्या का कोई उपयुक्त समाधान नही बता सकते हैं। इन आर्थिक समस्याओं का हल प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक राष्ट्र अलग-अलग तरीके से खोजते हैं।

कुछ अर्थशास्त्रियों के मत में आज के युग में विकसित अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक समस्या की प्रवृति उपर्युक्त वर्णित आर्थिक समस्या की प्रकृति से पूर्णतया भिन्न है। यहां की समस्या को दुर्लभता अथवा सीमितता की समस्या कहने के बजाय विपुलता की समस्या कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। ये बिचार प्रो0 जे.के. गेलब्रिथ के हैं जो उन्होंने अपनी पुस्तक The Affluent Society में व्यक्त किये हैं। उनके मत में अब समस्या दुर्लभता के बजाय विपुलता की है। यह सही है कि कुछ विकसित राष्ट्रों ने जनसंख्या की सामान्य गरीबी व कठिनाइयों से छुटकारा पा लिया है और वे अपने निवासियों के जीवन स्तर में कुछ वृद्धि करने में सफल अवश्य हो गये हैं परन्तु इससे यह समझ लेना कि इन देशों ने साधनों की सीमितता व दुर्लभता पर विजय प्राप्त कर ली है हमारी मूल होगी। वास्तविक समस्या तो साधनों की सीमितता व आवश्यकताओं की अनन्तता से सम्बन्धित है। इन राष्ट्रों को भी अर्थव्यवस्था की मूलभूत समस्याओं का हल तो खोजना ही पड़ता है जिससे अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। अब हम विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं की कुछ केन्द्रीय अथवा मूलभूत आर्थिक समस्याओं का विवेचन करेंगे तथा यह देखेंगे कि विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में उनका समाधान कैसे होता है?

9.4 अर्थव्यवस्था के कार्य अथवा आधारभूत समस्याएं (Functions or Central Problems of an Economy)

सभी आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य दुर्लभ तथा वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों के उपयोग से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना है।

एक अर्थव्यवस्था के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं-

- क्या उत्पादन किया जाय?
- उत्पादन कैसे किया जाय?
- उत्पादन किसके लिये किया जाय?
- अल्पकाल में राशनिंग व्यवस्था
- आर्थिक स्थिरता एवं विकास
- साधनों को पूर्ण रोजगार

प्रो. सेम्युलसन उपर्युक्त तीन प्रश्नों क्या. कैसे व किसके लिए को ही अर्थव्यवस्था की मूलभूत अथवा केन्द्रीय समस्याएं मानते है। रिचार्ड लेफ़्टविच, मेककोनेल जैसे दूसरे कुछ अर्थशास्त्री अर्थव्यवस्था की पॉच मूलभूत समस्याएं बताते हैं। इस प्रकार विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा समय-समय पर दर्शाये गये अर्थव्यवस्था के उपर्युक्त छ: कार्यो का अथवा केन्द्रीय या मूलभूत समस्याओं का अब हम विस्तार से वर्णन करेंगे।

1. क्या उत्पादन किया जाय? (What is to be Produced?) सर्वप्रथम सबसे महत्वपूर्ण मूलभूत प्रश्न जिसका हल छूना प्रत्येक अर्थव्यवस्था के लिये अनिवार्य होता है। वह है वस्तुओं के किस समूह का उत्पादन किया जाय। वास्तव में इस बड़े प्रश्न को दो छोटे-छोटे प्रश्नों में विभाजित किया जा सकता है (1) क्या उत्पादन किया जाय? तथा (2) इन वस्तुओं की कितनी मात्रा उत्पादित की जाय। पहला प्रश्न पैदा ही नहीं होता यदि अर्थव्यवस्था में उपलब्ध साधन आवश्यकताओं की तुलना में दुर्लभ न होते अथवा साधन असीमित मात्रा में उपलब्ध होते। वस्तुत: ऐसा नहीं है। साधनों की दुर्लभता के कारण हम सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकते। अगर समाज उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक उत्पादन करना चाहता है तो उसे कुछ दूसरे क्षेत्रों से साधनों को हटाना पड़ेगा। क्योंकि सीमित साधन एवं तकनीकी ज्ञान की उपलब्धता से सभी प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन एक साथ नही बढ़ाया जा सकता है। एक अर्थव्यवस्था को यह निर्णय लेना पडेगा कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाय तथा किन वस्तुओं का उत्पादन स्थगित रखा जाय। साधनों की सीमितता के कारण वस्तुओं का असीमित मात्रा में उत्पादन सम्भव नहीं है। अत: साधनों का एक क्षेत्र से निष्कासन करनें पर ही. दूसरे क्षेत्र का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। अर्थव्यवस्था में उत्पादन की जाने वाली वस्तुओं सम्बन्धी निर्णय ले लेना केवल आधा कार्य पूरा होने के समान है। एक समाज अथवा अर्थव्यवस्था को प्रत्येक मात्रा के बारे में भी निर्णय लेना पडता है। उत्पादन व उपभोक्ता वस्तुओं की मात्रा का अलग-अलग निर्धारण समाज के वर्तमान एवं भविष्य के बारे में अपने दृष्टिकोण पर निर्भर करेगा। यदि उत्पादक वस्तुओं का अधिक उत्पादन किया जाता है तो उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन कम रखा जाता है तो अर्थव्यवस्था

की भावी उपभोग क्षमता में वृद्धि होगी यहां पर अर्थव्यवस्था को दो परस्पर विरोधी बातों में से एक को चुनना होता है वह है- "अभी अधिक अथवा बाद में और अधिक" (Much now or much more later) इस प्रकार का हल एक कठिन कार्य है ।

2. उत्पादन कैसे किया जाय? (How is to be Produced) अर्थव्यवस्था के सम्मुख दूसरी मूलभूत समस्या अथवा कार्य इस रात का निर्णय लेना है कि उत्पादन कैसे किया जाय? एक वस्तु के उत्पादन करने के कई तरीके हो सकते हैं। इसका उत्पादन बड़े पैमाने पर अत्याधुनिक व संचालित मशीनों का प्रयोग करके किया जा सकता है जिससे भारी मात्रा में पूँजी निवेश की आवश्यकता होती है । और वही वस्तु छोटे व लघु उद्योगों में बनाई जा सकती है जिससे अधिक श्रम-प्रधान तकनीकों का उपयोग होता है। दूसरे शब्दों में एक अर्थव्यवस्था को दो वैकल्पिक उत्पादन विधियों -पूँजी प्रधान तकनीक एवं श्रम प्रधान तकनीक में से एक का चयन करना पड़ता है । जैसा कि हम पहले ही यह बता चुके हैं कि साधन दुर्लभ होते हैं । अत: उत्पादन की ऐसी तकनीकी का प्रयोग किया जाना चाहिए जो कुशलतम हो अन्यथा दुर्लभ साधनों का अपव्यय होगा।

3. उत्पादन किसके लिए किया जाय? (For whom is to be produced?) एक बार उत्पादन किया जाय व कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय तथा उत्पादन की तकनीकी के बारे में निर्णय हो जाने के बाद उत्पादन प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । उत्पादन में विभिन्न साधनों- भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध एवं साहस का सहयोग लिया जाता है । उत्पादन के इन साधनों को इनके पारिश्रमिक का भुगतान करना होता है । अब प्रश्न उठता है कि किसे कितना दिया जाय। विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में इस मूलभूत प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया गया है । अर्थव्यवस्था में वितरण सिद्धान्त (Theory of Distribution) के अन्तर्गत हम इन प्रश्नों का हल ढूंढते हैं । आर्थिक एवं राजनैतिक दोनों के क्षेत्रों में इस समस्या का सर्वमान्य हल उपलब्ध नहीं हैं।

4. अल्पकाल में राशनिंग व्यवस्था अर्थव्यवस्था एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य अल्पकाल में उन वस्तुओं के राशनिंग की व्यवस्था करना है जिनकी पूर्ति में परिवर्तन नही किया जा सकता है । इस समयान्तराल को अल्पकाल की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें वस्तु की पूर्ति को बढ़ाना सम्भव न हो । उद्योगों एवं कृषि जन्य पदार्थों की उत्पति एक निश्चित समय से पूर्व नही बढ़ाई जा सकती है । यह समय प्रत्येक वस्तु के लिए अलग अलग होता है । जैसे गेहूँ की एक फसल आने के पश्चात् उसकी दूसरी फसल आने से पूर्व उसकी और पूर्ति बढ़ाना सम्भव नहीं है। अत: इस अवधि के बीच वस्तु की पूर्ति का नियमन करना आवश्यक होता है । राशनिंग की आवश्यकता सभी उपभोक्ताओं तक, चाहे यह किसी भी क्षय समूह में आते हो, वसस्तुओं की पूर्ति सुनिश्चित करने के लिए भी है । प्रोफेसर रिचार्ड लेफ़्ट्विच इस कार्य पर अधिक बल देते हैं उनके मत में राशनिंग की यह व्यवस्था सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं को करनी आवश्यक है।

5. आर्थिक स्थिरता एवं विकास विश्व की प्रत्येक अर्थव्यवस्था को अपनी उत्पादन क्षमता में प्राप्त स्थिति का अनुरक्षण तथा उसमें विकास के भरे में प्रयत्नशील रहना होता है । विकसित अर्थव्यवस्थाएं जो पहले से ही विकास रूपी पर्वत शिखर की चोटी पर है अपनी

उत्पादन क्षमता में स्थिरता बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहती है ताकि उपयोग के जिस ऊँचे स्तर पर दे पहुंच चुके हैं वहां बने रह सके । आर्थिक क्षमता के अनुरक्षण के लिए मशीनों की उत्पादन क्षमता को घिसावट व्यय के उचित प्रावधान द्वारा बनाये रखना जरूरी होता है । विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की समस्या विकास की गति को बड़ाने की है । इसके लिए उत्पादन क्षमता का निरन्तर विस्तार आवश्यक होता है । विस्तार के लिए अर्थव्यवस्था में साधनों की मात्रा में निरन्तर वृद्धि तथा उत्पादन तकनीकी में निरन्तर सुधार आवश्यक है । इस प्रकार प्रत्येक अर्थव्यवस्था चाहे वह विकसित हो अथवा विकासशील आर्थिक स्थिरता एवं विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील रहती है ।

6. साधनों को पूर्ण रोजगार कुछ अर्थशास्त्रियों के मत में साधनों का पूरा उपयोग मूलभूत आर्थिक समस्या है। पूर्ण रोजगार से अभिप्राय साधनों का उस सीमा तक पूरा उपयोग करना हैं जिस सीमा तक अर्थव्यवस्था अथवा समाज चाहता है । अगर एक समाज अपने साधनों का उपयोग पूर्ण उपलब्ध क्षमता तक करता है तो समाज में वस्तुओं की उपलब्धता बढ़ाई जा सकती है ।

आज के युग में जहां प्रत्येक अर्थव्यवस्था साधनों की बेरोजगारी की समस्या से पीडित है इस कार्य का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है ।

9.5 एक स्वतंत्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था में मूलभूत आर्थिक समस्याओं का समाधान कैसे होता है?

मूलभूत आर्थिक समस्याओं का समाधान किस प्रकार किया जायेगा? यह अर्थव्यवस्था के प्रकार पर निर्भर करेगा । एक स्वतंत्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था अथवा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, प्रतिस्पर्द्धा एवं मांग व पूर्ति की शक्तियों की निर्वाण कार्यप्रणाली पर अधिक बल दिया जाता है । उद्यमियों का उद्देश्य अधिकाधिक लाभ अर्जित करना होता है ।

वस्तुओं की किस्म व मात्रा के निर्धारण में उपभोक्ता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय को व्यय करने के लिए स्वतंत्र होता है । वह अपने रूपये उस वस्तु पर व्यय करता है जो उसे सर्वाधिक पसन्द हो तथा जो वह खरीदने. में समर्थ हो । इस प्रकार उपभोक्ताओं द्वारा रूपये देकर वस्तुओं को खरीदने को हम चुनाव के दृष्टान्त द्वारा समझ सकते हैं । जैसे चुनाव में वह व्यक्ति विजय होता है जिसके मत सर्वाधिक हो उसी प्रकार उत्पाद बाजार में जिस वस्तु को सर्वाधिक 'रुपया वोट" मिलता है वही विजयी हो जाती है। उस वस्तु के उत्पादकों को मुनाफा होता है । अत: उस वस्तु की पूर्ति और बढ़ाई जाती है । जिस वस्तु के उत्पादक उत्पाद-बाजार से पर्याप्त रूपया-वोट बटोरने में असमर्थ होते हैं उन्हें हानि उठानी पडती है । इसके परिणाम स्वरूप वे उस वस्तु का उत्पादन बन्द कर देते हैं । इस प्रकार स्वतंत्र उपभोक्ताओं की पसन्द के अनुसार रुपया-वोट व्यय किया जाता है और उत्पादक अन्त में उन्हीं वस्तुओं की अधिक मात्रा लेकर उपस्थित होते हैं । इस प्रकार स्वतंत्र उद्यम अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की पसन्द का स्थान सर्वोपरि है । उपभोक्ता की स्थिति किसी राजा से कम नहीं होती इसलिये इस सिद्धान्त को 'उपभोक्ता की सार्वभौमिकता के नाम से पुकारा जाता है । उपभोक्ता एक सार्वभौम राजा की तरह होता है और उसकी हर पसन्द का उत्पादक,

व्यापारी, साधनों के पूर्तिकर्ता पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं । अन्यथा वे हानि उठाते है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जायेगा जो एक स्वतंत्र उद्यम अर्थव्यवस्था के उपभोक्ता पसन्द करते हैं।

स्वतंत्र उद्यम या पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादक द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली तकनीक का निर्धारण विभिन्न साधनों की सापेक्षिक कीमतों के आधार पर तथा उनके द्वारा उत्पादित वस्तु के मूल्य के आधार पर किया जाता है । उत्पादक सदैव उत्पादन साधनों के सीमान्त मूल्य उत्पाद तथा उनकी कीमतों के अनुपातों की तुलना कर साम्य स्थापित करने का प्रयास करेगा ताकि:

$$\frac{MP_a}{Pa} = \frac{MP_b}{Pb} = \frac{MP_c}{Pc} \text{ and So on}$$

जहां MP = सीमान्त मूल्य उत्पाद

P = साधन की कीमत

a,b,c, = उत्पादन के विभिन्न साधन

रिचार्ड लेफ्टविच के मत में 'प्रयोग की जाने वाली तकनीकी का चयन साधनों की सापेक्ष कीमतों व उत्पादित की जाने वाली वस्तु की मात्रा पर निर्भर करेगा । उत्पादक फर्म का उद्देश्य जो भी उत्पादन जितना भी सस्ता व कुशलता से उत्पादित हो सके उत्पादन करना है । अत: यदि श्रम अपेक्षाकृत मंहगा व पूँजी सस्ती है तो फर्म उस तकनीक का प्रयोग करना चाहेगी जिसमें अधिक पूँजी व कम श्रम की आवश्यकता हो । अगर पूँजी अपेक्षाकृत मंहगी व श्रम सस्ता होगा तो सर्वाधिक कुशल तकनीक वह होगी जिसमें कम पूँजी व अधिक श्रम का उपयोग हो।"

उत्पादन किसके लिये किया जाय अथवा उत्पादित आय का वितरण किनमें हो यह प्रश्न पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए काफी सरल है । क्योंकि प्रत्येक उत्पाद की कीमत होती है। वस्तु का विभिन्न उपभोक्ताओं के बीच उनकी वस्तु के लिये चाहत व चुकाने की क्षमता के अनुपात में किया जाता है । जिनकी आय अधिक होती है दे उत्पादन में से अधिक हिस्सा खरीद सकते हैं । अत: यदि स्वतंत्र उद्यम अर्थव्यवस्था में आय का वितरण असमान होता है । अब प्रश्न यह है कि पूँजीवाद में व्यक्ति की आय कैसे निर्धारित होती है । मौद्रिक आय दो बातों पर निर्भर करती है-1. विभिन्न मानवीय व सम्पति साधनों का स्वामित्व 2. साधनों की कीमत ।

एक स्वतंत्र उद्यम अर्थव्यवस्था में आय का वितरण पूर्णत: व्यक्ति द्वारा किये गये श्रम व त्याग पर निर्भर नहीं होता बल्कि मोटे रूप में उत्पादक साधनों के स्वामित्व पर निर्भर होता है । यह कारण है कि आय व धन की असमानता पूँजीवाद अर्थव्यवस्थाओं की मुख्य विशेषता मानी जाती है ।

अल्पकाल में राशनिंग का प्रश्न भी पूँजीवाद अथवा स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था में कीमत तंत्र द्वारा नियंत्रित होता है । यदि वस्तु की पूर्ति उसकी मांग के अनुपात में कम है तो उसकी कीमत उस वक्त तक बढ़ती रहेगी जब तक कि मांग पूर्ति बराबर न हो जाय । दूसरी

तरफ यदि मांग की तुलना में पूर्ति अधिक है तो कीमतों में उस समय तक गिरावट जारी रहेगी जव तक कि मांग व पूर्ति में संतुलन न हो जाय ।

कीमत तंत्र पूँजीवाद में वस्तु की पूर्ति के प्रवाह को समय के साथ-साथ नियमित करता है । सट्टा प्रवृतियों से भी वस्तुओं का प्रवाह प्रभावित होता है । जब कीमतें कम होती है सटोरिये वस्तुओं को खरीद कर जमा कर लेते हैं और जब कीमते बढ़ जाती है वे उसे बेच कर पूर्ति के प्रवाह को जोरी रखते है । इस प्रकार किसी नियोजन अधिकारी के न होने पर भी पूँजीवाद में वस्तुएँ उपलब्ध रहती है ।

आर्थिक क्षमता के अनुरक्षण तथा विकास के पीछे भी प्रेरक शक्ति आय व लाभ भावना हैं । श्रमिक सदैव अच्छी शिक्षा एवं प्रशिक्षण द्वारा अपनी योग्यता बढ़ना चाहेगा । क्योंकि वह जानता है अच्छा प्रशिक्षित श्रमिक ऊँची मजदूरी प्राप्त करता है । इस प्रकार अधिक आय की लालसा पूँजीवाद की प्रेरणा शक्ति है ।

आर्थिक विकास की गीत को बढ़ाने के लिये पूँजी संचय एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है । पूँजी संचय के लिये साधनों का वर्तमान उपयोग से भावी उपयोग के लिये हस्तान्तरण आवश्यक है । पूंजीवाद में भावी लाभ की आशा एक प्रेरणा शक्ति है जिससे व्यक्ति वर्तमान उपयोग को त्याग कर भविष्य के लिये बचत करते है।

पूर्ण रोजगार की समस्या का हल भी कीमत प्रणाली के द्वारा ही ढूंढ़ा जाता है.। बचत व निवेश रोजगार सिद्धान्त के दो महत्वपूर्ण आधार स्तंभ है । ब्याज की दरों में परिवर्तन से बचतों व निवेश में साम्य स्थापित होता है और इससे पूर्ण रोजगार प्राप्त करने में मदद मिलती है । यह दृष्टिकोण परम्परा वादी अर्थशास्त्रियों का था ।

9.6 एक केंद्रीय नियोजित अर्थव्यवस्था में मूलभूत समस्याओं का समाधान कैसे होता है?

केन्द्रीय नियोजित अर्थव्यवस्था अथवा समाजवादी अर्थव्यवस्था में मूलभूत समस्याओं का हल केन्द्रीय नियोजन अधिकारी द्वारा किया जाता है समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में कीमत निर्धारण के लिए बाजार तंत्र को स्वतंत्र नही छोडा जाता है । केन्द्रीय नियोजित अधिकारी देश में उपलब्ध साधनों का सावधानी पूर्वक सर्वेक्षण करने के बाद प्राथमिकताओं का निर्धारण करते हैं। साधनों का आवंटन करते समय नियोजन अधिकारी द्वारा निर्धारित प्राथमिकताओं का ध्यान रखा जाता है। साधन आवंटन की इस पद्धति को हम आदेश तंत्र के नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्थाएं यह दावा करती है. कि वे निर्णय लेते समय अधिकतम सामाजिक हित के सिद्धान्त का परिपालन करती है । उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जो नियोजन अधिकारी की राय में समाज के हित में होती है । वस्तुओं की उत्पादित की जाने वाली मात्राओं का निर्धारण भी नियोजन अधिकारी द्वारा मांग का पूर्वानुमान लगाने के बाद किया जाता है । यही कारण है इन अर्थव्यवस्थाओं में पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं की प्रमुख रूप से पाई जाने वाली आर्थिक उच्चावचन की बीमारी नहीं पाई जाती है । अगर नियोजन का आधार सुदृढ़ है तो वास्तव में यह बात सही है । परन्तु यदि नियोजक अपर्याप्त आंकडों पर आधारित है तो लक्ष्यों को प्राप्त करना असम्भव होगा । ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था में सदैव

अभाव की स्थिति बनी रहेगी । यह भी सम्भव है कि नियोजन अधिकारी द्वारा लिये गये निर्णयों से सामाजिक हित अधिकतम न हो ।

उत्पादन कैसे किया जाय अथवा उत्पादन की कौनसी तकनीक का इस्तेमाल किया जाय यह निर्णय भी साधनों की सापेक्षिक उपलब्धता एवं कुशलता के आधार पर किया जाता है। वह समाजवादी देश जिसमें मानवीय साधनों को पूरा रोजगार उपलब्ध नहीं है श्रम प्रधान तकनीकों का प्रयोग कर सकता है ताकि देश में उपलब्ध अतिरिक्त श्रम शक्ति को रोजगार दिलाया जा सके ।

उत्पादन किसके लिये किया जाय यह प्रश्न समाजवादी अर्थव्यवथाओ के लिये बहुत महत्वपूर्ण होता है । समाजवादी अर्थव्यवस्था में समानता के सिद्धान्त पर अधिक बल दिया जाता है वे धन ब आय के असमान वितरण को समाप्त करना चाहते हैं । मार्क्सवाद का प्रमुख सिद्धान्त है "प्रत्येक से क्षमतानुसार व प्रत्येक को आवश्यकतानुसार" । यह सही है कि पूर्ण समानता प्राप्त करना तो सम्भव नहीं है परन्तु गरीबी ब अमीरी के बीच की खाई को पाटने के प्रयास किये जाते हैं ।

समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में राशनिंग काफी महत्वपूर्ण होती है । सरकार उन वस्तुओं की पूर्ति पर नियंत्रण रखती है जिनकी कमी होती है ।

समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में देश की उत्पादन क्षमता के अनुरक्षण व विकास की जिम्मेदारी केन्द्र सरकार की होती हे । विकास के प्रारम्भिक चरणों में उपयोग पर प्रतिबन्ध. लगाकर साधनों का हस्तान्तरण मजबूत आधार बनाने के लिये किया जा सकता है जिससे भविष्य में अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो सके ।

9.7 मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में मूलभूत समस्याओं का समाधान कैसे होता है?

मिश्रित अर्थव्यवस्था मे पूंजीवाद अर्थव्यवस्था के प्रमुख गुण जैसे चयन की स्वतंत्रता, कीमत प्रणाली व प्रतियोगिता एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था के प्रमुख गुण जैसे धन व आय का समान वितरण एवं आर्थिक नियोजन आदि का समावेश होता है । सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रयोग समाज के कमजोर वर्ग को लाभ पहुँचाने के लिये किया जाता है । कभी-कभी दोहरी मूल्य नीति का उपयोग भी किया जाता है । सार्वजनिक क्षेत्र सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए मूलभूत आर्थिक समस्याओं का हल ढूंढते हैं । जबकि निजी क्षेत्र में निर्णय लाभ की भावना के आधार पर लिये जाते हैं । इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था में कीमत प्रणाली एवं सरकारी नियंत्रण का साथ-साथ प्रयोग होता है।

बोध प्रश्न -2

1. एक अर्थव्यवस्था की केंद्रीय समस्याएं क्या है। विभिन्न आर्थिक प्रणालियों में उन्हे कैसे हल किया जाता है?

2.	एक अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याएँ क्या है? एक स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था में इनका समाधान कैसे होता है?
	--
	--
3.	आर्थिक समस्या की प्रकृति की विवेचना कीजिये?
	--
	--

9.8 सारांश (Summary)

अर्थव्यवस्था एक मानव संगठन है जिसका उद्देश्य सीमित संसाधनों के कुशलतम उपयोग द्वारा मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करना है । मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए आर्थिक क्रियाओं के द्वारा जीविकोपार्जन करना आवश्यक है । अर्थव्यवस्था में हम उन्हीं क्रियाओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें वैधानिक एवं सामाजिक मान्यता प्राप्त है । जीविकोपार्जन के लिए उत्पादन के विभिन्न संसाधनों को आपस में सहयोग करना होता है क्योंकि उत्पादन एक श्रृंखलाबद्ध प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया में कहीं जगह व्यवधान आने पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में संकट उत्पन्न हो जाता है । आर्थिक क्रियाओं का स्तर बदलता रहता है एवं आर्थिक संस्थाओ का जन्म एवं विकास के साथ-साथ विनाश भी होता है ।

समस्त अर्थव्यवस्थाओं की कुछ आधारभूत समस्याएं होती है जिनका हल प्रत्येक अर्थव्यवस्था को ढूढ़ना होता है । इन्हें हल करने के यंत्र एवं उपकरण अलग-अलग हो सकते है पर सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं का लक्ष्य एक ही है और वह है मानव कल्याण । पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में कीमत तंत्र की भूमिका महत्वपूर्ण होती है जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में समस्याओं के हल में आदेश तंत्र की भूमिका होती है । मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में इन दोनों की मिलीजुली भूमिका होती है ।

9.9 शब्दावली

साधन	–	अर्थव्यवस्था में मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए काम में आने वाले यंत्र, उपकरण, भूमि एवं मानवीय प्रयत्न।
दुर्लभता	–	सीमित पूर्ति को दर्शाने वाला एक सापेक्ष शब्द जो आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उपलब्धसंसाधनों को देखता है ।
उपभोक्ता	–	विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं को अन्तिम रूप से काम में लेने वाला व्यक्ति।

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

रिचार्ड लेफ्टविच, कीमत प्रणाली एवं साधन आवंटन

एम.के घड़ोलिया, Economic Organisation, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, मुंबई 1986

लक्ष्मीनारायण नाथुरामका, आर्थिक संगठन ।

9.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अर्थव्यवस्था से क्या तात्पर्य है?
2. "अर्थव्यवस्था एक प्रणाली है जिससे जीविकोपार्जन होता है" (ए.जे. ब्राउन) विवेचना कीजिए?
3. अर्थव्यवस्था क्या है? विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में आप किन आधारों पर अन्तर करेंगे?
4. "अर्थव्यवस्था उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उत्पादकों का एक संगठन हैं"(जे.आर हिक्स) इस कथन की विवेचना कीजिये ।

इकाई-10

आर्थिक संस्थाएं

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 व्यावसायिक संगठन के रूप

10.2.1 व्यावसायिक संगठन का अर्थ

10.2.2 व्यावसायिक संगठन की विशेषताएं

10.2.3 व्यावसायिक संगठन का महल

10.2.4 व्यावसायिक संगठनों का वर्गीकरण

10.3 मुद्रा तथा बैंकिंग संस्थाएं एवं उनके कार्य

10.3.1 केन्द्रीय बैंक एवं उसके कार्य

10.3.2 व्यापारिक बैंक एवं उनके कार्य

10.3.3 विकास बैंक एवं उनके कार्य

10.3.4 सहकारी बैंक एवं उनके कार्य

10.3.5 विदेशी विनिमय बैंक एवं उनके कार्य

10.4 अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ : अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक

10.4.1 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

10.4.2 विश्व बैंक

10.5 सारांश

10.6 शब्दावली

10.7 प्रमुख उपयोगी पुस्तकें

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.0 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- व्यावसायिक संगठन का अर्थ, उसकी विशेषताओं, महत्व तथा उसके विभिन्न रूपों को भलीभाँति समझ सकेंगे एवं उनके तुलनात्मक गुण दोषों के बारे में जान सकेंगे ।
- मुद्रा तथा बैंकिंग संस्थाओं के विभिन्न स्वरूपों तथा उनके कार्यो के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य, कार्य एवं उनकी प्रगति से अवगत हो सकेंगे ।
- विश्व बैंक के उद्देश्य, कार्य एवं उसकी प्रगति के बारे में जान सकेंगे ।

10.1 प्रस्तावना (Introduction)

संगठन की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होती है । जब किसी कार्य को करने के लिए दो या अधिक व्यक्तियों को मिलकर काम करना पडता है, तो उनके सामूहिक एवं समन्वित प्रयत्नों को ही संगठन कहा जाता है । आधुनिक आर्थिक जटिल युग में बिना संगठन के किसी भी प्रकार के व्यवसाय को चलाना संभव नहीं है । इसलिए व्यावसायिक संगठनों के विभिन्न रूपों का अध्ययन किया जाना आवश्यक है । किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में मुद्रा तथा बैंकिंग संस्थाओं का वही स्थान होता है जो किसी व्यक्ति के शरीर में उसकी रक्त वाहिनी कोशिकाओं का होता है । इसलिए इन संस्थाओं के विभिन्न प्रकारों तथा उनके कार्या का ज्ञान किसी भी आर्थिक प्रणाली के कार्य संचालन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक दो प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ हैं जो विभिन्न सदस्य देशों को वित्तीय एवं तकनीकी सहायता प्रदान कर उनके व्यापार एवं विकास को प्रोत्साहन देती है । इसलिए इन दोनों संस्थाओं के उद्देश्यों एवं कार्यों का ज्ञान होना अत्यन्त उपयोगी है । इस इकाई के अध्ययन से हम कुल मिलाकर विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संगठनों, मुद्रा एवं बैंकिंग संस्थाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के बारे में जानकारी से लामाचित हो सकेंगे ।

10.2 व्यावसायिक संगठन रूप(Form of Business Organisation)

10.2.1 व्यवसायिक संगठन का अर्थ (Meaning of Business Organisation)

व्यवसायिक संगठन दो शब्दों के मिश्रण से बना है - व्यवसाय + संगठन। व्यवसाय से

आशय उन आर्थिक क्रियाकलापों से है जो समाज की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करके लाभ अर्जित करने हेतु सम्पन्न किए जाते हैं । संगठन से आशय उस ढांचे या व्यवस्था से है जिसके माध्यम से एक संस्था के पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है । विलियम एच. न्यूमेन के अनुसार, "व्यवसायिक संगठन से तात्पर्य किसी सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कुछ व्यक्तियों के समूह प्रयत्नों का मार्गदर्शन, नेतृत्व एवं नियन्त्रण करने से है।

ई.एफ.एल.ब्रेच के शब्दों में, "व्यवसायिक संगठन किसी उद्योग का वह कार्य है जो कि उन विधियों के निर्माण एवं उत्पादन से सम्बन्धित है, जो कार्यक्रम निश्चित करती है, क्रियाकलापों की प्रगति का नियमन करती है और योजनाओं के संदर्भ में उनके परिणामों का मूल्यांकन करती है"।

इस प्रकार व्यावसायिक संगठन से तात्पर्य लाभ उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवसाय के विभिन्न घटकों जैसे मानव, मशीन, सामग्री, पूँजी एवं शक्ति आदि को एकत्रित करना एवं प्रभावकारी तरीके से उनके मध्य सामंजस्य स्थापित करना है ताकि व्यवस्थित ढंग से कुशलतापूर्वक कार्य सम्पन्न करवाया जा सके ।

10.2.2 व्यावसायिक संगठन की विशेषताएं (Characteristics of Business Organisation)

उपयुक्त परिभाषाओं के आधार पर एक व्यावसायिक संगठन में निम्नलिखित तत्व या विशेषताएं होनी चाहिए

1. व्यावसायिक संगठन के उद्देश्य एवं लक्ष्य पूर्व निर्धारित एवं स्पष्ट होते हैं ।
2. व्यावसायिक संगठन एक आर्थिक संगठन है ।
3. व्यावसायिक संगठन एक कला एवं विज्ञान है जो व्यावसायिक क्रियाओं के कुशल संचालन एवं समन्वय में सहयोग करता है ।
4. व्यावसायिक संगठन में एक से अधिक व्यक्ति समूह में कार्य करते हैं । अत: यह एक क्रियात्मक सामाजिक विज्ञान है ।
5. व्यावसायिक संगठन प्रबन्ध का एक औजार या यन्त्र है ।
6. व्यावसायिक संगठन के अन्तर्गत विभिन्न साधनों की व्यवस्था से लेकर व्यवसायिक क्रियाओं का निर्देशन एवं संचालन तक का कार्य सम्मिलित होता है ।

10.2.3 व्यावसायिक संगठन का महत्व (Importance of Business Organisation)

आज के बड़े पैमाने के उत्पादन के युग में व्यावसायिक संगठन का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है । व्यवसायिक संगठन प्रत्येक समाज एवं राष्ट्र की आर्थिक प्रगति में सहायक सिद्ध हुआ है । आज अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, जापान, जर्मनी आदि राष्ट्रों की समृद्धि का एकमात्र रहस्य व्यावसायिक संगठन में निहित है । व्यावसायिक संगठन ने इन राष्ट्रों में औद्योगिक विकास एवं वैज्ञानिक उन्नति के द्वार खोल दिये हैं । व्यावसायिक संगठन के महत्व को हम निम्न तथ्यों के आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं :

1. वस्तुओं और सेवाओं का कुशलतापूर्वक उत्पादन एवं वितरण

व्यावसायिक संगठन मानवीय और गैर-मानवीय साधनों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करके तथा व्यावसायिक क्रियाओं में प्रभावी सामन्जस्य स्थापित करके न्यूनतम लागत पर वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करता है । इसी तरह वितरण व्यवस्था को प्रभावशाली बनाकर ग्राहकों के निकटतम स्थान पर पहुँच कर माल का सही ढंग से वितरण करता है ।

2. रोजगार के अवसरों में वृद्धि

व्यावसायिक संगठनों के विकास से व्यावसायिक गतिविधियों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है। इनके द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार के साधनों में वृद्धि होती है । भारतवर्ष में आज भी लगभग 30% जनता व्यावसायिक क्रियाओं में लगी हुई है ।

3. देश के तीव्र आर्थिक विकास में सहायक

कुशल व्यावसायिक संगठन राष्ट्र के मानवीय और प्राकृतिक साधनों का पूरा सदुपयोग करता है। सभी साधनों का उपयोग करके अधिक मात्रा में उत्पादन किया जाता है । उपलब्ध साधनों का प्रभावकारी रंग से प्रबन्ध करके यह देश का आर्थिक विकास तीव्र गीत से करने में सक्षम होता है ।

4. समाज के जीवन-स्तर में वृद्धि करना

कुशल व्यावसायिक संगठन समाज की आधारभूत आवशकताओं को पूरा करके तथा नयी-नयी वस्तुओं का उत्पादन करके समाज के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने में योगदान देता है। रोजगार के साधनों का विकास करके समाज के लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि करता है तथा नयी-नयी वस्तुओं का उपभोग करने से उनका जीवन-स्तर ऊंचा उठता है ।

5. राष्ट्र के साधनों का सदुपयोग करना

व्यावसायिक संगठन देश के प्राकृतिक साधनों का कुशलतापूर्वक विदोहन करके, जैसे खनिज सम्पदा को बाहर निकालना है, तथा मानवीय साधनों की सहायता से उसका उपयोग राष्ट्रीय हित में करने के अवसर सुलभ कराता है ।

6. सीमित पूंजी का श्रेष्ठतम उपयोग

कुशल व्यावसायिक संगठन के द्वारा संगठन में उपलब्ध सीमित पूंजी का श्रेष्ठ एवं कुशल उपयोग कर लागत कम की जा सकती है । संगठन में पूंजी को प्राथमिकतानुसार कार्यों में वर्गीकृत किया जा सकता है । प्रभावी वित्त प्रबन्धन के द्वारा यह कार्य सरल हो जाता है ।

7. राष्ट्रीय खुशहाली में वृद्धि

व्यावसायिक संगठनों का योगदान इसलिए भी अधिक महत्वपूर्ण है कि ये देश के सम्पूर्ण साधनों का अधिकतम उपयोग करके तथा सरकारी योजनाओं को पूरा करने में योगदान देकर राष्ट्र को उन्नति की ओर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध होते है ।

10.2.4 व्यावसायिक संगठनों का वर्गीकरण (Classification of Business Organisation)

व्यावसायिक संगठनों को निम्नलिखित आधारों वर्गीकृत करके उनके विभिन्न प्रकारों का अध्ययन किया जा सकता है :

I आकार के आधार पर वर्गीकरण:

(क) वृहत्-स्तरीय संगठन

(ख) लघु-स्तरीय संगठन ।

II स्वामित्व एवं प्रबन्ध के आधार पर वर्गीकरण

(क) एकाकी व्यापार

(ख) संयुक्त हिन्दू परिवार व्यवसाय

(ग) साझेदारी

(घ) संयुक्त पूँजी कम्पनी

(ड) सहकारी संगठन

(च) सार्वजनिक क्षेत्र के संगठन या राजकीय उपक्रम

(छ) संयुक्त क्षेत्र ।

I. आकार के आधार पर व्यावसायिक संगठनों के प्रकार (Type of Business Organizations' on the Basic of Size)

इस आधार पर व्यावसायिक संगठन निम्नानुसार है।

(क) वृहत्-स्तरीय व्यावसायिक संगठन (Large-Scale Business Orgainsation)

सामान्यत: कोई भी व्यावसायिक संगठन जो सामान्य से भी बड़े आकार का होता है, वह वृहत् अथवा बड़ा व्यावसायिक संगठन कहलाता है। विस्तृत अर्थ में वृहत् व्यावसायिक संगठन वे संगठन है जिनमें बड़े पैमाने पर पूंजी विनियोग तथा मशीनीकरण से बड़े स्तर पर वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन अथवा वितरण किया जाता है। अत: इन संगठनों में प्राय: पूंजी का विनिवेश बहुतायत मात्रा में होता है। उत्पादन में प्राय: स्वचालित यंत्रों का उपयोग किया जाता है। वर्तमान में ऐसे संगठनों की कार्यप्रणाली में कम्प्यूटरों का उपयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

विशेषताएं (Charactersitics)

1. वृहत्-स्तरीय संगठनों का आकार बहुत बडा होता है ।
2. इन संगठनों में श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के सिद्धान्तों को अपनाया जाता है।
3. इन संगठनों की उत्पादन प्रणाली या कार्यप्रणाली में मशीनीकरण एवं स्वचालित यंत्रों का उपयोग किया जाता है ।
4. वृहत् संगठनों में पूंजी की प्रधानता पाई जाती है ।
5. इनका कार्यक्षेत्र विस्तृत होता है ।
6. अनुसंधान, विकास एवं नवीनीकरण वृहत्-स्तरीय संगठनों की सफलता के केन्द्र बिन्दु होते हैं ।

(ख) लघु-स्तरीय व्यावसायिक संगठन (Small - Scale Business Organisation)

सामान्यत: लघु-स्तरीय व्यावसायिक संगठन उसे कहते हैं जिसके उत्पादन का पैमाना सामान्यत: बहुत ही छोटा होता है । इनमें कुछ यंत्रों के उपयोग तथा मानद-श्रम के सहयोग से उत्पादन तथा वितरण की क्रियाओं का सम्पादन किया जाता है । अत: निकर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि लघु व्यावसायिक संगठन वह है जिसका स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण प्राय: एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों के छोटे से समूह (2-5 व्यक्तियों) के हाथों में होता है, सीमित विनियोग (सरकार द्वारा निर्धारित सीमा मे) होता है, जिसका कार्यक्षेत्र प्राय: स्थानीय सीमाओं में ही होता है तथा जिसका उत्पादन का पैमाना सम्पूर्ण उद्योग की तुलना में बहुत ही छोटा होता है ।

विशेषताएं (Characteristies)

लघु व्यवसायिक संगठनों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार हैं:

1. पूंजी की आवश्यकता सीमित मात्रा में होती है ।
2. इसका स्वामित्व किसी एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों के छोटे समूह के हाथों में ही होता है ।
3. लघु व्यवसायिक संगठनों का कार्यक्षेत्र सीमित और स्थानीय होता है ।

4. इन संगठनों में प्रबन्ध एवं नियन्त्रण इनके स्वामी या स्वामियों के हाथों में ही केन्द्रित होता है
5. लघु-स्तरीय व्यवसायिक संगठन प्राय: श्रम-प्रधान होते हैं ।
6. उत्पादन का पैमाना बहुत सीमित मात्रा में होता है ।

II स्वामित्व एवं प्रबन्ध के आधार पर वर्गीकरण (Type of Business Organisation on the Basis of Ownership and Management)

स्वामित्व एवं प्रबन्ध के आधार पर व्यावसायिक संगठन निम्नलिखित प्रकार के होते हैं

(क) एकाकी व्यापार (Sole Trading)

व्यावसायिक संगठनों के प्रारूपों में एकाकी व्यावसायिक संगठन सबसे प्राचीन एवं आज भी विश्व में सबसे लोकप्रिय हैं । इस व्यावसायिक संगठन का स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण एक ही व्यक्ति के पास होता है । वही व्यक्ति उस व्यवसाय की समस्त पूँजी की व्यवस्था अपने पास से अथवा अपने परिचितों से लेकर करता है । अन्य व्यावसायिक संगठनों की तुलना में इसकी स्थापना सरल है । लुईस एच. हेने के अनुसार, "एकाकी व्यवसाय, व्यावसायिक संगठन का वह स्वरूप है जिसका प्रमुख एक ही व्यक्ति होता है, जो उसके समस्त कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है, उसकी समस्त क्रियाओं का संचालन करता है एवं लाभ-हानि का सम्पूर्ण भार स्वयं ही उठाता है ।"

विशेषताएं (Characteristics)

एकाकी व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. इसमे एकल या व्यक्तिगत स्वामित्व पाया जाता है क्योकि समस्त और पूंजी पर एक ही व्यक्ति का स्वामित्व होता है ।
2. एकाकी व्यवसाय का दायित्व असीमित होता है ।
3. इस प्रकार के संगठन में स्वामित्व और प्रबंध में पृथकता नही पायी जाती है।
4. एकाकी व्यापार में प्राप्त लाभ हानि में अन्य हिस्सेदार नही होता है ।
5. एकाकी व्यापार का अस्तित्व अस्थायी होता है।
6. एकाकी व्यापार की स्थापना करना सरल है अर्थात कम वैधानिक औपचारिकताएँ पूरी करनी पडती है ।
7. एकाकी व्यापार ने सीमित पूँजी और सीमित प्रबन्धकीय योग्यता के कारण इसका कार्यक्षेत्र सीमित ही होता है ।

गुण व दोष (Merits and Demerits)

एकाकी व्यापार में निम्नलिखित गुण व दोष पाये जाते हे

1. **स्थापना एवं अन्त में सरलता** एकाकी व्यापार की स्थापना और अन्त करना सरल हे । इस हेतु किसी प्रकार की वैधानिक औपचारिकताएँ नहा करनी पड़ती हैं ।

2. **प्रत्यक्ष प्रेरणा** इस संगठन से प्राप्त सभी लाभों पर एकाकी व्यापारी का अधिकार होता है, अत: वह पूर्ण लगन और परिश्रम से कार्य करता हे ताकि अधिकाधिक लाभ अर्जित कर सके।

3. **शीघ्र निर्णय** इसमें एकांकी व्यवसायी स्वयं निर्णय लेने वाला होता है । फलस्वरूप वह शीघ्रता से उचित निर्णय लेकर व्यावसायिक अवसर का फायदा उठा सकता है ।

4. **गोपनीयता** व्यवसाय में लिए जाने वाले निर्णय यदि गोपनीय नहीं रखे जाते हैं तो उसका लाभ प्रतिस्पर्धी संस्था उठा सकती है । एकाकी व्यापार में व्यवसायी अकेला निर्णय लेता है अत: अन्य किसी व्यक्ति को लिये गये निर्णयों की जानकारी नहीं होती है ।

5. **लोचशीलता** बड़े व्यावसायिक संगठनों की तुलना में इस संगठन में परिस्थितियों के अनुसार शीघ्र परिवर्तन करना सरल होता हे । इसके कार्यक्षेत्र को विस्तार देने एवं सीमित करने में कोई वैधानिक रूकावट नहीं आती है।

दोष या सीमाएं

1. **असीमित दायित्व** असीमित दायित्व से तात्पर्य व्यवसाय से उत्पन्न देनदारियों अथवा हानियों के लिए एकाकी व्यापारी की निजी सम्पत्ति का प्रयोग किया जा सकता है । निरन्तर हानि की दशा में एकाकी व्यापारी बर्बाद हो सकता है । अत: बडी जोखिम उठाने के लिए वह साहस नहीं कर पाता है ।

2. **सीमित वित्तीय साधन** एकाकी व्यापारी अकेला व्यक्ति होने के कारण उसके पास पूँजी जुटाने की क्षमता कम होती है, परिणामस्वरूप आधुनिक मशीनों एवं उपकरणों का उपयोग करना तथा व्यवसाय को विस्तार दे पाना कठिन कार्य हो जाता है ।

3. **उतावले निर्णय** एक व्यक्ति की तुलना में समूह द्वारा लिये गये निर्णय अधिक सही होते हैं । जहाँ एक ओर शीघ्र निर्णय लेकर व्यावसायिक अवसरों का लाभ उठाया जाता है, वहीं जल्दबाजी में गलत निर्णय लिये जाने का भी डर बना रहता है ।

4. **अस्थायी अस्तित्व** एकाकी व्यापार का अस्तित्व उसके स्वामी से जुड़ा रहता है । इसमें व्यवसायी ही मृत्यु होने या पागल होने पर व्यवसाय बन्द करना पड़ता है ।

5. **एकाकी व्यापार** बडे पैमाने के व्यवसाय के लिए अनुपयुक्त होते हैं ।

6. **सीमित प्रबन्धकीय** योग्यता के कारण सफलतापूर्वक व्यवसाय का संचालन सम्भव नहीं होता है

(ख) संयुक्त हिन्दू परिवार व्यवसाय (Hindu Undivided Family Busines)

संयुक्त हिन्दू परिवार व्यवसाय एक ऐसा व्यावसायिक संगठन है जिसका जन्म हिन्दू पारिवारिक व्यवस्था के आधार पर हुआ । इस प्रारूप में परिवार के सभी सदस्य व्यवसाय के भागीदार माने जाते हैं तथा व्यवसाय का स्वामित्व एवं नियन्त्रण परिवार के मुखिया के हाथों में केन्द्रित रहता है । परिवार के सभी व्यक्ति उसके नियन्त्रण में कार्य करते हैं । ऐसे संगठन में कर्त्ता को निर्णय करने, उधार लेने एवं अन्य व्यवहार करने का पूरा अधिकार होता है । परिवार में अन्य सदस्य कर्त्ता के अधीन रहकर कार्य करते हैं ।

(ग) साझेदारी संगठन (Partnership Organisation)

एकाकी व्यापार के प्रमुख दोषों जैसे सीमित पूंजी, प्रबन्ध एवं संचालन करने की सीमित प्रबन्धकीय क्षमता तथा बडे पैमाने के व्यवसाय की जोखिम वहन करने में असमर्थता के कारण साझेदारी संगठन का विकास हुआ है । एक व्यक्ति के पास पूंजी होती है, तो व्यावसायिक

कौशल की कमी हो सकती है तथा अन्य व्यावसायिक कौशल वाले व्यक्तियों के पास पूँजी का अभाव हो सकता है । इस पूँजी तथा व्यावसायिक कौशल के श्रेष्ठतम मिश्रण द्वारा कारोबार का संचालन करने के लिए दो या दो से अधिक व्यक्ति साथ मिलकर व्यवसाय करने लगे । इस प्रकार का व्यावसायिक संगठन साझेदारी संगठन कहलाता है ।

भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1932 की धारा 4 के अनुसार, 'साझेदारी उन व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को कहते हैं जो एक ऐसे व्यापार के लाभों को आपस में बाँटने के लिए सहमत हुए हो, जिसे वे सब या उन सबकी ओर से कार्य करते हुए उनमें से कोई एक व्यक्ति चलाता हो ।" अत: निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'साझेदारी दो या दो से अधिक व्यक्तियों की वह संस्था है जिसका निर्माण आपसी समझौते द्वारा होता है, जो सभी के द्वारा संचालित या सभी की ओर से किसी एक द्वारा संचालित कारोबार का लाभ आपस में बांटने के लिए सहमत होते हैं ।" साझेदारी व्यवसाय के स्वामी, व्यक्तिगत रूप से साझेदार कहलाते हैं तथा सामूहिक रूप से कर्म या साझेदारी फर्म कहलाती है ।

विशेषताएं (Characteristics)

साझेदारी संगठन की प्रमुख विशेषताएँ या लक्षण निम्नानुसार हैं.

1. साझेदारी की स्थापना हेतु कम से कम दो तथा अधिकतम संख्या सामान्य कारोबार में 20 और बैंकिंग कारोबार में 10 तक हो सकती है ।
2. साझेदारी का निर्माण उन व्यक्तियों के बीच हुए समझौते अथवा ठहराव द्वारा होता है ।
3. साझेदारी का उद्देश्य वैध कारोबार द्वारा लाभ कमाना तथा उसे आपस में बाँटना होता है ।
4. साझेदारी का प्रबन्ध एवं संचालन सभी साझेदारों अथवा उनकी सहमति से किसी एक साझेदार द्वारा किया जा सकता है ।
5. प्रत्येक साझेदार फर्म का एजेन्ट तथा मालिक दोनों होता है अर्थात् प्रत्येक साझेदार का दोहरा रूप होता है ।
6. साझेदार का दायित्व असीमित होता है ।
7. साझेदारी की सफलता साझेदारों के सद विश्वास स्वंय सदभावना पर निर्भर करती है ।
8. कोई भी साझेदार अपने हित का हस्तान्तरण अन्य समस्त साझेदारों की सहमति के बिना नहीं कर सकता है ।

गुण एवं दोष (Merits and Demerits)

साझेदारी संगठन के गुण-दोष निम्नलिखित हैं

लाभ या गुण

1. **अधिक पूंजी की उपलब्धता** एकाकी व्यापार की तुलना में साझेदारी में पूँजी प्राप्ति के साधन बढ़ जाते हैं । साझेदारों की संख्या अधिक होने के कारण बे अपनी हिस्सा राशि साथ में लाते हैं तथा ऋण लेने की क्षमता में भी वृद्धि हो जाती है ।
2. **सन्तुलित निर्णय** साझेदारी संगठन में प्रत्येक साझेदार अलग-अलग योग्यता और अनुभव रखने वाले व्यक्ति होते हैं । अत: इनके द्वारा सर्वसम्मति से लिए गये निर्णय अधिक ठोस और सन्तुलित होते हैं ।

3. **प्रबंधकीय कौशल में वृद्धि** फर्म के प्रबन्ध एवं संचालन में सभी साझेदार हिस्सा ले सकते हैं, अत: उनकी योग्यता और अनुभव के आधार पर कार्य का बँटवारा किया जा सकता है, जिससे प्रबन्धकीय कौशल में वृद्धि होती है ।
4. **अनुपस्थिति में व्यवसाय का संचालन** जद कोई साझेदार बीमार हो जाए अथवा बाहर चला जाए तो एकाकी व्यापार की तरह व्यवसाय का कार्य रूकता नहीं है । किसी साझेदार की अनुपस्थिति में अन्य साझेदार कारोबार को संभाल लेते हैं ।
5. **गोपनीयता** साझेदारी फर्म में निर्णय लेने और उनकी क्रियान्वित साझेदारों द्वारा स्वयं की जाती है, अत: व्यावसायिक रहस्य साझेदारों तक ही सीमित रहते हैं । इसके अतिरिक्त फर्म के खातों को भी प्रकाशित करना अनिवार्य नहीं है ।
6. **साझेदारी** संगठन की स्थापना और समापन विधि सरल है ।
7. **यह एक लौकतान्त्रिक संगठन है।** इसमें समस्त साझेदारों को अपना मत व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता होती है ।

दोष अथवा सीमाएं

1. **असीमित उत्तरदायित्व** साझेदारी संगठन में सभी साझेदारों का दायित्व असीमित होता है । साझेदारों में हमेशा यह भय बना रहता है कि फर्म के व्यवसाय में हानि होने पर उसकी निजी संपत्ति का भी ऋणों का भुगतान करने के लिए उपयोग किया जा सकता है ।
2. **सीमित पूंजी** साझेदारी संगठन में सदस्यों की अधिकतम संख्या पर पाबन्दी लगी हुई होती है । अत: कम्पनी की तुलना में साझेदारी में पूँजी प्राप्त करने की क्षमता कम होती है ।
3. **हित-हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध** कोई भी साझेदार अन्य साझेदारों की अनुमति के बिना अपना हित या हिस्सा को अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित नहीं कर सकता है ।
4. **संदेह को जन्म** साझेदारी फर्म को लेखे एवं वार्षिक रिपोर्ट कम्पनी संगठन की तरह प्रकाशित नहीं करवानी पड़ती है । इससे फर्म के बारे में बाहरी पक्षों को पूर्ण जानकारी नहीं मिल पाती है और वे कभी-कभी फर्म को सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं ।
5. **साझेदारी में मतभेदों** के उभरने के कारण शीघ्र निर्णय लेना कठिन हो जाता है ।
6. **साझेदार की मृत्यु या पागल होने पर** साझेदारी का अनिवार्य समापन हो जाता है । इसलिए साझेदारी का अस्तित्व स्थायी नहीं होता है ।

(घ) संयुक्त पूँजी कम्पनी सगंठन (Joint Stock Company Organisation)

आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप वृहद्-स्तर पर वस्तुओं के उत्पादन की आवश्यकता हुई तथा व्यवसायिक क्रियाओ के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। एकाकी व्यापार एवं साझेदारी दोनों ही अवस्थाएँ बड़ी हुई वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने तथा बडे व्यवसाय के प्रबन्ध एवं संचालन करने में अनुपयुक्त सिद्ध हुई । एकाकी व्यापार एवं साझेदारी संगठन की असीमित उत्तरदायित्व व सीमित पूँजी जैसी कमियों को दूर करने के 'लो! कम्पनी सगठन का प्रादुर्भाव हुआ । कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 2(10) के अनुसार, 'कम्पनी का आशय ऐसी कम्पनी से है जो धारा 3 में परिभाषित की गई है ।" धारा 3(1) (i) में कम्पनी की परिभाषा इस प्रकार दी गई है, " कम्पनी से आशय ऐसी कम्पनी से है जो भारतीय कम्पनी अधिनियम,

1956 के अधीन रजिस्टर्ड " ही अथवा एक ऐसी विद्यमान कम्पनी से है 'जिसका निर्माण तथा पंजीयन इसके पूर्व के किसी कम्पनी अधिनियम" अंतर्गत हुआ है।"

कम्पनी विधान द्वारा निर्मित एक संस्था है जिसका अपना पृथक् एवं वैधानिक अस्तित्व होता है । इसकी पूँजी अंशों में विभाजन होती है, जिनके घटकों का दायित्व सीमित होता है और वे अंश हस्तान्तरण के लिए स्वतंत्र होता है । संस्था की अपनी एक सार्वमुद्रा होती है ।

विशेषताएं(Characteristics)

सयुक्त पूँजी कम्पनी की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं.

1. कम्पनी सगठन व्यक्तियों का एक ऐच्छिक संघ है, जिसका निर्माण कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड होने के पश्चात् होता है ।
2. कम्पनी संगठन विधान द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति है ।
3. कम्पनी का अस्तित्व उसके सदस्यों के अस्तित्व से पृथक् होता है ।
4. कम्पनी का अस्तित्व अंशधारी का दायित्व सीमित होता है अर्थात् उसके द्वारा खरीदे गये अंशों के अंकित मूल्य (Face Value) तक ही सीमित होता है ।
5. कम्पनी की एक सार्वमुद्रा (Common Seal) होती है । यह कम्पनी के हस्ताक्षर का कार्य करती है ।
6. कम्पनी संगठन में स्वामित्व एवं प्रबन्ध अलग-अलग होता है ।
7. कम्पनी का अस्तित्व स्थायी अथवा शाश्वत होता है ।
8. सार्वजनिक कम्पनी में सदस्यों की न्यूनतम संख्या 7 तथा अधिकतम संख्या परं कोई प्रतिबन्ध नहीं है । निजी कम्पनी की स्थिति में सदस्यों की न्यूनतम संख्या 2 और अधिकतम संख्या 50 होती है ।
9. कम्पनी संगठन में प्रत्येक सदस्य जब चाहे अपने अंशों का हस्तान्तरण किसी भी व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है ।

गुण एवं दोष (Merits and Demerits)

कम्पनी संगठन के गुण एवं दोषों का वर्णन निम्नानुसार है :

लाभ एवं गुण

1. **स्थायी अस्तित्व** कम्पनी संगठन का अस्तित्व स्थायी होता है क्योंकि इसका अपने सदस्यों से पृथक अस्तित्व होता है । अंशधारियों की मृत्यु होने, दिवालिया होने आदि पर कम्पनी के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । स्थायी अस्तित्व से जनता में विश्वास और ख्याति बढ़ती है ।
2. **वित्तीय साधनों में वृद्धि** कम्पनी प्रारूप में सदस्यों की अधिकतम संख्या पर प्रतिबन्ध नहीं है । जब भी अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, तो अतिरिक्त अंशों या ऋणपत्रों का निर्गमन किया जा सकता है । स्थायी अस्तित्व के कारण भी बैंकिंग संस्थाओं अथवा बाजार से आसानी से ऋण प्राप्त हो जाता है ।

3. **सीमित दायित्व** अंशधारियों का दायित्व उनके द्वारा क्रय किये गये शेयरों के अंकित मूल्य तक सीमित होता है । कम्पनी की देनदारियों या ऋणों की वसूली अंशधारियों की निजी एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति से नहीं की जा सकती है । इस कारण विनियोक्ता इस संगठन में धन का विनियोजन करने में संकोच नहीं करते हैं ।
4. **अंशों के हस्तान्तरण की सुविधा** कम्पनी संगठन में अंशधारी जब चाहे तर अपने अंशों का बेचान कर सकते है । इस प्रकार अंशधारी अपने अंशों को नगदी में पीरवर्तित कर सकते हैं।
5. **विकास एवं विस्तार सम्भव** पूँजी की पर्याप्त मात्रा होने के कारण आधुनिक मशीनों एवं उपकरणों का प्रयोग सम्भव हो जाता है जिनसे व्यवसाय का विस्तार होता है । इसके अतिरिक्त कम्पनी अपने लाभ का एक हिस्सा संचित कोष में रखती है जिसे व्यवसाय के विकास में उपयोग में ला सकती है ।
6. **पेशेवर प्रबन्धकों को सेवाओं का लाभ** कम्पनी संगठन में पर्याप्त पूंजी एवं अधिक लाभ होने के कारण अनुभव और सुयोग्य पेशेवर प्रबन्धकों की नियुक्ति की जा सकती है । बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ इसमें बड़े पैमाने पर उत्पादन करना सम्भव होता है । बड़ी मात्रा में कच्चा माल, मशीनें एवं अन्य सामग्री सस्ती दर पर क्रय की जाती है ।
7. **बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ** इसमे बड़े पैमाने करना सम्भव होता है बडी मात्रा में कच्चा माल, मशीनें एवं अन्य सामग्री सस्ती दर पर क्रय की जाती है । बड़े स्तर पर उत्पादन होने से उत्पादन लागत कम आती है और ग्राहकों को सस्ती दर पर अच्छा माल मिल जाता है ।
8. **कम्पनी संगठन** में वित्त की कमी नहीं होने के कारण अनुसंधान कार्यो को प्रोत्साहित किया जाता है।

दोष या सीमाएं

1. **स्थापना सरल नहीं** कम्पनी संगठन के निर्माण एवं स्थापना में कई प्रकार की वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करनी पडती हैं जिसमें समय एवं धन बहुत खर्च हो जाता है । एकाकी व्यापार और साझेदारी की तुलना में इसकी स्थापना सरल नहीं है ।
2. **गोपनीयता का अभाव** एकाकी व्यापार एवं साझेदारी की तुलना में कम्पनी संगठन में गोपनीयता रखना कठिन कार्य है । कम्पनी को अपनी वार्षिक रिपोर्ट एवं लेखे प्रकाशित करवाने पडते हैं ।
3. **प्रेरणा का अभाव** कम्पनी प्रारूप में व्यवसाय का संचालन वेतन भोगी प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों द्वारा किया जाता है । उनका व्यवसाय में प्रत्यक्ष हित नहीं होने के कारण वे विशेष रूचि एवं लगन से कार्य नहीं करते हैं ।
4. **आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण** कम्पनी संगठन में व्यक्ति अधिकांश अंशपत्र को खरीद कर अपने वर्चस्व द्वारा बहुत सी कम्पनियों एवं सहायक कम्पनियों के निदेशक बन जाते हैं तथा निजी लाभों के लिए इनका गलत इस्तेमाल करते हैं । आर्थिक सत्ता केन्द्रीयकरण परिणामस्वरूप श्रमिकों और ग्राहकों को शोषण होने का भय बना रहता है ।
5. **सरकारी हस्तक्षेप** की अधिकता के कारण इनका कामकाज प्रभावित होता हैं ।

6. **लघु एवं कुटीर** उद्योगों को इन संगठनों से प्रतिस्पर्धा रखनी पडती है, जिसमें ये टिक नहीं पाते।
7. **अशंवारिंयों, प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के मध्य हित** संघर्ष का भय हमेशा बना रहता है ।

(ङ) सहकारी संगठन (Cooperative Organisation)

सहकारी संगठन का विकास पूँजीवाद के दोषों से छुटकारा पाने एवं आर्थिक रूप से कमजोर वर्गो की सहायता एवं सुरक्षा हेतु हुआ । सहकारी संगठन 'एक सबके लिए तथा सब एक के लिए' के सिद्धान्त पर आधारित हैं जिसमें व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामूहिक हितों को महत्त्व दिया जाता है । एच. कलवर्ट के अनुसार, 'सहकारिता एक ऐसा संगठन है जिसमें व्यक्ति मनुष्य की तरह, स्वेच्छापूर्वक समानता के आधार पर स्वयं के आर्थिक हितों में वृद्धि के उद्देश्य से संगठित होते हैं ।"

इस प्रकार सहकारी संगठन व्यक्तियों का एक ऐसा संगठन है जिसमें समानता तथा परस्पर सहयोग के आधार पर सदस्यों के सामूहिक आर्थिक हितों के संवर्द्धन के प्रयास किये जाते हैं ।

विशेषताएं (Characteristics)

1. यह व्यक्तियों का स्वैच्छिक संगठन है ।
2. यह एक प्रजातान्त्रिक संगठन है जिसमें -सदस्यों द्वारा चुने गये पदाधिकारियों के माध्यम से इसका संचालन किया जाता है ।
3. सहकारी संगठन सेवा उद्देश्य पर संचालित होते हैं । लाभ कमाना इनका गौण उद्देश्य होता हे।
4. सहकारी संगठनों का नियमन एवं नियन्त्रण सरकार द्वारा सहकारी समिति अधिनियम, 1912 के तहत किया जाता है ।
5. ये संगठन अपने लाभों का वितरण सदस्यों द्वारा संगठन के माध्यम से किए गए क्रय या विक्रय के साधार पर करते हे ।
6. सहकारी संगठन सदस्यों की प्रकृति तथा हितों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं । इसमें उत्पादन सहकारी संगठन आदि प्रमुख हैं ।
7. इन संगठनों की वित्त व्यवस्था सदस्य द्वारा दिये गये अंशदान, केन्द्र सरकार और राज्य सरकार द्वारा दिये गये अनुदान एवं सरकारी ऋणों के द्वारा की जाती है ।

लाभ एवं गुण

सहकारी संगठनों के अनेक लाभ हैं । कुछेक प्रमुख लाभ इस प्रकार है :

1. **सेवा भावना पर आधारित** सहकारी संगठन सेवा भावना से प्रेरित होकर कार्य करते हैं । सहकारिता सदस्यो के मध्य भाई-चारे और सहयोग की भावना को बल प्रदान करती है ।
2. **आर्थिक एकाधिकारों की समाप्ति** सहकारी संगठन समाज में आर्थिक एकाधिकारों को समाप्त करने में योगदान देते है । इसके अतिरिक्त ये पूँजीवाद के दोषों से मुक्ति प्रदान करने में सहायता करते है ।

3. **मितव्ययता** सहकारी संगठनों में अनावश्यक विज्ञापन, सजावट, कमीशन आदि का स्थान नही होता है । फलत: ये मितव्ययी होते है।
4. **न्यूनतम लागत पर अच्छी वस्तुओं की प्राप्ति** सचालन में मितव्ययता, मध्यस्थों को हटाकर सीधे उत्पादकों से माल खरीदने एवं सेवा उद्देश्य के कारण इन सगठन से वस्तुऐं सस्ती उपलब्ध होती हैं ।
5. **व्यावसायिक बुराइयों की समाप्ति** सहकारी क्षेत्र के कारण व्यावसायिक क्षेत्र मे उत्पन्न अनेक बुराइयाँ जैसे मिलावट, जमाखोरी, काला बाजारी एवं भ्रष्टाचार आदि में कमी लाई जा सकती हैं!
6. **रियायती साख सुविधा** सहकारी संगठनों को बैंक, केन्द्र सरकार और राज्य सरकार रियायती दरों पर उधार देती है । इसके अतिरिक्त अनुदान भी प्रदान करती हैं।
7. **वर्ग संघर्ष की समाप्ति** सहकारी समितियों के सदस्य जाति, धर्म और आर्थिक आधार पर नही बनाये जाते हैं । इनका काई मी व्यक्ति स्वेच्छा से सदस्य जन सकता है । अत: सहकारी क्षेत्र वर्ग संघर्ष को समाप्त करता है ।

दोष एवं सीमाएं

सहकारी क्षेत्र के प्रमुख दोष एवं सीमाएँ निम्नलिखित हैं

1. **अकुशल प्रबन्ध** सहकारी क्षेत्र के संगठनों का प्रबन्ध सामान्यतया उन व्यक्तियों के हाथों में होता है जिनमें व्यावसायिक शान तथा प्रबन्धकीय योग्यता का प्राय अभाव पाया जाता है । इसके कारण सहकारी संगठन हानि पर संचालित होते हैं ।
2. **सरकारी हस्तक्षेप** सहकारी संगठनों का पंजीयन करवाना अनिवार्य होने एवं इन संगठनों के हिसाब- किताब एवं लेखा परीक्षण में सरकारी नियमों के पालन करने के कारण सरकारी पदाधिकारियों के अनावश्यक हस्तक्षेप क नुकसान इस क्षेत्र को उठाना पड़ता है ।
3. **पक्षपात एवं भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन** सहकारी क्षेत्र भ्रष्टाचार और पक्षपात के केन्द्र बिन्दु बन गए हैं । इनके प्रबन्धक प्राय : अपने भाई- भतीजे एवं चहेतों के हित में पक्षपात करते हैं। इतना ही नही, इन पर रिश्वतखोरी, अपव्यय. नियमों की अवहेलना आदि के आरोप भी अनेक बार लगाये जाते हैं ।
4. **प्रत्यक्ष प्रेरणा का अभाव** सहकारी संगठन में सदस्यों को विनियोजित धन पर प्रतिफल या लाभ की मात्रा बहु त कम प्राप्त होती है । अत : सदस्य पूर्ण लगन और मेहनत से कार्य नहीं करते हैं
5. **समन्यय का अभाव** सहकारी संगठन के सदस्यों के मध्य एवं विभिन्न सहकारी समितियों के मध्य समन्वय एवं सामंजस्य का अभाव पाया जाता है ।

(च) सार्वजनिक क्षेत्र व्यावसायिक संगठन या राजकीय उपक्रम (Public Sector Business Organizations' or Public Enterprises)

सार्वजनिक क्षेत्र ही राजकीय क्षेत्र कहलाता हैं । जो व्यवसायिक सगठन सरकारी प्रबन्ध, नियन्त्रण अथवा स्वामित्व में संचालित किये जाते हैं, उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक

संगठन कहते हैं ।ए. एच. हेन्सन के अनुसार, 'सार्वजनिक उपक्रम से आशय सरकार के स्वामित्व एवं संचालन के अन्तर्गत आने वाले औद्योगिक, कृषि, वित्तीय एवं वाणिज्यिक संस्थाओं से है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक संगठन से तात्पर्य किसी ऐसे औद्योगिक. वाणिज्यिक या सेवा संगठन से है जिसका अधिकांश स्वामित्व (50 प्रतिशत से अधिक) चुकता पूँजी पर अधिकार) अथवा सम्पूर्ण प्रबन्ध संचालन तथा नियन्त्रण अथवा स्वामित्व तथा प्रबन्ध दोनों ही किसी सरकार या सरकारी संस्था के अधीन है ।

विशेषताएं (Characteristics)

1. इन संगठनों में राजकीय स्वामित्व की प्रधानता होती है अर्थात कम से कम 51 प्रतिशत पूंजी सरकार द्वारा विनियोजित करना आवश्यक होता है ।
2. सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों का प्रबन्ध, संचालन त था नियन्त्रण सरकार के अधीन होता है।
3. ये संगठन सार्वजनिक रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं ।
4. सार्वजनिक क्षेत्र का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है जो सामान्यतया जन कल्याण से सम्बन्धित होता है ।
5. विभिन्न प्रारूपों में इन संगठनों की स्थापना की जाती है इनमें प्रमुख हैं विभागीय सगठन, निगम, सरकारी कम्पनी, बोर्ड एवं ट्रस्ट आदि ।
6. सार्वजनिक क्षेत्र के संगठन सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन के महत्वपूर्ण साधन हैं ।
7. इन संगठनों की क्रियाएँ अत्यन्त विस्तृत हैं । इनमें औद्योगिक कार्य, कृषि कार्य, खनन, व्यापारिक कार्य एवं सेवा कार्य सम्मिलित है ।
8. सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक संगठनों का अन्तिम अंकेक्षण भारत सरकार के महा नियन्त्रण एवं लेखा परीक्षक द्वारा करवाया जाता है ।

गुण

सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों के प्रमुख लाभ निम्नानुसार हैं :

1. **नियोजन के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक** सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से देश के आर्थिक साधनों का उपयोग देश की योजनाओं की प्राथमिकताओं के अनुसार कर सकती है। इससे योजनाओं के लक्ष्यों को आसानी से पूरा किया जा सकता हैं ।
2. **आधारभूत ढाँचे के निर्माण में योगदान** सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा देश में आधारभूत ढांचे की आसानी से व्यवस्था की जा' सकती है । इसके द्वारा आवश्यक परिवहन, संचार, लोहा-इस्पात, विद्युत,कोयला आदि आधारभूत उद्योगों का समुचित विकास किया जा सकता है ।
3. **अधिक जोखिम वाले व्यवसायों का संचालन** इस क्षेत्र में उन व्यवसायों को भी आसानी से प्रारम्भ किया जा सकता है जिनमें बहुत अधिक जोखिम होती है । निजी क्षेत्र के व्यवसायी बहुत भारी जोखिम उठाने को प्राय: तैयार नहीं होते हैं ।
4. **गोपनीय एवं सामरिक महत्व के कार्यो का संचालन** सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों का महत्व इसलिए भी है कि देश के कई परम गोपनीय एवं देश की सुरक्षा कार्यो का संचालन निजी क्षेत्र के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता है । इनके लिए 'सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक संगठनों का विकास परमावश्यक है ।

5. **रोजगार के अवसरों में वृद्धि** सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों द्वारा रोजगार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अवसर भी जनता को उपलब्ध होते हैं । केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार के उपक्रमों में लाखों लोगों को रोजगार मिला हुआ है ।
6. **सन्तुलित आर्थिक विकास** जिन दूरस्थ स्थानों या बिना उद्योग के जिलों या अविकसित स्थानों पर निजी क्षेत्र के व्यवसायी उद्योग लगाना पसन्द नहीं करते हैं, वहाँ पर सरकारी क्षेत्र के उद्योग लगाने की पहल सरकार द्वारा की जा सकती है । इससे उन क्षेत्रों के विकास का मार्ग खुल जाता है ।
7. **जनोपयोगी सेवाओं का संचालन** सरकार सार्वजनिक हित में जनोपयोगी सेवाओं यथा यातायात, संचार, पानी, विद्युत, डाक, रेल आदि का संचालन सार्वजनिक संगठनों के द्वारा करती है, जिनका लाभ अंततः उपभोक्ताओं को मिलता है ।
8. **निजी क्षेत्र के दोषों से मुक्ति** सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों के विकास के द्वारा निजी क्षेत्र के अनेक दोषों यथा मुनाफाखोरी, जमाखोरी, श्रमिकों का शोषण निजी हित के लिए साधनों का दुरूपयोग आदि से मुक्ति मिल जाती है ।

दोष या सीमाएं

सार्वजनिक क्षेत्र में निम्नलिखित प्रमुख दोष पाये जाते हैं

1. **व्यावसायिक दृष्टिकोण का अभाव** इनका प्रबन्ध प्राय: सरकारी वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा किया जाता है, अत: निर्णय लेने में विलम्ब होता हैं । यथासमय निर्णय नहीं लेने के कारण कई अच्छे व्यावसायिक अवसर हाथ से निकल जाते हैं ।
2. **अस्पष्ट उद्देश्य** इन संगठनों के उद्देश्य बहुत ही अस्पष्ट होते हैं । इनमें लाभ उद्देश्य और सेवा उद्देश्य के बीच सामन्जस्य का अभाव पाया जाता है । इसके अतिरिक्त. निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कोई बाध्यता भी नहीं होती ।
3. **नौकरशाही एवं लालफीताशाही** सार्वजनिक क्षेत्र के संगठन में प्राय. नौकरशाही एवं लालफीताशाही का दोष पाया जाता है जिससे कार्यो मई अनावश्यक विलम्ब होता है । इससे समय के साथ-साथ धन का भी अपव्यय होता है ।
4. **पहलपन एवं लगन का अभाव** इन सगंठनों में कार्य करने वाले अधिकारी एवं कर्मचारी उतनी निष्ठा, लगन तत्परता और पहलपन से कार्य नहीं कर पाते हैं जितने निजी क्षेत्र के संगठनों के अधिकारी या स्वामी करते हैं ।
5. **राजनैतिक एवं संसदीय हस्तक्षेप** सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों के दिन-प्रतिदिन के कार्यो में भी राजनैतिक एवं संसदीय हस्तक्षेप होता रहता है । इससे संगठनों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय नहीं लिये जाते हैं जो इनकी कुशलता में बड़ी बाधा है ।
6. **अधिक संचालन लागत** निजी संगठनों की तुलना में इन संगठनों की संचालन लागत अधिक होती है । अपव्यय, कर्मचारियों की कम उत्पादकता एवं आवश्यकता से अधिक कर्मचारी आदि इसके प्रमुख कारण हैं । अधिक संचालन लागतों के कारण ये संगठन जनता पर मार बन जाते हैं

(छ) संयुक्त क्षेत्र (Joint Sector) :

संयुक्त क्षेत्र व्यवसायिक स्वामित्व का वह प्रारूप होता है जिसमें निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र की साझेदारी में स्थापित तथा संचालित किये जाने वाले संगठन सम्मिलित होते हैं । ये संगठन निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र की साझेदारी से उत्पन्न होते हैं । सन् 1971 के पश्चात् भारत वर्ष में संयुक्त क्षेत्र का विकास हुआ । सरकार निजी क्षेत्र के व्यवसायियों के अनुभव एवं योग्यता का लाभ प्राप्त करने के लिए संयुक्त क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना करती है।

10.3 मुद्रा तथा बैंकिंग संस्थाएँ एवं उनके कार्य (Money and Banking Institutions and Their Functions)

मुद्रा एवं बैंकिंग संस्थाओं के अन्तर्गत हम मौटे तौर से निम्नांकित संस्थाओं को सम्मिलित करते हैं. (1) केन्द्रीय बैंक; (2) व्यापारिक बैंक; (3) विकास बैंक; (4) सहकारी बैंक; तथा (5) विदेशी विनिमय बैंक

10.3.1 केन्द्रीय बैंक एवं उसके कार्य (Central Bank and its Function)

किसी भी देश की सम्पूर्ण मौद्रिक एवं बैंकिंग प्रणाली के संगठन, समन्वय, नियंत्रण एवं सुचारू संचालन हेतु एक सर्वाधिकार प्राप्त सर्वोच्च संस्था की स्थापना की जाती है, जिसे केन्द्रीय बैंक कहते हैं । चूँकि केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग संस्थाओं के शीर्ष पर स्थित होता है, इसलिए इसे देश का शीर्ष बैंक' भी कहते हैं । विश्व में सर्वप्रथम, 1694 में इंगलैण्ड में बैंक ऑफ इंगलैण्ड' की केन्द्रीय बैंक के रूप में स्थापना हुई । भारत में भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम, 1934 के अधीन भारतीय रिजर्व बैंक' की स्थापना की गयी जिसने 1 अप्रेल 1935 से विधिवत रूप में अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया । प्रो. हाट्रे के शब्दों में, "एक केन्द्रीय बैंक की मौलिक विशेषता इसके अन्तिम ऋणदाता के कार्य की है । इसलिए यह बैंकों का बैंक है क्योंकि यह अन्तिम ऋणदाता का कार्य करता है !" प्रो. केन्ट के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है जिसके पास सामान्य जनहित में मुद्रा की मात्रा के विस्तार तथा संकुचन के कार्य प्रबन्धन का उत्तरदायित्व हो ।" सेयर्स के शब्दों में, 'केन्द्रीय बैंक का व्यवसाय व्यापारिक बैंकों का नियन्त्रण इस प्रकार करना है कि राज्य की सामान्य मौद्रिक नीति की अनुपालना (Promote) हो सके ।" संक्षेप में, केन्द्रीय बैंक एक देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग रचना की शीर्ष संस्था है जो देष की सम्पूर्ण मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवसाय का नियंत्रण एवं नियमन करती है ताकि देश का आर्थिक विकास वांछित गति से उचित दिशा में होता रहे । प्रो. डी. कॉक के अनुसार केन्द्रीय बैंक का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रहित में कार्य करना होना चाहिए । प्रो. डी. कॉक ने केन्द्रीय बैंक के निम्नांकित सात प्रमुख कार्य बताये हैं

1. पत्र मुद्रा का निर्गमन (Issue of Paper money)

केन्द्रीय बैंक का पत्र मुद्रा के निर्गमन में एकाधिकार होता है । केन्द्रीय बैंकों की स्थापना के पूर्व पत्र मुद्रा (नोटों) के निर्गमन का कार्य सरकार अथवा वाणिज्यिक बैंकों द्वारा किया जाता था, परन्तु एकरूपता तथा विश्वसनीयता के कारण अब यह कार्य विश्व के सभी

देशों में केन्द्रीय बैंक द्वारा ही किया जाता है । भारत मे समस्त पत्र मुद्रा का निर्गमन भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है । केन्द्रीय बैंक द्वारा पत्र मुद्रा के निगमन पर एकाधिकार होने से देश की मौद्रिक व्यवस्था में लोचशीलता बनी रहती है तथा वाणिज्यिक बैंकों को नाम निर्माण शक्ति पर भी आसानी से नियंत्रण रखा जा सकता है । इसके अतिरिक्त इस अवस्था का यह लाभ भी है कि केन्द्रीय बैंक जनहित की दृष्टि से हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit finacing) भी कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है,

2. साख नियंत्रण (Credit Control)

देश में मुद्रा एवं साख का नियंत्रण केन्द्रीय बैंक का अति महत्वपूर्ण कार्य है । डब्ल्यू .ए.शॉ के अनुसार साख का नियंत्रण केन्द्रीय बैंक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है । उन्हीं के शब्दों में 'केन्द्रीय बैंक साख को नियंत्रित करने वाला बैंक है । " केन्द्रीय बैंक परिमाणात्मक एवं गुणात्मक विधियों के द्वारा देश की अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप मुद्रा एवं साख की मात्रा का नियंत्रण एवं नियमन करता है । भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम, 1934 में भी यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि 'बैंक के मुख्य कार्य नोटों का निर्गमन करना तथा भारत में मौद्रिक सुरक्षा हेतु कोष रखना और चलन तथा साख व्यवस्था को कार्यान्वित करना है ।"

परिमाणात्मक विधि के अन्तर्गत साख नियंत्रण के मुख्य उपकरण बैंक दर नीति, खुले बाजार की क्रियाएँ, नकद कोषानुपात परिवर्तन तथा तरल कोषानुपात परिवर्तन है; जबकि गुणात्मक विधि के 'अन्तर्गत मुख्य रूप से चयनात्मक साख नियंत्रण, साख सहभाजन नैतिक अनुनय तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही साख नियंत्रण के मुख्य उपकरण हैं ।

मुद्रा के मूल्यों तथा अर्थव्यवस्था में होने वाले उच्चावचनों को नियंत्रित करने तथा आर्थिक विकास की उच्च दर तथा वांछित दिशा प्राप्ति हेतु मुद्रा के निर्गमन तथा साख पर नियंत्रण रखा जाना अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है ।

3. व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक (Custodian of cash reserves of commercial banks)

केन्द्रीय बैंक देश की सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था की शीर्ष संस्था होती है इसलिए इसे बैकों का बैंक' कहा जाता है । इसका देश के अन्य बैंकों के साथ ठीक वैसा ही संचय होता है जैसा व्यापारिक बैंकों का अपने ग्राहकों के साथ होता है । सभी व्यापारिक बैंकों का केन्द्रीय बैंक में अपना खाता होता है जिसमें ये देश की बैंकिंग परम्परानुसार अथवा वैधानिक आवश्यकतानुसार अपने सम्पूर्ण दायित्वों (जमाओं) का एक निश्चित प्रतिशत जमा रखते हैं । केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से प्राप्त नकद कोषों के संरक्षक का कार्य करता है । व्यापारिक बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक में नकद कोष रखे जाने से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जिनमें मुख्य रूप से देश की मौद्रिक प्रणाली में लोचशीलता राष्ट्रीय संकट के समय कोषों की उपलब्धि, साख नियंत्रण में सरलता एवं सुगमता, बैंकों के रवि बेहतर तालमेल व संगठन तथा आपसी लेन-देन में सरलता आदि सम्मिलित हैं ।

4. देश के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक (Custodian of nation's reserves of international currencies)

केन्द्रीय बैंक देश के विदेशी विनिमय कोषों को अपने पास सुरक्षित रखता है तथा उन्हें आवश्यकतानुसार पूर्ति को ध्यान रखते हुए विभिन्न व्यक्तियों तथा संस्थाओं को उपलब्ध करवाता है । विदेशी विनिमय की पर्याप्त आपूर्ति बनाये रखने तथा विदेशी विनिमय दर में स्थिरता हेतु केन्द्रीय बैंक समय-समय पर विदेशी मुद्राओं का क्रय-बिक्रय का भी कार्य करता है।

5. **सरकार का बैंकर, अभिकर्त्ता एवं सलाहकार (Banker, agent and advisor to the Govt.)**

सरकार के बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक विभिन्न सरकारी विभागों तथा संस्थाओं के खाते रखता है । सरकारी जमाओं को स्वीकार करता है तथा सरकारी कोषों का हस्तान्तरण करता है । सरकारी अभिकर्त्ता के रूप में केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों तथा कोषागार विपत्रों का क्रय-विक्रय एवं अभिगोपन करता है । यह सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्धन, विनिमय नियंत्रण का संचालन, निकासी समझौतों तथा शोधन समझौतों का कार्य भी करता है । केन्द्रीय बैंक आवश्यकता के समय सरकार को अल्पकालीन ऋण भी प्रदान करता है तथा बाह्य ऋणों के भुगतान के लिए विदेशी विनिमय की अवस्था करता है । केन्द्रीय बैंक आर्थिक एवं वित्तीय मामलों में सरकार को विशेषज्ञ सलाह निःशुल्क प्रदान करता है जो सरकार को अपनी नीतियों के निर्माण एवं कार्यान्वयन में प्रभावी मार्गदर्शन का कार्य करती है ।

6. खातों का समाशोधन, निपटारा तथा स्थानान्तरण (Bank of central clearance settlement and transefer)

केन्द्रीय बैंक में सभी व्यापारिक बैंकों के खाते होते हैं इसलिए उनके बीच होने वाले पारस्परिक लेन-देन अथवा भुगतान शेष का निपटारा बिना नकद रेशे के लेन-देन के मात्र खातों में समायोजन करके किया जा सकता है । केन्द्रीय बैंक बैंकों का बैंक होने के नाते समाशोधन गृह के रूप में कार्य करता है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक स्थान विशेष के सभी बैंकों के प्रतिनिधि एक स्थान पर एक निश्चित समय पर एकत्रित हो जाते हैं जहाँ प्रत्येक बैंक की लेनदारी और देनदारी का सामूहिक विवरण-पत्र तैयार कर केन्द्रीय बैंक के पास भेज दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक इस विवरण-पत्र के आधार पर विभिन्न बैंकों के खातों में सम्बन्धित राशि नाम अथवा जमा लिख देता है । इस प्रकार समाशोधन व्यवस्था द्वारा विभिन्न बैंकों के आपसी लेन-देन का निपटारा उनके खातों में रकम के हस्तान्तरण मात्र से बिना नकद भुगतान के ही हो जाता है । इस व्यवस्था के कारण बैंकों को अपने पास कम नकद कोष रखने पड़ते हैं जिनसे उनके उपयोग में मितव्ययता रहती है ।

7. व्यापारिक विनिमय-पत्रों की पुनर्कटोंती का बैंक एवं अन्तिम ऋणदाता (Bank of rre- discount and lender of last resort)

केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर दो प्रकार से वित्तीय सहायता प्रदान करता है। प्रथम, व्यापारिक विनिमय-पत्रों (बिलो) की पुनर्कटौती द्वारा तथा द्वितीय, प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों की धरोहर पर प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करके । चूँकि केन्द्रीय बैंक आवश्यकता पड़ने पर व्यापारिक बैंकों को अन्तिम सहारे के रूप में बिलों की पुनर्कटौती द्वारा अथवा सरकारी प्रतिभूतियों की धरोहर पर प्रत्यक्ष ऋण प्रदान कर वित्तीय सहायता प्रदान करता

है इसलिए केन्द्रीय बैंक को विनिमय-पत्रों की पुनर्कटौती का बैंक एवं अन्तिम ऋणदाता कहा जाता है ।

डी. कॉक द्वारा बताये गये उपर्युक्त सात प्रमुख कार्यों के अलावा भी केन्द्रीय बैंक निम्नांकित कार्य करता है.

8. आँकड़ो का संकलन एवं प्रकाशन (Collection and publication of data)

केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे साख एवं मुद्रा की मात्रा, बचत, विनियोग, रोजगार. विदेशी व्यापार, विदेशी विनिमय आदि से सम्बन्धित समंकों का संकलन कर उनके प्रकाशन का भी कार्य करता है । इन आँकडों से देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है और आर्थिक नीतियों के निर्माण में सहायता मिलती है ।

9. आर्थिक विकास में सहायक (Helpful in economic development)

केन्द्रीय बैंक आर्थिक विकास में उत्प्रेरक का कार्य करता है । केन्द्रीय बैंक देश में सुदृढ़ मौद्रिक ढाँचे का निर्माण, कीमत स्तर तथा विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व तथा साख के नियमन द्वारा आर्थिक विकास का वातावरण निर्मित कर बचत एवं विनियोजन को प्रोत्साहित करता है । इसके अलावा केन्द्रीय बैंक मुद्रा एवं पूँजी बाजार, बिल बाजार तथा स्कन्ध बाजार के विकास में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । सरकारी विनियोग को प्रोत्साहन देने हेतु केन्द्रीय बैंक हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit financing) द्वारा सरकार को वित्तीय संसाधन उपलब्ध करवाता है । केन्द्रीय बैंक देश में विकास वित्त की पूर्ति हेतु स्थापित किये जाने वाले विकास बैंकों की अंश पूँजी में योगदान करता है और कृषि, उद्योग तथा निर्यात के लिए वित्त पोषण में महत्वपूर्ण योगदान करता है । विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक के गैर-परम्परागत विकास सम्बन्धी कार्य इसके परम्परागत कार्यो से अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं ।

10.3.2 व्यापारिक बैंक एवं उनके कार्य (Commcrcial Banks and Their Functions)

व्यापारिक बैंकों को वाणिज्यिक बैंक भी कहा जाता है । व्यापारिक बैंकों से तात्पर्य उन बैंकों से है जो व्यापारिक एवं औद्योगिक कार्यकलापों के लिए सामान्यतया अल्पकालीन वित्त प्रदान करते हैं । ये प्राय: व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कार्यशील पूँजी की व्यवस्था करते हैं । इनका मुख्य कार्य जनता से जमाएँ स्वीकार करना तथा ऋण प्रदान करना है । आधुनिक व्यापारिक बैंकों का कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है । अब ये अपने परम्परागत कार्यो के अलावा अनेक गैर-परम्परागत कार्य करने लगे हैं । व्यापारिक बैंकों के प्रमुख कार्या को सुविधा की दृष्टि से निम्नांकित भागों मे वर्गीकृत किया जाता है

I प्राथमिक अथवा परम्परागत कार्य (Primary or Traditional Functions)

व्यापारिक बैकों के निम्नांकित' प्राथमिक कार्य हैं

(1) जमाएं स्वीकार करना (Accepting deposits): व्यापारिक बैंकों का सर्वप्रथम प्राथमिक कार्य जनता से निक्षेप स्वीकार करना है । व्यापारिक बैंक मुख्य रूप से विभिन्न खातों में दो प्रकार की जमाएँ स्वीकार करते हैं । प्रथम, समय जमाएँ (Time deposit) एक निश्चित समयावधि के लिए स्वीकार की जाती हैं । ये जमाएँ स्थायी जमा खाते (Fixed deposit

account) में स्वीकार की जाती हैं । द्वितीय, माँग जमाएं (Demand deposit) जिन्हें जमाकर्ता की माँग पर बैंक को लौटानी पड़ती हैं । ये जमाएं प्राय: चालू खाते तथा बचत बैंक खाते (Current account and saving bank account) में स्वीकार की जाती है । चालू खाते में जमाओं पर कोई बाज नहीं दिया जाता है और बचत बैंक खाते पर प्राप्त बाज स्थायी जमा खाते पर प्राप्त बाज से कम होता है । बैंकों द्वारा प्राप्त जमाएं उनकी देयताएँ (Liabilities) हैं ।

(2) ऋण तथा अग्रिम प्रदान करना (Granting loans and advances) व्यापारिक बैंकों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अपने ग्राहकों को धन उधार देना हे । बैंक उद्योगपतियों, व्यापारियों कृषकों, स्वरोजगार करने वाले व्यक्तियों को ऋण प्रदान करते हैं । बैंक अपनी प्राप्त जमाओं को अधिक बाज दर पर उधार देकर लाभ कमाते हैं । बैंक नकद साख (Cash credit), ऋण एवं अग्रिम (loans and advances), अधिविकर्ष (Overdraft) तथा विनिमय बिलों की कटौती द्वारा धन उधार देते हैं । व्यापारिक बैंक प्राय: अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं, लेकिन अब ये मध्यमकालीन ऋण भी प्रदान करने लगे हैं ।

II अभिकर्त्ता अथवा प्रतिनिधि सम्बन्धों कार्य (Agency or Representative Functions)

व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों के अभिकर्ता के रूप में अनेक सेवाएँ प्रदान करते हैं । इन सेवाओं के बदले में ये निर्धारित 'शुल्क वसूल करते हैं । कुछ सेवाएं बैक निःशुल्क भी प्रदान करते हैं । व्यापारिक बैंकों द्वारा अभिकर्त्ता समन्धी निम्नांकित कार्य किये जाते हैं :

(1) अपने ग्राहकों के लिए चैक, बिनिमय बिल तथा अन्य ' साखपत्रों के भुगतान का संग्रहण करना,

(2) अपने ग्राहकों के चैक, विनिमय बिल तथा अन्य साख पत्रों का भुगतान करना,

(3) अपने ग्राहकों के लिए किराया, ब्याज, पेंशन, लाभांश, ऋण की किस्त आदि वसूल कर उनके खातों में जमा करना,

(4) अपने ग्राहकों की ओर से किराया, ब्याज, लाभांश, ऋण की किस्त, बीमा प्रभार (Premium), कमीशन आदि का भुगतान करना

(5) अपने ग्राहकों के आदेशानुसार एक खाते से दूसरे खाते में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर धन का स्थानान्तरण करना

(6) अपने ग्राहकों के लिए अंश-पत्रों तथा अन्य प्रीतभूतियों का क्रय-विक्रय करना,

(7) अपने ग्राहकों के आदेश पर अथवा ग्राहकों की ओर से न्यायालय व सरकारी आदेशों के क्रियावयन के लिए प्रबन्धक, प्रन्यासी एवं निष्पादक के रूप में कार्य करना,

(8) औद्योगिक, व्यापारिक एवं वित्तीय संस्थाओं के अंश व ऋणपत्रों के अभिगोपन का कार्य करना; तथा

(9) अपने ग्राहकों के आदेशानुसार अन्य कार्य करना, यथा उनके पासपोर्ट व विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार करना आदि ।

III सामान्य उपयोगी कार्य (General Utility Functions)

व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए अनेक उपयोगी सेवाएँ प्रदान करते हैं जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नांकित है:

(1) अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुओं तथा महत्वपूण दस्तावेजों (बहुमूल्य आभूषण, अंशपत्र, ऋण-पत्र, जमा रसीदें तथा अन्य कागजात) को सुरक्षित रखने के लिए लॉकर्स की सुविधा प्रदान करना,

(2) अपने ग्राहकों के लिए यात्री चैक व साख पत्रों (क्रेडिट कार्ड्स, डेबिट कार्ड्स, ए.टी.एम. कार्ड्स आदि) की सुविधा उपलन्द कराना

(3) अपने ग्राहकों को घरेलू एवं विदेषी व्यापारियो की आर्थिक स्थिति की सूचना देना,

(4) अपने ग्राहकों को आर्थिक एवं वित्तीय सलाह देना,

(5) अपने ग्राहकों की ओर से उन पर लिखे गये विनिमय बिलों को स्वीकार कर निश्चित तिथि पर भुगतान करने का दायित्व स्वीकार करना

(6) अपने ग्राहकों द्वारा लिए जाने वाले' राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के लिए गारण्टी देना,

(7) अपने ग्राहकों को उनकी व्यक्तिगत साख पर उपभोक्ता ऋण प्रदान करना,

(8) अपने ग्राहकों की ओर से जारी अंशपत्रों के हिसाब-किताब का निरीक्षण करना,

(9) अपने ग्राहकों के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था करना;

(10) देश के केन्द्रीय बैंक के प्रतिनिधि के रूप में सरकार द्वारा निर्गमित किये गये ऋण-पत्रों की बिक्री करना, तथा

(11) अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित आर्थिक, व्यापारिक एवं वित्तीय सूचनाओं का एकत्रण एवं प्रकाशन करना ।

IV विदेशा व्यापार कीं वित्तीय एवं प्रबन्धकीय व्यवस्था करना ((Financial and managerial arrangements for foreign trade)

व्यापारिक बैंक विदेशी व्यापार के वित्त पोषण के लिए अल्पकालीन साख प्रदान करते हैं । ये बैंक व्यापारिक बिलों, हुण्डियों तथा अन्य साख-पत्रों की स्वीकृति एवं कटौती का कार्य कर अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को सरल एवं सुविधाजनक बनाते हैं । ये विभिन्न देशों के आयातकों एवं निर्यातकों में पारस्परिक सम्पर्क करवाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने में सहायक होते हैं।

V साख निर्माण का कार्य (Credit Creation)

व्यापारिक बैंक केवल मुद्रा के व्यापारी ही न होकर उसके उत्पादक भी हैं । वे बहुगुणित साख निर्माण प्रक्रिया के द्वारा उनके पास जमा धन की तुलना में कई गुना साख का निर्माण कर सकते हैं । आधुनिक युग में इस कार्य के कारण ही बैकों का देश की मौद्रिक एवं वित्तीय व्यवस्था में अतिमहत्वपूर्ण स्थान है ।

10.3.3 विकास बैंक एवं उनके कार्य (Development Banks and Their Function)

ये वे बैंक होते है जो आसान शर्तों पर विकास वित्त उपलब्ध कराते हैं । ये विकास हेतु दीर्घकालीन ऋण उपलब्ध कराते हैं । व्यापारिक बैंक -विकास वित्त की पूर्ति करने में असमर्थ होते हैं इसलिए विकास बैंकों की स्थापना की आवश्यकता महसूस की गयी । विकास के लिए विशाल धन राशि की लम्बी अवधि के लिए आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति व्यापारिक बैंक करने में असमर्थ होते है ।

विकास बैंकों के कार्य विकास बैंक निम्नांकित कार्य सम्पादित करते है,:

1. दीर्घकालीन वित्त उपलब्ध करवाना (Long term finance) :

विकास बैंक कृषि, उद्योग व निर्यात क्षेत्र की दीर्घकालीन वित्त की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं जिसकी अवधि 5 वर्ष से लेकर 20 वर्ष तक की होती है । ये बैंक दो प्रकार से दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं । प्रथम, उद्योगों के अंश व ऋण-पत्रों में प्रत्यक्ष विनियोग करके तथा द्वितीय, वित्तीय उद्योगों की सम्पत्ति की जमानत पर ऋण प्रदान करके । ये बैंक आवश्यकताओं पडने पर मध्यमकालीन ऋण भी उपलब्ध कराते है।

2. परामर्श संबंधी कार्य (Consultancy) :

नवीन परियोजनाओं और उद्योगों की स्थापना के लिए विकास बैंक उनके प्रवर्तकों को तकनीकी तथा आर्थिक परामर्श भी प्रदान करते हैं । इन बैंकों में इस कार्य हेतु तकनीकी परामर्श प्रकोष्ठ (Technical consultancy cell) बने हुए होते हैं जो सामान्य शुल्क के आधार पर परियोजना निर्माण में तकनीकी एवं आर्थिक परामर्श प्रदान करते हैं ।

3. दीर्घकालीन जमाएं स्वीकार करना (Long-term deposits)

विकास बैंक सामान्य जनता से तथा व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से दीर्घकालीन जमा स्वीकार करते हैं, किन्तु साधारण बैंकिंग व्यवसाय नहीं करते हैं ।

4. पूँजी बाजार के विकास को प्रोत्साहन (promotion to capital market)

विकास बैंक औद्योगिक एवं व्यापारिक फर्मा के अंश पत्रों एवं ऋण-पत्रों में विनियोजन के माध्यम मे संबंध तथा पूँजी बाजार के विकास को प्रोत्साहन देते हैं । इसके अतिरिक्त ये बैंक पूँजी बाजार से स्वयं के लिए धन एकत्रित करते हैं ।

5. उद्यमिता विकास को प्रोत्साहन (promotion to enterprenurial development)

विकास बैंकों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य व्यवसाय के लिए जोखिम पूंजी उपलब्ध करवाकर नये उद्यमियों को व्यवसाय करने के लिए प्रोत्साहित करना है । उनमें अच्छे उद्यमी के गुणों का विकास करने के लिए इन बैंकों द्वारा उद्यमिता शिविर लगाये जाते हैं ।

वर्तमान युग में विकास बैंकों के कई रूप देखने को मिलते हैं । उदाहरण के लिए औद्योगिक क्षेत्र में इन्हें औद्योगिक विकास बैंक के नाम से जाना जाता है; जैसे भारत में भारतीय औद्योगिक वित्त निगम' (Industrial Finance Corporation of India-IFCI), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India-SIDBI) तथा भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (small scale industrial development bank of India)।कृषि के क्षेत्र में इन्हें कृषि विकास बैंक के नाम से जाना जाता है; जैसे भारत का

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (National Bank for Agriculture and Rural Development-NABARD)।इसी प्रकार विदेशी व्यापार के क्षेत्र में इन्हें आयात-निर्यात बैंक कहा जाता है; जैसे भारत का आयात-निर्यात बैंक (Export Import Bank of India -EXIM BANK), अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (international Bank for Reconstruction and Development-IBRD) जिसे विश्व बैंक (World Bank) के नाम से जाना जाता है तथा एशियाई क्षेत्र में एशियाई विकास बैंक (Asian Development Bank -ADB) इसके अन्य उदाहरण हैं ।

10.3.4 सहकारीं बैंक एवं उनके कार्य (Co-Operative Banks and Their Function) :

सर्वप्रथम जर्मनी में कृषि एवं लघु क्षेत्र की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सहकारी बैंकों की स्थापना की गयी । इन बैंकों की स्थापना सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है । भारत में सहकारी बैंक संगठन का त्रि-स्तरीय (Three tier structure) है । गोरवाला समिति की अनुशंसा के आधार पर ग्राम स्तर पर प्राथमिक कृषि साख समितियाँ, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक प्रत्येक राज्य में स्थापित किये गये हैं । सहकारी बैंक वाणिज्यिक बैंकों के समान सामान्य बैंकिंग के सभी कार्य करते हैं ।

10.3.5 विदेशी विनिमय बैंक (Foriegn Exchange Banks) :

विदेशी विनिमय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त के क्षेत्र में विदेशी मुद्रा के लेन-देन करने वाले विशिष्ट बैंक होते हैं । इन बैंकों का प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए वित्त की व्यवस्था करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को सरल एवं सुगम बनाना है । भारत में विदेशी विनिमय के लेन-देन में विदेशी बैंकों का प्रभुत्व है । भारत में अलग से कोई विदेशी विनिमय बैंक स्थापित नहीं किया गया है ।

10.4 अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं - अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक

1944 के ब्रैटन वुड्स समझौते के अनुसार विभिन्न देशों में मौद्रिक सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा द्वितीय विश्व युद्ध से ग्रस्त देशों के पुनर्निर्माण एवं पिछडे हुए देशों के विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (विश्व बैंक) नाम की दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं की स्थापना का निर्णय लिया गया । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, जिसे आम बोलचाल की भाषा में मुद्रा कोष कहा जाता है, की स्थापना का निर्णय 22 जुलाई 1944 को लिया गया और इसने 1 मार्च 1947 से अपना विधिवत् कार्य करना प्रारम्भ कर दिया । प्रारम्भ में इसके सदस्यों की संख्या 144 थी, जो वर्तमान में बढ़कर 163 हो गयी है ।

10.4.1 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य (Objectives of I.M.F.)

मुद्रा कोष समझौते की धारा 1 के अनुसार मुद्रा कोष के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1. **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग** सदस्य राष्ट्रों के बीच मौद्रिक सहयोग को प्रोत्साहन देना कोष का प्रमुख उद्देश्य है ।
2. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सतुंलित विकास करना** इस हेतु कोई भी सदस्य देश कोष की आज्ञा के बिना अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन तथा भुगतानों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता है। कोष का उद्देश्य विदेशी व्यापार को नियंत्रणों से मुक्त करके उसमें अभिवृद्धि करना है।
3. **विनिमय स्थायित्व** सदस्य देशों के बीच विनिमय स्थायित्व स्थापित करके प्रतियोगी मुद्रा अवमूल्यन की समस्या का समाधान करना है ।
4. **बहुपक्षीय भुगतान** सदस्य देशों में लगे विनिमय नियंत्रणों को समाप्त कर ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करना जिसके अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य, देश अल्पकालीन तौर पर अन्य देशों की मुद्रा स्वीकार करने को तैयार हो जाये ।
5. **आर्थिक सहायता** सदस्य देशों का भुगतान संतुलन प्रतिकूल होने पर कोष माँगी गयी मुद्रा में आर्थिक सहायता प्रदान करता है ।
6. **अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलन के असंतुलन की अवधि** एवं मात्रा में कमी करना उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के माध्यम से मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलन के असंतुलन की अवधि व मात्रा को सदस्य देशों को यथोचित आर्थिक सहायता प्रदान कर कम करता है ।
7. **अन्य उद्देश्य**

(i) सदस्य देशों में संतुलित आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना; तथा

(ii) सदस्य देशों में दीर्घकालीन पूँजी विनियोजन को प्रोत्साहन देना ।

मुद्रा कोष को पूंजी एवं अभ्यंश (Capital and Quotas of I.M.F)

मुद्रा कोष की पूँजी सदस्य देशों के अभ्यंशों के योग के बराबर है । प्रत्येक देश का अभ्यंश उसके सदस्य बनने से पूर्व ही निर्धारित कर लिया जाता है । एक बार निर्धारित अभ्यंश में परिवर्तन 65 प्रतिशत सदस्य देशों का बहुमत होने व सम्बन्धित देश की स्वीकृति मिलने पर ही किया जा सकता है । सदस्य देश के अनुरोध पर उसका अभ्यंश बढ़ाया जा सकता है। प्रारम्भ में सदस्य. देश को अपने अपने अभ्यंश का 25 प्रतिशत भाग अथवा अपने स्वर्ण व डालर कोष के 10 प्रतिशत (दोनों में जो कम हो) स्वर्ण में तथा शेष 75 प्रतिशत अपनी मुद्रा में चुकाना पडता था, परन्तु मुद्रा कोष के नियमों में 1 अप्रेल, 1978 से प्रभावित किये गये द्वितीय संशोधन के अनुसार अब सदस्य देश को अपने अभ्यंश का 25 प्रतिशत भाग विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) में अथवा कोष की अनुमति से अन्य देशों की मुद्रा में चुकाना पडता है तथा शेष 75 प्रतिशत भाग पूर्ववत अपनी मुद्रा में चुकाना पड़ता है ।

कोष की प्रारम्भिक पूँजी 1000 करोड़ डालर निश्चित की गयी थी, किन्तु सोवियत संघ द्वारा सदस्यता स्वीकार न किये जाने के कारण यह 880 करोड डालर ही रह गयी। इसमें से भारत का अभ्यंश 40 करोड़ डालर था। कोष की स्थापना से लेकर अब तक अभ्यंशों में वृद्धि के लिए ग्यारह बार समीक्षा की गयी तथा आठ बार इसमें वृद्धि की गयी। मुद्रा कोष की पूँजी बढ़कर दिसम्बर 1997 में अन्तिम वृद्धि के समय 14600 करोड SDRs अथवा 1990 करोड

डालर हो गयी है । भारत का अभ्यंश ग्यारहवें समीक्षा परिवर्तन के पश्चात 30553 लाख लाख हो गया है ।

मताधिकार (voting power)

मुद्रा कोष के सभी निर्णय मताधिकार द्वारा होते हैं । बहुमत सदस्य संख्या से नहीं बल्कि मताधिकार से होता है। प्रत्येक सदस्य देश को 250+ एक मत प्रति एक लाख SDRs के अभ्यंश पर प्राप्त है । उदाहरण के लिए, भारत का अभ्यंश 41,582 लाख SDRs है । अत: भारत का 250 + 41,582 = 41,832 मत प्राप्त हैं।

मुद्रा कोष का संगठन एवं प्रबन्ध (Organisation and Management)

मुद्रा कोष के संगठनात्मक ढांचे में प्रशासन मण्डल (Board of Governors) का सर्वोच्च स्थान है सर्वोच्च स्थान है ।इसमें प्रत्येक सदस्य देश द्वारा नियुक्त एक गवर्नर तथा स्थानापन्न गवर्नर होता है । सामान्यतया देश का वित्त मंत्री अथवा केन्द्रीय बैंक का गवर्नर इस पद पर नियुक्त किया जाता है । प्रशासन मण्डल कई वार्षिक सभा प्रत्येक वर्ष दिसम्बर अथवा अक्टूबर में होती है । मुद्रा कोष की महत्त्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण प्रशासन मण्डल द्वारा ही किया जाता है । इस प्रकार प्रशासन मण्डल मुद्रा कोष का सर्वोच्च नीति निकाय है । कोष के दैनंदिन कार्य कार्यकारी संचालक मण्डल (Board of executive Directors) द्वारा किये जाते हैं । इसमें कुल 24 सदस्य होते हैं । इनमें से 6 की नियुक्ति कोष के सबसे अधिक अभ्यंश वाले देशों द्वारा की जाती है तथा शेष 18 क्षेत्रानुसार दो साल के अन्तराल से चुने जाते हैं । 24 सदस्यों के अतिरिक्त कोष का एक प्रबन्ध संचालक होता है जो कार्यकारी संचालक मण्डल का अध्यक्ष होता है । इसके अलावा कोष के पास कार्यालयी काम के लिए अनेक पूर्णकालीन कर्मचारी कार्यरत हैं । वर्तमान में कोष के पास 122 देशों के 2660 कर्मचारी कार्यरत हैं । मुद्रा कोष अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नांकित कार्य करता है

1. **समता दरों का निर्धारण एवं परिवर्तन** कोष 1978 को प्रभावी हुए द्वितीय संशोधनों से पूर्व अपने सदस्य देशों की मुद्रा की विनिमय दर स्वर्ण अथवा डालर में निश्चित करता था जिसे समता दर कहा जाता है । इस समता दर में प्रारम्भ में एक प्रतिशत की कमी अथवा वृद्धि की व्यवस्था थी जिसे 1971 के डालर संकट के बाद हुए स्मिथ सोनियन समझौते के अनुसार बढ़ाकर 2.25 प्रतिशत कर दिया गया । इस प्रकार कोष ने डालर संकट के पूर्व तक प्रबन्धित विनिमय दरों (Managed Exchange Rates) की अवस्था को सफलतापूर्वक अपना रखा था।

2. **विनिमय दरों को व्यवस्थित बनाये रखना तथा सदस्य देशों की क्रियाओं पर निगरानी रखना** 1 अप्रेल 1978 से लागू द्वितीय संशोधनों के अनुसार सदस्य देशों द्वारा अपनी मुद्रा का समता मूल घोषित करना आवश्यक नहीं है और पूर्व में घोषित मूल्य द्वितीय संशोधनों के बाद स्वत: ही समाप्त हो गये हैं । इन संशोधनों के बाद प्रत्येक देश किसी भी प्रकार की विनिमय दर व्यवस्था बनाये रखने के लिए स्वतंत्र है बशर्ते कि उसे अन्य देशों की तुलना में प्रतियोगी लाभ न मिले अथवा भुगतान संतुलन में अनायास असाम्य उत्पन्न न होने पाये । इस दृष्टि से प्रत्येक सदस्य देश व्यवस्थित विनिमय अवस्था स्थापित करने व विनिमय दरों की स्थिर

प्रणाली विकसित करने में मुद्रा कोष तथा अन्य सदस्य देशों के साथ सहयोग करेगा । इसके लिए प्रत्येक सदस्य देश को कोष को इस आशय का सामान्य वचन देना पडता है । वर्तमान में कोष के सदस्य देशों ने परिवर्तनशील विनिमय दर प्रणाली (Floating Exchange Rate System) को अपना रखा है । इस प्रणाली के कारण विनिमय दरों में अनावश्यक उतार-चढ़ावों को नियंत्रित करने के लिए कोष ने निगरानी व्यवस्था (Surveillance) कायम कर रखी है । जिसके तहत वह सदस्य देशों को अनावश्यक गडबडी को रोकने तथा अपनी स्थिति को ठीक करने के लिए समुचित कदम उठाने के लिए कहता है । वर्तमान में यह अवस्था भली-भांति काम कर रही है ।

3. **भुगतान सतुलन के असाम्य को ठीक करने के लिए अल्पकालीन सहायता देना** मुद्रा कोष देशों के भुगतान संतुलन के अस्थायी घाटे को पूरा करने के लिए अल्पकालीन सहायता विदेशी मुद्रा में प्रदान करता है । कोष द्वारा -प्रण देने को विदेशी मुद्रा क्रय करना तथा ऋण वापसी स्वदेशी मुद्रा का पुन: क्रय करना कहते हैं । वर्तमान प्रावधानों के अनुसार एक देश एक वश, में अपने अभ्यास के 25 प्रतिशत से अधिक की विदेशी मुद्रा नही खरीदेंगे लेकिन कोष ने इस व्यवस्था का व्यवहार में इससे अधिक ऋण देकर उल्लंघन किया है । एक अयन प्रावधान के अनुसार कोष, पास किसी भी समय कितने सदस्य देश की मुद्रा उसके अभ्यंश के 200 प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिए इस व्यवस्था का अर्थ यह है कि एक देश अपने अभ्यंश का अधिकतम '25 प्रतिशत ऋण ले सकता है मुद्रा कोष निम्नाकिंत उद्देश्यों के लिए ऋण प्रदान करता है.

(i) **संकटकालीन ऋण** किसी भि सदस्य देश द्वारा आकस्मिक आर्थिक एवं राजनीतिक सकट के समय कोष से ऋण लिया जा सकता है जैसे स्वेज नहर के समय ब्रिटिश ने कोष से ऋण लिया था ।

(ii) **विनिमय दरो स्थिरता के लिए ऋण** यह ऋण सदस्य पक्षो को आथिक कठिनाई के समय विनिमय दर मे स्थिरता रखने के लिए दिया जाता है ।

(iii) **मौसमी /सामयिक ऋण** यह ऋण सदस्य देशों को मौसमी या सामयिक कमी के कारण भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता को ठीक करने के लिए 6 माह से 1 वर्ष तक की अवधि के लिए दिया जाता है।

(iv) **चालू भुगतान की असाम्यता को दूर करने के लिए ऋण** पिछडे विकासशील देशों का भुगतान सतुलन पूँजीगत सामान के आयात की अधिकता के कारण प्राय. प्रतिकूल रहता है, जिसे ठीक करने के लिए कोष अस्थायी ऋण प्रदान करता है ।

4. **विशेष सहायता योजना** इसके अर्न्तगत कोष पात्रता धारी साह्य देशों को विशिष्ट सहायता प्रदान करता है, जैसे क्षतिपूरक एवं आकस्मिक वित्त व्यवस्था, बफर स्टॉक वित्त व्यवस्था, पूरक कोष सुविधा तथा अनेक रियायती सुविधाएँ

5. **तकनीकी सहायता** कोष विकासशील देशों को विनिमय नियत्रंण, भुगतान सतुलन, मौद्रिक व प्रःशुल्क नीतियाँ सांख्यिकी कार्यो आदि विषयों पर परामर्श देने के लिए अपने विषेशज्ञ

भेजता है 1 कोष अपने विशेषज्ञों के अलावा अत देश के विषेशज्ञों को आवश्यकनुसार नियुक्त कर सदस्य देशों को परामर्श देने हेतु उपलब्ध करवाता है ।

6. **प्रशिक्षण कार्यक्रम** कोष सदस्य देशों के अधिकारियों को मौद्रिक व राजकोषीय विषयों का प्रशिक्षण देता है । प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए कोष ने 1964 में एक संस्था स्थापित कर रखी है । जो कुछ सप्ताह से लेकर ग्यारह महीने तक के पाठ्यक्रम चलाती है ।
7. **कोष विश्व के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों** से निकट का सम्पर्क रखता है ताकि उनकी नीतियों व कार्यक्रमों में उचित तालमेल बना रहे । कोष विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक व उसकी सहयोगी संस्थाओं, अंकटाड, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का बैंक आदि से निरंतर सम्पर्क बनाये रखता है ।
8. **कोष ने अपने मुख्यालय** पर सांख्यिकी यूरो की स्थापना कर रखी है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, भुगतान संतुलन, मुद्रा एवं बैंकिंग, मूल्य स्तर, उत्पादन, राजकोषीय क्रियाओं. ब्याज दर आदि विषयों पर समंक एकत्रित करके उनका विश्लेषण व प्रकाशन करता है । मुद्रा कोष अपने प्रकाशन भी निकालता है जिनमें स्टाफ पेपर्स, फाइन्स एण्ड डवलमेंट, इन्टरनेशनल स्टेटिस्टिक्स व वार्षिक रिपोर्ट प्रमुख हैं ।

मुदा कोष की वित्तीय सहायता योजनाओं की प्रगति

कोष द्वारा विगत पाँच वर्षो में विभिन्न सहायता योजनाओं के अन्तर्गत जो ऋण सुविधाएँ प्रदान की गयी है उनका विदरण नीचे दी गयी तालिकाओं में दिया गया है :

तालिका संख्या - 10.1

मुदा कोष द्वारा विदेशी मुद्राओं का क्रय एवं अपनी मुद्राओं का पुन: क्रय

(दस लाख SDRs में)

वित्तीय	क्रय(Purchase)	पुन: क्रय (Re-purchase)
1997	4,939	6,668
1998	20,000	3,789
1999	24,071	10,456
2000	6,377	22,993
2001	9,599	11,225

Source : IMF Annual Report -2001

तालिका संख्या - 10.2

मुद्रा कोष द्वारा स्वीकृत ऋण वचन समझौते

(दस लाख SDRs में)

वित्तीय वर्ष	समझौतों की संख्या	राशि
1997	11	3.183
1998	9	27.336
1999	5	14.325

2000	11	15.706
2001	11	13.093

Source : IMF Annual Report -2001

तालिका संख्या- 10.2 मुद्रा कोष द्वारा विस्तार कोष सुविधा के अंतर्गत वित्तीय सहायता (दस लाख SDRs में)		
वित्तीय वर्ष	समझौतों की संख्या	राशि
1997	5	1.193
1998	4	3.078
1999	4	14.090
2000	4	6.582
2001	1	(-) 9

Source:IMF Annual 2001

यद्यपि मुद्रा कोष ने सदस्य देशों को समय-समय पर आर्थिक सहायता प्रदान कर उन्हें आर्थिक संकट से निजात दिलाई है, विनिमय दरों की व्यवस्थित प्रणाली विकसित करने का प्रयास किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के लिए विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) के सृजन का अभिनव कार्य किया है, किन्तु फिर भी इसकी कार्य प्रणाली दोष रहित नहीं है । इन सबके उपरान्त भी कोष पर सदस्य राष्ट्रों के बीच भेदभाव बरतने, धनिकों का क्लब होने तथा विनिमय दर व्यवस्था का ठीक प्रबन्ध न करने आदि जैसे अनेक दोष मढ़े जाते रहे हैं ।

10.4.2 विश्व बैंक (World Bank)

विश्व बैंक का पूरा नाम अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (IBRD) है । इसकी स्थापना मुद्रा कोष के साथ पूरक संस्था के रूप में की गयी । इसकी स्थापना 27 दिसम्बर 1945 को हुई तथा इसने अपना कार्य 25 जून 1946 से प्रारम्भ कर दिया ।

विश्व बैंक के उद्देश्य (Objectives)

विश्व बैंक- की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित हैं :

1. **सदस्य राष्ट्रों के पुन:निर्माण व आर्थिक विकास में सहायता** देना विश्व बैंक का प्रमुख उद्देश्य द्वितीय विश्व युद्ध में क्षतिग्रस्त राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं का पुनः निर्माण करना तथा पिछडे व अर्द्धविकसित राष्ट्रों का आर्थिक विकास करना है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक सहायता प्रदान करता है।
2. **पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन को प्रोत्साहन देना** विश्व बैंक पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को दो प्रकार से प्रोत्साहित करता है प्रथम तो ऋणों की गारण्टी के माध्यम से निजी पूँजीपतियों को पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करता है जिन में उत्पादन बढाने व आर्थिक

विकास के लिए पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है । द्वितीय, जिन क्षेत्रों में निजी पूँजी उचित शर्तों पर उपलब्ध नहीं होती है, उनमें बैंक स्वयं पूँजी विनियोग करता है ।

3. **भुगतान संतुलन में दीर्घकालीन साम्य स्थापित करना** विभिन्न देशों के बीच भुगतान संतुलन सम्बन्धी दीर्घकालीन विषमताएँ उत्पन्न न होने पाये, इस दृष्टि से बैंक सम्पन्न देषों को अर्द्धविकसित देशों मे पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करता है ताकि उनका त्वरित आर्थिक विकास हो सके जिससे वे अपने व्यापार ढाँचे में परिवर्तन व सुधार के द्वारा भुगतान सम्बन्धी कठिनाईयों से दीर्घकाल में मुक्त हो सकें ।

4. **शांतिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना** विश्व बैंक का एक अन्य उद्देश्य यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाए कि युद्धकालीन परिस्थितियों के स्थान पर शान्तिकालीन व्यवस्था उत्पन्न हो सके तथा सदस्य देशों की अर्थव्यवस्था में स्थिरता उत्पन्न हो सके ।

विश्व बैंक की सदस्यता (Membership)

मुद्रा को की सदस्यता प्राप्त करने वाले सभी देशों को विश्व बैंक की सदस्यता स्वत: ही प्राप्त हो जाती है । विश्व बैंक के सदस्य राष्ट्रों की जो संख्या प्रारम्भ में 44 थी, वह बढकर वर्तमान में 183 हो गयी है ।

विश्व बैंक की पूँजी व साधन (Capital and resources)

विश्व बैंक की स्थापना के समय इसकी अधिकृत पूँजी 10000 करोड डालर निश्चित की गयी थी जो एक लाख डालर के 1 लाख अंशों में विभाजित थी । 30 जून 1999 को बैंक की अधिकृत पूँजी 18,800 करोड डालर तथा अभिदत्त पूँजी 18,242.6 करोड डालर थी । बैंक की पूँजी का कुछ अंश प्रत्येक सदस्य देश को अभ्यंश के रूप में आवंटित किया है जिसका केवल 20 प्रतिशत भाग ही सदस्य देश को चुकाना पडता है तथा शेष 80प्रतिशत भाग बैंक द्वारा माँगने पर चुकाया जाता है । अभ्यंश 20 प्रतिशत भाग मे से सदस्य देश को पहले 2 प्रतिशत भाग स्वर्ण अथवा डालर में चुकाना पडता था जो अब SDRs अथवा बैंक द्वारा स्वीकृत विदेशी मुद्रा मे चूकाना पडता है तथा 18 प्रतिशत भाग सदस्य देश को अपनी मुद्रा मे चुकाना पडता है । 30 जून 1999 को विश्व बैंक भारत की पूँजी 540.38 करोड डालर थी ।

विश्व बैंक का प्रबन्ध (Management)

विश्व बैंक के प्रबन्ध के लिए एक प्रशासक मण्डल (Board of govenor). एक कार्यकारी संचालक ।{Board of Executive Directors} एक सलाहकार समिति, एक ऋण समिति व अन्य कर्मचारी होते हैं । बैंक के संचालन का सर्वोच्च अधिकार प्रशासक मण्डल के पास होता है । इसमें प्रत्येक देश द्वारा एक गवर्नर तथा स्थानापन्न गवर्नर नियुक्त किया जाता है । यह प्रशासक मण्डल बैंक की एक साधारण सभा का कार्य करता है जिसमें बैंक की सामान्य नीतियाँ निर्धारित की जाती है तथा वर्ष भर की प्रति का लेखा-जोखा किया जाता है । प्रत्येक सदस्य देश को उसके अभ्यंश के 1 लाख डालर के पीछे एक मत + 25० मत देने का अधिकार होता है । प्रशासक मण्डल अपने में से किसी एक को अध्यक्ष चुन लेता है जो बैंक का प्रमुख कार्यकारी अधिकारी होता है।

बैंक के कार्यकारी संचालन मण्डल में वर्तमान में 21 सदस्य होते हैं जिनमें 5 स्थायी सदस्य होते हैं जिनका मनोनयन बैंक के सर्वाधिक अंश वाले सदस्य देशों के द्वारा किया जाता है । शेष 16 सदस्यों का निर्वाचन सदस्य देशों द्वारा चुनाव के द्वारा किया जाता है । कार्यकारी संचालक मण्डल बैंक के दिन-प्रतिदिन के कार्यो के संचालन के लिए जिम्मेदार होता है। प्रशासक मण्डल द्वारा एक सलाहकार समिति का गठन किया जाता है जो बैंक को उसकी सामान्य नीति के सम्बन्ध में आवश्यक परामर्श देती है । इसमें कम से कम 7 सदस्य बैंकिंग, वाणिज्य, उद्योग, कृषि, यातायात, श्रम आदि के विशेषज्ञ होते हैं । इसके अतिरिक्त बैंक द्वारा माँगे गये ऋणों की उपयुक्तता की जांच करनें के लिए ऋण समिति नियुक्त की जाती है ।

विश्व बैंक के कार्य एवं उनकी प्रगति (Functions of world Bank and their progress)

विश्व बैंक अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्य सम्पन्न करता है.

1. **ऋण देना (Loans)** बैंक सदस्य देशों को 20 वर्ष तक की अवधि के ऋण देता है । इनमें 5 वर्ष का अनुगृह काल भी होता है । बैंक ऋण केवल सदस्य देश की सरकार, स्थानीय निकाय अथवा निजी उद्योगों को सरकारी गारण्टी पर देता है । बैंक ने अपनी स्थापना से लेकर 30 जून 1999 तक 135 देशों को 3,38,532 करोड डालर के 4336 ऋण स्वीकृत किये हैं जिनमें 2,20,501 करोड डालर के ऋण वितरित किये जा चुके हैं । स्वीकृत ऋणों में सर्वाधिक हिस्सा कृषि व ग्रामीण विकास (15%') ऊर्जा विकास (14.7%), परिवहन विकास (14.7%), विकास वित्त कम्पनियाँ (10%) तथा उद्योग व खनिज (7.6%) का रहा है । बैंक विदेशी मुद्रा में ऋण देता है जिनका भुगतान निर्बाध प्रयोगनीय मुद्राओं में किया जा सकता है ।

बैंक द्वारा क्षेत्रानुसार ऋण वितरण में प्रथम स्थान लेटिन अमेरिका तथा केरेबियन देशों (32.2%) का रहा है । द्वितीय व तृतीय स्थान पूर्वी एशिया तथा पेसिफिक (26.9%) तथा यूरोप एवं मध्य एशिया (17.8%) का रहा है । दक्षिणी एशियाई देशों को मात्र 9.6% हिस्सा मिला है जिनमें भारत का हिस्सा काफी अधिक रहा है । सबसे कम ऋण अफ्रीकी देशों को मिला है ।

2. **गारण्टी देना (Guarantee)** बैंक अन्य ऋणदाताओं को उनके द्वारा पिछड़े सदस्य राष्ट्रों को दिये गये ऋणों की गारण्टी भी प्रदान करता था, किन्तु 1965 से यह कार्य अब बन्द कर दिया गया है ।

3. **तकनीकी सहायता प्रदान करना (Technical Assitance)** बैंक द्वारा सदस्य राष्ट्रों को तकनीकी सहायता भी प्रदान की जाती है । सभी प्रकार की प्रदान की जाने वाली तकनीकी सहायता बैंक की ऋण क्रियाओ का अभिन्न भाग है । बैंक सदस्य देशों की प्रार्थना पर अपने विशेषज्ञ भेजता है, जो विभिन्न परियोजनाओं के सम्बन्ध में आर्थिक, वैज्ञानिक व तकनीकी सुझाव देते हैं । परियोजना स्तर पर पूँजी के साथ-साथ उत्पादन तकनीकी, कार्यक्रमों का विस्तार एवं उनकी प्रगति की जाँच तथा सस्थाओं के निर्माण कार्य हस्तान्तरित करना होता है । इस संदर्भ में बैंक अन्य संस्थाओं के साथ भी सहयोग करता है ।

4. **प्रशिक्षण सुविधाएं देना (Training Facilities):** विश्व बैंक यूँ तो 1949 से ही सदस्य देशो के वरिष्ठ अधिकारियों को आर्थिक मामलों से सम्बन्धित प्रशिक्षण देता रहा है, किन्तु इसने प्रशिक्षण कार्य हेतु 1956 में आर्थिक विकास संस्था की स्थापना की है । इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य अविकसित देशों के उच्च अधिकारियों को सार्वजनिक वित्त, साख एवं वित्त व्यवस्था, कृषि व औद्योगिक विकास व्यापार' भुगतान. नियोजन आदि विषयों पर विशेष प्रशिक्षण प्रदान करता है । इस सस्थान ने 1979 से 1983 तक एक 5 वर्षीय प्रशिक्षण कार्यक्रम भी लागू किया था ।

5. **सहायता कार्यक्रमों में समन्वय (Aid Co- ordination)** विश्व बैंक सहायता ' देने वाले तथा पाने ताले देशों के अनुरोध पर सहायता कार्यक्रमो मे समन्वय का कार्य करता है ताकि प्राप्त सहायता के अधिकतम सदुपयोग हो सके । विश्व बैंक ने अनेक परियोजनाओं की वित्तीय व्यवस्था अन्य संस्थाओं के साथ मिलकर की है ।

6. **आर्थिक अनुसंधान एवं अध्ययन (Economic Research and Studies)** विश्व बैंक 1971 से लगातार आर्थिक अनुसंधान एवं अध्ययन का कार्य कर रहा है । इस हेतु बैंक अपने विशेषज्ञों व बाहरी विशेषज्ञों की सहायता लेता है । बैंक अब तक सैकडों अनुसंधान परियोजनाओं का काम पूर्ण कर चुका है । बैंक प्रति वर्ष अपने प्रशासनिक जय का तीन प्रतिशत भाग आर्थिक व सामाजिक अध्ययन पर व्यय करता है ।

7. **अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं की स्थापना में सहयोग करना** बैंक ने व 1956 में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC) तथा 1960 में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) की स्थापना की । इन दोनों वित्तीय संस्थाओं को विश्व बैंक की सहयोगी संस्था माना जाता है और इन्होने सदस्य राष्ट्रों को भरपूर वित्तीय सहायता उपलब्ध करवायी है ।

8. **सहायता संघों को स्थापना** विश्व बैंक ने विकासशील देशों को विकास सहायता दिलवाने के लिए कुछ सम्बन्धित देशों को सहायता दिलवाने के लिए सहायता संघों की स्थापना की है । इनमें भारत सहायता संघ तथा पाकिस्तान सहायता संघ क्रमश: भारत तथा पाकिस्तान के विकास को प्रोत्साहन देने हेतु वित्तीय सहायता सुलभ कराने के लिए उद्देश्य से स्थापित किये गये हैं ।

9. **सदस्य राष्ट्रों के झगड़ों का निपटारा** सदस्य देशों के बीच उत्पन्न आर्थिक समस्याओं को निपटाने के लिए विश्व बैंक एक निष्पक्ष मध्यस्थ की भूमिका निभाता है । अक्टूबर 1960 में भारत व पाकिस्तान के नहरी विवाद तथा 1956 में स्वेज नहर विवाद को सुलझाने का श्रेय विश्व बैंक को ही जाता है । बैंक ने पिछले वर्षो में सदस्य देशों की सरकारों व नागरिकों के बीच विदेशों में विनियोग सम्बन्धी विवादों को हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र स्थापित किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि विश्व बैंक ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अनेक सराहनीय कार्य किए हैं, किन्तु साथ ही बैंक की कार्यप्रणाली में अनेक खामियाँ भी हैं, जैसे ऋण मिलने में विलम्ब होना, ऋणों पर व्याज दरों का उँचा होना, ऋण राशि का अपर्याप्त होना, भेदभाव बरता जाना आदि ।

10.5 सारांश (Summary)

व्यावसायिक संगठन से तात्पर्य किसी भी ऐसे औद्योगिक, वाणिज्यिक या सेवा संगठन से है जो वस्तुओं अथवा सेवाओं का उत्पादन अथवा वितरण करता है अथवा इन कार्यो में सहयोग प्रदान करता है । व्यावसायिक संगठन आधुनिक व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य का जीवन रक्त है । वस्तुओं और सेवाओं का कुशल उत्पादन एवं वितरण करने, रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने, देश का त्वरित आर्थिक विकास करने में, राष्ट्रीय साधनों का अनुकूलतम उपयोग करने, सीमित पूँजी का कुशल उपयोग करने तथा समाज का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने की दृष्टि से व्यावसायिक संगठनों का भारी महत्व है ।

व्यावसायिक संगठनों का वर्गीकरण उनके आकार तथा स्वामित्व एवं प्रबन्ध के आधार पर किया जाता है । आकार के आधार पर ये वृहत्-स्तरीय एवं लघु-स्तरीय संगठन कहलाते हैं; जबकि स्वामित्व के आधार पर इन्हें एकाकी व्यापार, साझेदारी संगठन, कम्पनी संगठन, सहकारी संगठन, राजकीय संगठन आदि रूपों में जाना जाता है ।

एकाकी व्यापार संगठन में प्रबन्ध, संचालन एवं नियन्त्रण एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है, वही पूँजी लगाता है और समस्त जोखिम भी वही वहन करता है । छोटे व्यवसायों का संचालन आज भी अधिकांशत: इसी स्वरूप में हो रहा है । इस प्रारूप के प्रमुख लाभ हैं - स्थापना और समापन मे सरलता, प्रत्यक्ष प्रेरणा, शीघ्र निर्णय लेना. कम लागत, गोपनीयता, व्यवसाय के चुनाव व परिवर्तन मे स्वतन्त्रता आदि । एकाकी व्यापार के प्रमुख दोष हैं - असीमित दायित्व, सीमित मात्रा में पूँजी एवं प्रबन्धकीय कौशल, अस्थायी अस्तित्व एवं बड़े पैमाने के व्यवसाय के लिए अनुपयुक्त आदि ।

साझेदारी दो या दो से अधिक व्यक्तियों की एक ऐसी संस्था है जिसका निर्माण आपसी अनुबन्ध या समझौते द्वारा होता है । इसकी स्थापना लाभ कमाने के उद्देश्य से की जाती है जिसका संचालन सभी साझेदारों द्वारा अथवा सभी की ओर से किसी एक साझेदार द्वारा किया जाता है । साझेदारी सगठन के लाभ हैं - अधिक पूँजी की उपलब्धता, सन्तुलित एवं ठोस निर्णय साझेदार की अनुपस्थिति में कारोबार का संचालन संभव, स्थापना एवं अन्त सरल, प्रबन्ध में अधिक कुशलता आदि । साझेदारी सगठन के दोष है - असीमित दायित्व, हित-हस्तान्तरण में कठिनाई, अस्थायी अस्तित्व, साझेदारों में मतभेद की संभावना एवं शीघ्र निर्णय का अभाव आदि ।

एकाकी व्यापार और साझेदारी के दोषों के कारण कम्पनी प्रारूप का जन्म हुआ है । कम्पनी विधान द्वारा निर्मित एक ऐसी संस्था है जिसका अपना पृथक् एवं वैधानिक अस्तित्व होता है, सामान्यत: जिसका दायित्व सीमित होता है एवं जिसकी एक सार्वमुद्रा भी होती है । कम्पनी संगठन के प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं - स्थायी अस्तित्व, सीमित दायित्व, अधिक वित्तीय साधन, अंशों के हस्तान्तरण की सुविधा, बड़े पैमाने के उत्पादन के लाम, जोखिम का विभाजन एवं पेशेवर प्रबन्धकों की. सेवाओं का लाभ आदि । कम्पनी संगठन के दोष हैं -

स्थापना में कठिनाई, गोपनीयता का अभाव, प्रत्यक्ष प्रेरणा का अभाव, अधिक सरकारी हस्तक्षेप एवं नियन्त्रण, आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण आदि ।

सहकारिता संगठन कुछ व्यक्तियों का एक ऐसा ऐच्छिक संघ है जिसमें समानता तथा परस्पर सहयोग के आधार पर सदस्यों के सामूहिक आर्थिक हितों की वृद्धि के प्रयास किए जाते हैं । सहकारी संगठन के प्रमुख लाभ हैं - आर्थिक एकाधिकारों की समाप्ति, मितव्ययता, सेवा. भावना. न्यूनतम लागत पर अच्छी वस्तुओं की उपलब्धि समाज में वर्ग-संघर्ष की समाप्ति आदि। इस संगठन के प्रमुख दोष हैं - अकुशल प्रबंध, सरकारी हस्तक्षेप, पक्षपात एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा, प्रत्यक्ष प्रेरणा का अभाव आदि ।

सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक संगठन से आशय ऐसे संगठनों से है जिसका अधिकांश स्वामित्व (50 प्रतिशत से अधिक चुकता पूँजी पर अधिकार) अथवा सम्पूर्ण प्रबन्ध, संचालन तथा नियन्त्रण सरकारी संस्था के अधीन होता है । सरकारी क्षेत्र के संगठन के प्रमुख लाभ हैं - देश के नियोजन के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक. आधारभूत ढांचा के निर्माण में योगदान. अधिक जोखिम वाले व्यवसायों का संचालन, गोपनीय एवं सामरिक महत्त्व के कार्यो का संचालन, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, सन्तुलित आर्थिक विकास एवं जनोपयोगी सेवाओं का संचालन आदि । इन संगठनों के दोष हैं- व्यावसायिक दृष्टिकोण का अभाव, नौकरशाही एवं लालफीताशाही, कर्मचारियों में पहल एवं लगन का अभाव, राजनैतिक एवं संसदीय हस्तक्षेप एवं अधिक संचालन लागत आदि ।

संयुक्त क्षेत्र, वह क्षेत्र है जिसमें निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र की साझेदारी से स्थापित तथा संचालित किये जाने वाले संगठन सम्मिलित होते हैं । इसमें सरकार निजी क्षेत्र के व्यवसायियों के अनुभव एवं योग्यता का लाम उठाती है ।

केन्द्रीय बैंक देश की सम्पूर्ण मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था के शीर्ष पर स्थित सर्वोच्च संस्था है जो देश हित में मुद्रा की मात्रा का नियंत्रण एवं नियमन करती है । केन्द्रीय बैंक पत्र मुद्रा का निर्गमन, साख नियंत्रण, व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक, देश के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक, सरकार का बैंकर, अभिकर्ता एवं सलाहकार, समाशोधन गृह तथा अन्तिम ऋणदाता आदि प्रमुख कार्य सम्पन्न करता है ।

व्यापारिक बैंक व्यावसायिक गतिविधियों के लिए प्राय: अल्पकालीन वित्त प्रदान करने वाली संस्था है जो अपने ग्राहकों से जमाएँ स्वीकार करना तथा उन्हें ऋण देना जैसे परम्परागत कार्यो के अतिरिक्त अनेक गैर-परम्परागत कार्य भी सम्पन्न करते हैं ।

विकास बैंक विकास वित्त उपलब्ध कराने वाली विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ होती हैं । ये उद्योग. व्यापार, कृषि एवं निर्यात-आयातों के लिए दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं । इसके अलावा ये बैंक परामर्श सेवाएँ देने, उद्यमिता विकास करने, तथा मुद्रा एवं पूँजी बाजार के विकास के लिए भी कार्य करते हैं । ये औद्योगिक इकाइयों के लिए जोखिम पूँजी तथा बीज पूँजी प्रदान करने वाली संस्थाएँ हैं । सहकारी बैंक सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने वाले बैंक हैं जो वाणिज्यिक बैंकों की भाँति सामान्य बैंकिंग कार्यो का निष्पादन करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्रोत्साहन देने, विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रखने, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलित विकास करने तथा सदस्य राष्ट्रों के भुगतान संतुलन में असाम्य की अवधि एवं मात्रा में कमी करने के उद्देश्य से की गयी थी । मुद्रा कोष सदस्य राष्ट्रों को भुगतान संतुलन में असंतुलन को दूर करने के लिए विदेशी मुद्रा में आर्थिक सहायता उपलब्ध कराता है । कोष सदस्य राष्ट्रों की विनिमय दरों को व्यवस्थित बनाये रखने तथा उनमें होने वाले उतार-चढ़ावों पर निगरानी रखने तथा भुगतान संतुलन में असाम्य को कम अथवा समाप्त करने के लिए वित्तीय एवं तकनीकी सहायता उपलब्ध कराता है । विश्व बैंक की स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध में क्षतिग्रस्त राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्निर्माण करने तथा पिछड़े व अर्द्धविकसित राष्ट्रों का आर्थिक विकास करने के उद्देश्य से की गयी थी । विश्व बैंक अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सदस्य राष्ट्रों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है. ऋणों की गारण्टी देता है तथा तकनीकी सहायता एवं प्रशिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध कराता है ।

10.6 शब्दावली (Glossary)

व्यावसायिक संगठन व्यवसाय के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु व्यवसाय के विभिन्न घटकों जैसे कच्चा माल. श्रम-शक्ति, मशीनें, पूँजी आदि को एकत्रित करना, व्यवस्थित ढंग से उन्हें कार्यान्वित करना तथा समन्वित करना ।

एकाकी व्यापार संगठन एक व्यक्ति का व्यवसाय जिसमें व्यक्ति अपनी पूँजी, कौशल और बुद्धि लगाता है तथा व्यवसाय के सम्पूर्ण लाभ एवं हानि वहन करता है ।

जोखिम व्यावसायिक अनिश्चितताओं से उत्पन्न हानि ही जोखिम है ।

साहस जोखिम उठाने की क्षमता को साहस कहते हैं ।

साझेदार वह व्यक्ति जो साझेदारी फर्म का सदस्य होता है ।

साझेदारी करार साझेदारों के बीच लिखित अथवा मौखिक करार जिससे साझेदारी का गठन और शर्तों का उल्लेख होता है ।

असीमित दायित्व सदस्यों की देयता असीमित होती है । अत: संस्था की देनदारियों हेतु सदस्यों की व्यक्तिगत अथवा निजी सम्पत्ति का भी प्रयोग किया जा सकता है ।

साझेदारी संगठन कारोबार का लाभ बाँटने के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संगठन जिसको सभी के द्वारा अथवा सबके लिए किसी एक द्वारा संचालित किया जाता है ।

पब्लिक लिमिटेड कम्पनी ऐसी कम्पनी जो प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी नहीं है ।

पंजीकृत कम्पनी कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत कम्पनी ।

अंशों द्वारा सीमित कम्पनी ऐसी कम्पनी जिसके सदस्यों का दायित्व उनके द्वारा लिए गए अंशों के अंकित मूल्य तक ही सीमित होता है ।

सहकारी संगठन व्यक्तियों का एक ऐच्छिक संघ जो सहकारी अधिनियम के अन्तर्गत स्वेच्छापूर्वक गठित किया जाता है ।

सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक संगठन जो व्यावसायिक संगठन सरकारी प्रबन्ध, नियन्त्रण अथवा स्वामित्व में संचालित किये जाते हैं ।

संयुक्त क्षेत्र के व्यावसायिक संगठन निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र की साझेदारी में स्थापित तथा संचालित किये जाने वाले संगठन संयुक्त क्षेत्र के व्यावसायिक संगठन कहलाते हैं ।

केन्द्रीय बैंक यह देश का शीर्ष बैंक होता है जो देशहित में मुद्रा एवं साख की मात्रा का नियंत्रण एवं नियमन करता है तथा मौद्रिक एव बैंकिंग व्यवस्था का संचालन करता है ।

विदेश विनिमय कोष यह देश के पास उपलब्ध विदेशी मुद्राओं का भण्डार होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

व्यापारिक बैंक इन्हें वाणिज्यिक बैंक भी कहा जाता है । ये व्यापार एवं उद्योग जगत की अल्पकालीन वित्त की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं ' इनका मुख्य काम जनता से जमाएँ स्वीकार करना तथा ऋण देना है । ये अपने ग्राहकों के लिए अभिकर्ता राय ने रथ। अनेक सामान्य उपयोगी कार्य भी करते हैं ।

विकास बैंक विकास बैंक दीर्घकालीन वित्त उपलब्ध करते है ये प्राय: जोखिम पूँजी. स्थायी पूँजी तथा बीज पूँजी उपलब्ध कराते हैं । इसके अलावा वित्तीय एवं किसी की परामर्श सेवाएँ भी उपलब्ध कराते हैं । उद्‌यमिता विकास तथा मुद्रा एवं पूँजी बाजार के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है ।

सहकारी बैंक ये बैंक सहकारी सिद्धात पर आधारित बैंकिंग संगठन है । ये व्यापारिक बैंकों के सभी सामान्य कार्यो का निष्पादन करते हैं ।

विदेशी विनिमय बैंक ये बैंक विदेशी विनिमय (विदेशी मुद्राओं) का लेन-देन करने वाली संस्थाएं होती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में मददगार होती हैं ।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जो अपने सदस्य राष्ट्रों के भुगतान संतुलन में असाम्य को दूर करने के लिए अल्पकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करती है तथा तकनीकी एवं वित्तीय प्रशिक्षण भी प्रदान करती है ।

विश्व बैंक यह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक है जो सदस्य राष्ट्रों को पुनर्निर्माण एवं विकास हेतु वित्तीय एवं तकनीकी सहायता उपलब्ध कराता ' है ।

परिवर्तनशील विनिमय प्रणाली इस प्रणाली के अन्तर्गत एक देश अपनी विनिमय दर को बाजार की मांग और पूर्ति की शक्तियों के आधार पर निर्धारण के लिए स्वतंत्र छोड देता है । इस कारण इसमें निरन्तर उतार-चढ़ाव होते रहते हैं ।

प्रबन्धित विनिमय दर इस व्यवस्था के अन्तर्गत देश की सरकार / केन्द्रीय बैंक एक निश्चित विनिमय दर का निर्धारण करती है तथा उसे एक निश्चित सीमा के अन्दर ही घटने-बढ़ने देती है

10.7 प्रमुख उपयोगी पुस्तकें (Some Useful Books)

डी. आर. के. बजाज, डी. आर. सैनी एवं बी. एल. गुप्ता : 'व्यावसायिक संगठन' (जयपुर : कैलाश बुक डिपो 1987-88)

जी. एल. जोशी, जी. एल. शर्मा एवं एल. एस. सी. जोशी : 'व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध' (दिल्ली : श्री महावीर बुक डिपो, 1988)

आर. सी. अग्रवाल : "व्यावसायिक संगठन' ' (जयपुर. कॉलेज बुक हाउस, 1987-88)
यदुकूल भूषण एवं ओ पी. अग्रवाल : 'व्यावसायिक संगठन के सिद्धान्त' हुई दिल्ली : सुलतान बन्द एण्ड सन्स, 1988)
गोपाल सिंह एवं बी. पी. गुप्ता : 'मुद्रा, बैंकिंग एवं राजस्व ' (जयपुर : रमेश बुक डिपो, 2001)
एम. डी. अग्रवाल, गोपाल सिंह एवं ओ पी. गुप्ता : 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त' (जयपुर : रमेश बुक डिपो 2002)
पी. के. सिंह एवं मुकेश माथुर : 'मुद्रा, बैंकिंग, राजस्व एवं विदेशी विनिमय' ' (उदयपुर : हिमांशु पब्लिकेशन्स)

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. व्यावसायिक संगठन से क्या तात्पर्य है? व्यावसायिक संगठन के महल को स्पष्ट कीजिए ।
2. लघु-स्तरीय व्यावसायिक संगठन को परिभाषित कीजिए । इसके गुण-दोषों का वर्णन कीजिए
3. एकाकी व्यापार से आप क्या समझते हैं? इसके गुण-दोषों का संक्षिप्त में वर्णन कीजिए।
4. साझेदारी से क्या आशय है? साझेदारी के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए ।
5. संयुक्त पूँजी कम्पनी से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
6. सहकारी संगठन से क्या तात्पर्य है । इसके प्रमुख गुण-दोषों का वर्णन कीजिए ।
7. राजकीय उपक्रम को परिभाषित कीजिए । इसके गुण-दोषों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए ।
8. केन्द्रीय बैंक किसे कहते हैं? इसके प्रमुख कार्य बताइए ।
9. व्यापारिक बैंक का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके कार्यो का विवेचन कीजिए ।
10. विकास बैंक से आप क्या समझते हैं? इसके कार्यो का वर्णन कीजिए ।
11. मुद्रा कोष की स्थापना क्यों की गयी ? इसके कार्यो एवं प्रगति का विवरण दीजिए ।
12. विश्व बैंक की स्थापना के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए । इसके द्वारा किये जाने वाले कार्यो की प्रगति का ब्यौरा दीजिए ।

इकाई -11

आर्थिक प्रक्रियाएं

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 उत्पादन का अर्थ

11.3 उत्पादन की प्रक्रिया

11.3.1 उत्पादन प्रकिया का श्रृंखलाबद्ध रूप

11.3.2 एक वर्ष में उत्पादन प्रक्रिया का कार्यकरण

11.4 उत्पादन प्रक्रिया के अध्ययन का महत्व

11.5 उत्पादन के साधन

11.5.1 अर्थ

11.5.2 भूमि

11.5.3 श्रम

11.5.4 पूँजी

11.5.5 प्रबन्ध या संगठन

11.5.6 साहस

11.6 उत्पादन के साधनों के बारे में नया दृष्टिकोण

11.6.1 उत्पादन के विशिष्ट साधन

11.6.2 उत्पादन के अविशिष्ट साधन

11.7 पूंजी निर्माण एवं निवेश

11.7.1 पूँजी निर्माण की अवस्थाएं

11.7.2 आर्थिक विकास में पूँजी निर्माण की भूमिका अथवा महत्व

11.7.3 पूँजी निर्माण अथवा संचय के निर्धारक तत्व

11.7.4 पूँजी एवं धन

11.7.5 भूमि एवं पूँजी में अन्तर

11.7.6 पूँजी की परिभाषा

11.7.7 पूंजी की विशेषताएं

11.7.8 पूंजी के रूप

11.7.9 पूंजी का महत्व

11.8 सारांश

11.9 शब्दावली

11.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

11.10 प्रश्न

11.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.0 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि:

- उत्पादन से या अभिप्राय है?
- उत्पादन के साधन कौन कौन से हैं?
- उत्पादन प्रक्रिया किसे कहते है एवं यह किस प्रकार संचालित होती है ।

11.1 प्रस्तावना (Introduction)

उपभोग मानव जीवन का अभिन्न अंग है । यह वह जीवन्त प्रक्रिया है जो अवाध गति से निरन्तर चलती रहती है । उपभोग की कुछ वस्तुएं स्थायी उपयोग की होती है जबकि कुछ दैनिक उपयोग की । उपभोग की इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उत्पादन करना आवश्यक है । क्योंकि आवश्यकताएं अनन्त है व बराबर उत्पन्न होती हैं, अत: उत्पादन कभी भी बन्द नहीं किया जा सकता । उत्पादन की इस निरन्तरता को उत्पादन प्रक्रिया के नाम से पुकारा जाता है । स्थायी उपयोग की वस्तुओं की उत्पादन प्रक्रिया कुछ धीमी होती है जैविक दैनिक उपयोग की वस्तुओं की पुनरुत्पादन गीत तीव्र होती है । उत्पादन प्रक्रिया के अर्थ को भलीभाँति समझने के लिये उत्पादन एवं उत्पादन के साधन शब्दों का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है ।

11.2 उत्पादन का अर्थ

हम उत्पादन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये विभिन्न अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोणों का अध्ययन करेंगे।

1. **उत्पादन का अभिप्राय भौतिक वस्तुओं का सृजन है** सामान्य अर्थ में उत्पादन का अभिप्राय कुछ निर्माण करना बनाना या उत्पादन करना है । जैसे रेडियो, पंखा, घडी, कार, टेलीविजन आदि का निर्माण करना परम्परावादी अर्थशास्त्रियों मुख्य रूप से एडम स्मिथ ने उत्पादक व अनुत्पादक श्रम में भेद किया है । उत्पादक श्रम उन व्यक्तियों के श्रम को माना गया जो वस्तुओं का निर्माण करते है जिन्हे हम देख सकते है छू सकते है, एवं उनकी उपस्थिति स्पष्ट होती है । कुछ वस्तुओं का उदाहरण हमने ऊपर दिया है । एडम स्मिथ के अनुसार डाक्टर, अध्यापक, वकील, संगीतकार, गायक, नर्तक आदि की सेवाएं अनुत्पादक श्रम का उदाहरण है; क्योंकि वे जैसे ही प्रदान की जाती है, वे समाप्त हो जाती है । ये सेवाएं किसी भौतिक वस्तु का सृजन नहीं करती अत: अनुत्पादक श्रम है । संक्षेप में परम्परावादी दृष्टिकोण के अनुसार भौतिक वस्तुओं का निर्माण करना ही उत्पादन है ।

2. **उत्पादन का अभिप्राय उपयोगिता का सृजन करना है** हमारी अधिकांश क्रियाओं का समाज किसी भौतिक वस्तु के निर्माण से नहीं बल्कि उन्हे अधिक उपयोगी बनाने से है । अधिकांश अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि मनुष्य न तो कोई नया पदार्थ बना सकता है और न ही किसी पदार्थ को इस विश्व में सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर सकता है । वास्तव में हम विभिन्न

वस्तुओं का निर्माण करने के लिए विभिन्न पदार्थो को एक साथ इकट्ठा कर उन्हे अधिक उपयोगी बनाते है । हम किसी पदार्थ का रूप परिवर्तन कर उसे और अधिक उपयोगी बना देते है । अत: वे सभी प्रयास जो किसी वस्तु या उत्पादन की उपयोगिता में वृद्धि कर देते हैं उत्पादक कहे जाते हैं ।

बहु त सी सेवाओं का संबन्ध भौतिक वस्तुओं के निर्माण से नहीं होता बल्कि वे मात्र किसी व्यक्ति विशेष की कुछ आवश्यकताओं को संतुष्ट कर सकती है । इस अर्थ में डाक्टर, अध्यापक, वकील, संगीतकार पद नर्तकी की सेवाएं भी उत्पादक कही जायेगी क्योंकि ये सभी सेवाएं समाज के किसी न किसी वर्ग की आवश्यकताओं को संतुष्ट करती है । यहां पर यह बात महत्वपूर्ण है कि ये सभी सेवाएं आर्थिक उद्देश्य के लिये प्रदान की जाती है । क्योंकि यह भी सम्भव है कि कुछ व्यक्ति उपयोगिता का सृजन नहीं करते परन्तु उनकी सेवाएं उनके लिये आय का स्रोत होती है यदि हम उपर्युक्त परिभाषा को स्वीकार करले तो ऐसी क्रियाएं अनुत्पादक कही जायेगी। अत: हम उत्पादन की परिभाषा एक अन्य दृष्टिकोण से करते है जिसमें उत्पादन को मूल्यों के सृजन के रूप में देखा गया है ।

3. **उत्पादन का अभिप्राय मूल्यों का सृजन करना है** उत्पादन की परिभाषा मूल्यों के सृजन के रूप में भी की जाती है । कभी कभी हमारे प्रयासों से किसी वस्तु की उपयोगिता में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं होती परन्तु उसके मूल्य अथवा कीमत में वृद्धि हो जाती है । इसे ही आर्थिक उपयोगिता अथवा मूलों का सृजन कहा जाता है । उदाहरणार्थ एक फूलदान का निर्माण उपयोगिता का सृजन हो सकता है परन्तु उस पर की गयी नक्काशी से फूलदान की उपयोगिता नही बढ़ती वरन् उसके मूल्यों में वृद्धि हो जाती है । इस प्रकार नक्काशी करने वाले के कार्य को उत्पादक कार्य की श्रेणी में लिया जायेगा क्योंकि उस कार्य से उसकी जीविका चलती है उसे आमदनी प्राप्त होती है । इसका अभिप्राय यह है कि उपयोगिता के सृजन एवं मूल्यों के सृजन दोनों ही उत्पादक कार्य है । प्रोफेसर हिक्स के अनुसार "उत्पादन एक ऐसा कार्य है जो विनिमय के द्वारा अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता की संतुष्टि करता है अतः इसमे उन्ही क्रियाओ को सम्मिलित करना चाहिये जिनके लिए चुकारा किया जाता है ।" इस अर्थ में वे सभी कार्य जो हमारे लिये कुछ आमदनी का स्रोत है उत्पादक कहे जाते है । इस परिभाषा का उपयोग आधुनिक अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय की गणना करने में प्रयोग करते हैं ।

11.3 उत्पादन प्रक्रिया (Productive Process)

उत्पादन प्रक्रिया के मुख्य अंग चार हैं- उत्पादन विनिमय, उपभोग एवं विनियोग । उत्पादन उपभोग व पुनरूत्पादन की निरन्तर चलने वाली क्रिया को उत्पादन प्रक्रिया की संज्ञा दी जाती है । उत्पादन के लिये उत्पादन के विभिन्न साधनों को एक साथ जुटाना आवश्यक है । अर्थात् वस्तु के उत्पादन में उत्पादन के विभिन्न साधनों का सहयोग होता है । भूमि, श्रम. पूँजी, प्रबन्ध व साहस ये पाँच उत्पादन के साधन माने जाते हैं । वस्तु के उत्पादन में इन सभी का सहयोग अनिवार्य हैं । उत्पादन होने के वाद वस्तु का विनिमय होता है । आधुनिक अर्थव्यवस्था में विनिमय की क्रिया सरल हो गयी है क्योंकि हम मुद्रा का प्रयोग विनिमय के

माध्यम के रूप में करते है । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि एक अन्तिम उपभोक्ता के पास पहुंचने से पूर्व एक वस्तु को उत्पादन विनिमय व उपभोक्ता के कई स्तरों से गुजरना पडता हैं । वस्तु एवं सेवाओं के उत्पादन की प्रक्रिया एक श्रृंखाला है जिसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न नीचे किया गया है ।

11.3.1 उत्पादन प्रकिया का श्रृंखला रूप (Chain Character of productive Process)

उत्पादन प्रक्रिया की मुख्य शर्त उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर आपसी सहयोग हैं । उत्पादन के किसी भी स्तर पर यदि कुछ रूकावट अथवा व्यवधान आ जाता है तो अन्तिम उत्पाद उपभोक्ताओं तक नहीं पहुँच पाता है । इसका अभिप्राय यही है कि उत्पादन प्रक्रिया एक श्रृंखला है और यदि किसी श्रृंखला की एक कडी खराब हो जाय तो वह सम्पूर्ण श्रृंखला के संचालन में रूकावट खड़ी कर देती है । उत्पादन प्रक्रिया के इस श्रृंखला बद्ध रूप को स्पष्ट करने के लिये इस इकाई में हमने ब्रेड के उत्पादन का उदाहरण लिया है जो किसी एक वर्ष में इसके संचालन को स्पष्ट कर देगा ।

अर्थव्यवस्था को सामान्यत: बार प्रमुख क्षेत्रों मे बांटा जा सकता है (1) कृषि (2) निर्माण उद्योग (3) यातायात उद्योग (4) सेवाएं । कृषि में उत्पादन यदि पूरा न हो तो निर्माण उद्योगों को कच्चा माल नहीं मिल पायेगा । इसी प्रकार निर्माण उद्योगों में हड़ताल होने, विधुत आपूर्ति न मिलने पर अथवा पीरवहन उद्योग द्वारा समय पर कच्चे माल की आपूर्ति एवं तैयार माल को बाजारों तक न पहुँचाने पर उत्पादन प्रक्रिया अवरुद्ध हो जायेगी और वस्तुएं अन्तिम उपभोक्ताओं के पास नहीं पहुँच पायेगी । इस प्रकार उत्पादन की इस प्रक्रिया के सफल संचालन के' लिये अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में आपसी सहयोग होना अत्यन्त आवश्यक है ।

11.3.2 एक वर्ष में उत्पादन प्रक्रिया का कार्यकरण (Working of Productive Process in a Year)

हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि उत्पादन प्रक्रिया की प्रकृति निरन्तरता है । अर्थात् यह हमेशा चलती रहती है यह एक निरन्तर चलने वाली फिल्म की तरह है जिसमे घटनाक्रम एक के बाद एक निरन्तर अविरल गति से चलता रहता है । उसकी किसी एक घटना की अलग से व्याख्या कर पाना एक दुष्कर कार्य है । फिर भी हम फिल्म के एक टुकडे को अलग से काटकर देख सकते हैं इसी तरह इस निरन्तर चलने वाली क्रिया का हम किसी एक वर्ष में कार्यकरण देख सकते हैं परन्तु हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि उस समय विशेष में उत्पादन की प्रक्रिया रूक गयी है हम केवल उस क्रिया के एक भाग विशेष का अध्ययन करते हैं।

उदाहरणार्थ 2003 के वर्ष में हमने किसी दिन एक डबलरोटी का टुकड़ा हमारे नाश्ते में खाया था । डबलरोटी के इस टुकडे के हमारी प्लेट तक पहुँचाने के पीछे एक लम्बा इतिहास छुपा हुआ था । एक दिन पूर्व डरलरोटी के निर्माता ने उसे बट्टी में पकाया होगा । लेकिन इससे पूर्व जो आटा उसने डबल रोटी बनाने मे प्रयोग मे लिया था उसको आटा चक्की तक ले गया होगा । लेकिन वे गेहूँ जो वह आटा चक्की तक लेकर गया था इससे पूर्व भी देश के किसानों

द्वारा खेतों में उगाया गया होगा अथवा किसी अन्य देश से उसे आयात किया गया होगा । गेहूँ के उत्पादन के लिये कई लोगों ने विभिन्न स्तरों पर सहयोग किया होगा । अर्थात सबसे पहले भूमि को तैयार किया गया उसके बाद गेहूँ की बुआई की गयी उसकी सिंचाई की गयी और गेहूँ पकने तक देखभाल की गयी । इसके बाद गेहूँ को काटकर खलिहानों में पहुँचाया गया जहाँ उसे थ्रेशर से अथवा अन्य परम्परागत तरीके से साफ किया गया । साफ गेहूँ को बोरों में भरा गया व उसे बाजार तक पहुँचाया गया । इस प्रकार गेहूँ के उगाने एवं ब्रेड बनने के समय में एक वर्ष का अन्तर हो सकता है । परन्तु डबलरोटी के दुकडे का इतिहास यही समाप्त नहीं होता ।

उत्पादन के प्रत्येक स्तर जुताई, बुआई. निराई-गुड़ाई, कटाई, सफाई, ढुलाई, पिसाई आदि के लिये ईधन या शक्ति की आवश्यकता होती है । यह शक्ति पशुओं की हो सकती है, अथवा खनिज तेल, कोयला, अथवा विधुत से प्राप्त की जा सकती है । पशुओं की शक्ति प्राप्त करने के लिये उनका चारा, दाना पानी आदि की व्यवस्था आवश्यक है । खनिज तेल अथवा कोयले को पहले जमीन के भीतर से निकाला जाता है फिर खनिज तेल की सफाई की जाती है उसके बाद उसे उन जगहों तक पहुंचाया जाता है जहाँ गेहूँ बोये जाते थे । इसी प्रकार विधुत शक्ति पैदा करने के लिये आवश्यक मशीनों का निर्माण बड़े बांधो का निर्माण किया जाता है जिसमें पुन: कई यंत्र उपकरण व श्रमिकों की आवश्यकता होती है । इस सभी यंत्रों व उपकरणों का उत्पादन साथ-साथ चलता रहता है जिससे डबलरोटी उत्पादन की प्रक्रिया अधिक लम्बी न हो। इस प्रकार डबलरोटी उत्पादन के एक छोटे से टुकड़े का उत्पादन कितने श्रमिकों एवं मशीनों के सहयोग से हुआ । यह सत्य है कि इन सभी यंत्रों, उपकरणों एवं क्रियाओं का एम मात्र उद्देश्य केवल डबलरोटी बनाना नहीं था । उनका निर्माण अन्य उपयोगों के लिये भी सहयोग करता हैं । इन सभी यंत्र व उपकरणों के निर्माण के लिये देश में पर्याप्त सम्पति अथवा धन होना चाहिये । धन अथवा सम्पति की उत्पादन प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका होती है ।

धन अथवा सम्पति (Wealth) उन सभी वस्तुओं का संग्रह है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में उपयोगी होते हैं । वर्ष 2003 के प्रारम्म में अर्थव्यवस्था में कुछ धन अथवा सम्पति का संग्रह था इसमें निम्न तत्व सम्मिलित थे (1) भूमि अथवा अन्य प्राकृतिक साधन (2) अचल पूँजी जैसे - कारखानों की इमारतें, मशीनें आदि (3) माल तालिकाएं - जैसे मशीनों से गुजर रहा अर्द्ध निर्मित माल. कच्चा माल व तैयार माल का कारखानों में संग्रह, तथा (4) मानवीय संसाधन जैसे- श्रमिक ।

अगर इन साधनों की मात्रा अधिक होगी अथवा धन संग्रह अधिक होगा तो इन साधनों से प्राप्त आय भी अधिक होगी । साधारण भाषा में यदि धन संग्रह अधिक होगा तो एक समय विशेष में उससे प्राप्त आय प्रवाह (Income flow) भी उस अवधि में अधिक होगा । इसका अभिप्राय यह है कि धन का अधिक संग्रह करके एवं उसका उपयोग वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में करके एक देश में राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जा सकती है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि धन (welth) तथा आय (Income) दो अलग अलग धारणाएं हैं । धन उपयोगी वस्तुओं का संग्रह है जबकि आय इस संग्रह (Stock) के परिणामस्वरूप प्रवाह की दर को व्यक्त करती है ।

हम उत्पादित वस्तुओं को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं । कुछ वस्तुएं उत्पादन में सहयोग देने के लिये बनाई जाती है जैसे- मशीनें व उपकरण । इन्हे उत्पादक वस्तुएं कहा जाता है । कुछ अन्य वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करते है इन्हे अन्तिम उत्पाद अथवा उपभोक्ता वस्तुएं कहा जाता है । उपभोक्ता वस्तुएं पुन: दो भागों में विभाजित की जा सकती है (1) एकिक प्रयोग उपभोक्ता वस्तुएं (Single use Consumer's good) (2) स्थायी उपयोग उपभोक्ता वस्तुएं (Durable use Consumer's goods) एकिक प्रयोग उपभोक्ता वस्तुएं जैसे डबलरोटी, शब्जी, आइसक्रीम आदि होती हैं । जिनका उपयोग करते ही वे समाप्त हो जाती हैं इसी प्रकार सेवाएं भी एकिक उपयोग उपभोक्ता वस्तुएं कही जायेगी । दूसरी ओर स्थायी उपयोग उपभोक्ता वस्तुएं जैसे मकान, टेलीविजन, रेडियो, स्कूटर, कार आदि का उपयोग काफी लम्बे समय तक किया जा सकता है।

उपभोक्ता वस्तुओं के समान उत्पादक वस्तुएं भी एकिक उपयोग वाली एवं स्थायी उपयोग वाली हो सकती है । जैसे डबलरोटी वाले उदाहरण में गेहूँ आटा, बिजली, डीजल अथवा पेट्रोल एकिक उपयोग वाली वस्तुएं है । परन्तु ट्रेक्टर, थ्रेशर, तथा डबलरोटी बनाने वाली भट्टी स्थाई उपयोग की उत्पादक वस्तुएं हैं ।

प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भ में विभिन्न वस्तुओं के कुछ स्टाक होते है । इसी प्रकार 2003 वर्ष के प्रारम्भ में भी कुछ उत्पादक वस्तुएं एवं कुछ उपभोक्ता वस्तुएं थी । ये वस्तुएं इससे पूर्व के वर्ष 2002 से उत्तराधिकार के रूप में मिलती है । इनमें अधिकतर वस्तुएं इससे भी पहले के कई वर्षा में उत्पादित की गयी होगी व कुछ वस्तुएं वर्ष 2001 के दौरान ही उत्पादित की गयी होगी । उत्पादन का चक्र 2003 में जैसे ही प्रारम्भ होता है अर्द्ध निर्मित माल तैयार होकर अन्तिम उत्पाद के रूप मे सामने आ जाता है । पुरानी वस्तुओं का स्थान नई वस्तुएं ले लेती हैं। इन वस्तुओं में सभी प्रकार की वस्तुएं होती है ऐकिक प्रयोग व स्थायी उपयोग उपभोक्ता वस्तुएं एवं एकिक उपयोग व स्थायी उपयोग उत्पादक वस्तुएं । कुछ वस्तुएं जो 2003 वर्ष के दौरान बनाई जाती है उसी वर्ष उपयोग कर ली जाती है । स्थायी उपयोग की वस्तुओं जिन्हे पूर्व के वर्षा से हमने उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया है 2003 की उत्पादन प्रक्रिया के दौरान घिसावट (Depreciation) होगी । परन्तु घिसावट के बाद भी ये वस्तुएं 2004 एवं आगे के आने वाले कई वर्षो तुक उपयोग में ली जायेगी । यदि 2003 वर्ष के दौरान उत्पादन यदि घिसावट व्यय को घटाने के बाद भी अधिक है तो कुछ भाग आने वाले वर्षा के लिये बचा रहेगा। इस प्रकार 2003 में उत्पादित स्थायी वस्तुएं जिनका उपयोग उस वर्ष नहीं किया जाता है उन्हें नई पूँजी कहा जाता है ।

उत्पादन प्रक्रिया के एक वर्ष में कार्यकरण को सारांश में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है । वर्ष के प्रारम्भ में कुछ वस्तुओं का संग्रह होता है इसे हम प्रारम्भिक पूँजी का नाम दे सकते हैं । देश में उपलब्ध श्रम शक्ति इस प्रारम्भिक पूँजी के उपयोग से विभिन्न प्रकार की वस्तुएं उत्पादित करती हैं । इन वस्तुओं में से कुछ उसी वर्ष में उपयोग हो जाती है और कुछ नयी वस्तुएं उस वर्ष के उत्पादन के परिणाम स्वरूप जुड जायेगी । वर्ष के अन्तिम दिन जो भी

संग्रह बचा रहेगा वह अगले वर्ष के लिये प्रारम्भिक पूँजी बन जायेगा । अगले वर्ष प्रारम्भिक पूँजी में पिछले वर्ष की प्रारम्भिक पूँजी के अलावा उस वर्ष में किये गये विनियोग सम्मिलित होंगे परन्तु उस वर्ष में मशीनों आदि की घिसावट घटा दी जावेगी । हम अपनी सारी बात को निम्न रेखाकृति द्‌वारा प्रदर्शित कर सकते हैं ।

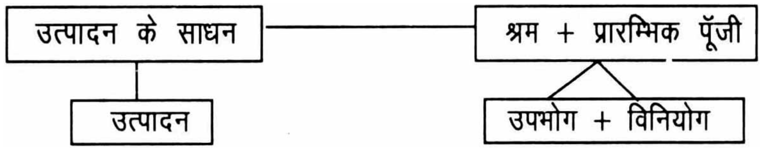

रेखाकृति 11.1

उपर्युक्त रेखाचित्र अपने आप में पूर्ण नहीं है । क्योंकि प्रारम्भिक पूँजी में सेवाओं को सम्मिलित नहीं किया गया है । अब हम मान्यता लेते है कि सेवाएं प्रारम्भिक पूँजी के सहयोग के बिना केवल श्रम द्‌वारा उत्पादित की जाती है तथा वे सीधे उपभोग कर ली जाती है । अब इसे भी रेखाकृति में सम्मिलित किया जायेगा । इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक पूँजी में स्थायी उपयोग की उपभोक्ता वस्तुओं को भी अलग से प्रदर्शित करना आवश्यक है । इन वस्तुओं का कुछ भाग उसी वर्ष उपभोग कर लिया जाता है तथा बचा हुआ भाग अगले वर्ष के लिये प्रारम्भिक पूँजी में जुड जाता है । इस प्रकार संशोधित रेखाकृति निम्नानुसार होगी ।

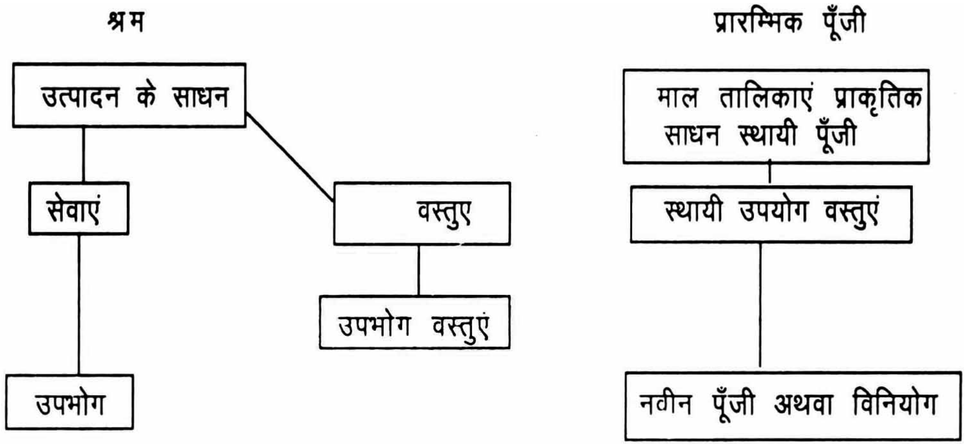

रेखाकृति 11.2

उपर्युक्त रेखाकृति अब पूर्ण है । इससे यह भी स्पष्ट से जाता है कि एक अर्थव्यवस्था को प्रत्येक वर्ष में इतना उत्पादन करना चाहिये कि वह न केवल उस वर्ष के उपभोग के लिये पर्याप्त हो बल्कि उसमे से कुछ भाग उसकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि के लिये नई पूँजी निर्माण के काम आ सके । यदि ये नई पूँजी पर्याप्त है और घिसावट व्यय घटाने के बाद भी कुछ बचा रहता है' तो अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता हर वर्ष बढ़ती जायेगी । परन्तु यदि यह अपर्याप्त है और घिसावट व्यय पाने के बाद विनियोग शून्य अथवा ऋणात्मक हो जाते है तो ऐसी अर्थव्यवस्था स्थिर हो जायेगी अथवा का हास होगा । इस प्रकार एक विकासशील अर्थव्यवस्था में उत्पादन प्रक्रिया के कार्यकरण के परिणामस्वरूप उत्पादन सकाल राष्ट्रीय उत्पाद मे शुद्ध निवेश सदैव धनात्मक होने चाहिये अन्यथा विकास अवरूद्ध हो जाएगा ।

11.4 उत्पादन प्रक्रिया के अध्ययन का महत्व (Importance of the Study of Productive Process)

हमारे उपयुक्त से यह स्पष्ट हो गया है 1 उत्पादन प्रक्रिया एवं उपभोक्ताओं के सहयोग से निरन्तर उत्पादन होता रहता हैं । आधुनिक जटिल अर्थव्यवस्था में यह सहयोग उतना सरल नहीं है जैसा कि प्राचीन समय में था । आज बडे पैमाने पर उत्पादन. श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण एवं मुद्रा के उपयोग उत्पादन प्रक्रिया जटिल बन गई है । मुद्रा के प्रयोग से इसके सभी साधन परस्पर सहयोग से वस्तुओं का उत्पादन कर उनका विनिमय करते हैं । उत्पादन प्रक्रिया का अध्ययन अब अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है यह निम्न बातों से स्पष्ट हैं ।

1. हम एक समयावधि में वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन की मात्रा को माप सकते. हैं ।
2. मुद्रा के उपयोग से शुद्ध निवेश की गणना कर हम अनुमान लगा सकते हैं कि अर्थव्यवस्था का विकास हो रहा है, स्थिर है, अथवा उसका हास हो रहा है ।
3. सरकार अर्थव्यवस्था के बारे में नीति निर्माण करने के लिये इससे मार्गदर्शन प्राप्त करती है। हम अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की सापेक्षिक क्षमताओं का पता लगाकर उनकी कमजोरियों को दूर करने के लिये योजनाएं बना सकते हैं ।

इस प्रकार उत्पादन प्रक्रिया का अध्ययन व्यावहारिक व वैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

बोध प्रश्न 1

1. उत्पादन प्रकिया क्या है?

   ....

   ....

2. उत्पादन प्रकिया एवं उसके श्रृंखलाबद्ध रूप को समझाइए ।

   ....

   ....

3. उत्पादन प्रकिया के अध्ययन का क्या महत्व है?

   ....

   ....

11.5 उत्पादन के साधन

उत्पादन के साधनों पर ही किसी देश का उत्पादन निर्भर करता है । अधिक उत्पादन करने के लिये हमें अधिक उत्पादक साधनों की आवश्यकता होती है । साधनों की सीमितता के कारण हम अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का उत्पादन एक साथ नहीं बढ़ा सकते । यदि हम एक क्षेत्र विशेष में उत्पादन अधिक करना चाहते हैं । उसके लिये आवश्यक संसाधन अन्य क्षेत्रों से हटाने पड़ेंगे। प्रत्येक अर्थव्यवस्था की मुख्य समस्या इसके उत्पादन साधनों का कुशलतम प्रयोग

करना है । उत्पादन से हमारा क्या अभिप्राय है? यह हम पिछले अध्याय में विस्तार से बता चुके है । यही पर हम उत्पादन के साधनों (Production inputs) के बारे में चर्चा करेंगे ।

11.5.1 अर्थ

मुख्य रूप से उत्पादन के साधनों को तीन भागों में बांटा गया है - भूमि, श्रम एवं पूँजी। भूमि में हम सभी प्राकृतिक साधनों को सम्मिलित करते है कभी कभी इसे प्रकृति के निःशुल्क उपहार के रूप मे भी परिभाषित किया जाता है । श्रम में हम सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक प्रयासों को सम्मिलित करते हैं । पूँजी मानव निर्मित उत्पादक सम्पति है । उत्पादन के इन साधनों का क्रय किया जा सकता है, इन्हे बेचा जा सकता हैं । ये सभी उत्पादन में सहयोग प्रदान करते हैं । प्रोफेसर बेन्हम के अनुसार " कोई वस्तु जो उत्पादन में सहयोग देती है उत्पादन का साधन है ।"

इस प्रकार यदि एक फर्म का उत्पादन दूसरी फर्म के कच्चामाल के रूप में प्रयोग किया जाता है तो उसे उत्पादन का साधन माना जायेगा । परन्तु सामान्यत: उत्पादन के निम्न पाँच साधन माने जाते है ।

1. भूमि (Land)
2. श्रम (Labour)
3. पूँजी (Capital)
4. प्रबन्ध अथवा संगठन (Organisation)
5. साहस (Enterprise)

11.5.2 भूमि (Land)

अर्थशास्त्र मे भूमि शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थो मे किया जाता है । इसमें समस्त प्राकृतिक साधन, जलवायु खनिज, जल एवं वनों को सम्मिलित किया जाता है । इसे प्रकृति के निःशुल्क उपहार के रूप में भी परिभाषित किया गया है क्योंकि भूमि का निर्माण करने में मानव की कोई भूमिका नहीं है । इसके अतिरिक्त भूमि की पूर्ति सीमित है । भूमि उत्पादन करने के लिये आवश्यक जगह हमें प्रदान करती है । यह उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है । प्रोफेसर मार्शल के अनुसार, भूमि से अभिप्राय जमीन की ऊपरी सतह से नहीं है वरन् उन सभी शक्तियों से है जिन्हें प्रकृति ने भूमि, हवा, रोशनी, ताप आदि के रूप में मानव के सहायतार्थ निःशुल्क प्रदान किया है ।

11.5.3 श्रम (Lobour)

मार्शल के अनुसार, " उत्पादन के. दो प्रमुख प्रतिनिधि हैं - प्रकृति तथा मानव । श्रम से अभिप्राय उत्पादन में लगे (मानसिक अथवा शारीरिक) मानवीय प्रयत्नों से है । श्रम सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्पादन का साधन है । श्रम उत्पादन का अत्याज व सक्रिय साधन है । श्रम भूमि व पूँजी से भिन्न है क्योंकि इसका पूर्तिकर्ता मानव स्वयं है । अत: इससे कार्य लेते समय नैतिक एवं चारित्रिक बातों पर ध्यान देना पडता है । श्रम की पूर्ति भी भूमि की तरह स्थिर नहीं है ।

यह कुछ सामाजिक मानदण्डों जैसे कार्य योग्य आयु सेवानिवृत महिलाओं के कार्य के प्रति दृष्टिकोण आदि अनेक रातों पर निर्भर होता है । अत: संकट के समय श्रम की पूर्ति में कुछ वृद्धि सम्भव है । श्रम की पूर्ति एक अस्पष्ट धारणा है क्योंकि इसे श्रमिकों की संख्या के रूप में मापा जा सकता है अथवा प्रत्येक श्रमिक द्वारा एक वर्ष में किये गये मानव कार्य घन्टो के रूप में भी मापा जा सकता है । कार्य घन्टों में वृद्धि से श्रम की पूर्ति में वृद्धि हो सकती है ।

11.5.4 पूँजी (Capital)

उत्पादन का एक अन्य महत्वपूर्ण साधन पूँजी है । उत्पादन की काफी प्राचीन व सरल विधि में भी पूँजी की कुछ न कुछ आवश्यकता अवश्य होती है । आधुनिक समय में तो उत्पादन प्रक्रिया में पूँजी का महत्व बढ़ता ही जा रहा है । पूँजी में हम उन सभी मानव निर्मित उत्पादक को सम्मिलित करते हैं जो उत्पादन में सहयोग प्रदान करती हैं । इस प्रकार इसमें बिल्डिंग तथा मशीनें, साज सामान ईंधन इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है जिनका उपयोग उत्पादन प्रक्रिया में किया जाता है । पूँजी को मुद्रा रूप में मापा जाता है । स्थिर पूँजी की पूर्ति को भी बढ़ाया जा सकता है । कारखानों में मशीनों से 8 घन्टे कार्य लिया जा सकता है । इनसे दो पारियों अथवा तीन पारियों में 16 अथवा 24 घन्टे कार्य लेकर पूरे वर्ष भर चलाया जा सकता है । इसमें मात्र इसकी सफाई एवं तेल इत्यादि देने के लिये आवश्यक समय घटाया जाता है ।

11.5.5 प्रबन्ध या संगठन (Organisation)

प्रबन्ध अथवा संगठन से अभिप्राय उत्पादन के विभिन्न साधनों को संगठित करने की कला एवं विज्ञान है जिससे उनका अनुकूलतम संयोग स्थापित किया जा सके । एक अच्छा संगठनकर्ता उत्पादन के दिये साधनों अथवा उत्पादन पड़तो से अधिक उत्पादन प्राप्त कर सकता है । संगठन एक विशिष्ट श्रम है । बडे पैमाने पर उत्पादन एवं विशिष्टकरण से उत्पादन के इस साधन का महत्व और भी बढ़ गया है । उत्पादन के तीन साधनों भूमि, श्रम व पूँजी में इस चौथे साधन प्रबन्ध या संगठन द्वारा समन्वय स्थापित किया जाता है । उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के तीन साधनों को ही महत्वपूर्ण माना वे हैं भूमि, श्रम व पूँजी परन्तु बाद में मार्शल ने इस चौथे साधन के महत्व को अलग से स्त्रीकार किया । प्राचीन अर्थशास्त्री संगठनकर्ता! को श्रम का ही एक भाग मानते थे परन्तु वास्तव में यह ठीक नहीं है ।

प्राचीन समाज में संगठन उत्पादन का एक अलग साधन नहीं था । यह केवल श्रम का ही एक रूप था । परन्तु इतना विशिष्ट व महत्वपूर्ण प्रकार का श्रम है कि इसे उत्पादन का एक अलग साधन मानना उचित होगा व्यवसाय के सबसे सरलतम कप में भी अधिक सफलता प्राप्त करने के लिये कुछ कुशल प्रबन्ध ब निर्णय लेने की योग्यता होना अनिवार्य है । इस प्रकार संगठन एक विशिष्ट श्रम है । आजकल तो संगठन सबसे कठिन कार्य है । संगठन की सफलता उसकी दूरदर्शिता पर निर्भर है । एक अच्छे संगठन कर्ता आत्मविश्वास एवं व्यवसाय के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिये । वह जागरूक एवं चरित्रवान व्यक्ति होना चाहिये । उत्पादन के अन्य साधनों के साथ उसका व्यवहार अच्छा होना चाहिये ।

एक संगठन कर्ता निम्नलिखित कार्य करता है :- (1) बह एक औद्योगिक इकाई की परियोजना तैयार करता है । इसके लिये आवश्यक उपयुक्त स्थान का चयन करता है । (2) वह उत्पादन के अन्य साधनों को रोजगार प्रदान करता है, उनका अनुकूलतम संयोग स्थापित कर उत्पादन लागत न्यूनतम एवं लाभ अधिकतम करने के प्रयास करता है । (3) वह कच्चा माल व मशीनें खरीदता है । (4) उद्योग में दिन प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली छोटी छोटी समस्याओं का समाधान करता है । (5) वह वस्तु बाजार पर कड़ी नजर रखता है तथा उसके अनुरूप समय समय पर अपनी नीतियों में परिवर्तन करता है । (6) वह उद्योग में सदैव अनुसंधान करके उस नई दिशा देता है । इस प्रकार वह वास्तव में उद्योग रूपी जहाज का कप्तान है ।

11.5.6 साहस (Enterprise)

अगर व्यवसाय अथवा उद्योग का आकार छोटा हो तो उसकी परिवार के सदस्यों अथवा साझेदारों द्वारा स्वयं ही देखभाल की जा सकती है । वे अपने व्यवसाय का प्रबन्ध खुद करते हैं तथा जोखिम उठाते हैं । परन्तु आधुनिक समय में व्यवसाय का प्रबन्ध करने के लिये अलग मैनेजर अथवा प्रबन्धक नियुक्त कर दिये जाते हैं । ये प्रबन्धक अन्य कर्मचारियों की तरह ही वेतन भोगी कर्मचारी होते हैं । लेकिन व्यवसाय की जोखिम उठाने का कार्य साहसियों का होता है । व्यवसाय में साहस की भूमिका आधुनिक समय में व्यवसाय की जटिलता व अनिश्चितता में वृद्धि के कारण अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती जा रही है । यह सत्य है कि कुछ जोखिम जैसे आग लगना, वस्तुओं का लाने ले जाने के समय नुकसान हो जाना आदि का बीमा कराया जा सकता है परन्तु साहसी वे जोखिमें उठाता है जिनका बीमा नहीं हो सकता । साहसी भविष्य में होने वाले मांग परिवर्तनों का पुर्वानुमान लगाता है एवं उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं के बारे में निर्णय लेता है । साहसी ही निर्णय लेता है कि उत्पादन की किन विधियो का प्रयोग किया जाय । व्यवसाय के बारे में अन्य कई महत्वपूर्ण निर्णय, जैसे स्थान, बिक्री तथा कीमत, साहसी द्वारा ही लिये जाते हैं । साहसी उत्पादन का जोखिम उठाता है । उत्पादन के अन्य सभी साधनों को मिलने वाला पारिश्रमिक निश्चित होता है जबकि साहसी का पारिश्रमिक अनिश्चित होता है । इसलिये साहसी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य अनिश्चितता को वहन करना तथा व्यवसाय का नियत्रंण व प्रबन्ध करना होता है । वर्तमान समय में व्यवसाय संयुक्त पूँजी कम्पनी अथवा आधुनिक निगम के रूप में प्रारम्भ किये जाते है व्यावसायिक संगठन के इस रूप में प्रबन्ध का कार्य वेतन भोगी एवं विशिष्ट योग्यता प्राप्त प्रबन्धकों द्वारा किया जाता है जबकि व्यवसाय की जोखिम अंशधारियों द्वारा उठाई जाती है । अंशधारियों की संख्या बहुत अधिक होती है अत: साहसी का कार्य इन सभी में विभाजित हो जाता है ।

इस प्रकार हम उत्पादन के उपर्युक्त वर्णित पांच साधन मानते हैं । परन्तु प्रो0 बेन्हम के अनुसार नियोजन की दृष्टि से साधनो को भूमि, श्रम व पूँजी के रूप में विभाजन अधिक महत्वपूर्ण नही है । हमे काफी अधिक सूचना चाहिये । हमे एक समूह में एक समान इकाइयों को ही सम्मिलित करना चाहिये ताकि उस समूह का एक' साधन दूसरे साधन के लिये पूर्ण प्रतिस्थापित हो सके. । इससे उत्पादन के साधनों की संख्या बहुत अधिक जायेगी क्योंकि

प्रत्येक समूह को उत्पादन का अलग साधन माना जायेगा । परन्तु सुविधा की दृष्टि से उपर्युक्त वर्णित उत्पादन के पाँच साधन ही माने जाते हैं ।

11.6 उत्पादन के साधनों के बारे में नया दृष्टिकोण (New Approach)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा उत्पादन के साधने का भूमि श्रम व पूँजी (सगठन व साहस को विशिष्ट श्रम मानकर) में वर्गीकरण इतना कठोर नहीं माना जाता । परम्परागत कठोर वर्गीकरण निम्न कारणों से अच्छा नहीं माना जाता-

1. उत्पादन के एक साधन की विभिन्न इकाईयां समरूप नही है । अत: उन्हे एक दूसरे के स्थान पर अधिक सुगमता से प्रतिस्थापित नही किया जा सकता । उदाहरणार्थ वह भूमि जो कपास के लिये अधिक उपयुक्त है वह चावल के लिये अधिक उपयुक्त नहीं होगी । इस प्रकार डाक्टरों की कमी को अधिक अध्यापक अथवा वकील बनाकर पूरा नहीं किया जा सकता । पूँजी के भी अधिकांश उपयोग विशिष्ट है और उन्हें एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त नहीं किया जा सकता ।
2. साधनों का प्रतिस्थापन सम्भव है :- उत्पादन के एक दिये हुये स्तर को प्राप्त करने के लिये भूमि, श्रम व पूँजी की कुछ मात्रा आवश्यक है । इसमे उत्पादक के पास चयन की स्वतंत्रता सीमित होती है क्योंकि यह तकनीकी रूप से आवश्यक न्यूनतम मात्राएं हैं । इसमें भूमि के स्थान पर श्रम अथवा श्रम के स्थान पर पूँजी का प्रतिस्थापन सम्भव नहीं है । परन्तु इस न्यूनतम मात्रा के ऊपर उत्पादक उत्पादन के साधनों को एक दूसरे के स्थान पर प्रतिस्थापित कर सकता है । वह कुछ कम मात्रा में श्रम व अधिक पूँजी लगा सकता है अथवा अधिक श्रम व कम पूँजी का प्रयोग कर सकता है । एक उत्पादक उत्पादन के सस्ते साधन को महंगे साधन के स्थान पर प्रतिस्थापित कर उत्पादन लागत को न्यूनतम करने का सदैव प्रयास करेगा ।

इस प्रकार भूमि, श्रम व पूँजी में अन्तर ऊपरी अथवा दिखावे का है आर्थिक दृष्टि से दे एक दूसरे के समान हैं । अत: उन्हें समानता के आधार पर विभाजित करना अधिक उपयोगी होगा । अत: आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन साधनों का वर्गीकरण दो भागों में करते हैं. (1) विशिष्ट साधन, एवं (2) अविशिष्ट साधन । इनमें से प्रत्येक समूह में उत्पादन के साधनों के उपर्युक्त वर्णित सभी प्रकार पाये जा सकते हैं ।

11.6.1 उत्पादन के विशिष्ट साधन (Specific Factors)

अगर उत्पादन के किसी साधन का कोई विशिष्ट उपयोग हो अर्थात जिस कार्य में उसे लगाया गया है उसके अतिरिक्त उसका कोई अन्य उपयोग न हो तो उसे विशिष्ट साधन कहते हैं । इस वर्ग में भूमि, श्रम व पूँजी तीनों ही सम्मिलित होते हैं । भूमि का प्रयोग किसी कार्य विशेष के किया गया हो तो वह अधिक विशिष्ट हो जाती है । इसी प्रकार की विशिष्टता श्रम व पूँजी भी प्राप्त कर सकते हैं फिर उनका प्रयोग दूसरे कार्यो में नहीं किया जा सकता । एक ऑख विशेषज्ञ अधिक विशिष्ट श्रम का उदाहरण है जिसे प्राप्त करने में कई वर्षो के श्रम व

कुशलता की आवश्यकता होती है । एक नर्तकी अथवा कलाकार भी विशिष्ट श्रम का उदाहरण है। तैयार पूँजीगत साज सामान व अर्द्ध निर्मित माल विशिष्ट पूँजी का रूप है । इस प्रकार उत्पादन का कोई भी साधन विशिष्टता प्राप्त कर सकता है ।

11.6.2 उत्पादन के अविशिष्ट साधन (Non-Specified Factors)

अगर उत्पादन के साधनों का एक उपयोग से दूसरे उपयोग में प्रतिस्थापन आसानी से सम्मव हो तो उसे हम उत्पादन के अविशिष्ट साधनों की श्रेणी में सम्मिलित करेंगे । भूमि के एक टुकडे पर गेहूँ कपास अथवा मूँगफली उगाई जा सकती है । उदाहरणार्थ भारत वर्ष में हरित क्रान्ति के फलस्वरूप गेहूँ की उत्पादकता में वृद्धि के कारण मूँगफली व दालों के स्थान पर किसानों ने गेहूँ बोना प्रारम्भ किया है ।

इसी प्रकार अकुशल श्रमिक को भी एक उपयोग से दूसरे उपयोग में स्थानान्तरित किया जा सकता है । अत: ये अविशिष्ट साधन हैं । पूँजी भी अपने उपयोग में अविशिष्ट साधन हो सकती है । उदाहरणार्थ कच्चे लोहे को किसी भी रूप में बदला जा सकता है । अत: कच्चा माल अविशिष्ट साधन है जबकि निर्मित माल विशिष्ट साधन है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विशिष्ट एवं अविशिष्ट साधनों के रूप में वर्गीकरण अधिक उपयोगी है।

बोध प्रश्न 2

1. अर्थशास्त्र में उत्पादन के साधनों से आपका क्या अभिप्राय है?
   ....
   ....
2. उत्पादन के विभिन्न साधनों का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।
   ....
   ....
3 आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के साधनो किस प्रकार वर्गीकरण करते हैं।
   ....
   ....

11.7 बचत, पूँजी निर्माण एवं निवेश (Capital Formation and Investment)

किसी भी देश में पूँजीनिर्माण तभी सम्मव है जबकि जनता अपने वर्तमान उपभोग का त्याग कर कुछ संसाधनों को उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन में लगाने का निर्णय लेती है । हम जानते हैं कि अर्थव्यवस्था में भूमि, श्रम, व पूँजी आदि संसाधन सीमित है । यदि सभी संसाधनों को उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन में लगा दिया जाय तो उपभोक्ता वस्तुओं के लिये साधन नहीं रहेंगे । दूसरे शब्दों में पूँजी निर्माण के लिये वर्तमान उत्पादन की तुलना में वर्तमान

उपभोग कम होना चाहिये । पूँजी निर्माण की प्रकृति संचयी होती है । विकास की प्रारम्भिक अवस्था में पूँजी निर्माण की दर धीमी होती है परन्तु एक बार कुछ पूँजी संग्रह हो जाने पर संचय की गति भी बढ़ जाती है । संकीर्ण अर्थ में पूँजी निर्माण से आशय अधिक उत्पादक वस्तुओं जैसे मशीनें, औजार एवं उपकरण, यातायात साधन इत्यादि का निर्माण करना है । इस प्रकार पूँजी निर्माण से हमारा अभिप्राय देश में वास्तविक परिसंपतियों में वृद्धि होना है । प्रोफेसर रेगनर नर्कसे ने पूँजी निर्माण को निम्न शब्दों में परिभाषित किया है, 'पूँजी निर्माण का अर्थ यह है कि समाज अपनी सम्पूर्ण उत्पादन क्षमता को तत्कालीन आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति में नही लगाता वरन् इसके एक भाग को उत्पादक वस्तुओं जैसे औजार एवं उपकरणों, यातायात संसाधनों, संयत्र एवं साज सामान आदि बनाने में प्रयुक्त करता है । ये सभी वास्तविक पूँजी के विभिन्न रूप उत्पादन प्रयत्नों की दक्षता में वृद्धि करते हैं । इस प्रक्रिया का सारांश यह है कि समाज में वर्तमान में उपलब्ध साधनों के एक भाग का प्रयोग उत्पादक वस्तुओं के संग्रह बढ़ाने में किया जाता है ताकि भविष्य में अधिक उपभोक्ता वस्तुओं का निर्माण हो सके ।

संक्षेप में पूँजी निर्माण से हमारा आशय देश में पूँजी संचय, मशीनें, भवन, औजार, यंत्र एवं उपकरण, यातायात का साज सामान आदि का अधिक मात्रा में निर्माण करना है ।

पूँजी निर्माण शब्द की परिभाषा यदि व्यापक अर्थो में की जाय तो इससे देश में वास्तविक भौतिक परिसंपतियों के निर्माण के अतिरिक्त अदृश्य मानव पूँजी में विनियोग को भी सम्मिलित किया जाता है । यदि देश में उपलब्ध श्रमशक्ति किस्म उत्तम नहीं है तो भविष्य में उसकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि धीरे होगी । अत: पूँजी निर्माण में वे सभी व्यय सम्मिलित किये जाते है जो जनशक्ति की कुशलता में वृद्धि करते हैं । अत: शिक्षा, प्रशिक्षण, दक्षता अथवा कुशलता में वृद्धि, एवं जन स्वास्थ्य पर किये गये व्यय को उत्पादक व्यय माना जाना चाहिये क्योंकि इस व्यय से किसी देश की चाबी आय में वृद्धि होने की सम्मावना होती है ।

11.7.1 पूंजी निर्माण की अवस्थाएं (Stages of Capital Formation)

पूँजी निर्माण के लिये बचतें जरूरी हैं । उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन बचतों पर निर्भर है । केवल मात्र बचत की उपलब्धता ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि ये विनियोग कर दी जायेगी । वास्तव में बचतों से विनियोग सम्भव होते हैं । आधुनिक अर्थव्यवस्था में पूँजी निर्माण की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ हैं -

1. **बचतें (Saving)** आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में जहॉ विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का प्रयोग होता है बचतों का अभिप्राय यह है कि वर्तमान आय में से उपभोग पर व्यय कम करना है । यदि उपभोक्ता अपनी समस्त आय उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय कर देंगे तो पूँजीगत वस्तुओं का संग्रह नहीं होगा । बचतों से उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में कमी आती है एवं उन संसाधनों की भी बचत हो जाती है जो अन्यथा उसके उत्पादन में लगाये जाते । परन्तु यदि इस प्रकार बचाये गये साधनों को उत्पादक उपयोगों में नही लगाया जाता अथवा ये संसाधन बेकार पडे रहते हैं तो पूँजी निर्माण नहीं हो सकता ।

2. **बचतों का संग्रह (Mobilisation of Saving)** आधुनिक युग में बचत एवं विनियोग करने वाले समूह अलग अलग होते हैं । बचतें परिवारों द्वारा की जाती जबकि उद्यमी अथवा साहसी विनियोग करते हैं । बचतों को इकट्ठा करने के लिए देश मे वित्तीय संस्थाओं की एक सुसंगति व्यवस्था होनी चाहिये । ग्रामीण क्षेत्रों मे इस संस्थाओं का जाल बिछा देना चाहिये । की छोटी छोटी बचतों को इकट्ठा 'हर विनियोग कर्ताओं उपलब्ध करा सकें बिना पूँजी निर्माण मानव नहीं हैं
3. **विनियोग (Investment)** पूँजी निर्माण की तीसरी एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण सीढ़ी बचतों को विनियोग करना है । विनियोग से अभिप्राय उपलब्ध धन का उत्पादक कार्यों के लिये उपयोग करना है । अर्थात पूँजी विनियोजन से देश में वास्तविक उत्पादन परिसंपतियों का निर्माण होता है । इसका अभिप्राय यह है कि देश में मशीनों, भवनों, औजारो एवं उपकरणों की मात्रा में वृद्धि को विनियोग कहा जायेगा । यदि विनियोग की मात्रा वर्तमान पूँजी उपभोग की मात्रा से अधिक नहीं है तो शुद्ध विनियोग शून्य होंगे एवं देश की उत्पादक क्षमता में कोई वृद्धि नहीं होगी । यदि शुद्ध विनियोग कम है तो उत्पादक शक्ति में गिरावट होगी अत: यह आवश्यक है कि सकल विनियोग पूँजी हास की मात्रा से अधिक होनी चाहिये ताकि प्रतिवर्ष देश की उत्पादन क्षमता बढ़े ।

यह आवश्यक नही कि पूंजी निर्माण की प्रक्रिया सदैव इन उपर्युक्त वर्णित तीनों स्तरों से होकर गुजरे । पूंजी निर्माण प्रत्यक्ष विनियोग द्वारा भी सम्भव है । उदाहरणार्थ आधुनिक संयुक्त पूँजी कम्पनियां अथवा निगम अपने सारे लाभों को अंशधारियों में वितरित नहीं करते । ये निगम अपने लाभों का एक भाग अवितरित लाभ के रूप में संचित करते रहते हैं । इस प्रकार कम्पनियों अथवा निगमों के पास जो कोष इकट्ठे हो जाते है उन्हें वाद में पूंजीगत साज सामान, मशीनें इत्यादि खरीदने अथवा उपयोग के आधुनिकीकरण अथवा विस्तार के लिये काम में लिया जाता है । इस प्रकार बचते भी निगमों अथवा कम्पनियों की होती है, ये ही इन्हें इकट्ठा भी रखती है अर्थात वितरित नही करती एवं बाद में ये कम्पनियां अथवा निगम इन्हें विनियोग कर देती है । ये प्रत्यक्ष विनियोगों द्वारा पूंजी निर्माण की प्रक्रिया है जो उपर्युक्त वर्णित तीन विभिन्न अवस्थाओं से होकर नहीं गुजरती है । विकसित देशों में कई व्यवसायों एवं निगमों के लिये प्रत्यक्ष विनियोग पूंजी निर्माण का एक महत्वपूर्ण घटक है । अर्द्ध विकसित देशों में भी प्रत्यक्ष विनियोगों द्वारा पूंजी निर्माण होता है । कृषि के क्षेत्र में कृषक अपनी बचतों द्वारा नये नये कृषि उपकरण एवं औजार खरीदते है, पम्प सेट लगवाते हैं, कुएं खुदवाते हैं. बैल इत्यादि खरीदते हैं । यह सभी प्रत्यक्ष विनियोगों के ही उदाहरण हैं । गैर कृषक परिवार जैसे कारीगर, छोटे व्यापारी आदि भी प्रत्यक्ष विनियोजन द्वारा पूंजी निर्माण करते हैं । ये सभी स्वयं की बचतों द्वारा अपने अपने व्यवसायों का विस्तार करते हैं जिससे देश में पूंजी निर्माण होता है ।

11.7.2 आर्थिक विकास में पूँजी निर्माण की भूमिका अथवा महत्व (Role or Importance of Capital Formation in Economic Development)

किसी भी देश के आर्थिक विकास के पूंजी निर्माण आवश्यक है । यह उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन बढ़ाने के लिये आवश्यक है जिससे विकास की गति में वृद्धि होती है । अर्द्ध विकसित देशों में गरीबी का दुष्चर्क क्रियाशील रहता है । इसमें कम आय, कम उत्पादकता, सीमित बाजार, कम मांग, एवं कम बचतें होती है इन देशों के तेजी से आर्थिक विकास के लिये गरीबी के इस दुष्चर्क को तोडना आवश्यक है जिसे पूँजी की पूर्ति बढ़ाकर ही तोड़ा जा सकता है। देश के आर्थिक विकास में पूँजी निर्माण की भूमिका निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट है:

1. **बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ (Advantage of Large Scale Production)**पूँजी निर्माण के द्वारा बडे पैमाने पर उत्पादन किया जा सकता है जिससे देश को श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लाभ मिलते हैं । बड़े पैमाने पर उत्पादन से कुछ आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययताएँ प्राप्त होती है जिससे उत्पादन की लागत कम हो जाती है । आज के युग में मानव की आवश्यकताएं तेजी से बड़ रही है। उत्पादन की पुरातन तकनीकी के प्रयोग से हम सभी व्यक्तियों को आधुनिक जनजीवन की सुख सुविधाओं को नहीं पहुँचा सकते । बड़े पैमाने पर उत्पादन के द्वारा हम समाज के कमजोर वर्ग तक सस्ती वस्तुएँ पहुँचा सकते हैं ।
2. **पूँजी निर्माण से उत्पादकता बढ़ती है (Capital Formation raises Productivity)** पूँजी श्रमिक की उत्पादकता में वृद्धि करती है । प्रतिव्यक्ति अथवा प्रति श्रमिक अधिक पूँजी का अभिप्राय है प्रति श्रमिक अधिक उत्पादकता । विकास के साथ साथ पुरातन पूँजी साधनों के स्थान पर नये नये पूँजी साधनों का उपयोग बढ़ाना चाहिये क्योंकि पुरातन पूँजीगत साज सामान की उत्पादकता कम होती है जबकि नई पूँजी की उत्पादकता ऊँची होती है । यही कारण है कि विकसित देशों में श्रम की उत्पादकता अर्द्ध विकसित देशों की तुलना में ऊँची होती है ।
3. **तकनीकी प्रगति (Technological Progress)** केवल पूंजी निर्माण से ही आर्थिक विकास नहीं हो जायेगा । पूँजी निर्माण के साथ साथ तकनीकी प्रगति भी आवश्यक है। परन्तु अधिक पूंजी के उपयोग बिना तकनीकी प्रगति सम्भव नहीं है । आधुनिक तकनीकी स्वभावत: ही पूंजी प्रधान है क्योंकि अधिकांश तकनीकी पश्चिमी देशों द्वारा विकसित की गई है जहां पूँजी की बहुलता व श्रम दुर्लभ है । यदि अर्द्ध ... विकसित देश विकसित देश की विशेष परिस्थितियों के अनुरूप तकनीकी विकसित करे तो देश की विदेशी पूंजी पर निर्भरता कम होगी । ऐसी तकनीकी अधिक सुदृढ़ होगी । उदाहरणार्थ भारत क्योंकि एक जनाधिक्य वाला देश है स्वचालित अथवा कम्प्यूटर नियंत्रित पूँजी प्रधान विधियां हमारे लिये अधिक उपयोगी नहीं हैं । ये केवल कुछ क्षेत्रों तक सीमित होनी चाहिये । अर्थव्यवस्था के अधिकांश क्षेत्रों में जो मुख्यत: उपभोक्ता माल तैयार करते हैं उत्पादन की प्रक्रिया श्रम प्रधान होनी चाहिये जिससे अधिकाधिक लोगों को रोजगार उपलब्ध हो सके । श्रम प्रधान तकनीकों से हमारा अभिप्राय उत्पादन

की पुरातन तकनीकों से नही वरन् उन आधुनिक तकनीकों से है जिनमें तुलनात्मक रूप में अधिक लोगों को रोजगार मिलता हो ।

4. **रोजगार के अवसरों का सृजन (Creation of Employment Opportunities)** पूंजी निर्माण के लिये पूँजीगत साज सामानों का उत्पादन आवश्यक है । इनके लिये श्रम आवश्यक है इस प्रकार पूँजी निर्माण से रोजगार के अवसरों का सृजन होता है । पूंजी निर्माण की दर इतनी होनी चाहिये कि देश में प्रतिवर्ष बढने वाली अतिरिक्त श्रम शक्ति को रोजगार मिल सके । सामान्यत: अर्द्धविकसित देशों में पूँजी निर्माण की गति कम होती है, बचतों का अनुत्पादक प्रयोग होता है अत: रोजगार के पर्याप्त अक्सर पैदा नहीं होते । यही कारण है कि यहां ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में बेरोजगारी एवं अर्द्ध रोजगार की समस्या देखने को मिलती है ।
5. **प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि (Capital Formation Steps up Effective Demand)** पूँजीगत साज सामान के उत्पादन में देश के अधिक संसाधनों के उपयोग से देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है । इस प्रकार देश में आय एवं रोजगार के नये नये अवसर पैदा होते हैं । इससे देश में प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि होती है ।
6. **मानव संसाधनों में पूँजी विनियोजन (Capita Investment in Human Resources)** पूँजी निर्माण द्वारा मानव संसाधनों में विनियोग सम्भव है । इससे शिक्षा, प्रशिक्षण एवं निपुणता वृद्धि जैसे कार्यो में विनियोग किया जा सकता है । जिससे अर्थव्यवस्था की विकास दर में वृद्धि होती है ।
7. **गरीबी के दुष्चर्क को तोड़ने के लिये (To Break the Vicious Circle of Poverty)** अर्द्ध विकसित देशों में गरीबी का दुष्चर्क क्रियाशील रहता है, इसे तोडने के लिये पूँजी निर्माण आवश्यक है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पूँजी निर्माण से देश में उत्पादन एंव उत्पादकता में वृद्धि होती है, आय व रोजगार के अक्सर बढ़ने से जीवन स्तर में वृद्धि होती है । परन्तु पूँजी निर्माण एक आसान कार्य नहीं है इसके लिये देश को वर्तमान उपयोग का परित्याग करना पडता है । पूँजी निर्माण एक आवश्यक शर्त है परन्तु हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि पूँजी निर्माण हो जाने पर विकास स्वत: हो जायेगा । पूँजी निर्माण के साथ साथ उसके उपयोग की एक दीर्घकालीन योजना भी तैयार करनी चाहिये अन्यथा पूँजी व्यर्थ के उपयोगों में नष्ट हो सकती है।

11.7.3 पूँजी निर्माण अथवा संचय के निर्धारक तत्व (Determinants of Capital Formation or Factors Affecting Capital Accumulation)

पूँजी निर्माण अथवा पूँजी की पूर्ति पर कई तत्वों का प्रभाव पड़ता है । किसी भी देश में पूँजी की पूर्ति अथवा पूँजी संचय अथवा पूँजी निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण निर्धारक घटक बचत है । बचत करना आसान नहीं है बचत करने के लिये वर्तमान उपभोग का त्याग करना पड़ता है । बचत स्वत: पूँजी नहीं बन जाती । क्योंकि हमारी परिभाषा का अभिप्राय मात्र संचित मुद्रा अथवा धन नहीं बल्कि उत्पादक कार्यो में लगी हुयी मुद्रा अथवा धन है । इसे उत्पादक

कार्यो में लगाने का अभिप्राय यह है कि बचतों को इकट्ठा कर विनियोग किया जाय । पूँजी निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं पर विभिन्न कारकों का प्रभाव पडता है यह नीचे दिये गये चार्ट से स्पष्ट है।

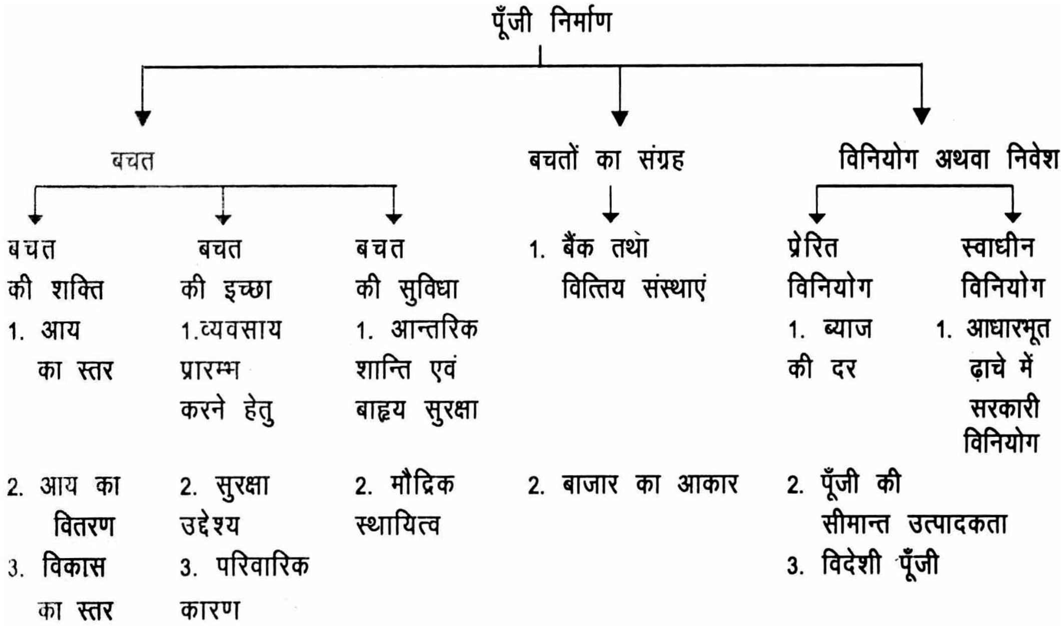

अब हम इन घटकों का विस्तार से वर्णन करेंगे ।

(अ) बचत (Saving)पूँजी निर्माण के लिये बचत अनिवार्य है । बचत किये बिना पूँजी संचय अथवा पूँजी की संचय नहीं हो सकती । बचत दूसरी ओर बचत करने की इच्छा पर निर्भर होती है । बचत करने की प्रवृति नहीं होगी तो बचत नहीं हो सकती क्योंकि अपनी खर्च योग्य आय को उपभोग पर व्यय करना है अथवा नहीं इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वेच्छा से करता है । लेकिन यदि हमारी प्रवृति बचत करने की है तो इस पर तीन बातों का प्रभाव पड़ता है, (1) बचत करने की शक्ति, (2) बचत करने की इच्छा एवं (3) बचत करने की सुविधा। यहां पर वर्णित ये सभी निर्धारक तत्व स्वयं कई तत्वों से प्रभावित होते है जिन्हे हम उपर्युक्त चार्ट में देख चुके हैं । यहां हम इन निर्धारक तत्वों के बारे में संक्षेप में कुछ जानकारी प्राप्त करेंगे।

(1) **बचत करने की शक्ति (Power to Save)** बचत करने की शक्ति पूँजी संचय अथवा पूंजी निर्माण का एक महत्वपूर्ण निर्धारक घटक है । यदि हमारी बचत करने की प्रवृति है परन्तु आमदनी कम है तो बचत करने की शक्ति नहीं होगी । बचत करने की शक्ति पर निम्नलिखित तत्वों का प्रभाव पड़ता है :

(i) **आय का स्तर (Level of Income)** बचत करने की शक्ति देश में आय के स्तर पर निर्भर करती है । उपभोक्ता अपनी समस्त आय को उपभोग पर व्यय नहीं करता बल्कि इसके एक भाग को बचाकर रखता है । यदि आय का स्तर ऊँचा होगा तो बचाने की शक्ति भी अधिक होगी। एक धनी व्यक्ति की बचाने की शक्ति निर्धन व्यक्ति के बचाने की शक्ति से बहुत अधिक होती है। निर्धन व्यक्ति अपनी आय का अधिक प्रतिशत उपभोग पर

जय करता है जैसे जैसे आय बढ़ती है, उपभोग पर होने बाला प्रतिशत व्यय कम होता जाता है । इस प्रकार ऊँची आय होने पर बचाने की शक्ति अधिक होती है ।

(ii) **आय का वितरण (Distribution of Income)** बचत की मात्रा देश में आय के वितरण पर भी निर्भर करती है । हम जानते है कि बचत की सीमान्त प्रवृति (Marginal Propensity to save) आय का स्तर बढ़ने के साथ साथ बढ़ती जाती है । समाज के कमजोर वर्गो की उपभोग की सीमान्त प्रवृति (Marginal Propensity to Consume) ऊँची होती है। यदि आय का अधिकांश भाग समाज के कमजोर वर्ग के पास पहुँचता है तो उसका उपभोग कर लिया जायेगा। दूसरी ओर यदि राष्ट्रीय आय का वितरण असमान होता है तो अर्थव्यवस्था में बचतें बढेगी क्योंकि समाज के धनी वर्ग की बचत की सीमान्त प्रवृति ऊँची होती है । अत: धन समान वितरण पूँजी निर्माण की दर कम होती है ।

(iii) **विकास का स्तर (Level of Development)**बचतें विकास के स्तर पर भी निर्भर करती है । विकसित देश जैसे अमेरिका, जापान, रूस इत्यादि अपनी आय का बड़ा भाग बचाने में सक्षम होते हैं । इसके विपरीत अर्द्धविकसित राष्ट्र की बचत की मात्रा कम होती है ।

(2) **बचत कीं इच्छा (Will to Save)** पूँजी निर्माण को प्रभावित करने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व बचत की इच्छा है क्योंकि बचाने की शक्ति होते हुये भी व्यक्ति अपनी आय को फिजूल खर्ची करके समाप्त कर सकता है । अत: केवल बचत करने की शक्ति होना ही पर्याप्त नहीं है, बचत करने की इच्छा भी होनी चाहिये । बचत की इच्छा पर निम्नलिखित तत्वों का प्रभाव पडता है:-

(i) **व्यवसाय प्रारम्भ करने हेतु (To Start Business)** बचत का वास्तविक उद्देश्य जानना अत्यन्त कठिन कार्य है । क्योंकि बचत की हुयी राशि किसी तरल पदार्थ की भांति है जिसका स्वयं कोई स्वरूप नहीं होता उसे जिस पात्र में रखा जाता है उसका स्वरूप वैसी ही हो जाता है । परन्तु कुछ व्यक्ति भविष्य में व्यवसाय प्रारम्म करने हेतु बचत करते हैं । व्यवसाय प्रारम्म करने के लिए पूँजी निवेश आवश्यक है । इस प्रकार किसी नये व्यवसाय को प्रारम्म करने हेतु अथवा पुराने व्यवसाय के विस्तार के लिये बचत आवश्यक है ।

(ii) **सुरक्षा उद्देश्य (Security Motive)** अधिकांश व्यक्ति भविष्य में किसी दुर्घटना अथवा बुढ़ापे के लिये सुरक्षा की दृष्टि से बचत करते हैं । विकसित राष्ट्रों में जहाँ सामाजिक सुरक्षा की सरकारी व्यवस्था बहुत सुदृढ़ होती है व्यक्ति अपने भविष्य के प्रति इतने अधिक चिन्तित नहीं होते परन्तु अर्द्धविकसित देशों में यह बचत का बहुत बडा कारण है ।

(iii) **पारिवारिक कारण (For Family Reason)** व्यक्ति कई पारिवारिक कारणों से भी बचत करते हैं । बच्चों की उच्च शिक्षा, शादी, जन्म एवं मृत्यु पर किये जाने वाले उत्सव, आदि बचत के लिये उत्तरदायी प्रमुख कारण है । धनवान लोगों की समाज में अधिक इज्जत होती है और यह भी एक कारण है जो लोगों को बचत के लिये प्रेरित करता है ताकि थोड़ा धन का संग्रह कर वे भी समाज के इज्जतदार आदमी का स्तर प्राप्त कर सके ।

(3) **बचत करने की सुविधा (Condition to Save)** बचत करने की पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में एवं इसके लिये उपयुक्त वातावरण के अभाव में बचत करना बहुत कठिन कार्य है। बचत करने की सुविधाएं निम्न तत्वों से प्रभावित होती है.

(i) **आन्तरिक शान्ति एवं बाहृम सुरक्षा (Internal Peace and External Security)** : बचत की मात्रा देश में मात्र आय के स्तर एवं आय के वितरण पर ही निर्भर नहीं होती वरन् देश में सामान्य दशाओं पर भी निर्भर होती है । अगर देश में आन्तरिक शान्ति नहीं है अथवा बाहय सुरक्षा खतरे में है तो उद्यमी पूंजी निवेश को तत्पर नहीं होंगे । उदाहरणार्थ भारत के आतंकवाद प्रभावित क्षेत्रों में होने वाला पूँजी विनियोजन कम हुआ है ।

(ii) **मौद्रिक स्थायित्व (Monetary Stability)** बचत का एक अन्य महत्वपूर्ण निर्धारक घटक मुद्रा के मूल्य में स्थिरता है । मुद्रा प्रसार की स्थिति में जब कीमतों में कूदते हुये अथवा छलांगे लगाते हुये वृद्धि होने लगती है तो व्यक्तियों का विश्वास बचतों में से उठ जाता है। अत: मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व से देश में बचत के लिये अनुकूल वातावरण बनता है ।

(ब) बचतों का संग्रह (Mobilisation of Savings) आधुनिक युग में बचत कर्ता एवं विनियोगकर्ता दो अलग अलग समूह है। बचते परिवारों द्वारा अपने व्यक्तिगत कारणों से की जाती है जबकि विनियोग उद्यमियों द्वारा किये जाते हैं। बचत करने के जो तीन विभिन्न उद्देश्य कीन्स ने बताये उनका वर्णन हमने बचत की इच्छा की व्याख्या करते हुये किया था। पूँजीनिर्माण के लिये प्रत्यक्ष विनियोग की राशि पर्याप्त नहीं होती अत: देश में बचतों का संग्रह कुशलतापूर्वक पर उन्हें उद्यमियों को उपलब्ध करानी चाहिये । बचतों का संग्रह निम्न बिन्दुओं से प्रभावित होता है

(i) **बैंक तथा वित्तीय संस्थाएं (Banking and Financial Institutions)** देश में वित्तीय संस्थाओं जैसे बीमा कम्पनियां, वित्त निगम, बैंक एवं सहकारी समितियों का एक जाल फैला हुआ होना चाहिये। इन संस्थानों से बचत को इकट्ठा करने में काफी मदद मिलती है। बाद मे ये बचतें विनियोग कर्ताओं को उपलब्ध कराई जा सकती है ।

(ii) **बाजार का आकार (Size of Market)** विकसित बाजार अर्थव्यवस्थाओं में पूँजी संग्रह आसान है । यदि देश में पूर्ण विकसित पूँजी बाजार नहीं है तो पूँजी निर्माण की दर आसानी से नहीं बढ़ाई जा सकती । अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में आज भी अधिकांश व्यक्ति कम्पनियों में पूँजी विनियोजन की विधि से अनभिज्ञ होते हैं । अधिकांश व्यक्ति शेयर, ऋणपत्र इत्यादि शब्दों का अर्थ भी नहीं समझते हैं । अत: इन देशों का पूंजी बाजार बहुत ही पिछड़ा होता है अत: उद्यमी पूंजी संग्रह नहीं कर पाते ।

(स) विनियोग (Investment) पूंजी निर्माण की तीसरी एवं अन्तिम अवस्था विनियोग है । विनियोग को अर्थशास्त्री दो वर्गो में विभाजित करते हैं । पहले प्रेरित विनियोग, एवं दूसरे स्वाधीन विनियोग । दोनों ही वर्गो पर अलग-अलग तत्वों का प्रभाव पडता है । हम इनका अलग-अलग विवेचन करेंगे ।

(1) **प्रेरित विनियोग (Induce Investment)** हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि बचते स्वत: पूंजी निर्माण में नहीं बदल जाती जब तक कि उन्हें विनियोजित नहीं किया जाय ।

विनियोग के लिये अनुकूल वातावरण का होना आवश्यक है जिससे उद्‌यमी स्वयं आगे आयें एवं विनियोग के लिये स्वयं कोषों की मांग करे । व्यक्तिगत उद्‌यमी तभी विनियोग करेंगे जबकि विनियोग के लिये पर्याप्त प्रेरणाएं हो । विनियोग प्रेरणाओं पर निम्नलिखित घटकों का प्रभाव पड़ता है

(i) **ब्याज की दर (Rate of Interest)** परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के मत में ब्याज की दर प्रेरित विनियोग का एक महत्वपूर्ण निर्धारक घटक है । यदि ब्याज की दर नीची होगी तो विनियोगकर्ता अधिक पूंजी विनियोग करना चाहेंगे । दूसरी ओर यदि ब्याज की दर ऊँची होगी तो उद्‌यमी कम मात्रा में विनियोग करेंगे । यद्‌यपि यह सही है कि ब्याज की दर विनियोग का एक मात्र निर्धारक घटक नहीं है परन्तु आज भी इसे एक निर्धारक घटक अवश्य माना जाता है।

(ii) **पूँजी को सीमान्त उत्पादकता (Marginal Efficiency of Capital):** पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से हमारा अभिप्राय विनियोग से होने वाले भावी लाभ की आशा है । यदि पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अथवा भावी लाभ की आशा अधिक होगी तो उद्‌यमियों द्‌वारा विनियोग अधिक किये जायेंगे । यदि भावी लाभ की आशा कम होगी तो प्रेरित विनियोग भी कम होंगे । वास्तव में ब्याज की दर को आधुनिक अर्थशास्त्री गौण एवं पूंजी की सीमान्त उत्पादकता को प्रेरित विनियोग का मुख्य घटक मानते हैं ।

(iii) **विदेशी पूँजी (Foreign Capital):** देश में विदेशी विनियोग कर्ताओं, संस्थाओं एवं फ़र्मों होने वाला पूँजी विनियोग भी बाजार के आकार एवं भावी लाभ की आशा पर निर्भर करता है । यदि बाजार आकार विस्तृत होगा अर्थात प्रभावपूर्ण मांग होगी तो देश अथवा विदेश की पूंजी मत: आकर्षित होगी इस प्रकार विदेशी फर्में भी भावी लाभ की आशा एवं बाजार के आकार से प्रभावित होती है ।

(2) **स्वाधीन विनियोग (Automomous Investment) :** सरकार द्‌वारा देश में आधारभूत सुविधाओं के विस्तार के लिये किया गया विनियोग जैसे; सिंचाई के लिये बांध एवं नहरें बनाना, भारी एवं आधारभूत उद्‌योगों में विनियोग, रेलों एवं सडकों का निर्माण, जल एवं विधुत आपूर्ति आदि स्वाधीन विनियोगों की श्रेणी में रखे जाते हैं । सरकार द्‌वारा किये जाने वाले ये विनियोग ब्याज की दर एवं पूँजी की सीमान्त उत्पादकता द्‌वारा प्रभावित नहीं होते । स्वाधीन विनियोगों पर सरकार द्‌वारा किये जाने वाले इस व्यय का कुछ भाग सरकार करारोपण करके प्राप्त करती है । करारोपण के अतिरिक्त सरकार सार्वजनिक ऋण प्राप्त कर सकती है, वित्तीय संस्थाओं से ऋण ले सकती है अथवा हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit FInancing) का सहारा ले सकती है । सार्वजनिक कारखानों से प्राप्त आय को व्यय किया जा सकता है । यदि देश के घरेलू बजट संसाधन अपर्याप्त हो तो विदेशी सहायता से भी स्वाधीन विनियोगों के लिये-आवश्यक राशि जुटायी जा सकती है । अर्द्ध विकसित देशों में प्रेरित विनियोग बढ़ाने के लिये सरकार अपनी मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का सहारा ले सकती है । यदि सरकारी नीतियां विकास के लिये सहायक हो तो देश में विकास की गीत आसानी से बढ़ाई जा सकती है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी देश में पूँजी निर्माण की प्रकिया अत्यन्त जटिल है । पूँजी निर्माण की प्रत्येक अवस्थाओं पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है । पूँजी निर्माण की अनुपस्थिति में विकास सम्मव नहीं है । अर्द्धविकसित देशों में पूँजी निर्माण की गीत

अत्यन्त धीमी होती है अत: इन देशों के विकास की गति भी धीमी होती है । अगले अध्याय में हम अर्द्धविकसित देशों में पूँजी निर्माण की समस्या एवं इसकी धीमी गति के लिये उत्तरदायी कारणों का विवेचन करेंगे ।

बोध प्रश्न

1. पूंजी निर्माण की विभिन्न अवस्थाएं कौन कौनसी है ।

   ....

   ....

2. पूँजी निर्माण से आपका क्या अभिप्राय है?

   ....

   ....

3. पूँजी निर्माण के निर्धारक तत्वों को सूचीबद्ध कीजिए ।

   ....

   ....

4. उन घटको का विवेचन कीजिये जो पूँजी निर्माण अथवा पूँजी संचय को प्रभावित करते है ।

   ....

   ....

5. पूँजी निर्माण की प्रकिया क्या है?

   ....

   ....

हमने वस्तुओं को दो भिन्न भिन्न वर्गो में बाँटा है (1) उपभोक्ता वस्तुएं, एवं (2) उत्पादक वस्तुएं । इसके पश्चात् इन दोनों वर्गो की वस्तुओं का बाद में एकक उपयोग वस्तुएं एवं चिर स्थायी उपयोग वस्तुओं के रूप में वर्गीकृत किया । अब हम पूँजी को उत्पादन के एक साधन के रूप में देखते हैं तो इसमें मुख्यत: चिर स्थायी उपयोग की पूँजीगत अथवा उत्पादक वस्तुएं सम्मिलित की जाती है । कभी कभी पूँजी में हम धन को भी सम्मिलित करते हैं जो उत्पादक कार्यो में लगा हुआ है । इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि धन एवं पूँजी दोनों का अभिप्राय एक समान नहीं हैं । अर्थशास्त्र में हम धन एवं पूँजी में अन्तर करते हैं ।

11.7.4 पूँजी एवं धन

धन को " किसी समय विशेष में वस्तुओं के संग्रह के रूप में" परिभाषित किया जा सकता है । धन की तीन विशेषताएं होती है : (1) उपयोगिता, (2) दुर्लभता तथा (3) वहनीयता।

सामान्यत: वह कहा जाता है कि सभी पूँजी धन है, परन्तु सभी धन पूँजी नहीं है । इस कथन की विस्तृत व्याख्या करने के लिये हम धन को तीन वर्गो में विभाजित करते हैं ।

1. **व्यक्तिगत धन (Personal wealth)** इसमें चिरस्थायी उपयोग की वस्तुएं जैसे; टेलीविजन, टेपरिकॉर्डर, वीडियो, हीरे जवाहरात, कार, स्कूटर, रेडियो, मशीन इत्यादि सम्मिलित

होती है । इन सभी वस्तुओं में धन की तीनों विशेषताएं होती हैं अर्थात ये उपयोगी है एवं इनकी पूर्ति कम होती है अर्थात ये दुर्लभ है । इसके अतिरिक्त इनका स्वामित्व हस्तान्तरित हो सकता है । अर्थात इनमें वहनीयता का गुण भी है अत: ये धन है ।

2. **व्यापारिक धन (Business Wealth)** इस वर्ग में वाणिज्यिक इकाइयों की स्थायी परिसंपतियाँ, कच्चे माल का संग्रह, अर्द्ध निर्मित वस्तुएं, परिवहन के उपकरण तथा अन्य चिर स्थायी उपयोग की वस्तुएं सम्मिलित की जाती है । ये वस्तुएं उत्पादन के काम में आती हैं और उत्पादन में सहयोग करने के कारण इन्हें उत्पादक वस्तुएं कहा जाता है । व्यापारिक धन का उपयोग करके उपभोक्ता वस्तुएं अथवा सामाजिक धन उत्पादित किया जाता है ।

3. **सामाजिक धन (Social Wealth)** सामाजिक धन में वह सभी सम्पति सम्मिलित की जाती है जो राज्य अथवा सरकार की है । राजकीय औद्योगिक उपक्रम खदानें, बैंक, रेले, सड़कें. शिक्षण संस्थाएं, हवाई जहाज, संचार साधन, पानी के जहाज, पार्क, अजायबघर, पुस्तकालय आदि सभी समाजिक धन है । सामाजिक धन एक प्रकार से निजी अथवा व्यापारिक धन के समान है जो समाज के स्वामित्व में होता है ।

केवल व्यापारिक धन अथवा उत्पादक वस्तुएं ही पूँजी की श्रेणी में आती हैं । अन्य दो वर्गो में वर्णित वस्तुएं जिनमें निजी धन अथवा सामाजिक धन सम्मिलित है पूँजी नहीं है । इसके साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उपभोक्ता एवं उत्पादक वस्तुओं के मध्य कोई कठोर विभाजक रेखा नहीं है । दर्जी द्वारा काम में ली जाने वाली डोरे की गिट्टी उत्पादक वस्तु होगी जबकि घर पर काम में लेने पर वही उपभोक्ता वस्तु कहलायेगी । इसी प्रकार डॉक्टर यदि अपनी कार का प्रयोग अपने मरीजों को देखने जाने के लिये करता है तो वह उत्पादक वस्तु कहलायेगी परन्तु यही कार दूसरे समय में उपभोक्ता वस्तु बन जायेगी यदि वह परिवार के सदस्यों के साथ कहीं घूमने जा रहा है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि धन एवं पूँजी के मध्य स्पष्ट वर्गीकरण करना एक कठिन कार्य है । मोटेतौर पर केबल उत्पादक वस्तुएं अथवा व्यापारिक धन ही पूँजी है जबकि उपभोक्ता वस्तुएं अथवा निजी धन पूँजी की परिभाषा में सम्मिलित नहीं होता । अत: यह सत्य है कि सभी पूँजी धन है किन्तु सभी धन पूँजी नहीं है । केवल धन का वही भाग पूँजी है जो और अधिक धनोत्पादन के कार्य में लगा हो । यदि धन की हम इस परिभाषा को स्वीकार भी कर ले तो भी इस बात पर मतभेद हो सकते है कि कौनसी वस्तुएं पूँजी है एवं कौनसी नहीं । उदाहरणार्थ उपभोक्ता वस्तुओं का बिना बिका संग्रह जो उत्पादकों अथवा व्यापारियों के गोदामों में रखा हुआ है अथवा किराये देने के उद्देश्य से बनाया गया मकान, पूँजी है अथवा नहीं । इससे पूर्व कि हम पूँजी शब्द की परिभाषा करे एवं उसकी विशेषताओं का अध्ययन करे यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम भूमि एवं पूँजी में अन्तर स्पष्ट कर दें ।

11.7.5 भूमि एवं पूँजी में अन्तर

क्या भूमि उत्पादन का एक साधन है? अथवा भूमि उत्पादन का एक अलग साधन न होकर पूँजी का ही काई रूप है । प्रोफेसर बेन्हम के मत में भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करने के लिये विनियोग उतना ही महत्वपूर्ण है जितना मशीनों में किया जाने वाली विनियोग । "एक

किसान, रेल्वे कम्पनी, अथवा जहाज कम्पनी के लिये भूमि पूँजी है ।" इसी तरह एक समाज अथवा समुदाय के लिये भी भूमि पूँजी है । अत: भूमि को पूँजी से अलग करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां है ।

हिक्स के मत में भी भूमि एवं पूँजी में अन्तर की स्पष्ट परिभाषा करना कठिन है । अन्तर का आधार यह है कि भूमि को प्रकृति का निःशुल्क उपहार माना गया है । इसकी पूर्ति स्थिर है । जबकि सभी पूँजीगत साज सामान मानव निर्मित है एवं इसकी पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है । यदि हम इस तर्क की गहराई में जाय तो ज्ञात होता है कि भूमि भी प्रकृति का निःशुल्क उपहार नहीं है, हमारे पूर्वजों ने वनो को साफ करके भूमि को कृषि योग्य बनाया । इस प्रकार इसकी पूर्ति केवल भौगोलिक दृष्टि से सीमित है अन्यथा मानव ने समुद्र के भीतर भराव करके भूमि को रहने योग्य बनाया है । इसके अतिरिक्त उत्पादकता में वृद्धि हो पर भी एक अर्थ में भूमि की पूर्ति बढ़ना ही है ।

रिकार्डो ने भूमि की परिभाषा उसकी मौलिक एवं अविनाशी शक्ति के रूप में की है । परन्तु प्रोफेसर हिक्स के मतानुसार कृषि भूमि की उर्बरा शक्ति किसी भी अर्थ में अविनाशी नहीं है अर्थात उसकी सही ढंग से देखभाल नहीं होने पर उसकी उर्वरा शक्ति का हरसा होता है । अत: सिद्धांत रूप में भूमि एवं स्थाई पूँजी को एक समान माना जा सकता है । परन्तु त्यौहार रूप में भूमि एवं पूँजी उत्पादन के दो भिन्न साधन हैं यह निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट है

1. भूमि में वे सभी स्थाई परिसम्पतिया होती है जो प्रकृति प्रदत्त है जबकि पूँजी में मानव निर्मित सम्पति सम्मिलित होती है ।
2. भूमि उत्पादन का अगतिशील साधन है अर्थात भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया अथवा ले जाया नहीं जा सकता । पूँजी गतिशील साधन है । इसे आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया ले जाया जा सकता है ।
3. भूमि अविनाशी अथवा कभी नष्ट नहीं होने वाली साधन है जबकि पूँजी को कुछ वर्षो के बाद बदलना पड़ता है । अर्थात एक मशीन कुछ वर्षा तक काम करने के पश्चात बेकार हो सकती है । उसके स्थान पर हमें नई मशीन की आवश्यकता होती है ।
4. भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है । भूमि का कोई पूर्ति मूल्य नहीं होता । भूमि की पूर्ति भौगोलिक से सीमित है । जबकि पूँजी की पूर्ति बढ़ाई अथवा घटाई जा सकती है एवं इसकी पूर्ति कीमत भी होती है ।
5. भूमि से प्राप्त आय को लगान कहा जाता है यह अलग - अलग क्षेत्रों में अलग अलग होता है । पूँजी से आय को ब्याज कहा जाता है जो सामान्यत: देश के विभिन्न भागों में समान होता है ।

11.7.6 पूँजी को परिभाषा

उत्पादन के साधन के रूप में जब अर्थशास्त्री पूँजी की परिभाषा करते हैं तो इसका अभिप्राय उस धन से होता है जो अधिक धनोत्पादन में लगा है । प्रो. जे.एल. हैन्सन के शब्दों में "उत्पादक वस्तुओं का संग्रह जो अन्य वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होता है अर्थशास्त्रियों के अनुसार पूँजी है ।

वान हेयेक के शब्दों में "प्रत्येक वह वस्तु जो भूमि अथवा श्रम नहीं है एवं वस्तुओं के उत्पादन में सहायक है, पूँजी है "हेयेक सभी कच्चे माल को भी, जो भूमि नहीं है पूँजी की श्रेणी में रखता है ।

"पूँजी उत्पादन की प्रकिया को घुमावदार बना देती है ।" बोहम-बाविर्क घुमावदार उत्पादन प्रकिया के लाभों को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं । मान लीजिये एक किसान को पीने के लिये पानी की आवश्यकता है । पानी के लिये झरना उसके मकान से कुछ दूरी पर है । वह झरने पर बार बार जाकर उसके पानी से अपनी प्यास बुझा सकता है परन्तु यह बहुत असुविधाजनक है । इसके अतिरिक्त वह पानी का संचय करके भी नहीं रख सकता जो उसे कुछ अन्य कार्यो के लिये भी चाहिये । परन्तु यदि वह एक कुल्हाडी बना ले और उससे पेड़ो को गिरा कर उनके तनों में नालिया बना दे और उन्हें एक के बाद एक मिलाकर बिछा दे तो झरने का पानी उसकी कुटिया तक पहुँच सकता है । यद्यपि इस कार्य में उसका श्रम लगता है परन्तु उसके श्रम से भी कई गुणा अधिक उसे लाभ मिल जाता है क्योंकि उसे अब बार बार झरने पर नहीं जाना पडेगा व उसे पानी हर समय उपलब्ध रहेगा । इस प्रकार घुमावदार अथवा अप्रत्यक्ष उत्पादन प्रकियाएं जिसमे पूँजी की आवश्यकता होती है, अधिक उत्पादक होती है।

इन प्रकियाओं को घुमावदार इसलिये कहा जाता है कि इसमे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट नहीं करते । जैसे पानी की आवश्यकता को वह किसान प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट नहीं करके पहले कुल्हाड़ी का निर्माण करता है, पेड़ो में नालियां बनाता है एवं अन्त में पानी की अधिक मात्रा प्राप्त करता है । अत: यह सत्य है कि पूँजी उत्पादन प्रकियाओं को घुमावदार बना देती है ।

11.7.7 पूँजी की विशेषताएं

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर पूँजी की निम्न विशेषताएं स्पष्ट होती है:

1. उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन : भूमि की तरह पूँजी भी उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है । यह स्वत: कार्य नहीं करती इसे प्रयोग में लाने के लिये श्रम की आवश्यकता होती है ।
2. पूंजी उत्पादन का एक मानव निर्मित साधन है । यह बचतों के परिणाम स्वरूप इकट्ठी होती है । यदि समाज अपनी समस्त चालू आय का उपभोग करले तो बचत नहीं होगी एवं पूँजी निर्माण नहीं होगा ।
3. पूँजी उत्पादन प्रकिया को घुमावदार बना देती है ।
4. पूँजी उत्पादन का एक गतिशील साधन है ।
5. पूँजी आय प्रदान करती है ।
6. व्यक्ति द्वारा नगद रखी गई राशि पूँजी नहीं है । व्यक्ति द्वारा हो सकता है यह राशि विनियोग करने के लिये रखी गई हो. फिर भी समाज की दृष्टि से यह पूँजी नहीं है ।

11.7.8 पूँजी के रूप

अर्थशास्त्र में पूंजी शब्द का प्रयोग कई विभिन्न अर्थो में किया जाता है । पूंजी के कुछ प्रमुख रूप निम्नलिखित है ।

1. **स्थिर पूँजी (Fixed Capital)** स्थिर पूंजी को जल्दी -जल्दी बदलने की आवयश्कता नही पड़ती । चिर स्थायी उपयोग की उत्पादक वस्तुएं, जैसे मशीनें, भवन, औजार, एवं उपकरण जिनका उपयोग उत्पादन प्रकिया में किया जाता है स्थिर पूंजी है ।
2. **कार्यशील पूँजी (Working Capital)** जो पूंजी दिन-प्रतिदिन के व्यवसाय को चलाने के लिये आवश्यक होती है एवं जो अपना रूप बदलती रहती है उसे कार्यशील पूंजी कहा जाता है । कच्चा माल इर्धन उत्पादक संसाधनों का स्टाक आदि कार्यशील पूंजी की श्रेणी में आता है कार्यशील पूंजी को एकक उपयोग उत्पादक वस्तुओं के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है ।
3. **तरल पूँजी (Liquid Capital)** उधमी जो पूजीं नगदी के रूप में रखते हैं उसे तरल पूंजी कहा जाता है । यदि वस्तुओं का संग्रह बढता है । तो तरल पूजी कहा जाता है । यदि वस्तुओं का संग्रह बढता है तो तरल पूजी कम हो जाती है इसके विपरीत यदि संग्रह कम होता है तो तरल पूंजी की मात्रा में वृद्धि होती है । तरल पूँजी को किसी भी प्रकार की पूँजी (स्थिर अथवा कार्यशील) में पीरवर्तित किया जा सकता है ।
4. **व्यक्तिगत पूँजी (Personal Capital)** व्यक्तिगत पूँजी से अभिप्राय व्यक्ति के उन गुणों से है जिन्हें किसी दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता । उदाहरणार्थ एक अच्छे डाक्टर के आपरेशन की कला, एक अच्छे अध्यापक की अध्यापन कला, गाने की कला, नाव की कला इत्यादि कुछ व्यक्तिगत पूँजी के उदाहरण हैं ।
5. **विशिष्ट पूँजी (Specific Capital)** विशिष्ट पूँजी को सामान्यत: किसी अन्य कार्य में नहीं लिया जा सकता । वह उसी कार्य मे ली जा सकती है जिसके लिये विशिष्ट तौर पर बनी है । उदाहरणार्थ रेल की पटरी, कारखाने की भट्टी इत्यादि ।
6. **अविशिष्ट पूँजी (Non-Specific Capital)** वह पूंजी जो आसानी से एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में हस्तान्तरित की जा सकती है, अविशिष्ट पूँजी कहलाती है । इसे उत्पादन पूँजी भी कहा जाता है । कच्चा माल, खनिज मिट्टी इत्यादि अविशिष्ट पूँजी के उदाहरण है ।
7. **राष्ट्रीय पूँजी (National Capital)** वह पूँजी जो किसी व्यक्ति की निजी सम्पति नहीं होती बल्कि सारे समाज की सम्पति होती है राष्ट्रीय सम्पति कही जाती है ।

11.7.9 पूँजी का महत्व

पूँजी आधुनिक युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है । यह बडे पैमाने के उत्पादन एवं श्रम विभाजन में सहायक होती है । पूँजी के प्रयोग से किसी कार्य विशेष में लगने वाला समय कम हो जाता है । इससे उत्पादकता भी रहती है । पूँजी का महत्व अथवा आधुनिक युग में पूँजी की भूमिका निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट हो जाती है।

1. **उत्पादकता में वृद्धि (Raising Productivity)** श्रम की उत्पादकता वस्तुत: उत्पादन प्रकिया में प्रयुक्त की मात्रा पर निर्भर करती है । उत्पादकता पूँजी के बेहतर उपयोग ब कुशल संगठन पर निर्भर करती है । यह अक्सर कहा जाता है कि विकसित देशों में श्रम की उत्पादकता अधिक होती है जबकि विकासशील देश में कम । इसके पीछे एक मुख्य कारण यह है कि विकसित देशों में प्रति श्रमिक पूँजी की मात्रा विकासशील देशों की तुलना में काफी अधिक होती है ।

2. **विकास की ऊँची दर(Higher Rate of Growth)** विकास की दर में वृद्धि पूँजी निर्माण से ही सम्भव है । पूँजी निर्माण के द्वारा ही देश में उपयोग प्राकृतिक साधनों का अनुकूलतम विदोहन किया जा सकता है । विकासशील देशों में आय के निम्न स्तर के कारण गरीबी का एक दुष्चक्र क्रियाशील रहता है जिससे पूँजी निर्माण की दर कम होती है जो अन्तत: विकास की धीमी दर के लिये उत्तरदायी है ।

3. **तीव्र औद्योगिकरण (Rapid Industrialisation)**एक देश का औद्योगिकरण पर्याप्त पूँजी की उपलब्धता की अनुपस्थिति में सम्मव नहीं है । उद्योगों की स्थापना के लिये मशीनें, औजार एवं उपकरण, शक्ति एवं अन्य आधारभूत सुविधाओं की आवश्यकता होती है । इन सभी सुविधाओं को उपलब्ध करा देने के लिये पूँजी आवश्यकता है । कुछ विद्वानों के मत में देश में पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नहीं हो तो देश की विदेशी पूँजी की मदद ली जा सकती है । परन्तु विदेशी सहायता पर देश की निर्भरता बहुत लम्बे समय तक नहीं होनी चाहिये ।

4. **बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ (Advantage of Large Scale Production)** आधुनिक युग में उत्पादन की नई नई विधियां विकसित हो रही है परन्तु ये विधियां पूँजी प्रधान है । बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से उत्पादन की लागत कम हो जाती है एवं श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के द्वारा उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है ।

5. **पूँजी उत्पादन की प्रकिया को घुमावदार बनाती है (Capital Rounds about Process of Production)** हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि पूँजी उत्पादन की प्रक्रिया को घुमावदार अथवा अप्रत्यक्ष बना देती है । एक समाज अपने समस्त उत्पादन को चालू वर्ष में उपयोग नहीं करता बल्कि भविष्य के लिये कुछ भाग बचाकर रखा जाता है । अर्थात् कुछ भाग उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन में लगाया जाता है । इन उत्पादक वस्तुओं अथवा मशीनों के प्रयोग से बाद में समाज के लिये आवश्यक उपयोग की सामग्री तैयार की जाती है । इस प्रकार उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि कर पूँजी आर्थिक विकास में मदद देती है।

6. **तकनीकी विकास (Technological Growth)** देश के आर्थिक विकास के लिये आधुनिक तकनीकी के प्रयोग से होने वाले लाभों से हम सभी परिचित हैं । तकनीकी प्रगति के लिये पर्याप्त पूँजी विनियोजन आवश्यक है । यदि पूँजी विनियोजन नहीं होगा, तो अनुसन्धान एवं विकास नहीं होगा । इस प्रकार पूँजी संचय तकनीकी प्रगति के लिये मार्ग प्रशस्त करता है।

7. **कृषि विकास (Agricultural Development)** पूँजी देश में तीव्र कृषि विकास के लिये भी आवश्यक है । सिचाई के बांधों, नहरों आदि के निर्माण, मशीनों एवं उपकरणों के

निर्माण के लिये पूँजी आवश्यक है । इस प्रकार पूँजी के उपयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है । इससे कृषि की उत्पादकता बढ़ती है जो तेजी से कृषि विकास में मददगार है ।

8. **अधिक कौशल प्राप्ति हेतु (For Imparing Skill)** पूँजी का विनियोजन करके देश में उपलब्ध श्रम शक्ति की कुशलता बढ़ाई जा सकती है । कुशल कारीगरों की उपलब्ब्धि के लिये देश में शिक्षा एवं तकनीकी प्रशिक्षण के लिये अधिक संस्थाएं होनी चाहिये । इन शिक्षण संस्थाओं को खोलने के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है । इस प्रकार श्रमशक्ति में पूँजी विनियोजन कर देश विकास की गति तीव्र कर सकता है ।

9. **रोजगार के अवसर (Employment Opportunities)** देश में पूँजी निर्माण से रोजगार के अवसर उत्पन्न होते है । ये रोजगार के अवसर दो भिन्न भिन्न स्तरों पर पैदा होते हैं । पहले, जब उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, एवं दूसरे जब इन उत्पादक वस्तुओं के प्रयोग से उपभोक्ता वस्तुऐं बनाई जाती है । इस प्रकार पूँजी निर्माण रोजगार प्रदान करने के लिये आवश्यक है ।

10. **राजनीतिक स्थिरता (Political Stability)** देश में राजनीतिक स्थिरता लाने के लिये पूँजी आवश्यक है क्योंकि यदि पर्याप्त पूँजी नहीं है तो देश की सुरक्षा के लिये आवश्यक युद्ध सामग्री का उत्पादन नहीं होगा । देश सैनिक दृष्टि से कमजोर हो जायेगा । इस परिस्थिति में राजनीतिक स्थिरता को खतरा पैदा हो जायेगा । अत: राजनीतिक स्थिरता के लिये पूँजी निर्माण आवश्यक है।

उपर्युक्त वर्णित सभी कारणों से किसी देश के आर्थिक विकास के लिये पूँजी महत्वपूर्ण है ।

11.8 सारांश (Summary)

इस इकाई में आपने उत्पादन प्रकिया का अर्थ, इसके श्रृंखलाबद्ध स्वरूप एवं इसके कार्यकरण का अध्ययन किया । इसके अतिरिक्त उत्पादन के विभिन्न साधनों का प्रारम्भिक परिचय प्राप्त किया।

11.9 शब्दावली

उत्पादन प्रकिया	Productive Process
श्रृंखला	Chain
धन	Wealth
पूंजी	Capital
विशिष्ट साधन	Specific Factors
अविशिष्ट साधन	Non-Specific Factors

11.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जे. आर. हिक्स, The Social Framework, पृष्ठ 33
2. फेड्रिक बेन्हम, अर्थशास्त्र, 1955, पृष्ठ 1०3
3. अल्फेड मार्शल, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

4. अल्फेड मार्शल, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त प. अ. 1
5. Wealth can be defined “ as a stock of goods at a particular time” j.l.Hanson.

11.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. पूँजी व धन में भेद कीजिये । उन तत्वों की विवेचना कीजिये जो किसी देश में पूँजी निर्माण को प्रभावित करते है ।
2. भूमि व पूँजी में भेद कीजिये । क्या भूमि को पूँजी का ही एक रूप मानना युक्तिसंगत होगा?
3. निम्न कथनों की संक्षेप में व्याख्या कीजिये ।
   1. सभी पूँजी धन है, परन्तु सभी धन पूंजी नहीं ।
   2. पूँजी उत्पादन प्रकिया को घुमावदार बना देती है ।
4. पूँजी की परिभाषा दीजिये । किसी देश के आर्थिक विकास में पूँजी की भूमिका पर प्रकाश डालिये ।
5. अर्थशास्त्र में पूँजी से आपका क्या अभिप्राय है? पूँजी के विभिन्न रूपों का संक्षेप. ..में विवेचन कीजिये ।

इकाई -12

आर्थिक विकास एवं नियोजन (Economics Development and Planning)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 अर्थ

12.3 आर्थिक विकास के निर्धारक तत्व - (आर्थिक तत्व)

12.3.1 प्राकृतिक साधन

12.3.2 मानवीय साधन

12.3.3 पूँजी निमार्ण

12.3.4 तकनीकी प्रगति

12.3.5 साहस

12.4 आर्थिक विकास के निर्धारक तल-(अनार्थिक तल)

12.4.1 पारिवारिक ढांचा

12.4.2 जाति प्रथा

12.4.3 प्रजातिय तत्व

12.4.4 सरकारी नीति

12.5 आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका बढने के लिये उत्तरदायी तत्व

12.6 सरकार के कार्य

12.7 सारांश

12.8 शब्दावली

12.9 सन्दर्भ ग्रंथ

12.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेगें कि : -

- आर्थिक विकास से क्या अभिप्राय है?
- आर्थिक विकास के निर्धारक घटक कौन - कौन से हैं?
- आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका क्या होती है? एवं इसके बढने के लिए कौन-कौन से कारक उत्तरदायी है।

12.1 प्रस्तावना (Introduction)

आर्थिक विकास को पहचानना व अनुभव करना सरल है परन्तु कुछ शब्दों में इसकी परिभाषा करना कठिन है । आर्थिक विकास का अर्थ समय-समय पर बदलता रहा है । यही नहीं प्रत्येक राजनीतिक दल का विकास सम्बन्धी अपना दृष्टिकोण होता है । इन सभी विभिन्नताओं के बावजूद यह सही है कि विकास के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय बढ़ती है एवं मानव जीवन की खुशियां बढ़ती है । इस अर्थ में हम विकास को परिभाषित करेंगे एंव उसके निर्धारक घटकों तथा राज्य की भूमिका पर चर्चा करेंगे । आजकल राज्य की जगह बाजार तंत्र पर निर्भरता बढती जा रही है फिर भी विकासशील देशों में राज्य विकास इंजिन अथवा प्रेरक के रूप में कार्य करता है ।

12.2 आर्थिक विकास का अर्थ (Meaning of Economic Development)

आर्थिक विकास की अवधारणा की परिभाषा करना अत्यन्त ही जटिल एवं दुष्कर कार्य हैं । आर्थिक विकास एक प्रकिया है जो निरन्तर चलती रहती है । कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक वृद्धि (Economic Growth),आर्थिक प्रगति (Economic Progress) एवं आर्थिक विकास (Economic Development) में अन्तर करते है । यदि शब्दों की गहराई में जायें तो इनमें कुछ अन्तर किया जा सकता है परन्तु इस स्तर पर इनका इतना सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक नहीं है । हम इन शब्दों का समानार्थक रूप में प्रयोग करेंगे । आर्थिक विकास के अर्थ को समझने के लिये अब हम इसकी विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करेगें ।

आर्थिक विकास भौतिक कल्याण में लगातार दीर्घकाल में होने बाली वृद्धि को व्यक्त करता है । भौतिक कल्याण वस्तुओं सेवाओं के उपभोग पर निर्भर होता है । इसका अभिप्राय यह है कि यदि उपभोग का स्तर अधिक होगा तो भौतिक कल्याण भी अधिक होगा एवं इसके विपरीत उपभोग में कमी भौतिक कल्याण में कमी के लिये उतरदायी है । किसी भी देश में वस्तुओं एवं सेवाओं के उपभोग अथवा उत्पादन का सर्वश्रेष्ठ माप उस देश की सकल राष्ट्रीय उत्पति है । इसलिये प्रो0 जी0एम मायर एवं आर0ई0बाल्डविन ने अपनी पुस्तक "Economic Development-Theory,History,Policy," में आर्थिक विकास की परिभाषा वास्तविक राष्ट्रीय में वृद्धि के रूप में की है । उनके अनुसार, **"आर्थिक विकास एक प्रकिया है जिसमें किसी देश की वास्तविक राष्ट्रीय आय में दीर्घकाल में वृद्धि होती है।"**

मायर एवं बाल्डविन की परिभाषा में आर्थिक विकास की परिभाषा करते हुये तीन मुख्य बिन्दु लिये गये हैं (1) आर्थिक विकास एक प्रकिया है, (2) आर्थिक विकास के परिणाम स्वरूप किसी देश की वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, एवं (3) राष्ट्रीय आय मे यह वृद्धि चक्रीय उच्चावचनों के परिणामस्वरूप हुई वृद्धि आर्थिक विकास की द्योतक नहीं है । वास्तविक राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिये चालू राष्ट्रीय में सूचकांक का भाग दिया जाता है ताकि मूल्यों में उच्चावचनों के परिणामस्वरूप हुई वृद्धि का प्रभाव समाप्त हो जाय । यदि किसी देश में वास्तविक राष्ट्रीय आय में दीर्घकालीन वृद्धि की प्रकिया जारी रहती है तो हम इसे आर्थिक

विकास कहते हैं । इस परिभाषा में समग्र वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि को तो लिया गया है परन्तु इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि विकास के परिणामस्वरूप जीवन स्तर में भी वृद्धि होनी चाहिए । इसी आधार पर इस दृष्टिकोण की आलोचना की जाती है ।

इस परिभाषा में सम्भवत: यह दृष्टिकोण लिया गया है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि अनिवार्यत: आर्थिक कल्याण को बढ़ाती है जो हमेशा सही नही है । खासतौर पर उस समय जब वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर से जनसंख्या में वृद्धि की दर अधिक हो ।

ऐसी परिस्थिति में यद्यपि समग्र वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी परन्तु प्रति व्यक्ति आय में गिरावट होगी । आर्थिक विकास की परिभाषा में केवल समग्र वास्तविक राष्ट्रीय आय पर ध्यान केन्द्रित करना पर्याप्त नहीं है । अत: यह आवश्यक है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय एवं प्रतिव्यक्ति आय को अलग अलग रख कर विकास की परिभाषा की जाय । कुछ अर्थशास्त्रियों नें राष्ट्रीय आय के स्थान पर प्रति व्यक्ति आय का दृष्टिकोण लिया है ।

प्रतिव्यक्ति आय दृष्टिकोण इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आय के स्थान पर प्रतिव्यक्ति आय को आर्थिक विकास का सूचक माना जाता है । लुइस, बुका नैन एवं इलिस आदि अर्थशास्त्री इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं । प्रतिव्यक्ति आय की गणना करने के लिये वास्तविक राष्ट्रीय आय में देश की कुल जनसंख्या का भाग दे देते हैं । सूत्र के रूप में :

$$\text{प्रति व्यक्ति आय} = \frac{\text{राष्ट्रीय आय}}{\text{जनसंख्या}}$$

इन अर्थशास्त्रियों के मत में यदि किसी देश में नागरिकों की प्रतिव्यक्ति आय में दीर्घकाल में वृद्धि होती है तो यह विकास का परिचायक है । परन्तु कुछ अन्य अर्थशास्त्री इस दृष्टिकोण की भी आलोचना करते हैं । उनके मत में यदि हम प्रतिव्यक्ति आय पर ही ध्यान केन्द्रित कर देते हैं तो देश में जनसंख्या की समस्या से हमारा ध्यान हट जाता है । इससे भी अधिक मात्र प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि ही जीवनस्तर में वृद्धि का प्राथमिक आधार नहीं है । प्रतिव्यक्ति आय दृष्टिकोण में उत्पादन प्रकिया के दौरान व्यक्तियों द्वारा किये गये त्यागो पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाता । इससे भी अधिक बढ़ी हुयी आय का धनी एवं निर्धनों के बीच वितरण एवं बढ़ी हुयी आय का उपयोग भी देखना चाहिये । क्योंकि यदि बढ़ी हुयी आय धनी ' वर्ग की जेबों में चली जाय तो उससे जनसंख्या के जीवन स्तर में वृद्धि नहीं होगी ।

कल्याण दृष्टिकोण आर्थिक विकास की परिभाषा आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से भी की जा सकती है । इस दृष्टिकोण से प्रति-घण्टा उत्पादन को- देखा जाता है जो श्रमिकों द्वारा किये गये त्याग को व्यक्त करता है । इसे आर्थिक कल्याण का अधिक उत्तम सूचक माना जाता है। क्योंकि यदि उत्पादन में वृद्धि कार्य के घण्टों में वृद्धि करके प्राप्त की गई है तो यह त्याग की सूचक होगी कल्याण की नहीं ।

आर्थिक विकास की गणना करते समय आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से समाप्त होने बाले प्राकृतिक साधनों का उपयोग, पर्यावरण को पहुँचाई गई हानि आदि का भी ध्यान रखना चाहिये । प्रोफेसर सम्युलसन शुद्ध आर्थिक कल्याण (Net Economic Welfare) की नई धारणा का समर्थन करते हैं । इसमें विलासिता अथवा आराम नगरीकरण की हानियों. प्रदूषण आदि के लिये समायोजन किये जाते हैं । इस प्रकार विकास एक विस्तृत दृष्टिकोण है जिसमें

सभी सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों से मानद जीवन में सुधार को ध्यान में रखा जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से शायद हम यह निष्कर्ष निकालें कि आर्थिक विकास की माप सकल राष्ट्रीय उत्पति (GNP) में वृद्धि के द्वारा की जा सकती है अथवा वास्तविक प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि आर्थिक विकास की सूचक है । परन्तु यह निष्कर्ष गलत होगा । सामान्यतया: आर्थिक विकास की माप वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि के रूप में की जा सकती है । परन्तु साथ ही यह भी माना जाता है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ साथ जीवन की गुणवत्ता में स्वत: सुधार हो जाता है । आय के वितरण का अध्ययन, इसे कैसे अर्जित किया गया है आदि बातें भी महत्वपूर्ण हैं । आर्थिक कल्याण में इन्हीं दृष्टिकोणों का महत्व. है और इसलिये इसमें व्यक्तिपरक निर्णयों लेने पड़ते हैं । इन व्यक्तिपरक निर्णयों को दूर रखने की दृष्टि से आर्थिक विकास की माप प्रीत व्यक्ति आय में वृद्धि के रूप में की जाती है । ऐसा केवल सुविधा की दृष्टि से ही किया जाता है अन्यथा इसका अर्थ जीवन की गुणवत्ता में सुधार ही होना चाहिये ।

12.3 आर्थिक विकास के निर्धारक (आर्थिक तत्व) (Determinats of Economic Development-Economic Factors)

आर्थिक विकास की प्रक्रिया पर कई आर्थिक एवं अनार्थिक तत्वों का प्रभाव पडता है । अर्थशास्त्रियों में इस बात को लेकर काफी मतभेद है कि इन दोनों प्रकार के निर्धारक तत्वों आर्थिक एवं अनार्थिक में से कौन से तत्व अधिक प्रभाव पड़ता है । अब हम इन तत्वों का अलग-अलग अध्ययन करेगें :

12.3.1 प्राकृतिक साधन (Natural Resources)

आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण आर्थिक निर्धारक घटक किसी भी देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों की गुणवत्ता एवं मात्रा है ।

प्राकृतिक साधनों को दो वर्गो मे बांटा जा सकता है, (1) समाप्त होने वाले एवं (2) समाप्त न होने वाले साधन समाप्त होने-वाले साधनों में हम उन संसाधनों को सम्मिलित करते हैं जिनकी पूर्ति स्थिर है एवं जिनका उपयोग करने पर वे समाप्त होते जाते हैं जैसे वन, खनिज, पेट्रोल इत्यादि । समाप्त न होने वाले साधनों में ऐसे संसाधनों को सम्मिलित किया जाता है जिनकी पूर्ति समय के साथ साथ पुन: जीवित होती रहती है जैसे वर्षा, तापमान, जलवायु इत्यादि ।

प्राकृतिक साधन एवं विकास : प्राकृतिक साधनों एवं विकास के मध्य किसी प्रकार का स्पष्ट संबन्ध स्थापित करना सरल कार्य नहीं है । प्रोफेसर लेविस के अनुसार. प्राकृतिक 'साधन विकास का पथ निर्धारित करते हैं । प्राकृतिक 'साधन वस्तुत: प्रकृति के द्वारा प्रदत निःशुल्क उपहार है। यह विश्वास किया जाता है कि अन्य बातों के यथावत रहते यदि एक देश में प्राकृतिक साधनों की गुणवत्ता एवं मात्रा अधिक है तो यह विकास की ऊँची दर प्राप्त करने में सक्षम होगा । परन्तु इसका अभिप्राय यह नही की प्राकृतिक साधनों की उपलब्ध स्वत: विकास कर देगी । प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद भी कोई देश अविकसित रह सकता है

उदाहरणार्थ, कई अरब एवं खाड़ी देशों में प्राकृतिक साधन - पेट्रोलियम पदार्थो के प्रचुर भण्ड़ार हैं फिर भी ये देश अर्द्ध विकसित हैं । दूसरी तरफ प्राकृतिक साधनों की विपन्नता अथवा कमी के बावजूद जापान की विकास दर ऊँची है और यह विकसित देशों की श्रेणी मे आता है । इसी प्रकार भारतवर्ष के लिये भी यह कहा जाता है कि 'भारत एक धनी देश है जिसके निवासी निर्धन हैं" इसका अभिप्राय यह है कि भारत प्राकृतिक 'साधनों की दृष्टि से एक सम्पन्न देश है यहाँ कई प्रकार के खनिज पाये जाते हैं फिर भी हमारा देश निर्धन है एवं अविकसित देशों की श्रेणी में आता है । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राकृतिक साधनों की कमी को तकनीकी ज्ञान के विकास से पूरा किया जा सकता है । इसके साथ ही यदि किसी देश में प्राकृतिक साधनों की कमी है तो उसे विदेशों से आयात करके भी पूरा किया जा सकता है ।

प्राकृतिक 'साधनों की कमी एवं' तकनीकी जापान के आर्थिक विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्राकृतिक साधन विकास के लिये अपरिहार्य नहीं है अर्थात यदि प्राकृतिक संसाधनों की दुर्लभता अथवा कमी है तो भी आर्थिक विकास किया जा सकता है । नये नये प्रतिस्थापन की खोज कुशल आवंटन एवं नये साधनों की खोज से प्राकृतिक साधनों की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। इसी प्रकार तकनीकी ज्ञान मे प्रगति एवं आयातों से भी कमी को पूरा किया जा सकता है । इन सभी में तकनीकी ज्ञान की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । तकनीकी विकास से साधनों की कमी की समस्या से मुक्ति मिल सकती है ।

प्राकृतिक साधनों के सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि उपलब्ध साधनों का कुशल एवं विवेकपूर्ण तरीके से उपयोग किया जाना चाहिये । यह हमारा नैतिक दायित्व है कि उन साधनों का संरक्षण करे जिनकी पूर्ति सीमित है । ताकि भविष्य में आने वाली पीढ़ियों तक उनका लाभ पहुँच सकें । साधनों के अधिकतम विदोहन से अल्पकाल में जीवनस्तर एवं भौतिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है । परन्तु मानवता के दीर्घकालीन हितों को दृष्टिगत रखते हुये ऐसी नीतियों अपनाना हितकारी नहीं होगा । अत: हमारी नीति उपलब्ध साधनों का सही एवं कुशलतम उपयोग की होनी चाहिए । उनका संरक्षण किया जाना चाहिए । अर्थव्यवस्था में विकास की गति को उत्तरोत्तर बढ़ाने के उद्देश्य सें अर्थव्यवस्था में अधिकाधिक संसाधन अनुसन्धान एवं विकास पर व्यय किये जाने चाहिए ।

12.3.2 मानवीय साधन (Human Resources)

आर्थिक विकास का एक अन्य महत्वपूर्ण निर्धारक घटक देश में उपलब्ध मानवीय साधनों की मात्रा एवं गुणवत्ता है । किसी भी देश में कार्यशील जनसंख्या की मात्रा उस देश की जनसंख्या पर निर्भर होती है । यदि जनसंख्या अधिक होगी तो कार्यशील जनसंख्या चाहे वह रोजगार में लगी हुयी हो अथवा रोजगार की तलाश में हो, अधिक होगी । इससे देश की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि होगी । जनसंख्या की मात्रा के साथ साथ उसकी गुणवत्ता भी आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण निर्धारक है । जनसंख्या की गुणवत्ता अथवा योग्यता उस देश में उपलब्ध शिक्षा एवं प्रशिक्षण, व्यक्तिगत स्वास्थ्य एवं कार्य के प्रति उनके दृष्टिकोण पर निर्भर करती है।

श्रमशक्ति का आकार एवं आर्थिक विकास : जनसंख्या में वृद्धि देश में उपलब्ध श्रमशक्ति के आकार में वृद्धि कर देती है जिससे उसकी उत्पादक क्षमता में वृद्धि हो जाती है । इस प्रकार

जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास में सहायक है । जनसंख्या वृद्धि न केवल उपलब्ध साधनों की पूर्ति में ही वृद्धि करती बल्कि उपभोक्ता के रूप में उत्पादित वस्तुओं की मांग भी उत्पन्न करती है । इससे बाजार का आकार विस्तृत होता है तो उद्योग बड़े पैमाने पर उत्पादन से उद्योगों को श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लाभ मिलते हैं । जिससे उत्पादन लागत कम हो जाती है साथ ही उत्पादित बस्तु की किस्म में भी सुधार होता है ।

परन्तु यह सिक्के का केवल एक ही पहलू है कई अर्द्धविकसित देशों में जनसंख्या में वृद्धि से आर्थिक विकास अवरूद्ध हुआ है । वास्तव में किसी भी देश में प्राकृतिक साधनों एवं पूँजी की मात्रा तो अपेक्षाकृत स्थिर होती है । जब उपलब्ध साधन अधिकाधिक एवं निरन्तर बढ़ती हुयी जनसंख्या में विभाजित किये जाते हैं प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में कमी आ जाती है । जनसंख्या के अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि जनसंख्या वृद्धि के साथ साथ उस सीमा तक विकास होता है जब तक कि प्रतिव्यक्ति उत्पादन अथवा वास्तविक आय में वृद्धि होती है । परन्तु यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक जारी नहीं रहती । एक सीमा के पश्चात् प्रति व्यक्ति आय अथवा वास्तविक आय में होने वाली वृद्धि रूक जाती है । क्योंकि उपलब्ध प्राकृतिक साधन व पूंजी असीमित नहीं है । जब उपलब्ध साधनों को अधिकाधिक जनसंख्या में विभाजित किया जाता है तो प्रतिव्यक्ति पूंजी एंव प्राकृतिक साधनों में कमी आ जाती है जिससे पति व्यक्ति उत्पादन अथवा वास्तविक आय में गिरावट होने लगती है । इस प्रकार एक सीमा के बाद जनसंख्या आर्थिक विकास में बाधक होती है ।

जनसंख्या को गुणवत्ता एवं विकास आर्थिक विकास के लिये मानवीय पूँजी निर्माण आवश्यक है। इसके लिये शिक्षा एवं प्रशिक्षण जरूरी है । विकासशील देशों में जनसंख्या की शिक्षा, प्रशिक्षण एवं कुशलता का स्तर नीचा होता है । इसके परिणामस्वरूप श्रम की उत्पादकता बहुत नीची रहती है । अत: मानव पूँजी में विनियोजन को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है । शिक्षित, प्रशिक्षित एंव स्वस्थ्य श्रमशक्ति देश के विकास में सहायक होती है ।

जनसंख्या की आयु संरचना भी विकास को प्रभावित करती है । यदि तुलनात्मक रूप मे बच्चों एवं हो बूढ़ों का प्रतिशत अधिक है तो इसका अभिप्राय यह है कि कार्यशील जनसंख्या अथवा श्रमशक्ति कम होगी । प्रोफेसर मायर एवं वेल्विन जनसंख्या की संरचना में 'भारी अधोतल' स्वरूप को आर्थिक विकास में सहायक नही मानते है । इस प्रकार की आयु संरचना देश के साधनों पर एक भार है । क्योंकि इससे आश्रितों की संख्या अधिक होती है जिससे देश में गरीबी बढ़ती है । दूसरी ओर यदि जनंसख्या का बड़ा भाग कार्यशील जनसंख्या अथवा श्रमशक्ति में है तो आश्रितों की संख्या कम होगी जिससे आर्थिक विकास में सहायता मिलती है।

जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण भी महत्वपूर्ण है । विकास के साथ साथ जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण भी प्राथमिक क्षेत्र सें द्वितीयक एवं सहायक क्षेत्रों में होना चाहिये ।

इस प्रकार मानवीय साधनों की दोहरी भूमिका है । एक तरफ तो ये उत्पादन प्रक्रिया में सहायक है और दूसरी तरफ उत्पादक स्वयं उपभोक्ता भी होते हैं । जनसंख्या में वृद्धि के परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक विनियोगों की आवश्यकता होती है । एक अर्द्धविकसित देश उपलब्ध मानवीय साधनों का देश के विकास हेतु उपयोग करने में असमर्थ रहता है क्योंकि यहाँ

प्राकृतिक साधनो, पूँजी अथवा दोनों की कमी होती है । इसके परिणामस्वरूप साधनों को बेरोजगार रहना पडता है अथवा उन्हें पूरे समय कार्य नहीं मिलता । भारत वर्ष में जनसंख्या की भारी वृद्धि ने राष्ट्रीय आय में वृद्धि को निगल लिया है । औकडों के अनुसार 1950-51 से 1980-81 में राष्ट्रीय आय में दीर्घकालीन वृद्धि की दर 3.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही थी परन्तु जनसंख्या में वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रतिव्यक्ति आय में इन तीस वर्षो में वृद्धि की दर मात्र 1.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष ही थी । अत: उपलब्ध साधनों का कुशल एवं श्रेष्ठ उपयोग करने के लिये जनसंख्या नियंत्रण आवश्यक है ।

12.3.3 पूंजी निर्माण (Capital Formation)

आर्थिक विकास का एक अन्य महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व पूँजी है । एक देश में भौतिक पुनरूत्पादनीय उत्पादन के साधनों की अधिक मात्रा अथवा पूँजीगत वस्तुएं उत्पादन बढ़ाने के लिये आवश्यक है । जब देश में पूँजीगत वस्तुओं का संग्रह बढ़ता है तो पूंजी संचय होता है । वास्तविक पूँजी सम्पतियों में वृद्धि ही पूँजी निर्माण है । पूँजी आय का बह भाग है जो उत्पादक कार्यों में विनियोजित है अर्थात मशीनें, कारखानें का भवन. आदि पूँजी हैं । पूँजी का संचय तमी सम्मव होगा जब व्यक्ति अपने वर्तमान उपभोग को कम करके उत्पादक वस्तुओं का निर्माण करते हैं । इससे समाज की भावी उत्पादक क्षमता में विस्तार हो।

पूँजी निर्माण के लिये बचते आवश्यक है । एक समाज अथवा देश में बचत करने बाले तीन समूह है परिवार, व्यावसायिक फ़ार्म एवं सरकार । इन समी समूहों की बचतों को इकट्ठा कर अधिक धनोत्पादन के कार्य में लगाना ही पूँजी निर्माण है । बचत आय के स्तर एवं समाज में आय के वितरण पर निर्भर करती है । अर्द्धविकसित अथवा विकासशील देशों में पूँजी निर्माण की दर धीमी होती है । पूँजी निर्माण की समस्या वस्तुत: आर्थिक विकास की मूल समस्या है । विकसित देश अपनी सकल राष्ट्रीय उत्पति का 25 से 30 प्रतिशत तक भाग बचाते हैं जबकि अर्द्धविकसित देशों में बचत का प्रतिशत 10 -15 होता है । पूँजी की कमी के कारण इन देशों में आधारभूत एवं भारी उद्योगों की स्थापना नहीं की जा सकती पीरवहन व संचार के साधनों का विकास नहीं किया जा सकता, कृषि एवं मानवीय साधनों में पूँजी विनियोजन नही हो सकता। इन्हीं कारणों से इन देशों में विकास की दर धीमी होती है ।

यद्यपि पूँजी निर्माण आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है परन्तु केवल पूँजी निर्माण ही पर्याप्त नहीं है । पूँजी निर्माण की दर भारत बर्ष में पर्याप्त कही जा सकती है उदाहरणार्थ भारत वर्ष में 1950 के दशक में बचत की दर केवल 7% थी जो व 9660 के दशक में बढकर 1०% एवं 1970 के दशक में बढकर 15% हो गयी । छठी योजना के अन्तिम वर्ष में सकल बचत 22.1 प्रतिशत एवं पूँजी निर्माण लगभग 20 प्रतिशत था । वर्तमान समय में पूँजी निर्माण की दर 25 प्रतिशत से भी अधिक है । इस प्रकार किसी भी विकासशील देश के लिये बचत की यह दर पर्याप्त कही जा सकती है । शायद यही कारण है पंचवर्षीय योजनाओं में अब बचत की सीमान्त दर बढाने पर अधिक बल नही दिया गया है एवं बचत की इस दर में स्थिरता प्राप्त करने की चेष्टा की गई है। केवल बचत कर लेना ही पर्याप्त नही है । देश में परिवारों एवं संस्थाओं द्वारा की गई छोटी - छोटी बचतों को इकट्ठा किया जाना चाहिये । इस

कार्य के लिये ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में बैंकों एवं वित्तीय संस्थाओं का एक सुसंगठित जाल होना चाहिये । इसी उद्देश्य के लिये भारत में सन् 1969 में बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया । राष्ट्रीयकरण के पश्चात् ग्रामीण क्षेत्र में बैकों की शाखाएं खोली गयी जिससे बचतों का संग्रह बढ़ा है ।

बचतों का विनियोग जरूरी है । यदि बचत अथवा विनियोग की दर ज्ञात करली जाय तो पूँजी उत्पाद अनुपात की सहायता से विकास दर की गणना की जा सकती है । पूँजी उत्पाद (c/o) अनुपात पूँजी विनियोजन के मूल्य एवं उत्पादन के मूल्य में सम्बंध को व्यक्त करता है । माना कि पूँजी उत्पादन अनुपात 3.1 है इसका अभिप्राय यह है कि 3 करोड रूपये की पूँजी से 1 करोड का उत्पादन प्रतिवर्ष प्राप्त किया जा सकता है यदि विनियोग दर ज्ञात हो तो हम निम्न सूत्र की सहायता से विकास दर की गणना कर सकते हैं:

वार्षिक विकास की दर = विनियोग x 1/ पूँजी उत्पाद अनुपात

$$g = 1 \times 1/c$$

जहाँ g = विकास दर

1=विनियोग

C=पूँजी / उत्पाद

यदि विनियोग की दर व 15 प्रतिशत हो एवं पूँजी उत्पादन अनुपात (C/O) 3:1 हों तो 5 प्रतिशत वार्षिक विकास दर को प्राप्त किया जा सकता है जैसा कि सूत्र से स्पष्ट है -

वार्षिक विकास की दर (g) $= 15 \times 1/3$

$= 5$

इस सूत्र से स्पष्ट होता है कि यदि पूँजी उत्पाद अनुपात अधिक होगा तो विकास दर कम हो जायेगी । अर्द्धविकसित देशों में विकास की दर नीची होने का प्रमुख कारण बचत की नीची दर बचतों का अनुत्पादक प्रयोग एवं उँचा पूँजी उत्पाद अनुपात है । कुछ अर्थशास्त्रियों के मत में ऊँची विकास दर के लिये पूँजी उत्पादन अनुपात कम होना चाहिये । उनके मत में अर्द्धविकसित देशों में अप्रयुक्त साधन उपलब्ध होते हैं, इन देशों में प्रारम्भिक दौर में श्रम प्रधान तकनीकों में पूँजी विनियोजन किया जाता है अत: कम पूँजी विनियोजन से ही उत्पादन की अधिक मात्रा प्राप्त की जा सकती है । इस प्रकार इस प्रश्न पर अर्थशास्त्रियों में मतभेद है कि पूँजी उत्पाद अनुपात ऊँचा होना चाहिये अथवा नीचा होना चाहिये ।

यदि व्यक्तिगत बचते एवं संस्थागत बचतें कम है तो सरकारें करारोपण की दर में वृद्धि करके सार्वजनिक ऋण प्राप्त करके अथवा हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेकर बचतों में वृद्धि कर सकती है । यदि घरेलू बचतें पर्याप्त नहीं हैं तो विदेशी सहायता ली जा सकती है । परन्तु विदेशी सहायता विकास के प्रारम्भिक चरणों में अल्प समय के लिये ही ली जानी चाहिये । पूँजीगत साज सामान्य तकनीकी ज्ञान एवं आवश्यक कच्चामाल देश के विकास के लिये आयात किया जाना चाहिए । विदेशी पूँजी का प्रयोग यदि विलासिता पूर्ण वस्तुओं के आयात के लिये किया गया तो गम्भीर भुगतान संतुलन का संकट उत्पन्न हो जायेगा । ऐसे आयातों से किसी भी परिस्थिति में आर्थिक विकास में मदद नहीं मिलेगी ।

12.3.4 तकनीकी प्रगति (Technical Progress),

अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि तकनीकी प्रगति एवं पूँजीनिर्माण एक दूसरे पर निर्भर है। पूँजी निर्माण के बिना अनुसंधान एवं तकनीकी विकास के लिये कोष उपलब्ध नहीं किये जा सकते । मानव पूँजी में विनियोग भी तकनीकी प्रगति के साथ साथ आवश्यक है । आर्थिक विकास में तकनीकी कारकों की भूमिका को सर्वाधिक महत्व प्रोफेसर शुम्पीटर ने दिया है ।

शुम्पीटर ने आविष्कार एवं नवप्रवर्तन में भेद किया है । आविष्कार का अभिप्राय नयी नयी उत्पादन विधियों की खोज है ।

नवप्रर्वतन का अर्थ आविष्कारों का उत्पादन के क्षेत्र में व्यवहारिक उपयोग है । इसका उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना एवं लागत में कमी करना अथवा उत्पादन की किस्म में सुधार लाना होता है ।

तकनीकी प्रगति में शिक्षा की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है । शिक्षा एवं साधनों की उपलब्धता से तकनीकी प्रगति होती है । इसके अतिरिक्त शिक्षित समाज नवप्रवर्तन को अपनाने विश्वासों एवं रूढ़िवादिता के कारण नई नई उत्पादन विधियों को आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता है । इसलिये यदि समाज तेजी से आर्थिक विकास करना चाहता है तो उसे अपनी मानव पूँजी मे अधिकाधिक विनियोजन करना चाहिये । शिक्षा एवं तकनीकी प्रशिक्षण के लिये अधिकाधिक संस्थाएं खोलनी चाहिये । प्रशिक्षित व्यक्तियों का विदेशों को पलायन रोकने के लिये उन्हें उचित सुविधाए दे कर रोजगार प्रदान करना चाहिये । यदि ऐसा नहीं किया गया तो- उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति एवं ऊँची नौकरियों एवं कमाई के लालच से विदेशों मे जाकर बस जायेगें एवं अर्द्धविकसित देशों द्वारा मानवपूँजी के विकास के लिये किया गया विनियोग उनके लिये व्यर्थ हो जायेगा ।

शुम्पीटर के मत में आविष्कार करने का कार्य आविष्कार का है परन्तु नवप्रवर्तन का कार्य उद्यमियों का है । उद्यमी नई नई विधियों का प्रयोग करते हैं नये उत्पादन करते हैं । कुछ आविष्कार लाभकारी होते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी आविष्कारों से लाभ प्राप्त हो । ऐसे आविष्कार जो लाभकारी नहीं है उनका वास्तविक उत्पादन के लिये प्रयोग नहीं किया जाता है ।

तकनीकी प्रगति का प्रभाव साधनों की पूर्ति पर पडता है । उदाहरणार्थ भारतवर्ष में नई तकनीक के प्रयोग के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन पिछले वर्षो में कई गुना हो गया है । इसी प्रकार खनिजों को अधिक कुशल विदोहन होने लगा है जिसके परिणामस्वरूप अब ऐसी खानों से भी खनिजों निकाला जा सकता है जो पहले लाभकारी नहीं थी । इस प्रकार तकनीकी प्रगति से उत्पादन लागत में कमी आती है, श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होती है एवं उत्पादन में वृद्धि होती है । उपभोक्ताओं को अच्छी किस्म की वस्तुएँ उपलब्ध होती है । इन सभी के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में जीवनस्तर में वृद्धि होती है ।

12.3.5 साहस (entrepreneurship)

साहस आर्थिक विकास का एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण निर्धारक घटक है । हम यह भी कह सकते है कि आर्थिक विकास रूपी रेल के डिबों को खींचने बाला इंजन साहसी है । साहसी

वह व्यक्ति है जो उत्पादन की जोखिमों का बहन करता है । साहसी उत्पादनों के साधनों को संगठित करता है एवं उनका पारिश्रमिक तय करता है एवं उत्पादन प्रकिया में उनके द्वारा किये गये कार्यो के अनुपात में उन्हें पारिश्रमिक का भुगतान करता है ।

अर्द्धविकसित देशों में आर्थिक विकास की मुख्य समस्या साहसियों की कमी है । यहाँ का धनी बर्ग अल्पकालिक सट्टा विनियोजन में रूचिशील होते हैं । वे शीघ्र अति शीघ्र पैसा कमाना चाहते हैं अत: वे दीर्घकालीन विकास कार्यकमों में रूचि नहीं लेते हैं । कभी-कभी यह सुझाव भी दिया जाता है कि दन देशों में सरकारों को साहसी की भूमिका अदा करनी चाहिये जिससे विकास की गीत को बढाया जा सके । साहसियों के अभाव में इन देशों के संसाधनों का विदोहन नहीं हो पाता । यद्यपि आजकल व्यवसाय के निगम रूप अथवा संयुक्त पूँजी कम्पनी रूप के विकास के कारण साहसी व प्रबन्ध कर्ता अलग अलग होते हैं । अंशधारी व्यवसाय की जोखिम उठाते हैं, पूँजी विनियोजन करते हैं नवप्रवर्तन करते हैं । परन्तु प्रबन्ध का कार्य प्रशिक्षित एवं. दक्ष प्रबन्धकों द्वारा किया जाता है । इस प्रकार जोखिम का बटवारा हो जाने से बडे एवं लम्बी अवधि वाले उत्पादक कार्यो को हाथ में लेना सम्मव हो सका है ।

12.4 आर्थिक विकास के निर्धारक तत्व (अनार्थिक तत्व) (determinants of economic development-non economic factors)

आर्थिक विकास की समस्या केवल आर्थिक अथवा वित्तीय समस्या नहीं बल्कि कई गैर-आर्थिक तत्व भी आर्थिक विकास को प्रभावित करते है । इनमें सांस्कृतिक सामाजिक, संस्थागत प्रमुख है जो विकास को प्रभावित होते हैं । कुछ सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं की विकास में सहायक भूमिका रहती है जबकि कुछ अन्य विकास में बाधक होती है । हम इन तत्वों का विस्तृत विवेचन करेगें ।

12.4.1 पारिवारिक ढांचा (family factors)

देश में पारिवारिक ढांचा भी विकास को प्रभावित करता है । उदाहरणार्थ भारत में संयुक्त परिवार प्रथा जिसमे पुत्र अपने पिता के परिवार में शादी के बाद भी रहता है एवं आमदनी को सामान्य कोष में इकट्ठा कर लिया जाता है । ऐसा अनुभव किया गया है कि इस प्रथा का विकास पर विपरीत प्रभाव पडता है । इससे व्यक्ति को एक प्रकार की सामाजिक सुरक्षा मिल जाती है यह व्यक्ति की गतिशीलता एवं अधिक कार्य करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है । इसके विपरीत पश्चिम देशों की एकाकी परिवार प्रथा में व्यक्ति अपनी आमदनी का उपभोग स्वयं करता है । इससे उसकी कार्य करने की इच्छा बढती है । इस प्रकार यह विकास में सहायक है ।

12.4.2 जाति प्रथा (caste system)

जाति के कठोर अवरोधकों से व्यावसायिक गतिशीलता में कमी आती है । जातियों की आपसी दुश्मनी, उँची एवं नीची जातियों में असमानता एवं छुआछूत की भावना आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव डालती है ।

धर्म भी आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण अनार्थिक निर्धारक घटक है । उदाहरणार्थ यदि धर्म हमें हमारी आय बचत एवं भौतिक कल्याण को बढाने की शिक्षा देता है तो वह विकास में सहायक होगा । इसके विपरीत यदि धर्म हमें अभौतिक दृष्टिकोण सिखाता है परलोक सुधारने की शिक्षा देता है तो हम अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखेगें । जो कुछ हमे मिल रहा है वह हमारे भाग्य की देन है इस प्रकार का दृष्टिकोण आर्थिक विकास के लिये सहायक नही है ।

12.4.3 प्रजातिय तत्व (racial factors)

प्रजातिय तत्वों को यही उल्लेख करने के पीछे हमारा दृष्टिकोण यह नहीं है कि कुछ प्रजातियां श्रेष्ठ व कुछ हीन है बल्कि इतिहास यह बताता है कि कुछ प्रजातियों के विकास की अधिक लालसा रही है । उदाहरणार्थ गोरे लोगों ने उच्च जीवन स्तर प्राप्त किया है । यद्यपि किन्डलबर्गर के अनुसार प्रति व्यक्ति आय एवं गोरे लोगों के प्रतिशत में कोई उच्च सहसम्बन्ध नहीं है । विभिन्न प्रजातियों को अलग अलग नही रहना चाहिये बल्कि विकास के प्रयत्नों में एक दूसरे को सहयोग करना चाहिये ।

12.4.4 सरकारों नीति (government policy)

कोई भी देश सरकारी सहयोग के बिना विकास नहीं कर सकता । अब स्वतन्त्र छोडो की नीति अपनाने के दिन नहीं रहे हैं । सरकारी हस्तक्षेप को आज विश्व के प्रत्येक देश में स्वीकार किया जाता है । सरकार अपनी मौद्रिक, राजकोषीय एवं योजनाओं को प्रभावित करती है। इसकी मूल्य नीति, व्यापार नीति एवं योजनाओं का विकास पर प्रभाव पडता है । कुशल सरकार जो शान्ति एवं सुरक्षा में विश्वास करती है विकास की गति बढ़ाने में सहायक होती है । आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका का बिन्दु 12.5 में विस्तृत विवेचन किया गया है ।

आर्थिक विकास के आर्थिक एवं अनार्थिक तत्वों के विवेचन के पश्चात् हम यह पूछ सकते हैं कि इन में से कौन से अधिक महत्वपूर्ण हैं एवं क्यों । इस प्रश्न का उत्तर देना सरल कार्य नहीं है । विभिन्न अर्थशास्त्रियों अलग अलग तत्वों पर बल देते है । कुछ अर्थशास्त्रियों के मत में आर्थिक विकास के अनार्थिक तत्व आधिक महत्वपूर्ण है । प्रो0 लुइस (Lewis) के मत में पूँजी निर्माण आर्थिक विकास की केन्द्रीय समस्या है । दूसरी ओर प्रो0 शुम्पीटर(Schumpeter) तकनीकी तत्वों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक मानते हैं । कुछ अन्य अर्थशास्त्री प्रकृतिकसाधनों की प्रचुरता को आर्थिक विकास की कुंजी मानते हैं । जबकि कुछ अन्य अर्थशास्त्री मानव पूँजी ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं ।

वास्तव में किसी एक तत्व को विकास के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता । आर्थिक विकास के लिये विभिन्न तत्वों का मिला जुला उपयोग होना चाहिये । अर्द्धविकसित देशों में गरीबी एवं अल्प विकास के दुष्चक को तोडने के लिये विभिन्न तत्वों को मिल कर

समस्या पर प्रहार करना पडेगा । आजकल विकास के लिये देश के भीतर की समस्याएं ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं घरेलू सरकार की नीतियां सभी अनुकूल होनी चाहिये ।

बोध प्रश्न-1

(1) आर्थिक विकास के महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व कौन-कौन से हैं?

....

....

(2) आर्थिक विकास से आपका क्या अभिप्राय है? उन तत्वों का वर्णन कीजिये जिन पर आर्थिक विकास निर्भर होता है ।

....

....

(3) उन प्रमुख तत्वों को समझाइये जिन पर एक गरीब देश का आर्थिक विकास निर्भर करता है।

....

....

12.5 आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका बढ़ने के लिए उत्तरदायी तत्व (Factors Responsible for the Increasing Role of the Government in Economic Development)

सन् 1930 की महान आर्थिक मन्दी ने स्वतंत्र छोड़ो (laissez faire) की नीति अथवा सरकारी अहस्तक्षेप की नीति की कमजोरियों को उजागर कर दिया । यह स्पष्ट हो गया कि परम्परा वादियों का विश्वास वास्तविकता के धरातल पर आधारित नहीं था । उनकी यह मिथ्या धारणा थी कि बाजार तंत्र अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने में पूर्णतया सक्षम है एवं इसमें किसी भी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप आवश्यक नहीं है । एडम स्मिथ ने स्वहित का सिद्धान्त (Theory of self interest) प्रतिपादित किया जिसमें किसी अदृश्य शक्ति की क्रियाशीलता के कारण सामाजिक कल्याण अधिकतम हो जाता है । परम्परा वादियों के मत में स्वहित एवं समाज के हित में कोई विरोध नहीं था क्योंकि समाज व्यक्तियों का समूह है । यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना हित देखता है तो समाज का हित स्वत: हो जाता है । परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का (J.B. Say) के बाजार नियम में विश्वास था । इस नियम के अनुसार मूर्ति स्वंय अपनी मांग उत्पन्न करती है । ("Supply creates its own demand") अत: सरकार को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये । सरकार का कार्य बाह्य सुरक्षा एवं आन्तरिक सुरक्षा बनाये रखना है । इनका विश्वास था कि वह सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है । इन्हीं विश्वासों के कारण सभी अर्थशास्त्री मांग एवं पूर्ति की शक्तियों को खुला छोडना चाहते थे । परन्तु सन्.1930 में अति उत्पादन के कारण

विश्व महान आर्थिक मन्दी की चपेट में आ गया । कीमत अथवा बाजार तंत्र मांग व पूर्ति की शक्तियों में संतुलन स्थापित करने में बुरी तरह असफल हो गया ।

आर्थिक मन्दी के इस काल में महान अर्थशास्त्री कीन्स ने परम्परावादी अर्थशास्त्रियों को चुनौती दी । कीन्स ने मन्दी से मुकाबला करने के लिये सरकार के हस्तक्षेप की वकालत की । इसके मत में सरकारी मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के प्रयोग से मन्दी की स्थिति से मुकाबला किया जा सकता है । कीन्स ने अपने विचार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जनरलथ्योरी. में व्यक्त किये । आज विश्व की सभी मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में सरकारी हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है । पुलिस राज्य की धारणा की जगह अब कल्याणकारी राज्य की धारणा को स्वीकार. किया जाने लगा है जिसमें लगभग सभी क्रियाकलापों के लिये राज्य को जिम्मेदार ठहराया जाता है । सरकारें उत्पादक क्रियाओं में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती हैं दे अपनी बजट नीतियों द्वारा समाज में धन का पुनर्वितरण करती हैं । समाजवादी देशों में तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था सरकारी देखरेख एवं नियंत्रण में कार्य करती हैं । आजकल पूँजीवादी देशों में भी सभी महत्वपूर्ण विभाग एवं आधारभूत क्षेत्र सरकारी नियंत्रण में कार्य करते हैं । आज विश्व में कोई ऐसा देश नहीं है जिसमें सरकारी हस्तक्षेप का अभाव हो । यही नही सरकारी हस्तक्षेप दिनों दिन बढ़ती ही जा रहा है । इससे पूर्व कि हम सरकार के कार्य अथवा आर्थिक विकास में सरकारी भूमिका की चर्चा करें हमे उन का२णों की चर्चा करेगें जिनके कारण सरकारी कार्यक्षेत्र अथवा हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है ।

आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप अथवा सरकार की भूमिका बढ़ने के निम्न कारण हैं :

1. **"स्वतंत्र छोड़ने"** की नीति की असफलता (failure of the policy of laissez faire) - महान आर्थिक मन्दी के काल में छोडो स्वतंत्र की नीति आय, उत्पादन रोजगार को संतुलन स्तर पर पुन स्थापित करने में असफल हो गयी थी । इससे परम्परावादी सिद्धान्तों का खोखलापन स्पष्ट हो गया । ऐसी परिस्थिति में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक समझा गया । इसके अतिरिक्त संकटकाल, युद्ध आदि, में भी राज्य का हस्तक्षेप जरूरी हैं । ऐसी संकटपूर्ण स्थितियों से उबारने में बाजार तंत्र की शक्तियां असफल हो जाती है केवल सरकार ही इस परिस्थिति से छुटकारा, दिला सकती है । एक बार जब सरकार. हस्तक्षेप करने के लिये आगे बढ़ती है तो पुन: उसके पूर्व की स्थिति में लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता।
2. **पूंजीवाद की बुराइयां (evils of capitalism) -** आधुनिक युग में सरकार के हस्तक्षेप में उत्तरोत्तर में वृद्धि का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण पूँजीवाद की बुराइयाँ हैं । पूँजीवाद की प्रमुख बुराइयाँ जैसे निर्धनों का शोषण, व्यापारिक, बेरोजगारी, मुद्रा प्रसार इत्यादि सरकार की मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के कुशल कियान्वयन द्वारा दूर की जा सकती है । लार्ड कीन्स ने महान आर्थिक मन्दी से उबरने मे सरकार की इन नीतियों की भूमिका की विस्तृत विवेचना की एवं इनकी उपयोगिता सिद्ध कर दी । अत: आज भी सरकारें पूँजीवाद की बुराइयों को दूर करने के लिये सरकारी हस्तक्षेप को अपरिहार्य मानती है ।
3. **सार्वजनिक वस्तुएं (public wants)** सार्वजनिक वस्तुएं कुछ ऐसी हैं जिन्हे व्यक्ति अपने निजी उपयोग के लिये आवश्यक मात्रा में थोडा-थोडा नहीं खरीद सकते हैं ।

उदाहरणार्थ देश की सुरक्षा व्यवस्था, शहर अथवा कस्बे में शान्ति, किसी नदी पर पुल, बांध, जनता के लिये सार्वजनिक उद्यान, पोस्टल सेवाएँ एवं सड़के इत्यादि । ये ऐसी वस्तुऐं हैं जिन्हे कोई निजी उत्पादक प्रदान नहीं कर सकता और यदि करने में सक्षम भी हो तो देश अथवा समाज के व्यापक हित में इन वस्तुओं अथवा सेवाओं को प्रदान नहीं कर सकता । अत: इन सार्वजनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है ।

4. **आधारभूत सुविधाएं (Infrastructure)** देश में आधारभूत सुविधाएं प्रदान करने की जिम्मेदारी सरकार की होती है । आधारभूत सुविधाओं के अभाव में निजी उद्यमी विनियोजन हेतु आगे नहीं आते हैं । आधारभूत सुविधाओं को मुहैया कराने में देश में भारी पूँजी विनियोग की आवश्यकता होती है साथ ही निजी उद्यमी इनमें अपनी पूँजी लगाना नहीं चाहते हैं । सामाजिक ऊपरी पूँजी जैसे विद्युत, रेल्वे, सडकें, नहरें, उच्च शिक्षण एवं प्रशिक्षण के लिये संस्थाएं उचित कीमतों पर केवल सरकार ही उपलब्ध कर सकती है ।
5. **गरीबी एवं असमानता (Poverty and Inequality)** पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रमुख दोष यह है कि वहॉ लाभ कमाने की लालसा के कारण पूंजीपति निर्धन श्रमिकों का शोषण करते हैं । उनसे अधिक कार्य लिया जाता है व उन्हे 'कम मजदूरी दी जाती है । कार्ल मार्क्स के अनुसार श्रम के अतिरेक मूल्य (Surplus value) पर पूँजीपति वर्ग अपना आधिपत्य कर लेता है । इस प्रकार समाज दो वर्गो में विभाजित हो जाता है - एक, जिनके पास उत्पति के साधन होते है, एवं दूसरे जो सम्पति हीन होते हैं । मार्क्स उन्हें बुजुर्ग वर्ग एवं सर्वहारा वर्ग के नाम से सम्बोधित करता है । इन वर्गों के बीच आय की असमानता बढ़ती जाती है । आज के युग में सरकारें कल्याणकारी राज्य स्थापित करना चाहती है अत: श्रमिकों अथवा सर्वहारा वर्ग को शोषण से बचाना राज्य सरकारों का प्रमुख कार्य है । आय की असमानता दूर करने के लिये कई नीतियां जाती है जिनमें प्रगतिशील अथवा आरोही करारोपण, हस्तान्तरण भुगतान, विलासिताओं पर कर, अवसरों की समानता इत्यादि प्रमुख है । इस प्रकार गरीबी एवं असमानता निवारण के उद्देश्य से राज्य का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है ।
6. **दुर्लम साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग (Rational Utilisation of scarce Resources)** यह तो सर्वविदित ही है कि समाज का हित व्यक्तियों का साधारण योग नहीं है । पूँजीवादी समाज में निजी लाभ की भावना प्रमुख होती है अत: व्यक्ति समाज के हित की चिन्ता नहीं करता । वह उपलब्ध संसाधनों को अपने हित में अधिकाधिक उपयोग करना चाहता है यह स्थिति देश के व्यापक हित में नहीं हो सकती है । साधन दुर्लभ है उनका विवेकपूर्ण उपयोग देश के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुये किया जाना चाहिये । इसके लिये सरकारी हस्तक्षेप दिनों दिन बढ़ रहा है ।
7. **मानव शक्ति नियोजन (manpower planning) -** आज अधिकांश अर्द्धविकसित देश जनसंख्या विस्फोट की स्थिति से गुजर रहे हैं । योजना निर्माताओं के लिये बेरोजगारी

एवं अर्द्ध रोजगार की समस्या एक प्रमुख चुनौती है । सरकार उपलब्ध श्रमशक्ति का देश के विकास के लिये उपयोग कर सकती है यदि मानव शक्ति नियोजन का सहारा लिया जाय । सरकार को उपलब श्रमशक्ति के नियोजन के लिये एक दीर्घकालीन योजना तैयार करनी चाहिये एवं तेजी से बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण करना चाहिये । इस दीर्घकालीन नियोजन के लिये सरकारी हस्तक्षेप बढ़ रहा है ।

12.6 सरकार के कार्य आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका (The Role/Function ऑफ Goverment in Economic Development)

आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका वास्तव में अत्यधिक विस्तृत है एवं उसका विवेचन यही कुछ पृष्ठों में करना सम्भव नहीं है । आज के युग में हमें हस्तक्षेप अथवा स्वतंत्र छोडो में से चुनाव नहीं करना है बल्कि अधिक हस्तक्षेप अथवा कम हस्तक्षेप में से चुनाव करना है । आर्थिक विकास के लिये व्यक्तियों एवं सरकार दोनों का सहयोग आवश्यक है । सरकार की उपयुक्त आर्थिक नीतियां विकास में सहायक होती है । साथ ही इसकी गलत नीतियों से विकास में बाधा उपस्थित होती है । आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में सरकार के महत्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं :

1. **विकास के अनुकूल 'वातावरण उत्पन्न करना (creating conditions conducive to growth)** सभी देशों में सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य ऐसी दशाएं उत्पन्न करना है जिसमें विकास हो सके । सरकार को ऐसे कार्य नहीं करने चाहिये जिनसे देश में शान्ति भंग होती हो । इसलिये सरकार का पहला व सर्वाधिक महत्व का कार्य देश में कानून एवं व्यवस्था बनाये रखना है । युद्ध अथवा आन्तरिक हलचल से अस्थिरता उत्पन्न होती है, बेरोजगारी एवं कीमतों में वृद्धि होती है ऐसी परिस्थिति में विकास नहीं हो सकता । व्यापार चक्र की अवधि में कीमतों एवं रोंजगार में उत्पन्न अस्थिरताओं को समाप्त कर पूर्ण रोजगार की दशाएं उत्पन्न करना सरकार की जिम्मेदारी है । परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के मत में अर्थ व्यवस्था में कीमत तंत्र की स्वचालित व्यवस्था के कारण मांग एवं पूर्ति में समायोजन स्वत: ही हो जायेगा । इस प्रकार अति उत्पादन की समस्या. उत्पन्न नहीं होगी । अर्थ व्यवस्था में उपलब्ध शक्तियां उसे संतुलन की ओर ले जायेगी । अर्थात् साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त होगा । यदि कभी मांग व पूर्ति में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है तो कीमत तंत्र उनमें पुन: संतुलन स्थापित कर देगा । इस प्रकार परम्परावादियो के मत में सरकार हस्तक्षेप आवश्यक नहीं है । इन्ही विचारों के कारण उन्होने उस सरकार को अच्छा समझा जो आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे । कीन्स ने इन परम्परावादी सिद्धान्तों की सत्यता को चुनौती दी एवं सरकारी हस्तक्षेप की जोरदार वकालत की । कीन्स ने सरकारी व्यय बढ़ाकर प्रभावपूर्ण मांग उत्पन्न करने पर बल दिया जिससे अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार के स्तर पर संतुलन स्थापित किया जा सके । कीन्स ने आर्थिक मन्दी एवं मुद्रा प्रसार के समय सरकार की भूमिका की विस्तृत विवेचना की । उसने बताया कि मंदी अथवा मुद्रा प्रसार जैसे आर्थिक संकट से सरकारी हस्तक्षेप के द्वारा ही अर्थव्यवस्था को बचाया जा सकता है । आर्थिक विकास को प्रभावित करने बाले आर्थिक तत्वों के लिये ही नही बल्कि अनार्थिक

तत्वों को भी विकास के अनुकूल बनाने का कार्य सरकारें ही कर सकती है । यदि देश में साहसी सभी प्रेरणाओं के बाद भी पूंजी विनियोजन के लिये आगे नहीं आते तो सरकार स्वयं एक साहसी की भूमिका का निर्वाह करके आर्थिक विकास की जड़ता को समाप्त करने की पहल करे । विकास एक संचयी प्रकिया है एक बार प्रारम्भ हो जाने पर यह स्वयं आगे बढ़ती रहती है । अत: सरकार को चाहिये कि उन बाधाओं को समाप्त करे जो आर्थिक विकास के रास्ते में आती है एवं विकास के अनुकूल दशाएं उत्पन्न करे ।

2. **कीमत प्रणाली के संचालन के लिये अनुकूल दशाएं उत्पन्न करना (Creating Condtions Essential for the Functions of Price Mechanism) -** पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में साधन आवंटन में कीमत प्रणाली की भूमिका महत्वपूर्ण होती है । कीमत प्रणाली के सफल संचालन के लिये मांग एवं पूर्ति की शक्तियां स्वतंत्र रूप से क्रियाशील होना आवश्यक है सरकार को ऐसी दशाएं उत्पन्न करनी चाहिये जिनमें कीमत प्रणाली सुगमता पूर्वक कार्य कर सके ।

कीमत प्रणाली के संचालन में सबसे प्रमुख बाधा एकाधिकार का उदय होना है । एकाधिकार उत्पन्न होने से समाज के साधनों का दुरूपयोग होता है । एकाधिकारी पूर्ति अथवा कीमत को नियंत्रित कर अपने लाभ को अधिकतम करने की चेष्टा करता है । एकाधिकार में प्रतियोगिता को समाप्त कर दिया जाता है जिससे उपभोक्ताओं का शोषण सम्भव हो जाता है । कीमत प्रणाली के सफल संचालन के लिये यह आवश्यक है कि आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण कुछ मुट्ठी पर लोगों के हाथों में न हो । इसमें सरकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है । भारत में एकाधिकारी शक्तियों को रोकने के उद्देश्य से एकाधिकार जांच आयोग एवं एकाधिकार प्रतिबंधात्मक व्यापार अधिनियम पास किया गया वर्तमान में इसमें कई संशोधन किये गए है ।

3. **गरीबी एवं असमानता में कमी (Alleviation of Poverty and Reduction in Inequalities)** विश्व में किसी भी भाग में गरीबी समृद्धि को सबसे बड़ा खतरा है अत: सरकारें गरीबी में कमी लाने एवं असमानताओं में कमी लाने के लिये कार्य करती है । असमानताएं सामाजिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण एवं नैतिक दृष्टि से अवांछनीय है । असमानताओं से उत्पादकता की हानि होती है, सामाजिक असंतोष उत्पन्न होता है, एकाधिकारी प्रवृतियों एवं बेरोजगारी की मात्रा में वृद्धि होती है । अत: समाज के कमजोर वर्ग को लाभ पहुंचाने के लिये विशेष कार्य कम शुरू किये जाने चाहिये एवं इस कार्य में सरकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है ।

भारत वर्ष. में भी सरकार इस बात के लिये प्रयत्नशील रहती है कि विकास के लाभ समाज के कमजोर वर्गो तक पहुंचे । प्रारम्भ में सरकार का विश्वास था कि विकास के लाभ स्वत: रिसकर (Trickle down) कमजोर वर्गो के लोगों तक पहुंच जायेंगे । परन्तु यह विश्वास मिथ्या साबित हुआ । विकास की योजनाओं के बाद जब गरीबी एवं असमानताओं की स्थित पुर दृष्टिपात किया गया तो यह पाया गया कि इन समस्याओं में और गम्भीरता आई है । अत: सरकार ने इन समस्याओं पर सीधे प्रहार करने की योजनाएं बनाई । इस कार्य के लिये विशेष संस्थाओं की स्थापना की गई । उन्हे रोजगार उपलब्ध कराये गये कम ब्याज की दरों पर ऋण एवं अनुदान 'देकर उनके व्यवसायों को लाभपूर्ण बनाने की चेष्टा की गई । न्यूनतम आवश्यकता

कार्य कम एवं विशेष उपयोजनाओं के माध्यम से लक्ष्य समूह को लाभ पहुंचाने के प्रयास किये गये इन्हीं कारणों से सरकारी हस्तक्षेप बढ़ ।

4. **साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग (Rational Utilization of Resources)** आर्थिक विकास अन्य कई तत्वों के? 'अतिरिक्त प्राकृतिक साधनों? की उपलब्धता से भी प्रभावित होता है । अन्य बातें यदि यथावत रहे तो " प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता विकास में सहायक होती है परन्तु इन साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाना अत्यावश्यक है । हमारा उद्देश्य देश के दीर्घकालीन हितों को दृष्टिगत रखते हुये साधनों का कुशलतम उपयोग करना. होना. चाहिये ताकि संसाधन भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के उपयोग के लिये भी उपलब्ध रह सके । यदि हमने अनुकूलतम उपयोग की नीति का अनुसरण करने के बजाय लाभ की भावना से अधिकतम उपयोग की नीति का अनुसरण किया तो वह देश के दीर्घकालीन हितों के' लिये आत्मघाती सिद्ध होगा । अत: हमें न केवल प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण करना होगा बल्कि उनके स्थान पर काम आ सकने वाले नये नये साधनों को ढूढ़ निकालना होगा ।

सरकार को हमारे पर्यावरण की सुरक्षा का प्रयास करना चाहिये हमारे जल स्रोत, नदियां, वायु प्रदूषण से मुक्त रहे हमारी बन सम्पदा, वन जीवों की सुरक्षा होनी चाहिये । इनके विनाश को रोकने के लिये सख्त विधान बनाएं जाने चाहिये । निजी उद्यमियों के लिये यह लाभप्रद हो सकता है कि वे अपने कारखाने के अपशिष्ट पदार्थो को पास की झीलों अथवा नदियों में प्रवाहित कर दे । परन्तु यह सामाजिक लागत है । सरकार को इस समस्या से निपटने के लिये दोषी उत्पादकों पर भारी करारोपण करके उस राशि को झीलों एवं नदियों को प्रदूषण मुक्त करने हवा को शुद्ध करने पर व्यय करना चाहिये । यदि व्यक्तिगत रूप से उपचार संयंत्रों की लागत अधिक आती होती औद्योगिक क्षेत्रों में सभी के तथा मिल कर सामुदायिक उपचार संयंत्रों की स्थापना करनी चाहिये । इसके अतिरिक्त प्रदूषण से प्रभावित इलाकों में कल्याणकार्यो को हाथ में लिया जाना चाहिये ।

5. **आर्थिक एवं सामाजिक आधारभूत सुविधाओं की व्यवस्था (Provision of Economic and Social)** देश में आधारभूत सुविधाओं जैसे यातायात एवं संचार, विधुत, सिंचाई बांध, चिकित्सा व्यवस्था सामाजिक सुरक्षा इत्यादि, विकास के लिये. आवश्यक है । ये आधारभूत सुविधाएं देश की सरकार ही उपलब्ध करवाती है । इन सुविधाओं की व्यवस्था की जिम्मेदारी निजी फर्मो के भरोसे नहीं छोडी जा सकती क्योंकि सम्पूर्ण समाज इससे लाभान्वित होता है और इन्हे प्रत्येक व्यक्ति अथवा परिवार द्वारा थोडी थोड़ी मात्रा में नहीं खरीदा जा सकता । इससे भी अधिक इन क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में पूँजी विनियोजन की आवश्यकता होती है एवं लाभ की गर्भावीध (gestation period) बहुत लम्बी होती है । पूँजी की कमी एवं तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त श्रमशक्ति का अभाव होता है । यही कारण है कि अर्द्धविकसित देशों में विकास की गति धीमी होती है ।

सरकार इन बाधाओं को दूर करने के प्रयास करती है । वह देश में आधारभूत सुविधाएं उपलब्ध कराती है एवं लम्बी गर्मावधि (long gestation period) बाले उद्योगों में पूँजी लगाती है । क्योंकि सरकार का उद्देश्य अल्पावधि में लाभ कमाना नहीं है । यदि सरकार के पास पूँजी का अभाव है तो वह हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) का सहारा ले सकती है,

सार्वजनिक ऋण ले सकती है अथवा विदेशी मदद ले सकती है । इस प्रकार पूँजी की कमी की समस्या का हल करके विकास के लिये धन जुटाती है । भारतवर्ष में सरकार ने योजनाओं में आधारभूत सुविधाएं जुटाने के लिये अत्यधिक पूँजी विनियोजन किया है ।

6. **मानव पूंजी में विनियोग (investment in human Capital)** आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व मानवीय पूँजी है । अत: सरकार को मानव पूँजी की गुणवता में सुधार लाने के लिये पूँजी विनियोजन करना चाहिये । इसके लिये सामान्य शिक्षा, तकनीकी, चिकित्सा प्रबन्ध शिक्षा एवं अनुसंधान के लिये संस्थाओं की स्थापना करनी चाहिये । मानव पूँजी विनियोजन से विकास की गति बढ़ती है । शिक्षा पर होने वाला व्यय वस्तुत: विकास व्यय है । भारतवर्ष में नई शिक्षा नीति के अन्तगर्त नवोदय विद्यालयों की स्थापना का उद्देश्य ग्रामीण बच्चों को अच्छी शिक्षा उपलब्ध करवाना है ।

7. **बचत, विनियोग एवं पूजी निर्माण में वृद्धि (Raising the Level of Saving, Investment and Capital formation)** पूँजी निर्माण आर्थिक विकास की कुंजी है पूँजी निर्माण की गति को तीव्र करने में सरकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । अर्द्धविकसित देशों में पूँजी निर्माण की गीत अत्यन्त धीमी होती है इसका मुख्य कारण यह है कि ये देश कम बचत, कम विनियोग, कम उत्पादकता एवं कम आय के एक कुचक्र में फंसे होते हैं । इस कुचक्र को तोड़ने के लिये बचतों में वृद्धि करने के अनिवार्य है । बचतों में वृद्धि करने के लिये सरकार कई प्रोत्साहन योजनाएं प्रारम्भ कर सकती है । पूँजी निर्माण के लिये केवल बचतों की पूर्ति ही पर्याप्त नहीं है । इसके लिये उपलब्ध बचतों का लाभपूर्ण कार्यो में विनियोजन आवश्यक है । सरकार विनियोगों को प्रोत्साहन देने के लिये अपनी मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का सहारा ले सकती है । यदि देश मे बचतों की पूर्ति अपर्याप्त हो तो सरकार अन्य तरीकों से पूँजी जुटा सकती है । इनमें घाटे की वित्त व्यवस्था, जनता से ऋण एवं विदेशी मदद प्रमुख है ।

विनियोगों में प्रोत्साहन देने के लिये सरकारी उद्यमियों को सस्ती भूमि बिजली एवं पानी की सुविधाएं, करों में रियायत, आसान ऋण एवं विपणन आदि में सहायता देती है । भारतवर्ष में सरकार लघु एवं कुटीर उद्योगों को विशेष रियायतें देकर उन्हें बढ़ावा दे रही है । पिछडे क्षेत्रों एवं उद्योग रहित जिलों में उद्योग स्थापित करने पर विशेष केन्द्रीय अनुदान मिलता है । आसान ऋणों के अतिरिक्त सरकार कई प्रकार की सुविधाएं भी देती है जिसमे तकनीकी सलाह एवं प्रोजेक्ट रिर्पोट तैयार करने से लेकर उसे स्थापित करने में आने वाली सभी कठिनाइयों का निवारण करना सम्मलित है । इन्हीं सुविधाओं के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में औधोगिक क्षेत्र में विकास हुआ है ।

8. **संस्थागत ढ़ाचे में परिवर्तन (Changing Institutional Structure)** : आर्थिक विकास के निर्धारक तत्वों का विवेचन करते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कई गैर-आर्थिक तत्व भी विकास को प्रभावित करते हैं । कई सामाजिक धार्मिक संस्थाएं विकास में सहायक होती है जबकि कई अन्य बाधक । भारतवर्ष मे ब्रिटिश शासन व्यवस्था के समय प्रारम्भ भू -धारण की प्रणालियां, संयुक्त परिवार प्रथा एवं जाति प्रथा विकास में सहायक संस्थाएं नहीं थी । इसी प्रकार धार्मिक संस्थाएं जैसे छुआछूत, भाग्यवादिता मृत्यु भोज इत्यादि विकास में बाधक संस्थाएं है । इसलिये सरकार को देश में संस्थागत ढांचे में परिवर्तन लाने के

लिये कानून बनाने चाहिये । देश में ऐसी सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं का निर्माण करना चाहिये जो विकास मे सहायक हो ।

9. **सामाजिक सुरक्षा लाभों की व्यवस्था (Provision of Social Security Benefits):** सरकार को जीवन के प्रमुख शत्रुओं -बेरोजगारी, बीमारी, बुढ़ापा दुर्घटना एवं मृत्यु के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करनी चाहिये । आजकल विश्व के सभी देशों में सरकारें कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लक्ष्य को ले कर चलती है अत: सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना आवश्यक है । बेरोजगारी भत्ता, पेन्शन दुर्घटना की स्थिति में स्थायी अथवा अस्थायी अपंगता होने पर क्षतिपूर्ति, मातृत्व लाभ जैसी कई योजनाएं आज विश्व के सभी देशों की सरकारी द्वारा लाग की गई हैं ।

10. **उत्पादन. वितरण एवं व्यापार मे प्रत्यक्ष प्रतिभागिता (Direct Participation in the production Distribution and trade) :** आधुनिक कल्याणकारी सरकारों का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य अपने विभागीय उपकमों अथवा सरकारी कम्पनियों के द्वारा उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना है । अर्द्धविकसित देशों में साहसियों का अभाव होता है वे दीर्धकालीन उद्योगो में पूँजी विनियोजन के स्थान पर अल्पावधि के लाभपूर्ण विनियोगों मे अधिक रूचिशील होते हैं । ऐसी परिस्थिति में सरकार का साहसी की भूमिका का निर्वाह करना चाहिये । अर्द्धविकसित देशों में भारी एवं आधारभूत उद्योगों में पूँजी विनियोजन के अलावा रेले, पोस्ट एवं टेलीग्राफ, हवाई यात्रा, लोह इस्पात एवं महत्वपूर्ण सुरक्षा उद्योग सरकारी स्वामित्व में ही चलाये जाते है । भारत वर्ष में 1948 की औधोगिक नीति द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था की नींव 'डाली गई एवं सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों के लिये अलग - अलग क्षेत्र निर्धारित कर दिये । इस नीति में 956 'मैं' एवं बाद में कई बार संशोधन किया गया व उद्योगों का पुन: वर्गीकरण किया गया । इस प्रकार सरकार प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में भाग ले कर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । आजकल विश्व पुन: बाजार शक्तियों के प्रभाव में है । सरकार के स्थान पर निजी क्षेत्र एवं प्रतियोगिता को महत्व दिया जा रहा है ।

सरकार न केवल उत्पादन करती है बल्कि वितरण के क्षेत्र में भी इसकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है । सरकार उचित मुल्य की दुकान खोल कर समाज के कमजोर वर्ग तक उचित दामों में वस्तुएं पहुँचाती है । इसी प्रकार कभी - कभी सरकार कुछ वस्तुओं का थोक व्यापार अपने हाथ में ले सकती है । इसके पीछे सरकार का उद्देश्य उत्पादन, वितरण एवं व्यापार के क्षेत्र में होने वाली बेईमानी को रोकना होता है न कि लाभ अर्जित करना । इसलिये कभी कभी इस बात को लेकर सरकार की आलोचना भी की जाती है कि सार्वजीनक उत्पादन अथवा वितरण प्रणालियों में हानि उठाना उचित नहीं है ।

11. **श्रम व पूँजी की रक्षा (protection of Capital and labour)** सरकार का एक प्रमुख दायित्व देश में श्रम व पूँजी की रक्षा करना है ताकि किसी के हितों को चोट नहीं पहुँचे । श्रम को उचित मजदूरी मिले जिससे वह अपने जीवन की अनिवार्यताओं को पूरा करके कुछ आराम के लिये बचत कर सकें एवं पूँजी को उचित प्रतिफल मिले ताकि विनियोग प्रेरणाओं पर विपरीत प्रमाद न पड़े । आज मुक्त व्यापार के नि नहीं रहे अत: विश्व के सभी देशों में

उद्योगपति सरकारी संरक्षण की मांग करते हैं । आयात कर लगाये जाते हैं एवं पूंजीपतियों के लिये अनेक प्रोत्साहन योजनाएं बनाती है ।

12. अर्द्धविकसित देशों को मदद (Provide Help to underdeveloped Countries)

विकसित देश अब यह अनुभव करने लगे हैं कि अर्द्धविकसित देश जो अपने विकास के लिये संघर्षरत हैं की मदद करना उनका कर्तव्य है । भारत जैसे अर्द्धविकसित देश के सम्मुख साधनों की कमी की समस्या है जहाँ विकास की प्रचुर सम्भावनाएँ मौजूद है यदि कुछ बाहरी सहायता मिले तो भारत विकास की गति को तीव्र कर सकता है । विकास के लिये जनसंख्या के विचारों में भी परिवर्तन आवश्यक है उनमें उत्साह एवं कार्य के प्रति निष्ठा होनी चाहिये ।

विकास में सरकार की भूमिका का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद योजना काल में वर्षो तक सरकार के कार्य क्षेत्र में विस्तार हो हुआ । सरकार आर्थिक कियाओं के नियंत्रण अथवा नियमन के लिये कुछ नीतियों का सहारा लेती हैं । ये हैं - 1. मौद्रिक नीति, 2. राजकोषीय नीति, 3. प्रशुल्क नीति एवं विदेशी व्यापार नीति ।

मौद्रिक नीति का कियान्वयन देश के केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है ताकि मुद्रा एवं साख का प्रवाह ठीक चलता रहे इसमे किसी प्रकार का गतिरोध उत्पन्न न हो । पूर्ण रोजगार विकास एवं स्थिरता के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये देश का केन्द्रीय बैंक मुद्रा प्रति एवं साख की मात्रा का नियमन करता है ।

राजकोषीय नीति सरकार की आय एवं व्यय से सम्बन्धित हे ।

प्रशुल्क नीति का सम्बन्ध देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाना है । इसमे उन वस्तुओं पर आयात कर लगाये जाते हैं जिन्हें देश निर्यात करना चाहता है । इसी प्रकार विदेशी व्यापार नीति का प्रयोग प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिये किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा एवं दबाव में अब प्रशुल्क दरों में अत्यधिक कटौती की गई है ।

इन सभी नीतियों का उद्देश्य विकास की गति को बढ़ाना होता है । इन कार्यो के फलस्वरूप इच्छित उद्देश्यों को कहां तक प्राप्त किया जा सकेगा इसका पूर्वानुमान लगाना कठिन है । एक मिश्रित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकार की सफलता सरकारी नियंत्रण एवं जन सहयोग पर निर्भर करेगी ।

12.7 सारांश (summary)

आर्थिक विकास की परिभाषा राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय एवं कल्याण दृष्टिकोण के आधार पर की जाती है आर्थिक विकास कई आर्थिक एवं अनार्थिक तत्वों पर निर्भर करता है इनमें प्राकृतिक साधन, मानवीय साधन, पूंजी निर्माण. तकनीकी प्रगति एवं उदयमिता महत्वपूर्ण आर्थिक तत्व है । इसी प्रकार पारिवारिक जाति एवं प्रजाति सम्बन्धी तत्व एवं सरकारी नीति को भी आर्थिक विकास के निर्धारक तत्वों में गिना जाता है । आर्थिक विकास में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका है एवं अर्द्ध विकसित देशों में विकास सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण कार्य सरकार करती है । यद्यपि आजकल बाजार शक्तियों का महल बढ़ रहा है फिर भी सरकार का दायित्व कम नहीं हुआ है।

12.8 शब्दावली

आर्थिक विकास	(Economic Development)
प्रतिव्यक्ति आय	(Per Capital Income)
पूँजी निर्माण	(Capital Formation)
विकास दर	(Growth Rate)
आधारभूत ढांचा	(Infrastructure)
अर्द्धविकसित अथवा विकासशील देश	(Developing Countries)

12.9 सन्दर्भ ग्रंथ

"Meier, G.M. and Boldwin, R.E "Economic Development: Theory, History, Policy"

Nurkse, R."Problems of Capital Formation in under developed Countries."

12.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विकासशील देशों के आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका का विवेचन कीजिये ।
2. "आधुनिक समय में सरकार का कार्यक्षेत्र दिनों दिन बढ़ रहा है" क्या आप इस कथन से सहमत हैं सरकार का कार्यक्षेत्र बढने के लिये कौन से तल उत्तरदायी है?

इकाई-13

राज्य का उद्भव तथा विकास, शक्ति, सत्ता, सरकार, राष्ट्रीय राज्य एवं राष्ट्रीयता

इकाई को रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 राज्य की अवधारणा

13.3 राज्य के तल

13.3.1 जनसंख्या

13.3.2 निश्चित भूभाग

13.3.3 सरकार

13.3.4 संप्रभुता

13.4 राज्य का समाज. समुदाय, सरकार एवं राष्ट्र से सम्बंध

13.4.1 राज्य एवं समाज में संबंध

13.4.2 राज्य एवं समुदाय में संबंध

13.4.3 राज्य एवं सरकार में संबंध

13.4.4 राज्य एवं राष्ट्र में संवंध

13.5 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

13.5.1 दैवीय सिद्धान्त

13.5.2 शक्ति सिद्धान्त

13.5.3 पितृसत्तात्मक एवं मातृ सत्तात्मक सिद्धान्त

13.5.4 सामाजिक समझौता सिद्धान्त

1. थॉमस हॉब्स
2. जॉन लॉक
3. जीन जैक्स रूसो
4. सामाजिक समझौता सिद्धान्त का मूल्यांकन

13.5.5 ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

13.6 राज्य का बिकास

13.6.1 पूर्व का प्रारंभिक साम्राज्य

13.6.2 यूनान के नगर राज्य

13.6.3 रोम का विश्व साम्राज्य

13.6.4 सामंती राज्य

13.6.5 आधुनिक युग का राष्ट्रीय राज्य
13.8 शक्ति की अवधारणा
13.8.1 शक्ति के प्रकार
13.8.2 शक्ति के स्रोत
13.8.3 शक्ति की प्रकृति
13.8.4 शक्ति का प्रभाव, बल तथा सत्ता से संबंध
138 सत्ता की अवधारणा
13.8.1 सत्ता के स्रोत एवं आधार
13.8.2 सत्ता की प्रकृति
13.8.3 सत्ता के प्रकार
13.9 सरकार की अवधारणा
13.9.1 व्यवस्थापिका
13.9.2 कार्यपालिका
13.9.3 न्यायपालिका
13.9.4 सत्ता की प्रकृति
13.10 राष्ट्रीय राज्य एवं राष्ट्रीयता
13.10.1 राष्ट्रीय राज्य के विकास की अबस्थाएं
13.10.2 राष्ट्रीयता की अबधारणा एवं कारक
13.10.3 राष्ट्रवाद का उदय
13.11 सारांश
13.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.13 संदर्भ ग्रंथ

130 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पाऐगे कि -

- राज्य की अवधारणा एवं उसके आवश्यक तत्व क्या है?
- राज्य के उद्भव से संबंधित विभिन्न सिद्धान्त कौन - कौनसे है?
- राज्य, समाज, समुदाय, सरकार एवं राष्ट्र में-पारस्परिक संबंध क्या है?
- शक्ति, बल, प्रभाव व सत्ता आदि के पारस्परिक संबद्धता किस रूप में परिलक्षित होती है?
- आधुनिक राष्ट्रीय राज्य के उद्धभव एवं विकास तथा राष्ट्रीयता का प्रगीतकरण रूप में हुआ है?

13.1 प्रस्तावना (Introduction)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसकी समृद्धि, उसकी उन्नति समाज द्वारा ही सम्मद है । अरस्तु ने ठीक ही कहा था कि जो व्यक्ति समाज में नही रहता, वह या तो देवता

है या पशु । समाज के समान ही राज्य एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है । हमारे जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नही है जो आज राज्य से प्रभावित न हो अत: राज्य का अध्ययन न केवल हमारे लिए उपयोगी है बल्कि अत्यन्त आवश्यक भी है ।

13.2 राज्य को अवधारणा (Concpt ऑफ the State)

आज राज्य का प्रयोग कई अर्थो में किया जाता है जिनमें से कुछ अर्थ निश्चित रूप से भ्रामक है । जैसे भारत व अमेरिका संविधानों में संघ की इकाइयों को कहा गया है लेकिन राजनीति विज्ञान की दृष्टि से यह राज्य नही वरन राज्य की इकाईया मात्र है ।

मनुष्य के विकास के लिए राज्य जरूरी है । अरस्तु का कहना है कि राज्य की स्थापना हमें जिन्दा रखने के लिए होती है और जीवन को सुखी बनाने के लिए यह कायम रखा जाता है, प्लेटो के अनुसार भी मनुष अपने आप में पूर्ण नही है । मनुष्य को अपने विकास की मंजिल में जिस सामाजिक सहयोग और प्रयत्न की आवश्यकता होती है राज्य उसी का प्रकट रूप है।

राज्य के उद्देश्यों, कार्यो के बारे में विभिन्न दृष्टिकोणों से व्यख्या की गई है । इस कारण इसकी बहु त सी परिभाषाएं है । राज्य को नवीन तथा अर्वाचीन दो भागों में बाट कर देख सकते है -प्राचीन विचारको के अनुसार राज्य व्यक्तियों का समुदाय है । राज्य व्यक्तियों के सुख और लाभ के लिए निर्मित एक समुदाय है । इस आधार पर अरस्तु सिसरो, आगस्टाइन ने परिभाषाएं दी है । अरस्तु के अनुसार-राज्य परिवारों तथा ग्रामों का ऐसा समुदाय है जिसका' उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है । इसी प्रकार सिसरों ने राज्य उस समुदाय को माना है जिसमें वह भावना विघमान हो कि सब मनुष्यों को उस समुदाय के लाभों का परस्पर साथ मिलकर उपयोग करना । किन्तु यह परिभाषाएं कानूनी होने के बजाए नैतिक अधिक है जिसमें राज्य के उद्देश्य तो स्पष्ट है किन्तु उसका यथार्थ स्वरूप नहीं ।

अर्वाचीन विचारकों के अनुसार-राज्य के निर्माण हेतु व्यक्तियों के साथ उनका संगठित होना आवश्यक है । साथ ही उस संगठित समुदाय का निश्चित क्षेत्र पर रहना आवश्यक है और इन व्यक्तियों के मध्य शान्ति व व्यवस्था स्थापित करने के लिए सत्ता भी होनी चाहिए । इस संबंध में ब्लशही, वुडरो विल्सन, -बर्गेस, लास्की आदि ने परिभाषएं दी है! जिनमें लॉस्की के अनुसार राज्य एक प्रादेशिक समाज है, जो सरकार और प्रजा में विकसित है ओर जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में अन्य सभी समुदायों पर सर्वोच्च सदा रखता है ।

वुडरों विल्सन एक निश्चित भूभाग से कानून के लिए संगठित जनसमुदाय को राज्य कहते हैं । आधुनिक लेखकों द्वारा की गई परिभाषाओं में गार्नर व मैकाइवर की परिभाषाएं विशेष रूप से , उल्लेखनीय है ।

गार्नर के अनुसार- 'राजनीति शास्त्र और सार्वजनिक कानून के विचार से राज्य ऐसे लोगो का समुदाय है जो साधारणतया बडी संख्या में हो, जिसका एक निश्चित भूप्रदेश या स्थायी अधिकार हो, जो बाहरी नियंत्रण से स्वतंत्र या लगभग स्वतंत्र हो और जिसकी एक संगठित सरकार हो तथा जिसकी आज्ञाओं का पालन अधिकांश जनता स्वभाव से करती है ।" बहु लवाद का पुट लिए मैकाइबर ने लिखा है - राज्य एक संघ है जो कानून की सहायता से ऐसे

समाज में पूर्ण बाहरी व्यवस्था बनायें रखता है । जिसमें निवासी एक निश्चित भूखण्ड पर बसे - हुए हो और जिसके कानून को ऐसी सरकार ने लाग कर रखा हो जिसके पास उस कानून को जबरदस्ती मनवाने की ताकत हो ।

यह परिभाषाएँ सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है, क्योंकि इनमें राज्य के सभी अनिवार्य तत्वों को शामिल किया गया है । जनसंख्या, बल प्रयोग की शक्ति, निश्चित भूखण्ड, प्रभुसत्ता. सरकार । इनमें से किसी एक के अभाव में भी राज्य का अस्तित्व नही माना जा सकता ।

13.3 राज्य के तत्व

राज्य के अर्थ एवं स्वरूप जानने के बाद यह जानना आवश्यक है कि किन तत्वों से मिलकर राज्य बनता है । इस बारे में विचारकों ने भिन्न-भिन्न मत दिए हैं । बिलौबी सिजविक ने तीन तत्व बताये है: जनसमुदाय, भुखण्व तथा सरकार तथा स्तंशली ने जनता, भूखण्ड, एकता तथा संगठन चार तल बताये है । किन्तु वर्तमान में गार्नर के विचार मान्य है । डा. गार्नर के अनुसार जनसंख्या, भूभाग, सरकार व सम्प्रभुता ये चार तब आवश्यक है ।

3.3.1 जनसंख्या

व्यक्तियों के एक साथ मिलकर रहने से ही राज्य बन सकता है । जनसंख्या की कोई सीमा निश्चित ' नही की गई है । इस विषय में कोई विशेष नियम नही बनाया जा सकता । प्लेटो के अनुसार आर्दश राज्य में , 5000 नागरिक ही होने चाहिए । इसी प्रकार अरस्तु के अनुसार राज्य की जनसंख्या लगभग 10 हजार होनी चाहिए । कसौ ने भी 10600 जनसंख्या बतायी । हिटलर मुसोलिनी ने शक्ति तत्व पर जोर देते हुए अधिकतम संख्या पर वल दिया हैं। आकार व निवासियों की संख्या के बिचार से आजकल के राज्य में इतना अन्तर है कि एक ओर भारत, चीन जैसे विशाल जनसंख्या वाले राज्य है एवं दूसरी ओर मोनाको, मारिनो जैसे बिल्कुल छोटे _ राज्य है । संख्या के बजाय गुण का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि उस पर ही राज्य का विकास निर्भर करता है । जैसे कि अरस्तु ने कहा है - श्रेष्ठ नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण कर सकते है । अत: यह आवश्यक है कि नागरिक चीरत्रबान हो ।

13.3.2 निश्चित भुभग

डिविट आदि विचारकों ने तो इस तल को राज्य के लिए आवश्यक तल नही माना किन्तु निश्चित क्षेत्र के बिना व्यक्तियों द्वारा व्यवस्थित जीवन व्यपन नही किया जा सकता । इस कारण यह आवश्यक है जैसा कि ब्लंशली ने कहा है "जैसे राज्य का व्यक्तिम आधार जनता है उसी प्रकार उसका भौतिक आधार प्रदेश है । जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो ।

राज्य के निश्चित भूक्षेत्र का तात्पर्य सिर्फ भूमि ही नही अपितु इसके अन्तर्गत वे सभी प्राकृतिक साधन भी सम्मिलित होते है जो किसी देश की स्थल, जल और वायु से प्राप्त हो । अर्थात् नदियाँ, झीलें, खनिज पदार्थ. समुद्र, वायुमण्डल सभी इनसे जुडे हैं ।

प्लेटो, अरस्तु टाकविल, कसौ ने तो राज्य के कम क्षेत्र पर बल दिया है किन्तु वर्तमान में राज्यों का विशाल आकार शक्ति का साधन माना जाता है । आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से संघीय प्रवृति के कारण विस्तृत आकार का प्रचलन बढा है । वस्तुत: राज्य की जनंसख्या व क्षेत्र के बीच निश्चित अनुपात होना चाहिए अर्थात् राज्य क्षेत्र के विभिन्न भागो के बीच प्राकृतिक बाधा या दूसरे राज्य की सीमा नही हो । इस दृष्टि से पाकिस्तान का 1947 में निर्माण हुआ वह क्रान्तिपूर्ण था । परिणामत: 1971 में बाग्लादेश अलग राज्य रूप में उमर कर आस्तेत में आया ।

13.3.3 सरकार

जनसंख्या राज्य का व्यक्तिगत तल व प्रदेश राज्य का भौतिक तत्व है । सरकार राज्य का संगठनात्मक तल है । सरकार के बिना देश में किसी भी रूप में शान्ति व व्यवस्था स्थापित नही की जा सकती । सरकार राज्य की आत्मा है । सरकार के द्वारा ही राज्य के लक्ष्यों व नीतियों या इच्छाओं को प्रकट व पूरा किया जा सकता है । यह आवश्यक नही है कि सरकार किसी खास किस्म की ही हो, सरकार का स्वरूप राज्य के स्वस्थ निवासियों के चरित्र और राजनीतिक विचारधारा से राज्यतंत्रालक, कुलीनतंत्रात्मक अध्यक्षीय व संसदात्मक हो सकती है ।

13.3.4 सम्प्रभुता

सम्प्रभुता को राज्य का प्राण कहा जा सकता है । गेबेल के शब्दो में समप्रभुता ही वह लक्षण है जो उसे अन्य समुदायों से अलग करता है । एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले तथा सरकार सम्पन्न लोग भी उस समय तक राज्य का निर्माण नही कर सकते जब तक कि उनके अधिकार में सम्प्रभुता नही हो । उदाहरणार्थ स्वतंत्रता प्राप्ति पूर्व भारत के पास जनता, सरकार, भूभाग होते हुए भी वह सही अर्था में राज्य नही था क्योंकि समभुता सम्पन्न नही होकर ब्रिटिश नियंत्रण में था ।

राज्य की सम्प्रभुता से तात्पर्य है कि राज्य आन्तरिक रूप में उत्तम हो अर्थात् अपने क्षेत्र में स्थित सभी व्यक्तियों एवं समुदायो को आज्ञा प्रदान कर सके इनका पालन करा सके तथा बाधा नियंत्रण से मुक्त हो । अर्थात् दूसरे राज्य के साथ अपनी इच्छानुसार संबंध स्थापित कर सके ।

इस प्रकार प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत यह चारों तत्व अनिवार्य कहेगें किन्तु संघीय इकाइयों जैसे भारत में राजस्थान एवं विहार को सम्प्रभुता के अभाव में राज्य में नही कहेगें ।

इसी तरह संयुक्त राष्ट्र को जनंसखा व प्रमुसला के अमाब के कारण राज्य नही वल्कि एच्छिक संघ ही है ।

13.4 राज्य का समाज. समुदाय, सरकार, एवं राष्ट्र से संबंध

राज्य, सामाज, समुदाय, सरकार तथा राष्ट्र का समानार्थी माना है । किन्तु यह इन संस्थाओ से भिन्न भी है । इसे हम राज्य के साथ इन संस्थाओ के संबंधो का अध्ययन करके ही समझ सकते है ।

13.4.1 राज्य एवं समाज में संबंध

राज्य और समाज एक नही है अर्नेस्ट बार्कर लिखते है कि समाज और राज्य दोनों का एक ही नैतिक उद्देश्य है फलत: दोनो एक दूसरे की ओर झुकते है और एक दूसरे से लाभ उठाते है । प्लेटो अरस्तु आदि यूनानी विचारक राज्य व समाज में अन्तर नही करते थे । इसका कारण यह था कि तत्कालीन यूनानी नगर राज्य इतने छोटे थे कि राज्य और समाज में अन्तर करना बहुत कठिन था । राज्य न केवल राजनीतिक संगठन था वरन् एक आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक समुदाय भी था । इसी तरह हीगल व काण्ट जैसे आर्दशवादी विचारक तथा हिटलर व मुसोलिनी जैसे फासिस्ट प्रवृत्ति वाले अधिनायक भी अपनी सत्ता का अधिक विस्तार करने के लिए दोनों के बीच किसी प्रकार का अंतर स्वीकार नहीं करते थे । किन्तु राज्य व समाज एक ही नही हैं ।इनके अन्तर से पूर्ण समाज क्या है? यह जानना आवश्यक है । मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग से ही समाज का निर्माण होता है । कोल कि दृष्टि में समाज समस्त मानवीय संबंधो का योग है ।

राज्य और समाज में प्रमुख रूप से निम्न अतंर बनाये जा सकते है ।

(i) समाज मनुष्य का वह समुदाग्र है जिसमें लोग एक दूसरे के साथ सामजिक बंधनो में रहते है । इनके विपरीत राज्य केवल एक राजनीतिक व्यवस्था है ।

(ii) समाज अपनी भावनाओं को सामजिक प्रथाओं रीति-रिवाजों परम्पराओं आदि द्वारा व्यक्त करता है परन्तु राज्य की इच्छा कानून या विधि द्वारा व्यक्त होती है ।

13.4.2 राज्य एवं समुदाय में संबंध

राज्य एवं समुदाय में संबंध समाज में मनुष के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु स्वेच्छिक भिन्न-भिन्न संगठन बनाए जाते हैं और इसके संचालन के लिए मय नियमों का निर्धारण करते हैं । इसी संगठन को सगुदाय कहते है । समाज इन्ही समुदायो का संगठन है । बहुलबादी बिचारक तो राज्य को भी इन्ही समुदायों के समान मानते हैं लेकिन वस्तुत: राज्य एक विशिष्ट समुदाय है जो अन्य से भिन्न व उच्च है । राज्य तथा अन्य समुदायों में निम्नलिखित अंतर है

(i) राज्य की सदस्यता अनिवार्य है परन्तु समुदायों की सदस्यता एच्छिक है । कोई वक्ति समुदाय से संबंद विच्छेद कर सकता है लेकिन राज्य का नागरिक उसे रहना ही पडेगा ।

(ii) कोई व्यक्ति एक ही समय में कई समुदायों का सदस्य हो सकता है लेकिन कोई भि व्यक्ति एक ही समयमें एक या दो से अधिक राज्य का नागरिक नहीं हो सकता है । एक की सदस्यता परित्याग करने पर दूसरे की ग्रहण कर सकता है ।

(iii) राज्य की एक भौतिक सीमा होती है किन्तु समुदाय की सीमा, मौतिक आधार सीमित नही होती है । जैसे - रामकृष्ण मिशन, रेड क्रॉस सोसायटी आदि ।

(iv) राज्य लगमग स्थाई संगठन है जबकि अन्य समुदाय अस्थाई होते है । उद्देश्य पूर्ति के बाद मंग कर दिए जाते हैं ।

(v) राज्य का उद्देश्य बहुमुखी थापक है जो नागरिक जीवन के प्रत्येक पहलुओं को छूता है जबकि समुदाय का उद्देश्य विशिष्ट और सीमित है ।

(vi) राज्य देश की बहा सुरक्षा व आन्तरिक सुव्यवस्था संबंधी महत्वपूर्ण दायित्व का निर्बाह करता है जो किसी भी समुदाय को सोपें ही नही जा सकते है ।

(vii) राज्य के पास सम्प्रभुता शक्ति है जबकि समुदाय के पास नही ।

(viii) सभी समुदाय राज्य द्वारा नियंत्रित या नियमित होते हैं यदि कोई समुदाय संघ सामान्य हितो के विरूद्व कार्य करते हैं तो उसे भंग किया जा सकता है ।

राज्य सर्वोपरी संघ है जिसमें अन्य समुदायों का अस्तित्व कायम रहता है ।

13.4.3 राज्य एवं सरकार में संबंध

कुछ विचारकों ने तो राज्य और सरकार को एक ही माना है । लुई चौहदबां कहा करता था कि मैं ' राज्य हूँ । इसी तरह नैपोलियन विलियन्स धार निकोलस. मुसोलिनी. हिटलर आदि भी इनके अतिरिक्त राज्य में कुछ नही मानते थे । इसी तरह कभी-कभी भारत राज्य अमेरिकी राज्य के लिए भारत सरकार अमेरिका सरकार शब्द प्रयोग किये जाते हैं । इस प्रकार कई बार दोनों को पर्याय मान लिया जाता है । लेकिन वस्तुत:

(i) राज्य प्रधान हैं और सरकार उसकी प्रतिनिधि है राज्य मनुष्यों का सर्बोच्च समुदाय हैं जिसकी इच्छा भी क्रियाचिति के लिए सरकार एक यंत्र हैं ।

(ii) राज्य सरकार अपेक्षात्मक है जिसमें सभी नागरिक. सम्मिलित है लेकिन सरकार केवल शासन चलाने वालो व्यक्तियों की होती है ।

(iii) निश्चित भू भाग राज्य का एक अनिवार्य तल है लेकिन सरकार के लिए इस तत्व की आवश्यकता नहीं, सरकार तो स्वयं में एक तल है ।

(iv) राज्य एक स्थायी संस्था है जबकि सरकार अस्थियी । क्रान्ति, चुनाब आदि से सरकार को बदला जा सकता है, पर राज्य सदैव एक सा रहता है ।

(v) राज्य एक अमूर्त संस्था है जबकि सरकार एक अमूर्त संस्था का मूर्त अंग है ।

(vi) सभी राज्यों का स्वरूप एक सा होता है. अर्थात् जनसंख्या, क्षेत्र, सरकार और सम्प्रभुता के तत्व सभी में होते हैं, पर सरकार का स्वरूप सदा एक सा नही होता है । कहीं प्रजातंत्र सरकार होती है तो कहीं साम्यवादी, कही राजतंत्र तो कही तानाशाही ।

(vii) राज्य सर्वोपरी समुदाय है वह प्रभुत्व सम्पन्न है । उसके पास दण्ड शक्ति है । अन्य समुदायों के पास इस शक्ति का अभाव है । समुदाय केबल अनुनय-विनय द्वारा ही अपने सदस्यों से कार्य ले सकता है ।

(viii) राज्य स्वतंत्र होता है । पर अन्य समुदायों के अधिकार राज्य द्वारा सीमित होते हैं । राज्य को अधिकार है कि वह अन्य समुदायों को भंग कर दे किन्तु संघो को यह अधिकार नही कि वे राज्य को भंग कर दे ।

13.4.4 राज्य एवं राष्ट्र में संबंध

सामान्यत: राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विशेषत: भाषाओं और प्रथाओं की एकता के कारण परस्पर संबद्ध हो जो सामान्य अतीत से एकता के साथ आबाद हो, अपने में एकता की भावना का अनुभव करते हो और समान उद्देश्य की प्राप्ति जिसका लक्ष्य हो ।

(i) राष्ट्र का संबंध एक माग से है जबकि राज्य का संबंध राजनीतिक गठन के अस्तित्व से होता है ।

(ii) राष्ट्र के कोई निश्चित कत्याणकारी तल नहीं होते है जबकि राज्य के ये तल निश्चित होते हैं, जैसे जनसंख्या, भू-भाग, सरकार और समभुता । राष्ट्र के कत्याणकारी तत्व परिवर्तनशील होते हैं ।

(iii) राज्य में सम्प्रभुता अनिवार्य है, राष्ट्र में नही । राष्ट्र का आधार प्रेम-कब है ।

(iv) राज्य सदैव सरकार के रूप में स्वयं को संगठित कर लेता है किन्तु राष्ट्र संगठित और असंगठित दोनों ही हो सकते हैं ।

13.5 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

व्यक्ति सभाव से ही जिज्ञग़सु है और अपनी इस जिज्ञासा के कारण राज्य कि उत्पत्ति के इतिहास का पता लगाने का प्रयास किया है । इस संबंध में असफलताओं के बाद विचारकों ने कोरी कल्पना के आधार पर भी सिबान्त प्रस्तुत किये हैं । राज्य को उत्पत्ति के संबंध में निम्नलिखित सिद्धान्त हैं:

13.5.1 देवीय सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में यह सबसे प्राचीन सिद्धांत हैं । इसके अनुसार राज्य ईश्वर द्वारा बना है या देबीय शक्ति द्वारा स्थापित है और वही उस पर शासन करता है । कुछ लोगों को राजनीतिक शक्ति सीधे ईश्बर से प्राप्त होती हैं अत: राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है प्रजा के प्रति नहीं । राजा के विरुद्ध आन्दोलन स्वयं ईश्बर के विरूद्ध आन्दोलन है ।

प्रारम्भिक काल में इस सिद्धान्त के समर्थक यहुदी थे उनके धर्म ग्रंथ ओल्डटेस्टामेंट में कहा गया है कि ईश्वर स्वयं राजाओं का चयन करता है, उन्हे नियुक्त करता है और बर्खास्त करता है । यूनानी और रोमबासी राज्य को केबल अप्रत्यक्ष रूप में ही देवीय मानते थे । ईसाई धर्म के उदय के साथ ही इस सिद्धान्त का व्यपक प्रसार हुआ ।

लूथर, जिगली, कालविन आदि विद्वान इसी के समर्थक थे । रार्बट फिलर और जँक्स प्रथम ने अपने लेखों द्वारा देबी सिद्धान्त को पुष्ट किया है । जापान में भी जापानी लोग अपने राजा को 'सूर्य देव का पुत्र समझते हैं । दैवी सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं है:

राज्य ईश्वर कृत है ।

राजा ईश्बर का प्रतिनिधि है ।

वंशानुगत अधिकार नहीं छोड़े जा सकते है ।

राजा केवल ईश्वर के प्रति जिम्मेदार होता है ।

कानूनी राजा के विरूद्ध विद्रोह पाप है ।

लेकिन विज्ञान के विकास के साथ ही धर्म का महत्व घटने लगा और इस सिद्धान्त का हास होने लगा इसके मुख्य कारण है- सामाजिक समझौते सिद्धान्त का उदय जो स्वीकृति को राजनीतिक सत्ता का आधार मानता है । लोकतंत्र का विकास जो निरंकुशता के विरूद्ध है और आधुनिक मनुष्य का धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण जो धर्म को राजनीति से अलग मानता है ।

यह सिद्धान्त मानद की प्रकृति व आवश्यकताओं के विरूद्ध है । मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है । जब वह संगठित होकर रहने लगे तो उन्हें नियमों की आवश्यकता हुई जिससे राज्य का निर्माण हुआ, यह भी एक पक्ष है अत: राज्य ईश्वरीय रचना नहीं है । यह सिद्धान्त लोकतात्रिक भावना के विरूद्ध तथा निरंकुशता का समर्थक है । अवैज्ञानिक भी है । डार्विन के विकासवाद के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है ।

फिर भी इसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता है कि इसने जनता को राजाज्ञा का पालन करना सिखाया । यह इस बात को प्रकट करता है कि राज्य का उद्देश्य नैतिक होता है ।

13.5.2 शक्ति सिद्धांत

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति शक्ति से हुई है । प्राचीनकाल में एक शक्तिशाली पंक्ति कई कमजोर व्यक्तियों को अपने वश में करके एक जाति का मुखिया बन जाता था । फिर वह उस जाति की सत्यता से अन्य जातियों को अपने वश में करता, इस प्रकार राज्य की स्थापना होती है । वाल्तेयर का कहना थ। कि प्रथम राजा एक योद्धा था । ब्लंशली के शब्दों में "बिना शक्ति के न कोई राज्य उत्पन्न होता है और न कोई स्थायी रह सकता है ।" शक्ति सिद्धान्त के मुख्य तत्व निम्न हैं -

1. ‘राज्य बलवानों द्वारा निर्वलो पर अधिकार तथा प्रभुत्व का परिणाम है ।
2. प्रकृति का नियम है कि शक्ति ही न्याय है ।
3. युद्ध ने राजा को पैदा किया है ।

शक्ति सिद्धान्त का इतिहास

यह सिद्धान्त बहुत पुराना है । प्राचीन यूनान में सोफिस्तो ने फिर हिन्दु धर्म ग्रन्थों में भी राज्य की उत्पातों का कारण शक्ति को ही माना । पॉलिविअस ने भी शक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । मध्य युग में इसाईयों ने चर्च की सत्ता को राज्य में श्रेष्ठ बताने के उद्देश्य से पारविक शक्ति को राज्य की उत्पति का कारण बताया । आधुनिक युग के प्रारम्भ में मैक्यावली ने शक्ति को राज्य का मूल आधार माना । 17 थी सदी के पूर्बार्द्ध में हयूम के अनुसार राज्य की उत्पत्ति युद्धों से हुई । 18वी और 20बी शताब्दी में जिन लेखकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया, उनमें प्रमुख है - आस्ट्रेलिया में राटसेन हीफर जर्मनी में ओपनहीमर सीमेल इंग्लेण्ड में जैक्स और अमेरिका में बाड तथा स्माल।

व्यक्तिवादियों तथा स्पेंसर ने भी राज्य को शक्ति का ही परिणाम माना है । साम्यवादी विचारको मार्क्स. एंजिल्स, लेनिन इत्यादि के अनुसार राज्य बर्ग-संघर्ष के आधार पर बना है । प्रत्येक राज्य बर्ग संघर्ष तथा बल प्रयोग द्वारा चला है । तथा सबल निर्बल वर्गो का शोषण करते हैं । वर्ग संघर्ष के अन्त के साथ ही राज्य का भी अंत हो जायेगा । बिस्मार्क ने

रक्त और लोह की नीति तथा हिटलर और मुसोलिनी ने शक्ति तथा साम्राज्य विस्तार के लिये युद्ध का सहारा लिया ।

शक्ति राज्य का आवश्यक तत्व है लेकिन राज्य का एक मात्र आधार नहीं है । राज्य के विकास में रक्त संबंध, धार्मिक एकता, आर्थिक हित आदि तत्वों का भी योगदान होता है । शक्ति सिद्धान्त के अंतर्गत शक्ति का प्रयोग बल प्रयोग या शारीरिक शक्ति के अर्थ में किया है। लेकिन नैतिक बल पर आधारित राज्य ही स्थायी हो सकता है । इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य बलवानों के हित की रक्षा करता है लेकिन राज्य का उद्देश्य तो सबका कल्याण होता है । यह प्रजातांत्रिक परम्परा और बंधुत्व के भी प्रतिकूल है । इस सिद्धान्त का महत्व है कि राज्य के अस्तित्व हेतु शक्ति की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता । राज्य में व्यवस्था, शान्ति कायम हेतु सेना व पुलिस रहते हैं । शक्ति के कारण ही राज्य की प्रतिष्ठा बढती है ।

13.5.3 पितृ सत्तात्मक एवं मातृ सत्तात्मक सिद्धान्त

आदिम युग में कुदुब /परिवार व्यक्तियों के समूह में सबसे प्रारंभिक समूह थे । परिवार में राज्य के मूलभूत लक्षण पाये जाते हैं । कालांतर में इसका विस्तार होता गया वह क्रमशः जन. गोत्र तथा राज्य के रूप में पीरवर्तित होता गया । तात्पर्य यह है कि राज परिवार का ही विकसित एवं विस्तृत रूप है । इस सिद्धान्त के दो पक्ष है-

1. पित सत्ता सिद्धान्त

इस सिद्धान्त में पिता को परिवार का प्रधान माना गया हैं । इसका प्रतिपादक अरस्तु फिर हेनरी मेन है । हेग मेन ने भारत, रोम, यूनान के इतिहास के आधार पर अनुसंधान किया कि प्राचीन काल में इन देशों में पितृ प्रधान परिवार थे । इस सिद्धान्त के मूल तल निम्न है:

(1) पितृ सत्ता परिवार का आधार स्थायी विवाह और गौत्र संबंध था ।

(2) राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह था जो प्रारम्भिक परिवार के एक ही पूर्वज के वंशज थे।

(3) इसके प्रधान के व्यापक और असीमित अधिकार राजनीति सत्ता के मूल स्रोत थे।यह प्रधान मरते समय अपने तमाम कानूनी अधिकार अपने उत्तराधिकारी को दे जाता था।

मेकलीनन जैक्स तथा मार्गन आदि ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है । जैक्स का विचार है कि पितृ प्रधान कुदुम व्यवस्था मनुष्य समाज की आदिम व्यवस्था थी, गलत है । उसने आस्ट्रेलिया, मलाया इत्यादि की प्राचीन जातियों के उदाहरण से मातृ प्रधान कुटुम्ब की प्राचीनता का समर्थन किया । फिर प्राचीनकाल में बहु विवाह तथा अस्थायी विवाह के कारण भी इस विचार में सत्यता नहीं मालूम पडती है ।

2. मातृ सला सिद्धान्त

कुटुम्ब संबंधी सिद्धान्त का दूसरा पक्ष मातृ सत्ता सिद्धान्त है । इसके अनुसार परिवार में पिता की नहीं माता की प्रधानता थी । इसका समर्थन मार्गन, जैक्स ने किया है । इनके अनुसार मातृक कुटुम्ब होता था, अर्थात संतान का नाम माता के नाम से चलता था । इसका संकेत उन जंगली प्रथाओं मे मिलता है जो आस्ट्रेलिया के आदिवासियों भारत के कुछ समुदायों

तथा कुछ अन्य अर्द्ध सभ्य जातियों में पाइ? जाती है । मातृ सत्ता समाज की मौलिक विशेषताएं निम्न थी -

(1) अस्थायी विवाह संबंध थे ।

(2) कुटुम्बिक संबंध स्त्रियों के नाम पर चलते थे ।

(3) स्त्री कुटुम्ब की प्रधान थी ।

(4) संपत्ति का उत्तराधिकार स्त्री को ही प्राप्त था ।

पैतृक कुटुम्ब की भांति ही यह भी न तो सर्द कापी था और न ही राज्य की उत्पत्ति का निरूपण करता था । बल्कि कुटुम्ब का विकास बताता है । फिर परिवार ही राज्य के विकास का एकमात्र आधार नहीं हैं । राज्य व परिहार के संगठन कार्यो व उद्देश्यों में आकाश-पाताल का अंतर है । यह सिद्धान्त समाजशास्त्रीय है राजनीतिक नहीं ।

13.5.4 सामाजिक समझौता सिद्धान्त

17वी और 18वी शताब्दी में इस सिद्धान्त का राजनीतिक विचारधारा में पूर्ण प्राधान्य था । इसके अनुसार राज्य ईश्वरीय रचना व स्वाभाविक संस्था नहीं बरन् एक मानवीय संस्था हैं जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते से किया गया है । इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मानद इतिहास को दो भागों में बाटते हैं ।

1. प्राकृतिक अवस्था का काल
2. नागरिक जीवन के प्रारंभ का काल ।

राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहता था जिसे कुछ विचारकों ने पूर्व सामाजिक या पूर्व राजनैतिक अवस्था कहा है । इसमें प्रत्येक व्यक्ति इच्छानुसार या प्राकृति नियमों के आधार पर जीवनयापन करते थे । प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में विचारकी में मतभेद होते हुए भी सभी यह मानते हैं कि इस समय किसी तरह का राजनीतिक संगठन नही था न कानून थे । किन्ही कारणों से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था का त्याग करने का विवश हुए और उन्होने समझौते द्वारा (एक या दो समझौते मतभेद हैं) राजनीतिक समाज की स्थापना की।

इस समझौते द्वारा व्यक्ति की प्राकृतिक अवस्था पूर्ण या आशिक रूप में समाप्त हो गई और स्वतंत्रता के बढते हुये राज्य व कानून की ओर से सुरक्षा का आश्वासन मिला व सामाजिक अधिकार मिले ।

सिद्धान्त का विकास

यह सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन की तरह ही पुराना है तथा इसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही क्षेत्रों से समर्थन प्राप्त हुआ है । महाभारत के शान्ति पर्व तथा जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है । चाणक्य के अनुसार भी राजा को उसके आधिकार एक समझौते द्वारा मिले है । प्राचीन यूनान के एपीक्यूरियन विचारकों ने भी सामाजिक समझौते का समर्थन किया है । मध्ययुग में यह विचार काफी प्रभावपूर्ण था और मेनगोल्ड एवं थामस एक्वीनास द्वारा इसका समर्थन किया गया।

16वीं एवं 17 वीं शताब्दी में यह काफी लोकप्रिय बन गया था । रिचार्ड हूकर ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप से इसकी तर्कपूर्ण व्याख्या की थी और ग्रोनियस पूफेण्डोर्फ तथा एपिनोजा ने इसका पोषण किया किन्तु इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक एवं विधिवत रूप में प्रतिवादन हाब्स, लाक. रुसो द्वारा किया गया, जिन्हें 'समझौता वादी विचारक' ' कहा जाता है ।

1. थामस हाष्ट (1588-1679)

इंग्लैण्ड निवासी हान्स के समय वही राजतंत्र एवं प्रजातंत्र के समर्थकों के बीच तनावपूर्ण विवाद चल रहा था जिसमें हाब्स का विचार था कि शक्तिशाली राजतंत्र के बिना देश में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती । इस विचार का प्रतिपादन उन्होने 1651 में प्रकाशित पुस्तक लोवियाथन में सामाजिक समझौते द्वारा किया । यह समझौता इस प्रकार है:

मानव स्वभाव एवं प्राकृतिक अवस्था - ग्रहयुद्ध के कारण हाब्स ने मानव स्वभाव का घृणित पक्ष ही देखा । उनके अनुसार मानव एक स्वार्थी, अहंकारी, आत्याभिमानी हैं । वह हमेशा शक्ति से स्नेह करता है और उसे पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है । उसके अनुसार मानव जीवन की प्राकृतिक अवस्था में सदैव युद्ध और झगडे होते रहते थे । समाज में कोई व्यवस्था नही थी, सर्वत्र अशान्ति और अराजकता थी । जिसे मार सकते हो मार डालो और जो कुछ छीन सकते हो, छीन तो । यही कानून और व्यवस्था थी । अर्थात 'शक्ति ही सत्य है' की धारणा प्रचलित थी ।

अन्ततोगत्वा व्यक्ति इस अवस्था से थक गए । जीवन तथा सम्पत्ति की असुरक्षा और संहार के भय ने व्यक्तियों को इस बात के लिये प्रेरित किया कि वे समझौते द्वारा एक राजनीतिक समाज का निर्माण करे । अत: मनुष्यों का एक मात्र उद्देश्य था- आत्म रक्षा ।

नवीन समाज के निर्माण हेतु सब व्यक्तियों ने मिल कर एक समझौता किया । जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहता था कि -.मैं इस व्यक्ति या सभा को अपने अधिकार व शक्ति का समर्पण करता हूं कि वो हम पर शासन करे, परन्तु इसी शर्त पर की आप भी अपने अधिकार और शक्ति का समर्पण इसे इसी रूप में करें और इसकी आज्ञा को माने ।"

इस प्रकार समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति ने अपने अधिकार एक व्यक्ति विशेष और व्यक्ति समूह को सांप दिया और अपनी स्वतंत्रता का त्याग कर दिय । अधिकारों के समर्पण से सर्वोच्च सत्ता का जन्म हुआ यही राज्य का श्री गणेश हुआ । राज सत्ता पूर्ण, निरंकुश, अटल तथा अखण्ड है । अर्थात् शासित वर्ग को शासक के विरूद्ध विद्रोह का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है । हान्स ने समझौते द्वारा एक निरंकुश राजतंत्र की स्थापना की है जिसका शासक सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न हैं ।

हाब्स के इस विचार की राजतंत्र वादी, लोकतंत्र एवं चर्च के समर्थकों सभी ने कटु आलोचना की हैं । एक तो उसने मानव स्वभाव एवं प्राकृतिक अवस्था का वर्णन एकाकी और अवास्तविक किया 'हैं क्योंकि उससे दूसरे पक्ष दया, प्रेम सहित जैसे गुणों की उपेक्षा की । राज्य व सरकार में अन्तर नहीं किया तथा निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासक की स्थापना करता हैं । साथ ही यह अतार्किक भी है । कि इस प्रकार के भय के वातावरण एंव असामाजिक वातावरण में समझौते करने की भावना अस्वाभाविक प्रतीत होती है ।

हान्स ने इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि राज्य देवी नही. बस मानवीय संस्था है। इस विचारधारा ने संप्रभुता के विचार का भी प्रतिपादन किया है ।

2. जान लॉक (1632 -1704)

इंग्लेण्ड के दार्शनिक जॉन लॉक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन 1690 में प्रकाशित पुस्तक "दु ट्रीटीस् ओन गर्वमेन्ट ' में किया है । जिसमे सीमित या वैधानिक राजतंत्र का प्रतिपादन किया हैं । लॉक के अनुसार समझौते इस प्रकार है :-

मानव स्वभाव व प्राकृतिक अवस्था

लॉक के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसमें प्रेम. दया, सहानुभूति, सहयोग की भावनाएँ विद्‌यमान थी । प्राकृतिक अवस्था युद्ध की नहीं शान्ति की थी जिसमे नियम प्रचलित था - तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा व्यवहार तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो ।" इस अवस्था में प्राकृतिक अधिकार

-जीवन, स्वतंत्र एवं सम्पति का अधिकार व्यक्तियों को प्राप्त थे ।

किन्तु इस अवस्था में भी कालान्तर में लोगों को निम्नांकित असुविधा हुई ।

(1) प्राकृतिक नियमों कि स्पष्ट व्याख्या नहीं थी,

(2) न्याय करने वाली कोई स्पष्ट सत्ता नहीं थी

(3) इन नियमों का पालन करने वाली कोई शक्ति नहीं थी ।

इन असुविधाओं को दूर करने के लिए लोगो ने नागरिक समाज की स्थापना करने का निर्णय किया । लॉक के अनुसार दो समझौते किये गए - (1) सामाजिक (2) राजनीतिक ।

पहले समझोते द्‌वारा प्राकृतिक अव्यवस्था का अन्त कर एक सत्तापूर्ण समाज की स्थापना की गई । दूसरे समझौते द्‌वारा एक सरकार की स्थापना की गई जिसमे शासक के साथ समझौता किया गया । शासक को कानून बनाने उसकी व्याख्या करने और लागू करने का अधिकार दिया गया । परन्तु शासक की शक्ति पर प्रतिबंध लगा दिया गया कि उसके द्‌वारा निर्मित कानून प्राकृतिक नियमों के अनुकूल तथा जनहित में होंगे ।

इस प्रकार लॉक ने सीमित या वैधानिक राजतंत्र की स्थापना की है । जिसमें सरकार को साधन माना है जिसका लक्ष्य है- शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करना और जनकल्याण में असफल रहने पर उसे भंग किया जा सकता है लेकिन समाज को नही । इस तरह जनता की इच्छा पर आधारित सरकार का ही अस्तित्व रह सकता है । हाब्स की तरह लॉक के सिद्‌वान्त की भी आलोचना की गई है । लॉक ने भी प्राकृतिक अवस्था एवं मानव स्वभाव का चित्रण अवास्तविक एव एक पक्षीय किया है । इस तरह कि शासन व्यावस्था में निरंतर कान्ति का ही संदेह बना रहेगा । क्योंकि जनता को विद्रोह करने का अधिकार दिया गया है ।

3. जीन जैक्सन रूसो (1712-1767)

रूसो ने सामाजिक समझोते सिद्धान्त का प्रतिपादन 1762 में प्रकाशित पुस्तक the social Cotract किया है । रूसो को प्रजातंत्र के सिद्धांत का अग्रदूत माना जाता है । उन्होने इस सिद्‌वान्त की व्याख्या इस प्रकार की है । -

मानव स्वभाव तथा प्राकृतिक अवस्था

रूसो ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक समझौता ' में लिखा है, " मनुष्य मंत्र पैदा होता है किन्तु वह सर्वत्र जंजीरों में जकडा हुआ है ।" इस तथ्य से रूसो यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य भौतिक रूप से अच्छा है और सामाजिक बुराइयां ही मानवीय अच्छाई में बाधक बनती है।

प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के लिए रूसो ' आदर्श बर्बर ' शब्द का प्रयोग करता है । आदर्श बर्बर अपने आप में ही इतना संतुष्ट था कि न तो इसे मित्र की आवश्यकता थी न ही किसी का अहित करने की । इस प्रकार यह अवस्था पूर्ण स्वतंत्रता, समानता और पवित्र तथा कपट रहित जीवन की अवस्था थी परन्तु इसमें विवेक का नितांत अभाव था ।

प्राकृतिक अवस्था की सुख शान्ति जनसंख्या बढ़ने, विवेक बुद्धि जागत होने तथा निजी सम्पत्ति के उदय होने से नष्ट हो गई । लोगो मे ईर्ष्या द्वेष उत्पन्न हो गया । अपने पराये की भावना, अशान्ति व अपराधों का बोलबाला हो गया ।

मनुष्य इससे दुखी: हो गया अत: मनुष्यों ने मिलकर एक समझौता कर नागरिक समाज की स्थापना की । सभी व्यक्तियों ने अपने अधिकारों का समर्पण सम्पूर्ण समाज के लिए किया । समझौते के परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति इसके अन्तर्गत ही कार्य करते है । रूसो के अनुसार प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए. सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशक के अधीन समर्पित कर देता है । तथा एक समूह के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार रूसो के समझौते द्वारा लोकतांत्रिक समाज की स्थापना होती है । जिसके अन्तर्गत संप्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित होती है । और यदि सरकार सामान्य इच्छा के विरूद्व कार्य करती है तो जनता उसे पदच्युत कर सकती है ।

रूसो ने व्यक्ति की आदर्श व यर्थाथ इच्छा में अन्तर करते हुए आदर्श इच्छा के योग को सामान्य इच्छा का नाम दिया है । जो सामान्य व्यक्तियों की इच्छा तथा सामान्य हित पर आधारित होती है । यह अखण्ड अदेय, अपृथकनीय सर्वोच्च, निरंकुश. स्थायी एवं लोककल्याणकारी होती है ।

रूसो का सिद्वान्त नितांत अस्पष्ट. जटिल एवं साधारण व्यक्ति की समझ से परे है । इसमे निरंकुश और स्वेच्छाचारी राजसत्ता को जन्म मिलता है क्योंकि व्यक्तियों के अधिकार व स्वतंत्रता समाज को देने से सर्वशक्तिशाली सामान्य इच्छा का निर्माण होता है ।

इन आलोचनाओं के बाद भी रूसो के दर्शन में जनता की सत्ता, अधिकार. शक्ति का प्रबल समर्थन मिलता है । फांस की कान्ति तथा अमेरिका के संविधान निर्माताओं किस्मों के विचारो से प्रेरणा मिली ।

4. सामाजिक समझौता सिद्धान्त का मूल्यांकन

ब्लशंली ने इस सिद्धान्त को 'अत्यधिक भयंकर, ग्रीन ने कपोल कल्पना, हेनरीमेन ने व्यर्थ की वस्तु तथा वूल्जे ने 'सरासर झूठ' बतलाया । इस सिद्धान्त की एतिहासिक दार्शनिक, तार्किक एवं वैज्ञानिक आधारों पर आलोचना की जाती है ।

(i) एतिहासिक आधार पर

समझौता के ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है । इसी तरह प्राकृतिक अवस्था की धारणा भी गलत है । और राज्य इतिहास के अनुसार विकास का परिणाम है निर्माण का नही ।

(ii) दार्शनिक आधार पर

दार्शनिक आधार पर भी इस समझौते की आलोचना की जाती है कि राज्य सदस्यता ऐच्छिक नही वरन् अनिवार्य है । इसमें राज्य रु व्यक्ति के संबंधों की भी गलत आख्या की गई है कि दे समझोते पर आधारित हो बल्कि ये सम्बन्ध मानव स्वभाव पर आधारित होते है । राज्य कृत्रिम संस्था नही मानव स्वभाव पर आधारित प्राकृतिक संस्था है । यह सिद्वान्त विद्रोह. क्रान्ति को बढ़ाने वाला भी है । जो नागरिको के व्यवस्थित जीवन के अन्त का कारण बन जाता है ।

(iii) तार्किक आधार पर

तार्किक आधार पर भी यह अनुचित है । यह बात समझ में नहीं आती कि प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों में जो राजनीतिक संस्था से परिचित नहीं थे एकाएक ही राजनीतिक चेतना कैसे आ गई?

(iv) वैधानिक आधार पर

प्रथम तो प्राकृतिक अवस्था में समझौता हुआ भी है तो उसे वैधता प्राप्त होने के लिए आवश्यक है, कि उसके पीछे राज्य की शक्ति का बल हो लेकिन उस समय तो राज्य का अस्तित्व ही नहीं था । अत: सामाजिक समझौते के पीछे इस तरह की शक्ति नहीं है । दूसरा कोई भी समझौता जिन निश्चित व्यक्तियों के बीच होता है उन्ही पर लागू होता है अत: बाद ओर वर्तमान में यह लागू हो कानूनी दृष्टि से असामान्य है ।

यद्यपि सामाजिक समझौता सिद्वान्त की आलोचनाएं की गई किन्तु यह पर्याप्त महत्व रखता है । प्रथमत: इसने राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्वान्त का खण्डन किया फिर जनसहमति को राज्य का आधार बताया । संप्रभुता की धारणा का प्रतिपादन भी किया ।

13.5.5 ऐतिहासिक या विकसवादी सिद्धान्त

गार्नर के अनुसार - राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। यह तो क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है ।

राज्य विकास का परिणाम है और राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्वान्त द्वारा की गई । इस सिद्वान्त के अनुसार राज्य का क्रमिक विकास हुआ है । अनेक शताब्दियों के विकास के उपरान्त राज्य ने वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया है । राज्य न तो ईश्वर निर्मित है और न किसी समझौते द्वारा इसका निर्माण हुआ, यह परिवार का विस्तार मात्र भी नही है । यह तो विकास और प्रगति की एक धीमी प्रक्रिया है । जिस प्रकार भाषा प्राणियों की अर्थहीन बड़बड़ाहट से निकली है, ठीक उसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति बहुत प्राचीन और इतिहास से परे असभ्य समाज में हुई है ।

प्रकृति, परिस्थिति और स्वभाव के भेदो के कारण विभिन्न समयों, अवस्थाओं और स्थानों में राज्य का विकास क्रम भी भिन्न रहा है । राज्य के विकास में कई तत्वों का योग रहा है । ये निम्न हैं-

(1) मूल सामाजिक प्रवृति (2) रक्त संबंध (3) धर्म

(4) शक्ति (5) आर्थिक गतिविधियां (6) राजनीतिक चेतना आदि ।

राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्वान्त सर्वाधिक संतोषजनक है इसमे संदेह नहीं है कि राज्य एकाएक नही बल्कि धीरे - धीरे विकसित हुआ है।

13.6 राज्य का विकास

अभी तक हमने राज्य की उत्पत्ति और प्रारंभिक राज्य को बनाने वाले तत्वों के संबंध में अनुमानों पर बने सिद्धान्तो पर विचार किया है अब राज्य के विकास पर विचार करेंगे ।

राज्य का जन्म और विकास वर्ग व्यवस्था के निर्माण और उसमें होने वाले ऐतिहासिक परिवर्तनों कि संदर्भ में हुआ । वास्तव में राज्य की शुरूआत ही समाज में बढ़ते हुए संघषों से हुई । आदिम अवस्था में वर्ग, सम्पत्ति नहीं थी तो राज्य भी नहीं था । कृषि, शिल्प, व्यापार के विकास के साथ-साथ व्यक्तिगत स्वार्थ, संपत्ति, वर्ग विभाजन की स्थापना हुई । इसी के साथ संपत्ति व अधिकारों की रक्षा हेतु राज्य का निर्माण व विकास किया गया । राज्य का विकास निम्न चरणों में देख सकते है:

13.6.1 पूर्व का प्रारंभिक साम्राज्य

आदि में पितृसत्तात्मक समाज में न तो इतनी भूमि थी न लोग कि राज्य बन सके । विभिन्न कबीलों जातियों के बीच ढीले-ढाले करार थे । बडी-बड़ी नदियों से सींचे जाने वाले पूर्व के गर्म और उपजाऊ मैदानों में तथा मैक्सिको और पेरु के पठारों में आदि सभ्यता और आदिम राज्य का उदय आ गया इन क्षेत्रों में कम मेहनत में उत्पादन अधिक हो सकता था अत: यहां आबादी तेजी से बढ़ी । जल्दी ही लोग प्रारंभिक पारिवारिक व धार्मिक संगठन को पार करके नयी राजनीतिक व्यवस्था में आ गए । अनुकूल जलवायु के कारण एक ऐसा वर्ग जिसके पास संपति, अवकाश और शक्ति थी जबकि दूसरा वर्ग दास प्रकृति का था, पर आसानी से हावी होकर निरंकुश सत्ता कायम की । सामाजिक विभेदों और जातिप्रथा का आरंभ हुआ फिर बड़े साम्राज्य बने । ये सभी साम्राज्य-सुमेरियन और अमीरियन साम्राज्य, ईरान, मिस्र और चीन के साम्राज्य-नगरो का केन्द्र बनाकर विकसित हुए, ईरान के छोड़कर सभी को भौगोलिक संबंध और संगठन बहुत कमजोर था । उनकी सत्ता मय और निरंकुशता पर टिकी थी । प्रतिद्वन्द्विता व सत्ता के लिए संघर्ष निरन्तर विद्यमान थे । इस प्रकार प्रारंभिक साम्राज्य अस्थिर ही रहा । फिर भी इसने लोगों को सत्ता की आज्ञा पालन करने का आदी बनाकर राजनीतिक विकास में योगदान दिया ।

13.6.2 यूनान के नगर राज्य

राज्य के विकास की दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था यूनान में मिलती है । यद्यपि इसका विकास बाद में हुआ लेकिन तेजी से हुआ । धर्म व जीवन के बारे में उनके विचार प्राकृतिक थे। उन्होंने पहाड़ियों के आसपास गांव बसाये ताकि रक्षा की जा सके । उष्णकटिबंधीय प्रदेशों की भांति वहाँ की प्रकृति उदार नहीं थी इस कारण लोग उपनिवेश बसाते और व्यवसाय करते थे । जिनमें कुछ कबीले विजय, रजामंदी तथा कुछ रक्त/वंश संबंध के कारण एक में मिल गए । परन्तु उनमें राष्ट्रीयता की भावना विकसित नहीं हो पायी ।

यूनानियों ने अपने स्वावलंबी व स्वशासित नगर राज्यों में कई प्रकार के राजनीतिक संगठनों को विकसित किया । इन सभी में विकास के लिए जरूरी बातें भी केवल स्पार्टा ने ही अपनी पुरानी व्यवस्था को बनाये रखा । यह अवस्था कुलीन तंत्र पर आधारित थी । यूनानी नागरिक अपने राज्य के प्रति वफादार होता था । वे नगर को नैतिक संस्था मानते थे । उनका विश्वास था कि राज्य से अलग कोई भी व्यक्ति जीवन को पूर्ण नहीं बना सकता ।

एक ओर यूनानी नगर राज्य राजनीतिक विकास और व्यक्तिगत स्वाधीनता की चोटी पर थे तो दूसरी ओर उनमें दास प्रथा तथा आपस में मिलकर एक राष्ट्र न बना सकने जैसी कमियां भी थी । अपने नगर की सीमा में बंद रहने तथा दुनिया की उपेक्षा की भावना के कारण उसकी शक्ति कम हो गई और एक दिन वह आसानी से मकदूनिया फिर रोम का शिकार हो गया ।

13.6.3 रोम का विश्व साम्राज्य

रोम के राजनीतिक जीवन का आरंभ भी एक नगर राज्य के रूप में हुआ था । रोम नगर राज्य का निर्माण उन अनेक कबीलों से हुआ जो टाइबन नदी के उपजाऊ मैदान में स्थित आसानी से रक्षा करने योग्य सात पहाडियों पर अपना कब्जा किये हुए थे । प्रारंभ मे वहां राजतंत्र था । राज्य ही न्यायकर्ता शासक और धर्मगुरु था । साधारण वर्ग प्लिबियन्स को बाद में भूमि व संपति के कुछ अधिकार मिले थे ।

500 ई.पू. के लगभग रोम मे राजतंत्र का अंत ओर दो प्रधान न्यायकर्ताओं सहित गणतंत्र की स्थापना की गई । इस परिवर्तन के बाद दो शताब्दियों तक कुलीन वर्ग और साधारण वर्ग के बीच राजसत्ता के लिए संघर्ष होता रहा । अंत में दोनों वर्ग एक राजनीतिक समाज मे बदलगए जिसमें समान नागरिक व राजनीतिक अधिकार थे । अब रोम अपनी सीमा से बाहर के प्रदेशों को अपने में मिलाने लगा । सबसे पहले पड़ोसी इटालियन राज्यों को फिर पश्चिम मे प्रतिद्वन्दी राज्य को, सिकन्दर के साम्राज्य के कई प्रदेशों पर अधिकार कर लिया । ईसा पूर्व पहली सदी के समाप्त होते-होते लगभग समस्त सभ्य पश्चिमी संसार एक राजनीतिक व्यवस्था में बंध गया ।

साम्राज्य को एक सूत्र में बांधे रखने के लिए एक प्रभाव पूर्ण केन्द्रीय शासन की व्यवस्था की गई । भूभाग को प्रान्तों में विभाजन कर एक अधिकारी नियुक्त किया जिसे राजनीतिक तथा नागरिक मामलों के पूर्ण अधिकार मिले हुए थे । अब गणतंत्र का स्थान सैनिक तानाशाही ने ले लिया सम्राट सर्वशक्तिमान बन गया । दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त का प्रचलन हो

गया जिसके तहत सम्राट पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि था । ईसाई धर्म राज धर्म हो गया । प्राचीन लोकतांत्रिक राज्य एक तंत्रीय विश्व साम्राज्य बन गया । संसार को प्रथम सुव्यवस्थित और सुशासित राजनीतिक प्रणाली देने का स्थायी गौरव रोम को ही था । रोम का शासन पश्चिम में पांच सौ वर्ष तक और पूर्व में डेढ़ हजार वर्ष तक कायम रहा । सम्प्रभुता, कानून,उपनिवेश नगरपालिका की शासन व्यवस्था, नागरिकता के आदर्श विभिन्न जातियों में राजनीतिक एकता स्थापित करने की पद्धतियां रोम की महत्वपूर्ण सफलता है।

इनके बावजूद भी रोम का पतन कई कारणों से हो गया ।

जिनमें- व्यक्तिगत स्वतंत्रता का एकता के लिए बलिदान, नैतिक पतन, आर्थिक कमजोरी. उत्तराधिकार कानून का अभाव, धार्मिक अव्यवस्था, बर्बर जातियों के आक्रमण आदि । पतन के बाद भी उसका प्रभाव रहा ।

13.6.4 सामंती राज्य

रोम के पतन का मतलब था पश्चिम यूरोप में राज्य का ही अन्त । लंबे अरसे तक वहाँ अराजकता रही । रोमन साम्राज्य और आधुनिक राष्ट्रवाद के बीच सामंत शाही अन्तर्कालीन व्यवस्था रही है । रोमन साम्राज्य के पतन के बाद लम्बे चोड़े प्रदेश शक्तिशाली सामंतों के अधीन हो गये वही सत्ता बन गए । उन्होने जागीरदारों. जमींदारों, नौकरों, दासों में अपनी सम्पति बांट कर एक नया समाज खड़ा किया । सीमित स्वामिभक्ति के उदय में सर्वोच्च सत्ता की कल्पना ही नहीं आई । रीतिरिवाज ही कानून बन गए । यूरोप के लोगों क्रो शान्ति व सुरक्षा देकर सामन्तवाद में अपने अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध कर दिया ।

ईसाई धर्म संघ एक दूसरी संस्था थी जो अपने को उसे अव्यवस्था के बाद भी जीवित रख सकी जो रोम के पतन से फैली थी । 1337 में रोम के सम्राट ने भी इसाई धर्म को स्वीकार कर लिया चौथी सदी के अंत तक रोमन संसार में यही एक मान्य धर्म रह गया । ईसाई धर्म संगठन ने रोमन साम्राज्य का स्थान लेकर यूरोप मे शान्ति और व्यवस्था कायम की। मध्य युग तक इसने राज्य पर अपना नियंत्रण रखा और शक्तिशाली लौकिक सत्ता बन गया जिसके पास काफी संपति थी खास भू संपत्ति । चर्च की प्रभुसत्ता जनता का अंधविश्वास था, तब तक बनी रही । 14 वीं सदी के आसपास ही पोप की सत्ता के बुरे दिन आरंभ हो गये फौज के बादशाह द्वारा पोप को एविनोन में बंदी बनाना और महान मतभेद दो-तीन प्रतिद्वन्दी होने का दाबा करते रहते थे । तथा प्रोटेस्टेंट धर्म सुधार ने चर्च की लौकिक सत्ता को समाप्त कर दिया और इस प्रकार राष्ट्रीय राजतंत्रों के लिए मार्ग तैयार हो गया ।

13.6.5 आधुनिक युग का राष्ट्रीय राज्य

पुनरूत्थान और धर्म सुधार काल से ही आम तौर पर आधुनिक युग का आरंभ माना जाता हैं । समाज में शान्ति व्यवस्था स्थापित होते ही और जाति, धर्म, प्रदेश और भाषा के आधार पर लोगों में एकता की भावना पैदा होते ही सांमतवाद का अंत और समाज में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हुई । मध्य युग के समाप्त होने के समय धर्म साम्राज्य के बावजूद भी इंग्लैंड, फांस. स्पेन में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हो रहा था ।

पोप के हस्तक्षेप को राजा अपने स्वाभिमान और आत्मसम्मान के विरूद्ध मानते थे । उन्होने अपने को असली शासक बनाना शुरू कर दिया फिर जनता भी शान्ति और सुरक्षा चाहती थी इस कारण वफादारी राजाओं के प्रति थी । जनता ने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतीक राजाओं को माना । बारूद के उपयोग, राष्ट्रीय राजस्व का बढ़ाना स्थायी सेना के निमार्ण के कारण राजाओं को अपने सामंतों पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं थी ।

धर्म सुधारकों के उपदेशों से भी विचारों में राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी व राष्ट्रवादी भावना का प्रसार हुआ। उन्होने कहा कि राजनीतिक सत्ता अन्तिम तौर पर ईश्वर की इच्छा से मिलती है । इनके प्रभाव से इंग्लैण्ड में ट्यूडर और स्टूअर्ट तथा फांस में केपिशियन दंश का निरंकुश शासन कायम हुआ।

पर इस निरंकुशता को शीघ्र ही चुनौती मिल गई जैसे ही लोगों में चेतना आई तो राजनीतिक अधिकारों के लिए राजाओं और जनता में एक लम्बा संघर्ष आरंभ हुआ। इस विचार ने बल पकड़ा कि शासन का अस्तित्व शासितो की मलाई के लिए है, परिणामत: व्यक्तिगत स्वतंत्रता और लोकतंत्र के सिद्धान्तों को बल मिला । इंग्लैंड में बहुत पहले ही लोकतंत्रीय आन्दोलन शुरू हो गया और शान्तिपूर्ण तरीके से बढ़ता ही रहा । फ्रांस में इस आन्दोलन ने एक हिंसक क्रान्ति का रूप ले लिया । अन्य देशों में राजाओं ने जनता की इच्छा के आगे घुटने टेक दिये । लोकतंत्र के आन्दोलन ने गहरी जड़े जमा ली । इसमें इसने अच्छे ढंग से कार्य किया कि कुछ वर्षो पूर्व तक लोकतंत्रीय राष्ट्रीय सरकार को ही राज्य के विकास की उच्चतम अवस्था माना जाता रहा ।

13.7 शक्ति की अवधारणा

आधुनिक युग में राजनीति को शक्ति की राजनीति माना जाता है एवं राजनीति विज्ञान को राज्य अथवा राजनीति का विज्ञान । अत: राज्य की अवधारणा, तत्वों उत्पत्ति के सिद्धांतों के अध्ययन के साथ - साथ शक्ति का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है । इसलिए हम शक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करेगें ।

शक्ति राजनीतिक विज्ञान की आधारभूत अवधारणाओं में से एक प्रमुख अवधारणा है । भारतीय राजनीतिक विचारकों में कोटिल्य ने दण्ड को शक्ति के रूप में स्वीकार किया है । कौटिल्य लिखते है " समस्त सांसारिक जीवन का मूल आधार दण्ड शक्ति ही है ।" पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में भी शक्ति के महत्व को स्वीकारा गया है । प्राचीन यूनान में थ्रेसीमेकस का कथन है " शक्तिशाली का हित ही न्याय है ।" आधुनिक युग मे मैक्यावली ने शक्ति के अथवा पक्षों निमार्ण तत्वों पर विचार प्रकट किये ।

परम्परागत विचारकों की अपेक्षा आधुनिक राजनीतिक विचारकों ने शक्ति पर विस्तार से विचार किया है । चार्ल्स ई. मेरीयम, कैट्लिन, हेरल्ड लास्की, मैकाइवर, रॉबट बायर्सटेड, कैप्लोन, मॉगन्यिउ, रसेल. बेकर आदि ऐसी ही विचारक हैं । बेकर का मत है " राजनीति को शक्ति से अलग नहीं किया जा सकता है ।" केट्लिन का कथन है 'राजनीति शक्ति का विज्ञान हैं । "

शक्ति का अर्थ एवं परिभाषा

मेकाईवर के अनुसार - शक्ति एक बहुपक्षीय तल है वस्तुत: शक्ति के अर्थ एवं परिभाषा के बारे में विद्वानों मे मतैक्यता नहीं है लेकिन फिर भी राजनीति विज्ञान में शक्ति के प्रमुख अर्थ निम्न हैं-

(1) बल प्रयोग के रूप में प्राचीन भारतीय विचारकों ने शक्ति का एक अर्थ बल प्रयोग एवं दमन के रूप में स्वीकारा है । मनु के अनुसार दण्ड द्वारा दुष्टों का दमन किया जाता है ।

(2) मानव की सामान्य प्रवृति के रूप में जैसा कि हॉक ने माना है कि प्रत्येक व्यक्ति भय से मुक्ति पाने के लिए शक्ति को धारण करने कि कामना करता है । कुछ विद्वानों का मानना है कि मानव स्वभाव की प्रवृत्ति है व्यक्ति अन्य कि तुलना में शक्तिशाली हो ।

(3) शक्ति बल प्रयोग की संभावना है कुछ विद्वानों ने शक्ति का अर्थ राजनीतिक शक्ति और बल का अर्थ सैनिक शक्ति से लिया है । शक्ति में सदैव बल मौजूद रहता है किन्तु सामान्यत: उसका प्रयोग नहीं किया जाता । राबर्ट वायर्सटेड ने इसी अर्थ को स्वीकारा है ।

(4) शक्ति व्यवस्था का निहित तत्व किसी भी राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था की रचना, संचालन एंव रक्षा के लिए शक्ति तत्व की आवश्यकता होती हैं । इस प्रकार प्रत्येक व्यवस्था में जो मूल तल निहित रहता है वही शक्ति है ।

(5) शक्ति एक प्रभाव प्रकिया है शक्ति ऐसा तत्व है जो प्रभाव की प्रकिया को जन्म देता है । जो व्यक्ति शक्ति धारण करता है. उससे अन्य प्रभावित होते हैं और जितना उसमें अनुकूल आचरण करते हैं उतना ही यह शक्तिशाली कहलाता है । लासवैल, हरबर्त, सारमन, रावे, डेहल ने प्रभाव प्रकिया के रूप मे शक्ति को स्वीकार है ।

(6) नियंत्रण के अर्थ में शक्ति इस अर्थ में शक्ति व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित करती है और ऐसी क्षमता का प्रदर्शन करती हैं मार्गयो ने शक्ति को व्यक्ति के उपर नियंत्रण के रूप में और मेकाइबर ने शक्ति को व्यक्ति के उपर नियंत्रण की क्षमता के रूप में स्वीकारा है ।

(7) मूल के अर्थ में शक्ति इस अर्थ में शक्ति यर्थाथवादी मूल्य तथा आदर्शवादी मूल्य दोनों हो सकती है । जैसे मेसीमेकस ने तथा मार्गन्यो ने अर्न्तराष्ट्रीय राजनीतिक मे शक्ति को यथार्थ मूल्य के रूप में स्वीकारा है ।

शक्ति को प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

राबर्ट बायर्सटेड के अनुसार - शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग ।

राबर्ट डहल के मतानुसार - शक्ति व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सबंधों की विशेष स्थिति का नाम है जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को प्रभावित करके उससे कार्य करवा लेता है जिन्हें वह अन्यथा नहीं करता ।

मार्गेन्यो - शक्ति में प्रत्येक उस तल को सम्मिलित किया जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति के ऊपर नियंत्रण स्थापित किया जाता है तथा उसे बनाये भी रखा जाता है ।

अर्नाल्ड ब्रेश्ट के अनुसार-शक्ति ऐसी क्षमता है जो अपनी इच्छा को लागू कर सकती है और विरोधी की इच्छा को विफल कर सकती है ।

कार्ल जे. फेडरिक के शब्दों में - शक्ति एक प्रकार का मानवीय संबंध है ।

मैकाइवर के अनुसार - शक्ति से हमारा अर्थ व्यक्तियों तथा उनके व्यवहार को नियंत्रित. विनियमित या निर्देशित करने की क्षमता है ।

13.7.1 शक्ति के प्रकार

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से शक्ति के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है संक्षेप में शक्ति के प्रकार निम्न है-

(1) **अन्य के व्यवहार में परिवर्तन की समता की दृष्टि से शक्ति के प्रकार -** अनेक विद्वानों ने शक्ति को ऐसी क्षमता माना हैं जिसके द्वारा अन्यों के व्यवहार में अपने अनुकूल परिवर्तन किया जा सकता हैं । गोल्ड हेमर एवं एडवर्ड शिल्स ने इस दृष्टि से शक्ति के तीन प्रकार बतायें है-

(अ) बल (ब) प्रभुत्व (स) चातुर्य

(2) **औचित्य एवं अनौचित्य की दृष्टि से -** मैम्सवेबर के अनुसार शक्ति औचित्यपूर्ण एवं अनौचित्य पूर्ण हो सकती हैं । औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रकार हैं-

(अ) वैधानिक - जब शक्ति धारक शक्ति का प्रयोग वैधानिक ढंग से करता है तो इसे औचित्यपूर्ण शक्ति का वैधानिक प्रकार कहा जाता है ।

(ब) परम्परागत - जब इसका प्रयोग परम्परा के अनुसार किया जाए तो परम्परागत माना जायेगा।

(स) करिश्माबादी - जब शक्ति धारक के व्यक्तित्व एवं गुणों में उसके अधीनस्थों का विश्वास हो उसका लाभ उठाते हुए शक्ति का प्रयोग किया जाए।

मैक्सवेबर ने अनौंचित्यपूर्ण शक्ति का एक मात्र ही प्रकार बताया है - दमन

(3) अन्य दृष्टिकोणों से शक्ति के विभिन्न प्रकार

(अ) <u>दृश्य एवं अदृश्य शक्ति</u>- जब शक्ति का प्रकट रूप में प्रयोग किया जाता है तो उसे दृश्य शक्ति कहते है किन्तु जब शक्ति का अप्रकट रूप से प्रयोग किया जाता है, तो उसे अदृश्य शक्ति कहते है ।

(ब) <u>प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष शक्ति-</u> जब शक्ति धारक स्वयं शक्ति का प्रयोग करता है, तो प्रत्यक्ष शक्ति और यदि अपने अधीनस्थों या अन्य के माध्यम से शक्ति का प्रयोग करता हैं तो उस शक्ति को अप्रत्यक्ष शक्ति कहते है

(स) <u>औपचारिक एवं अनौपचारिक शक्ति -</u> जब शक्ति धारक अपने पद में निहित शक्ति का वैधानिक तरीकों से प्रयोग करता है तो उस शक्ति को औपचारिक किन्तु जब शक्ति धारक शक्ति का प्रयोग व्यक्तिगत संबंधो के आधार पर करता है तो अनौपचारिक शक्ति कहते है ।

(द) <u>दमनात्मक एवं अदमनाकत्मक शक्ति-</u> यदि शक्ति का प्रयोग अत्याचारपूर्ण तरीके से करते हैं तो वह दमनात्मक होती है और दमनपूर्ण प्रयोजन न हो, प्रभावपूर्ण एवं औचित्यपूर्ण हो तो अदमनात्मक होती है ।

(य) <u>संभाव्य तथा वास्तविक शक्ति -</u> जब शक्ति धारक शक्ति प्रयोग करने की क्षमता रखता है किन्तु उसका प्रयोग नही करता है तो वह संभाव्य शक्ति होती है किन्तु

शक्तिधारक द्वारा जिस शक्ति का व्यवहार में प्रयोग करता है वह वास्तविक शक्ति होती है ।

(र) एकपक्षीय, द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय शक्ति- जब शक्ति का प्रयोग एक पक्ष द्वारा हो तो एकपक्षीय, दो पक्षो द्वारा हो तो द्विपक्षीय तथा अनेक पक्षों द्वारा हो तो बहुपक्षीय शक्ति कहते है ।

(ल) केन्द्रित विकेन्द्रित तथा व्याप्त शक्ति - जब शक्ति का निवास एक केन्द्र में होता है तो वह केन्द्रित होती है. जब एक से अधिक केन्द्रों में होती है तो विकेन्दित होती है किन्तु जब कोई स्पष्ट केन्द्र नहीं होता है । जैसे - जनशक्ति, तो वह विस्तृत या व्याप्त शक्ति होती है ।

(व) प्रादेशिक, राष्ट्रिय एवं अंतर्राष्ट्रीय शक्ति - शक्ति के भूक्षेत्र में निवास व क्रिया शीलता के आधार पर तीन प्रकार की होती है प्रादेशिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ।

(म) निम्न, मध्यम एवं महान शक्ति - शक्ति की पारम्परिक मात्रा एवं प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न राज्यों को महान, मध्यम एवं निम्न शक्तियां कहा जाता है । इस प्रकार शक्ति के अनेक स्वरूप हो सकते है ।

13.7.2 शक्ति के स्रोत

शक्ति अनेक स्रोत से प्राप्त होती है । नेपोलियन, हिटलर, लेनिन और गांधी ये सभी शक्तिशाली थे लेकिन इनकी शक्ति के स्रोतों में भेद था । यद्यपि शक्ति के स्रोतों की सूची तो नही दी जा सकती किन्तु प्रमुख स्रोतों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है -

(1) **ज्ञान (Knowladge)** ज्ञान शक्ति का प्रथम एवं महत्वपूर्ण स्रोत है । ज्ञान अपने साधारण अर्थ में शक्ति को अपने लक्ष्यों को पुन: प्रबंधित करने और मिलाने की योग्यता प्रदान करता है । ज्ञान द्वारा नेतृत्व के गुणों में निखार आता है । व्यक्ति की अन्य विशेषताओं को इस प्रकार से संचालित किया जाता हैं कि वे शक्ति के साधन बन सकें । किसी राजनीतिक व्यवस्था की शक्ति के संन्दर्भ में ज्ञान के स्रोतों का विशेष महत्व है । उसके लक्ष्य निर्धारण साधन जुटाने हेतु तथ्यों के एकत्रीकरण एवं विश्लेषण में ज्ञान की आवश्यकता है ।

(2) **प्राप्तियां एवं उपलब्धियां** ज्ञान आन्तरिक स्रोत हैं किन्तु प्राप्तियां एवं उपलब्धियां बाहय स्रोत के रूप में महत्वपूर्ण है । इसका अर्थ संपत्ति एवं अन्य आर्थिक प्राप्तियां. भौतिक साधनों में वृद्धि, पद की प्राप्ति, सामाजिक राजनीतिक सम्मान की प्राप्ति आदि । यह शक्ति के स्रोत है किन्तु एक मात्र नहीं ।

(3) **संगठन एवं आकार** यह महत्वपूर्ण स्रोत है । कहावत भी हैं 'संगठन ही शक्ति है ।' सस्थाओं के संदर्भ में यह प्रमुख स्रोत है । राज्य एक शक्तिशाली संस्था है । जिसका स्रोत सुदृढ़ संगठन है, मजदूर संघ, व्यापारी संघ आदि के स्रोत भी उनके संगठन है । यह ठीक है कई बार आकार संख्या संघ की शक्ति को बढ़ाता हैं किन्तु अनेक बार संख्याओं के आकार की विशालता शिथिलता को बढ़ाती है फिर वे शक्तिशाली नहीं रहती वस्तुत: संगठन व आकार की अनुकूल संबंधी है संस्था कि शक्ति को बढ़ाते है ।

(4) **सत्ता** यह भी शक्ति का प्रमुख स्रोत है । अन्य व्यक्तियों से कम योग्य, निर्बल व्यक्ति भी सत्ता प्राप्त करके शक्तिशाली बन जाता है ।

(5) **विश्वास, विचार एवं कार्य** यह भी स्रोत है किसी भी समाज के अपने विश्वास विचार होते है । और जो व्यक्ति और संस्था इन्हें मूर्त रूप देने का कार्य करते हैं दे शक्तिशाली बन जाते हैं जैसे परतंत्र भारत में महात्मा गाँधी और कांग्रेस के शक्तिशाली होने का कारण भारतीय समाज के विश्वास व विचार का प्रतिनिधित्व था ।

(6) **परिस्थितियां** परिस्थितियों की अनुकूलता व्यक्ति या संस्था को शक्तिशाली बना देती है और प्रतिकूलता शक्ति को कम भी कर सकती है ।

13.7.3 शक्ति की प्रकृति

शक्ति की विशेषताएँ एवं लक्षण ही उसकी प्रकृति को स्पष्ट करते हैं । इन्हें शक्ति की पूर्व आवश्यकताएं या शर्त भी कहा जाता है यह निम्न हैं:-

1. **शक्ति संबंधात्मक होती है** राजनीति विज्ञान में शक्ति विभिन्न व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों से बने समूहों के बीच पाये जाने वाले संबंधों को प्रकट करती हैं । इस अर्थ में शक्ति की विशेषताएं हैं-

    (1) शक्ति का प्रयोग करने की आकांक्षा करने वाले कम से कम कर्त्ता हो राजनीति में यह संबंध प्रभु एवं अधिनस्थ शासक एवं शासित के रूप में होता है ।

    (2) इसमें दो पहलू है - प्रभु एवं अधीनस्थ । प्रभु तब तक ही प्रभु है जबतक कि अधीनस्थ उसकी शक्ति का अनुकरण करने को तैयार होता है प्रभु की शक्ति अधीनस्थ कि शक्ति के संदर्भ में होती है ।

    (3) प्रभु की शक्ति सर्वोच्च नहीं होती किसी अन्य शक्ति के अधीन होती है ।

2. **अन्य शक्तियों की आवश्यकता** शक्ति के अनेक रूप हैं- राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक, धार्मिक. विचार शक्ति, जनमत शक्ति आदि । किसी भी समाज में यह रूप एक साथ पाये जाते हैं । सिद्धान्त रूप में यह भिन्न -भिन्न हैं परन्तु व्यवहार में एक दूसरे के सहयोगी या प्रतिद्वन्दी भी हो सकते हैं ।

3. **वास्तविक या संभावित शक्ति** स्वयं में शक्ति एक ईकाई हैं किन्तु प्रयोग की दृष्टि से दो पक्ष हैं- वास्तविक एवं संभावित ।

4. **शक्ति औचित्य के गुण वाली होती है** जब औचित्य का गुण नहीं होता है तो वह शक्ति नही बल होता है । अत: औचित्य शक्ति का प्रमुख लक्षण व प्रकृति है ।

5. **शक्ति का निरन्तर संचय जरूरी है** शक्ति अपने वर्तमान रूप और प्रकृति की रक्षा ही नहीं वरन लगातार वृद्धि और संचय भी करती है, अन्यथा शक्ति समाप्त हो जाती है ।

6. **शक्ति साध्य भी है और साधन भी** शक्ति जब निश्चित सत्य या उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रयोग की जाती हैं तो बह साधन होती है किन्तु जब शक्ति अपनी रक्षा, वृद्धि एवं संचय का प्रयत्न करती है तो शक्ति स्वयं अपना साध्य भी बन जाती है।

राजनीति विज्ञान में शक्ति का दृष्टिकोण

प्राचीन काल से ही राजनीति व शक्ति के बीच घनिष्ठ संबध रहा है । कौटिल्य ने दण्ड शक्ति को राजनीति का मूल आधार माना है । आधुनिक युग में मैकयावली, हॉब्स ट्रीस्के, नील्से, एरिक कौकमैन आदि ने भी राजनीति मे शक्ति के महत्व का प्रतिपादन किया है । मागैन्यो ने -सभी स्तर की राजनीति शक्ति संघर्ष मात्र होती है, माना है । बेकर का मत है- राजनीति से शक्ति अपृथकनीय है ।

व्यवहारिक जीवन में भी हम देखते है कि राज्य शक्ति के अभाव में शक्ति एवं व्यवस्था, बाह्य आक्रमण से, नागरिक स्वतंत्रता एवं सामाजिक हित के कार्य नही कर सकता है। अत: शक्ति का पर्याप्त महत्व है । वर्तमान में इसे और अधिक लोकप्रियता जार्ज केटालिन तथा लासबेल द्वारा बिस्तार से अध्ययन करने के कारण बढ़ी है । जार्ज केटीलन के विचार शक्ति समान्त राजनितिक जीवन का आधारभूत तत्व है । शक्ति का जन्म इस तथ्य से होता हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहता है । और इसे लागू करने के लिए अन्य लोगों की इच्छाओं को नियंत्रित करना आवश्यक हो जाता है तभी शक्ति या संघर्ष के तल का उदय हो पाता है । केटालिन ने नियंत्रण की प्रक्रिया के रूप में शक्ति के अध्ययन पर जोर दिया है । जिसमें एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की या एक समूह दूसरे समूहों की अथवा एक संस्था दूसरी की इच्छाओं को किस प्रकार प्रभावित करती है । इस अर्थ में ही केटालिन ने नियंत्रण की प्रत्येक प्रक्रिया को राजनीति विज्ञान का अंग माना है । उसका निकर्ष है राजनीतिक शक्ति का विज्ञान है लासवेल के विचार 'राजनीति विज्ञान मूल रूप में एक शक्ति प्रक्रिया नहीं है वरन यह समाज में मूल्यों की स्थिति एवं बनावट में परिवर्तन का अध्ययन है अत: राजनीति विज्ञान में शक्ति और मूल्यों दोनों का अध्ययन किया जाना चाहिये । शक्ति कि अवधारणा सम्पूर्ण राजनीति की मूल अवधारणा है राजनीति प्रक्रिया का अर्थ है- शक्ति को आकार देना, शक्ति का वितरण करना तथा शक्ति का उपयोग करना । किन्तु जहाँ उसने अपनी कृति (Who gets what, When and how) कौन, क्या, कब तथा कैसे प्राप्त करता है? मे राजनीति विज्ञान में शक्ति के संघर्ष के अध्ययन को महत्वपूर्ण माना है वहाँ ही उसने बाद की कृति (Power and Socity) शक्ति और समाज में शक्ति तथा मूल्य दोनों का अध्ययन महत्वपूर्ण माना है ।

अनेक राजनीति शास्त्रियों ने राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत शक्ति की अवधारणा को महत्वपूर्ण माना है । डहल, केपलॉन आदि ।

शक्ति का प्रयोग तथा सीमाएं

व्यवहार में शक्ति का प्रयोग दण्ड, पुरस्कार, प्रलोभन, धमकी, विभिन्न प्रकार के आर्थिक लाभों या हानियों के रूप में प्रकट होता है । इन्हें शक्ति के साधन या शक्तियाँ कहा जाता है । इन साधनों की मात्रा एवं प्रकार देश, काल तथा संस्कृति विशेष के अनुसार परिवर्तित होता रहता है एक व्यक्ति पर शक्ति का प्रयोग करते हुए पिटाई, जेल, जुर्माना, अपदस्थीकरण, अपमान किसी को भी अपनाया जा सकता है । इनमें सफलता असफलता विवेकपूर्ण प्रयोग पर निर्भर करती है ।

किन्तु शक्ति प्रयोग स्वछन्द नहीं होता है उसपर प्रतिबंध एवं सीमाएं होती है वस्तुत: शक्ति सदैव सापेक्ष होती है । अर्थात शक्ति प्रयोग पर बंधन होता है शक्ति का प्रयोग उसके

उद्देश्य, लाभों से मर्यादित होता है । इसके अलावा इतिहास, धर्म, परम्परा, नैतिकता, मूल्यों, राजनीतिक विकास का प्रभाव, समूहों का दबाव, सहमति प्राप्त करने की आवश्यकता के तरीके आदि द्वारा प्रतिबंधित होती है । शक्ति प्रयोग पर परिस्थितियों का प्रतिबंध भी होता है ।

13.7.4 शक्ति की प्रभाव, बल तथा सत्ता से तुलना

शक्ति एवं प्रभाव - फेडरिक के अनुसार प्रभाव गुप्त शक्ति है यह न्यूनाधिक अंश में शक्ति का अमूर्त रूप हैं ।" शक्ति एवं प्रभाव दोनों घनिष्ठ रूप से संबन्धित है कई बार व्यवहार में परिवर्तन का कारण जानना प्रभाव या शक्ति के रूप में मुश्किल होता है । किन्तु इनमें अन्तर भी है शक्ति भौतिक तत्व है । प्रभाव नैतिक तत्व है । शक्ति मूर्त एवं प्रभाव अमूर्त है अनुपालना की दृष्टि से शक्ति निर्विकल्प एवं प्रभाव सविकल्प है । शक्ति कटुता को और प्रभाव सद्भाव उत्पन्न करते है । शक्ति अप्रजातांत्रिक है और प्रभाव प्रजातांत्रिक है । शक्ति का क्षेत्र सीमित और प्रभाव का क्षेत्र असीमित है ।

शक्ति एवं बल - दोनों राजनीति विज्ञान की भिन्न धारणाएं है किन्तु कुछ विद्वान इन्हें समानार्थी मानते है ।जॉजे थ्रेसीमेकस ने शक्तिशाली के हित को ही न्याय माना है किन्तु इनमें अन्तर होता है । मार्गेन्यों ने शक्ति का अर्थ राजनीतिक शक्ति माना है और इसे सैनिक शक्ति (बल) से भिन्न माना है । शक्ति सदैव अमूर्त, अप्रकट, अदृश्य होती है किन्तु बल सदैव दृश्य, मूर्त व प्रकट होता है । बल भौतिक क्षमता है जबकि शक्ति बल की तुलना में मनौवैज्ञानिक भी होती है । बल अधिक दमनकारी, बाध्यकारी होता है । शक्ति विस्तृत अवधारणा है जिसमें प्रमाव व बल दोनों शामिल होते है । दोनो के संबंध को बायर्स टेड ने स्पष्ट किया है -शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न इसका वास्तविक प्रयोग ।

शक्ति एवं सत्ता - राजनीति विज्ञान में यह दोनो शब्द समानार्थी हो जाते है किन्तु दोनो में भिन्नता है शक्ति में सदैव बल का भाव निहित होता है । सत्ता को कानूनी तौर पर शक्ति प्रयोग का अधिकार रहता है किन्तु स्वयं शक्ति से भिन्न होती है । सत्ता शक्ति को वैधानिक स्वरूप प्रदान करती है । दोनों भिन्न-भिन्न प्रवृतियां सहयोग तथा शक्ति की है । शक्ति भौतिक तत्व है और सत्ता वैधानिक तत्व है । शक्ति साधन है तथा सत्ता कर्ता है ।, शक्ति मूल्य निरपेक्ष होती है किन्तु सत्ता मूल्य सापेक्ष होती है जो इतिहास, परम्परा, रीतिरिवाज, जनमत द्वारा स्वीकृत मुल्यों को स्वीकार करती है । सत्ता पद या संस्था में होता हैं । जिसका प्रत्यायोजन किया जा सकता है । किन्तु शक्ति का नही किया जा सकता, दोनो में अन्तर है । किन्तु दोनों एक है इस कारण उनमें घनिष्ठ संबंध पाया जाता है ।

13.8 सत्ता की अवधारणा

राज्य के पास सत्ता होती है जो उसे वैधता या औचित्यता प्रदान करती है । बदुलवादियों के अनुसार राज्य अन्य समुदायों से भिन्न सत्ता के प्रयोग के अधिकार के कारण ही होता है । इसलिए हमें सत्ता की अवधारणा को समझना चाहिए ।

सत्ता को राजनीति अवस्था रूपी शरीर की 'आत्मा' कहा जा सकता है । वस्तुत: सत्ता को किसी संगठन (व्यवस्था) का मस्तिष्क भी कहा जाता है क्यों कि यह उस संगठन के लिए

निर्णय लेने एवं उसे लागू करने का कार्य भी करती है । राजनीति विज्ञान की दृष्टि से सत्ता की अवधारणा का विशिष्ट महत्व है । सत्ता के अभाव में कोई भी राज व्यवस्था अपने कार्यो को करने या अपने अधिकारों को भोगने में असमर्थ रहती है । सत्ता द्वारा ही राजनीतिक प्रक्रियाओं का संचालन, निर्णय लिए जाते है । प्रशासन में पदसोपन समन्वय, संचार, अनुशासन, प्रत्यायोजन आदि की व्यवस्था की जाती है । लोकतंत्र में सत्ता का जनता द्वारा स्वीकृत किया जाना महत्वपूर्ण है ।

सत्ता का अर्थ एवं परिभाषा - राजनीति विज्ञान के सैद्धान्तिक अध्ययन में प्राचीन काल से ही सत्ता की अवधारणा का विशेष महत्व रहा है । सर्व प्रथम सुकरात व प्लेटो के चिंतन में अरस्तु के चिंतन में उल्लेख मिलता हैं

अंग्रेजी शब्द ओथोरिटि (Authority) की उत्पति लेटिन भाषा के शब्द 'ऑक्टोरिटास से हुई है जिसका अर्थ हैं बढाना । रोमन साम्राज्य में सार्वजनिक सभा द्वारा प्रस्तावों को सीनेट की स्वीकृति को ओक्टोरिस कहा जाता था । अर्थात् उन प्रस्तावों को कानूनी स्वीकृति मिल गई है ।

आधुनिक राजनीतिक विज्ञान सत्ता को एक प्रमुख अवधारणा के रूप में मान्यता देता है । किन्तु विद्वानों में इसमे अर्थ एवं व्याख्या में मतभेद है परिभाषा निम्न है-

हेनरी फेयोल के अनुसार 'सत्ता आदेश देने का अधिकार तथा इसे लागू करने की शक्ति है ।

राबर्ट बायर्सटेड के शब्दों में 'सत्ता शक्ति के प्रयोग का संख्यात्मक अधिकार है, स्वयं शक्ति नहीं । '

बीच के अनुसार अन्यों के कार्य निष्पादन को प्रभावित या निर्देशित करने के औचित्यपूर्ण अधिकार को सत्ता कहते है ।

यूनेस्को की एक रिपोर्ट मे सत्ता जो ऐसी शक्ति बताया गया है । जो 'स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात तथा औचित्यपूर्ण है ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर सत्ता का सामान्य अर्थ इस प्रकार बताया जा सकता है-

- सत्ता राज व्यवस्था का अनिवार्य तत्व है ।
- सत्ता शक्ति से भिन्न है, किन्तु यह स्वयं आदेश पालन कराने की संस्थागत शक्ति है ।
- सत्ता उच्चस्थ व अधिनस्थ अधिकारी के बीच एक संबंध है । उच्चस्थ अपने संबंध आदेश के पालन की आशा रखता है और अधिनस्थ ऐसे आदेश के पालन की इच्छा रखता है ।
- सत्ता मूल्य सापेक्ष होती है । उसका यह गुण उसे औचित्य पूर्णता देता है ।
- मूल्य सापेक्ष एवं औचित्यपूर्ण होने के कारण सत्ता का आधार स्वीकृति व सहमति बन जाता है
- मूल्यात्मकता औचित्यपूर्णता व स्वीकृति के गुणों के कारण सत्ता में प्रभाव उत्पन्न होता है। किन्तु वास्तव में सत्ता व प्रभाव में अन्तर है ।
- सत्ता शक्ति व बल से भिन्न होती है । व्यवहार में सत्ता द्वारा इनका नियमन एवं नियंत्रण किया जा सकता है ।

13.8.1 सत्ता के स्रोत एवं आधार

सत्ता स्रोत का महत्व है यह है:

- सत्ता के प्रयोग की सीमाओं को तय करता है और उसे उत्तरदायी बनाता है ।
- यह सत्ता के औचित्य को तय करता है ।
- सत्ता का स्रोत वास्तव में सत्ता का आधार भी होता है ।

सत्ता के प्रमुख स्रोत है -

- आचित्यपूर्णता - जब सत्ताधारी व अधिनस्थ के बीच मूल्यों, विचारों विश्वासों व परम्पराओं में एकरूपता पायी जाती है । तो सत्ता को औचित्यपूर्णता का आधार प्राप्त होता है । यह स्रोत बन जाती है
- अधिनस्थों की प्रकृति - सहमति सत्ता का आधार व स्रोत है । किन्तु यह अधिनस्थों की प्रकृति पर , निर्भर करता है । कि वह किस मात्रा मे सत्ता के प्रति सहमति या असहमति प्रकट करते है ।
- पर्यावरण का दबाव - आन्तरिक और बाह्य दोनों ।
- विभिन्न दण्ड विधान
- संविधान
- प्रत्यायोजित अधिकार
- जनमत
- सत्ताधारी की विशेषता एवं कार्यकुशलता के व्यक्तिक गुण आदि ।

सत्ता के विभिन्न स्रोतों के संबन्ध में तीन सिद्धान्त बनाये गये है ।

- औपचारिक सत्ता सिद्धान्त यह विधिशास्त्रीय सिद्धान्त है । जो सत्ता का स्रोत राज्य के सर्वोच्च कानून/ संविधान को मानता है ।
- सहमति सिद्धान्त यह लोकतांत्रिक सिद्धान्त है जो सत्ता का स्रोत अधीनस्थों को मानता है ।
- सक्षमता सिद्धान्त इसके अनुसार सत्ता का स्रोत व्यक्ति की योग्यता एवं सक्षमता के गुण है । सत्ता के आधार निम्नलिखित है :
    - औचित्यपूर्णता सत्ता का प्रमुख आधार है ।
    - अधिनस्थों की यह मान्यता कि सत्ताधारी के आदेश संगठन एवं व्यक्ति दोनो के हित में है, सत्ता को ठोस आधार देते है ।
    - पुरस्कार, प्रशंसा. दण्ड, लोभ आदि भी सत्ता के आधार है ।
    - जब अधीनस्थ नेतृत्व के व्यक्तिक गुणो से प्रभावित होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तो नेतृत्व के सत्ता का आधार माना जाता है ।
    - सत्ताधारी व अधिनस्थ के मूल्यों की एकता भी आधार होता है ।
    - वैधानिकता भी सत्ता का आधार मानी जाती है ।

सत्ता की सीमाएं - सत्ता अपनी प्रकृति से निरपेक्ष नहीं होती है । उस पर कई प्रतिबंध होते है। जैसे -

- सत्ता का प्रयोग निश्चित उद्देश्यों अर्थात् जनहित की 'रक्षा एवं वृद्धि के लिए ही किया जा सकता है, इसके विपरीत नहीं ।
- अधिनस्थों की सहमति हेतु सत्ता उनकी परम्पराओं, संस्कृति के अनुरूप हो यह भी आवश्यक है ।

- सत्ता के प्रयोग पर आधारभूत मानवाधिकारों की सीमा लागू होती है ।
- सत्ता के प्रयोग पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की भी सीमा होती है ।
- इसका प्रयोग अनेक संवैधानिक सीमाओं में किया जाता है ।
- सत्ताधारी के व्यक्तिक गुण तथा अधिनस्थो का सत्ता के प्रति दृष्टिकोण भी सत्ता के प्रयोग पर सीमा लगाते है।
- राज व्यवस्था में सक्रिय व्यवसायिक संगठन, श्रमिक संघ, दबाव समूह, समाचार पत्र आदि भी सीमा लगाते है ।
- अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, कानून, विश्व जनमत भी सीमा लगाते है ।

13.8.2 सत्ता की प्रकृति

सत्ता की प्रकृति या लक्षण या विशेषताएं निम्नलिखित है ।

1) सत्ता संबंधात्मक होती है सत्ता की अवधारणा कम से कम दो पक्षों के अस्तित्व को स्वीकारती है, जिन्हें हम क्रमश: आदेश देने वाला पक्ष तथा आदेश का अनुकरण करने वाला पक्ष कह सकते हैं
2) सत्ता प्रभुत्व प्रदान करती है सत्ता मिलने पर उस व्यक्ति को स्वत: ही अपने अधिनस्थों पर प्रभुत्व भी प्राप्त हो जाता है ।
3) सत्ता औचित्यपूर्ण एवं मर्यादित होती है औचित्यपूर्णता सत्ता की प्रमुख विशेषता है जिसके कारण उसका सम्मान किया जाता है और सत्ताधारी को न्यायपूर्ण माना जाता है ।
4) सत्ता उत्तरदायित्वपूर्ण होती है प्रत्येक सत्ताधारी अपने अधिनस्थों को दिये जाने वाले आदेशों तथा आज्ञाओं के लिए अपने से उच्च सत्ता के प्रति उत्तरदायी होती है ।

13.8.3 सत्ता के प्रकार

सत्ता के स्रोत, आधार अथवा प्रयोग को दृष्टि में रखते हुए सत्ता के अनेक प्रकार बताए जा सकते हैं, जिनमें से प्रमुख निम्न है

(1) **संवैधानिक एवं कानूनी सत्ता** जब किसी पद या संस्था को संविधान के द्वारा सत्ता सौंपी जाती है तो इसे संवैधानिक सत्ता कहा जाता है । उदाहरण के लिए-भारत में उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, संसद, सर्वोच्च न्यायालय इसी का एक विशेष प्रकार कानूनी सत्ता है । भारत में संसद या विधान सभा कानून बनाकर शासन के विभिन्न दिमागों और अधिकारियों को जो सत्ता सौपती है वह कानूनी सत्ता का उदाहरण है ।

(2) **राजनीतिक सत्ता.** इसका अर्थ किसी राज्य की राजनीतिक कार्यपालिका की सत्ता माना जाता है । संसदीय प्रणाली में प्रधानमंत्री की सत्ता मूलत: राजनीतिक सत्ता ही है ।

(3) **परम्परागत सत्ता** जब सत्ता का आधार व स्रोत परम्परा ही तो है तो उसे परम्परागत सत्ता कहा जाता है जैसे ब्रिटेन मे राजा की सत्ता ।

(4) **चमत्कारिक सत्ता** जब कोई नेता श्रेष्ठ व्यक्ति के आधार पर सफलता प्राप्त करता है जनता उसे नायक मानती है जैसे नेहरू जी ।

(5) **सरकार के अंगो में निहित सत्ता** कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका नामक अंगों में विभिन्न यात्रा में सत्ता निहित होती है । जिसे क्रमश: राजनीतिक सत्ता, विधायी सत्ता तथा न्यायिक सत्ता कहते हैं ।

(6) **क्षेत्रीयता के आधार पर सत्ता** राष्ट्रीय सत्ता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता हो सकती है । राष्ट्रीय सत्ता के तीन उपभेद हो सकते है-स्थानीय सत्ता, प्रान्तीय सत्ता और संघीय सत्ता

(7) **संख्या को दृष्टि से सत्ता सत्ता** का प्रयोग करने वाला व्यक्तियों की दृष्टि से सत्ता के अग्रलिखित प्रकार है-एकल, बहु ल, आयोगात्मक अथवा मण्डलात्मक सत्ता ।

(8) **विषय की दृष्टि से** जब किसी पद अथवा अस्ति की सत्ता का आधार एवं स्रोत धर्म, समाज, अर्थ या तकनीकी ज्ञान होता है, तो उस सत्ता को क्रमश: धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा तकनीकी सत्ता कहा जाता है ।

मैक्सवेबर के अनुसार सत्ता के तीन प्रकार होते हैं ।

(1) परम्परागत सत्ता

(2) बौद्धिक कानूनी या कानूनी नौकरशाही सत्ता

(3) चमत्कारिक या करिश्माई सत्ता

13.9 सरकार कीं अवधारणा

राज्य एक ऐसी निराकार संस्था होती है, जिसके द्वारा स्वयं कोई कार्य नहीं किया जा सकता । सरकार राज्य का अत्यंत आवश्यक तत्व होता है और राज्य अपनी संप्रभु शक्ति का प्रयोग सरकार के माध्यम से ही करता है । डी गार्नर के अनुसार राज्य की इच्छाओं की प्रति जिस संगठन या ऐजेन्सी के द्वारा होती है उसका नाम सरकार है । सॉस्टाऊ के शब्दों में सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, संस्थाओं एवं साधनों से होता है, जिसके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है ।

बर्फ ने कहा है सरकार मानव बुद्धि का आविष्कार है जिसके द्वारा मनुष्य की इच्छाएं पूर्ण की जाती है ।

सरकार के अंग राजनीति विज्ञान के सभी विद्वानों द्वारा सरकार को एक से अधिक अंगों में विभाजित करने की आवश्यकता अनुभव की गयी है ।

कुछ व्यक्तियों द्वारा तो सरकार के केवल दो ही विभाग - व्यवस्थापिका और कार्यपालिका - बतलाये गए हैं तो कुछ अन्य व्यक्तियों द्वारा सरकार के 5 या 8 बतलाये गये हैं किन्तु राजनीति विज्ञान के विद्वानों की सामान्य धारणा है कि सरकार के प्रमुख रूप से तीन अंग होते है -

व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका

सरकार के संगठन के संबन्ध में तथा तीनों अंगों के पारस्परिक संबंधों के बारे में प्रचलित सिद्धान्तों में मोंटेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति प्रथक्करण का सिद्धान्त सबसे अधिक प्रमुख है । जिसके अनुसार तीनों अंग पृथक-पृथक अपना-अपना कार्य करें ।अर्थात् व्यवस्थापिका का कार्य कानून बनाना होना चाहिए कार्यपालिका उन कानूनों को क्रियान्वित करें और शासन

करें तथा न्यायपालिका उन कानूनों के अनुसार निर्णय करे । सरकार के तीनों अंगों का विचार निम्न रूप में कर सकते हैं ।

13.9.1 व्यवस्थापिका

आधुनिक युग में राज्य के कानून का निर्माण करने वाली संस्था को व्यवस्थापिका कहा जाता है । प्राचीन काल व मध्य युग तक कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका का कार्य करती थी आधुनिक युग में सभी राज्यों में व्यवस्थापिका को देख सकते है इंग्लैण्ड की संसद आधुनिक युग की सबसे पहली लोकतांत्रिक संसद है, अत: इसे लोकतांत्रिक राज्यों में संसदों की जननी' कहा जाता है ।

विभिन्न देशों में व्यवस्थापिका के विभिन्न नाम है जैसे-ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत ने इसे संसद, अमेरिका में कांग्रेस, जापान में डायट (Diet), फ्रांस में राष्ट्रीय सभा तथा स्विट्जरलैण्ड में संघीय सभा कहा जाता है । विभिन्न देशों में 'इसके नाम ही नहीं शक्तियों में भी अंतर है ।

व्यवस्थापिका का अर्थ किसी राज्य की सरकार के उस विशिष्ट अंग से समझा जाता है जो कानून के निर्माण एवं प्रशासन नीतियों के निर्धारण का कार्य करता हैं ।

आधुनिक राजनीतिक समाजों में विधि का औचित्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित हो एवं उसका प्रयोग भी प्रभावी तभी हो सकता है । लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका का महत्व अधिक हो जाता है तो यह कानून निर्माण का ही कार्य नहीं करती है अपितु शासन की नीतियों को भी तय करती हैं । यह जनता की प्रतिनिधि सभा होती है तथा शासन पर नियंत्रण रखने के लिए राजनीतिक प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है । इसे राष्ट्र का दर्पण तथा जन इच्छा का मूर्त रूप कहते है । इंग्लैण्ड में संसदीय शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका को महत्व देते हुए उसकी सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है गिलक्राइस्ट ने इसकी महत्व की स्पष्ट करते हुए लिखा है - "विधायी सत्ता सरकार के प्रमुख आधार का निर्माण करती है, न्यायपालिका छोटे आधार का और कार्यपालिका अन्त का ।" जिस प्रकार प्रमुख आधार छोटे या अन्त से महत्वपूर्ण होता है उसी प्रकार व्यवस्थापिका न्यायपालिका और कार्यपालिका से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है ।

व्यवस्थापिका की शक्तियां एवं कार्य किसी व्यवस्थापिका के कार्य एवं शक्तियाँ उस संविधान एवं सामाजिक राजनीतिक स्थितियों के अनुरूप होते है जिनके अन्तर्गत वह क्रियाशील होती है । इस दृष्टि से आधुनिक युग में मौटे तौर पर दो तरह की व्यवस्थापिकायें होती है -

सर्वाधिकारवादी राजव्यवस्था को व्यवस्थापिका

लोकतांत्रिक राजव्यवस्था की व्यवस्थापिका

सर्वाधिकारवादी शासन में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति के कारण व्यवस्थापिका कार्यपालिका का अनुकरण करने वाली व सीमित होती है किन्तु लोकतंत्र में विकेन्द्रीकरण के कारण प्रत्येक अंग के कार्य स्पष्ट निश्चित होते है तथा यह न्यायपालिका व कार्यपालिका से श्रेष्ठ होती है । किन्तु उसमें भी अध्यक्षतात्मक शासन की तुलना में संसदीय शासन प्रणाली में अन्य दोनो अंगों की तुलना में व्यवस्थापिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है ।

लोकतन्त्र में व्यवस्थापिका की शक्तियां एवं कार्य निम्न होते हैं

1. **कानून निर्माण** प्रत्येक व्यवस्थापिका का सबसे प्रमुख एवं महत्वपूर्ण कार्य कानून निर्माण करना है । यह संविधान द्वारा निश्चित की गई, सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए आवश्यकतानुसार नये कानूनों का निर्माण करती है या कानूनों में संशोधन या उन्हे समाप्त करती है । प्रत्येक देश में कानून निर्माण प्रक्रिया के अनुसार कानून निर्माण किया जाता है ।

2. **संविधान में संशोधन करने का कार्य -** प्राय: सभी देशों में व्यवस्थापिका यह कार्य करती है किन्तु संशोधन प्रक्रिया में अन्तर होता है । जिन देशों में लचीला संविधान होता है, वहां व्यवस्थापिका अपने साधारण बहुमत द्वारा संविधान में संशोधन कर देती है जैसे इंग्लैण्ड में । किन्तु कठोर संविधान वाले देशों में संशोधन प्रक्रिया भी कठोर अपनाई जाती है, ।

3. **राष्ट्रीय बजट का नियंतत्रण** व्यवस्थापिका का राष्ट्रीय आय व्यय पर पूरा नियन्त्रण होता है। यह इस उद्देश्य से वार्षिक बजट पारित करती है । यह बजट द्वारा सरकार को होने वाली वार्षिक आय प्राप्त करने के तरीके, वार्षिक व्यय तथा व्यय के तरीके को तय करती है ।

4. **प्रशासन पर नियंत्रण** लोकतंत्रीय शासन में व्यवस्थापिका जनप्रतिनिधि संस्था होती है और इस रूप में इसका कार्य प्रशासन पर नियन्त्रण भी होता है । किन्तु यह अध्यक्षात्मक एवं संसदात्मक शासन पर नियंत्रण भी होता है । किन्तु यह अध्यक्षात्मक एवं संसदात्मक शासन में भिन्न-भिन्न तरीके से रखा जाता है । संसदीय शासन में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर निंदा प्रस्ताव बजट में कटौती, प्रश्न व पूरक प्रश्न, स्थगन प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नियन्त्रण करती है ।

अध्यक्षात्मक व व्यवस्थापिका प्रशासन की कुछ शक्तियों जैसे संधियों व नियुक्तियों को स्वीकार देना, जांच समितियों की नियुक्ति, युद्ध और शांति की घोषणा का प्रयोग करती है ।

5. **न्याय सम्बन्धी कार्य** व्यवस्थापिका यह कार्य भी करती है । इंग्लैण्ड में तो व्यवस्थापिका का उच्च सदन लार्ड सभा उच्चतम अपील न्यायालय के रूप में ही कार्य करता है। फ्रांस की 'गणतन्त्र परिषद', अमेरिका की कांग्रेस और भारत की संसद को भी उच्च कार्यपालिका पदाधिकारियों पर महाभियोग लगाने और उनका निर्णय करने का अधिकार प्राप्त है ।

6. व्यवस्थापिका के अन्य कार्य

(क) **निर्वाचन संबंधी कार्य** व्यवस्थापिका यह कार्य भी करती है । भारत में केन्द्र व राज्यों की व्यवस्थापिका राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है । स्वीटजरलैण्ड में व्यवस्थापिका मंत्रीपरिषद व न्यायाधिशों का निर्वाचन करती

(ख) **समितियों व आयोग की नियुक्ति संबंधी** यह विशेष कार्यो की जांच के लिए विभिन्न समितियों व आयोगों की नियुक्ति करती है । और उनकी रिपोर्ट पर निर्णय करती है ।

(ग) **विचार विमर्श तथा जनभावनाओं की नियुक्ति** यह प्रतिनिधि संस्था होती है । और इस रूप में वह सार्वजनिक समस्याओं पर विचार विर्मश करती है और जनता की भावनाओं को प्रकट करती हे।

(घ) **नीति निर्धारण संबंधी** यह प्रशासन की नीति निर्धारण भी करती है । कार्यपालिका इन नीतियों के अनुसार ही शासन का प्रबंध करती है ।

व्यवस्थापिका का संगठन व्यवस्थापिका के संगठन के बारे में दो तथ्यों पर प्रमुख रूप से विचार-विर्मश किया जाता है -

व्यवस्थापिका के सदनों की संख्या

इसके सदनों की रचना

व्यवस्थापिका के सदनों की संख्या व्यवस्थापिका का संगठन दो रूपों में हो सकता है या तो एक सदनात्मक या दो सदनात्मक । प्रारंभ में एक सदनात्मक ही होती है किन्तु बाद में प्रथम सदन के द्वारा किये गए कार्यो पर पुनर्विचार करने के लिए व्यवस्थापिका के दो सदनों पर बल दिया गया । वर्तमान में ज्यादातर देशों में द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका ही है किन्तु व्यवस्थापिका एक सदनात्मक या द्वि सदनात्मक होनी चाहिए इस के बारे में राजनैतिक विज्ञान के विद्वानों ने अपने-अपने मत दिये है । अत: दोनों के पक्ष-विपक्ष में मतों पर विचार किया जा सकता है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क - जब हम द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के. गुणों पर विचार करते है तो इसका अर्थ है यह अच्छी है किन्तु इसका अप्रत्यक्ष अर्थ यह होता है कि ऐसे गुण एक सदनीय व्यवस्थापिका से नहीं पाये जाते हैं और इसलिए एक सदनात्मक व्यवस्थापिका अच्छी नहीं है । इस बारे में प्रमुख तर्क निम्न है -

(1) **धैर्य एवं तर्क की दृष्टि' से विचार** प्रथम सदन द्वारा पारित प्रस्ताव पर द्वितीय सदन अधिक धैर्य व तर्क व शान्ति से विचार करने में समर्थ होता है । जॉर्ज वाशिंगटन के अनुसार द्वितीय सदन वह प्लेट है जिसमें प्रथम सदन की उबलती चाय ठण्डी की जाती है।

(2) **कानून की पूर्णता की दृष्टि से विचार** एक सदन द्वारा पारित किये गए कानून की कमियों को दूसरे सदन द्वारा दूर किया जा सकता है । फिर जब तक जनमत की प्रतिक्रिया भी मालूम हो जाती है ।

(3) **एक सदन की निरंकुशता से रक्षा** एक सदनात्मक व्यवस्थापिका में विधि निर्माण की सारी शक्तियां उसके पास रहती है । अत: भ्रम रहता है कि बह स्वेच्छाचारी / निरंकुश न हो जाए ।

(4) **विशिष्ट वर्ग को प्रतिनिधित्व देने को दृष्टि से विचार** समाज में विद्या, धन, कला, विज्ञान, संस्कृति. अल्पसंख्यक समूह आदि की दृष्टि से विशिष्ट वर्ग को, प्रथम सदन जो कि सामान्य जनता द्वारा चुना जाता है स्थान नहीं मिलने पर दूसरे सदन में स्थान दिया जाता है ।

(5) **कार्यपालिका की स्वतन्त्रता को दृष्टि से विचार** एक सदन होने पर कार्यपालिका के प्रति कठोर व्यवहार हो सकता है जिसका असर प्रशासन की कुशलता पर पडता है । किन्तु दो सदन होने पर कार्यपालिका के प्रति व्यवहारिक व सहानुभूति पूणे रूख होने से बह स्वतंत्र बनी रहती है ।

(6) **कार्य भार कीं दृष्टि से विचार** लोक कल्याणकारी एवं लोकतंत्रीय शासन में राज्य के कार्य की पूर्ति हेतु कानून निर्माण क्षेत्र में वृद्धि हुई है । और इस कार्य भार का कुशलता पूर्ण संचालन दो सदनों द्वारा ही किया जा सकता है ।

(7) **योग्यता एवं अनुभव की दृष्टि से विचार** प्रथम सदन में चुने हुए व्यक्ति होते हैं । समाज में कई योग्य व अनुभवी व्यक्ति होते है जो चुनाव लड़ना पसंद नहीं करते लेकिन उनकी

सेवाओं का लाभ कानून निर्माण हेतु लाभकारी होता है । ऐसे व्यक्तियों को दूसरे सदन में नामजद किया जा सकता है । और लाभ उठा सकते हैं ।

(8) **जनमत निर्माण की दृष्टि से विचार** द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में एक सदन में पारित होने पर विधेयक दूसरे में जाता है तब तक समाचार पत्र आदि में उसके पक्ष-विपक्ष में पर्याप्त विचार आ चुके होते है । इस तरह द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका जनमत निर्माण का कार्य करती है ।

(9) **संघात्मक राज्य की दृष्टि से विचार** संघात्मक राज्य में द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका को अनिवार्य माना जाता है । क्योंकि द्वितीय सदन संघ की ईकाइयों की प्रतिनिधि करने वाला सदन होता है । इस दृष्टि से फाइनर मेरियट ने संघ राज्य में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की प्रणाली का समर्थन किया है ।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क इसका अप्रत्यक्ष अर्थ यह है कि यदि हम एक सदनीय व्यवस्थापिका प्रणाली को अपनाये तो द्वि सदनात्मक से होने वाली हानि से बचा जा सकता है । इस संबंध में प्रमुख तर्क इस प्रकार है -

1. **जनता के प्रतिनिधित्व के लिए एक सदन उचित है** लोकतंत्र में व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करती है और किसी एक समय में जनमत एक ही प्रकार का होता है अत: एक ही सदन होना चाहिए ।

2. **प्रभु सत्ता के सिद्धान्त की दृष्टि से विचार** लोकतंत्र में व्यवस्थापिका की प्रभुसत्ता युक्त संस्था माना जाता है किन्तु यह द्वि सदनात्मक होती है तो दोनो में विपरीत विचार होने पर ऐसा लगता है कि प्रभुसत्ता को दोनों सदनों में विभाजित कर दिया गया है । वस्तुत: प्रभुसत्ता अविभाज्य होती है । अत: एक सदन होना चाहिए ।

3. **कानून पर पुन: विचार करने के लिए द्वितीय सदन आवश्यक नहीं** वर्तमान में कानून निर्माण प्रक्रिया इतनी अच्छी है कि गंभीरतापूर्वक विचार के बाद ही विधेयक पारित किया जाता है । और राजनीतिक जागरूकता तथा जनमत निर्माण के साधनों द्वारा जनता की प्रतिक्रिया से भी परिचित हो जाते है अत: द्वितीय सदन आवश्यक नहीं है ।

4. **प्रथम सदन की निरंकुशता की दृष्टि से विचार** प्रथम सदन जनता द्वारा प्रत्यक्ष चुना जाता है और इसे लोकतंत्रीय एवं संवैधानिक रूप से कानून निर्माण का अधिकार होता है अत: यह निरकुंश नहीं हो सकता है । फिर द्वितीय सदन की शक्तियाँ इतनी कम होती है कि वह प्रथम को नियंत्रित करने में असफल रहता है ।

5. **द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका में गतिरोध संभव है** व्यवस्थापिका में दो सदन होने पर नीतियां कानून निर्माण के बारे में परस्पर मतभेद की गुंजाइश रहती है उससे निर्णय में देरी तथा शासन की कुशलता पर विपरित प्रभाव पड़ता है ।

6. **प्रगतिशील विधि निर्माण की दृष्टि से विचार** द्वितीय सदन में ज्यादातर देशों में अधिक उग्र और परम्परावादी व्यक्ति होते हैं जिनका निर्वाचन अमेरिका को छोड़कर अप्रत्यक्ष रूप से होता है । जबकि प्रथम सदन प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है । जिसमें जनता की प्रगतिशील आवश्यकता के अनुसार कानून के निर्माण की संभावना रहती है । अत: दूसरा सदन अनुपयोगी होता है ।

7. **विशिष्ट वर्गो को प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से विचार** इस दृष्टि से द्वितीय सदन की आवश्यकता नहीं है बल्कि प्रथम सदन में ही इन वर्गो के लिए कुछ स्थान आरक्षित करके व्यवस्थापिका में इन्हे स्थान दिया जा सकता है ।

8. **द्वितीय सदन के संगठन एवं शक्तियों की समस्या** सभी देशों में प्रथम सदन का संगठन प्रत्यक्ष रूप से होता है किन्तु द्वितीय संगठन में विभिन्न देशों में विभिन्न पद्धति अपनाई जाती है तो प्रथम सदन की पुनरावृत्ति होती है तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन हो तो निर्वाचक मण्डल के भ्रष्ट होने की संभावना रहती है । आनुवांशिक हो तो यह अप्रजातांत्रिक हो जाता है । अत: एक सदनात्मक व्यवस्थापिका ही ठीक है ।

9. **समय व धन की दृष्टि से विचार** कानून निर्माण हेतु जो प्रक्रिया प्रथम सदन में अपनाई जाती है यही द्वितीय मे भी होती है लेकिन फिर भी द्वितीय सदन की शक्तियां कम है । अत: दूसरा सदन समय त्र धन का अपव्यय करने वाला ही होता है ।

10. **संघ राज्यों के लिए द्वि सदन आवश्यक नही** राज्य के हितों का प्रतिनिधित्व देने के लिए संघीय शासन में दूसरा सदन आवश्यक माना जाता है किन्तु वर्तमान में राष्ट्रीय दलों के विकास ने इस तर्क को निरर्थक बना दिया है । क्योंकि दूसरा सदन भी राजनीतिक दलबंदी के आधार पर चुना जाता है, जो दल के निर्देशों के अनुसार आचरण करते हैं, राज्य के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करते है ।

सैद्धान्तिक दृष्टि से द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विरोध में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते है किन्तु व्यवहार में यूनान,बलगारिया फिनलैण्ड आदि जैसे छोटे राज्यों को छोड्कर अधिकांश राज्यों में द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका को ही अपनाया गया है जैसे - भारत, इंग्लैण्ड. फ्रांस, चीन, जापान आदि । इतिहास का अनुभव भी इसके पक्ष में दिखाई देता है उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में क्रामवैल काल में तथा अमेरिका में स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद एक सदनीय व्यवस्थापिका अपनाई गई लेकिन असफल हुए और द्विसदनात्मक बनायी गई । फ्रांस में भी ऐसा अनुभव रहा है ।

आधुनिक काल में सभी विद्वान द्वितीय सदन की उपयोगिता को स्वीकारते हैं । किन्तु इस के सफल संचालन के लिए आवश्यक है कि द्वितीय सदन को शक्तियों व कार्यो की दृष्टि से प्रथम सदन का सहयोगी बनाना चाहिए, प्रतिद्वन्दी नहीं । संक्षेप में द्वितीय सदन की शक्तियां प्रथम सदन के समान या उससे अधिक नहीं होनी चाहिए ।

सदनों को रचना सर्वत्र प्रथम सदन की रचना प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचन के माध्यम से होती है । किन्तु उच्च सदन के बारे में मतभेद है । इस संबंध में निम्न सिद्धान्त प्रचलित है-

1. **वंशानुगत सिद्धान्त** जैसे इंग्लैण्ड में लार्ड सभा के सदस्यों की नियुक्ति की जाती है । यह आलोकतांत्रिक है।
2. **नाम निर्देशन का सिद्धान्त** इस आधार पर कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि में है । यह अलोकतांत्रिक है व सरकार द्वारा अपने समर्थकों के हित में इसका दुरूपयोग किया जा सकता है ।

3. **अप्रत्यक्ष निर्वाचन** यह व्यवस्था ब्राजील में है । आलोचना की जाती है कि यह भ्रष्टाचार को बढ़ाती है ।
4. **प्रत्यक्ष निर्वाचन** अमेरिका व जापान में है । लेकिन यह प्रथम सदन की पुनरावृत्ति होती है तथा दोनों में गतिरोध की आशंका है ।
5. **प्रथम सदन द्वारा निर्वाचन** नार्वे में प्रचलित है इसके भ्रष्टाचार तथा प्रथम सदन की उपसमिति का रूप बन सकती है ।

मिश्रित पद्धति सभी में कुछ कमियां है अत: भारत में द्वितीय सदन राज्य सभा के निर्माण में अप्रत्यक्ष निर्वाचन के साथ मनोनयन को भी अपनाया गया हैं ।

द्वितीय सदन के सदस्यों के वेतन, विशेषाधिकार तथा कार्यकाल के बारे में भी विभिन्न विद्वानों के मतभेद है तथा व्यवहार में रचना की तरह ही विश्व के देशों में भिन्नता पायी जाती है ।

व्यवस्थापिका का पाटन / अवनति लार्ड ब्राइस ने 1925 में अपनी पुस्तक 'Modern Democracies' के अन्तर्गत व्यवस्थापिकाओं के पतन की चर्चा की थी. उन्होने इसका कारण व निवारण भी बताए है निरपेक्ष दृष्टि से तो व्यवस्थापिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है । किन्तु कार्यपालिका के सापेक्ष या मुकाबले में उनकी शक्तियां करीब-करीब सभी पहलुओं में कम हुई है । के.सी. डीयर कहते हैं, वर्तमान में कार्यपालिका के कार्यो में वृद्धि, प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा, रेडियो, टी.बी. विशेषज्ञ समितियों व सेना पर कार्यपालिका का नियंत्रण, विदेश संबंधो की प्रधानता. लोककल्याणकारी राज्य, बड़े-बड़े अनुशासित दलों के विकास आदि के कारण व्यवस्थापिका की अवनति या ह्रास हो रहा है । इसी कारण एक सामान्य सी प्रवृत्ति बन रही है कि संसद का ह्रास हो रहा है ।

13.9.2 कार्यपालिका

यह सरकार का द्वितीय महत्वपूर्ण अंग है । यह राज्य के प्रशासन का संचालन करती है और इस प्रकार व्यवस्थापिका द्वारा व्यक्त सामान्य इच्छा को मूर्त रूप प्रदान करती है ।

गिलक्राइस्ट के अनुसार - कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में अभिव्यक्त जनता की इच्छा को कार्य रूप में परिवर्तित करता है ।

व्यापक अर्थ में कार्यपालिका राजनीतिक पदाधिकारी तथा स्थायी सार्वजनिक कर्मचारी वर्ग से मिलकर बनती है । गार्नर का मत है-'विस्तृत एवं सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका विभाग में दे सब अधिकारी तथा संस्थाएं शामिल है जो कानून के रूप में निर्मित एवं अभिव्यक्त राज्य की इच्छा को क्रियान्वित करते हैं । संकीर्ण अर्थ में कार्यपालिका में केवल राजनीतिक पदाधिकारी ही सम्मिलित किये जाते है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सरकार का वह अंग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये तथा न्यायपालिका द्वारा मान्य कानूनों को राज्य में लाग करता है । इसके मुख्यत: दो भाग होते हैं -

1. राजनीतिक कार्यपालिका 2. स्थायी कार्यपालिका

राजनीतिक कार्यपालिका विधियों के आधार पर प्रशासन से संबंधित विभिन्न विभागों के संबंध में नीति निर्माण करती है और स्थायी सेवा वर्ग नीति निर्माण में सहायता देना और प्रमुख रूप से नीति को क्रियान्दित करता है । राज विज्ञान में संकुचित अर्थ में इसका प्रयोग राजनीतिक कार्यपालिका के लिए ही किया जाता है ।

गिलक्राइस्ट ने कार्यपालिका का महत्व बताते हुए लिखा है, 'यह वह धूरी है जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासन तंत्र घूमता है और प्रशासन में व्यस्त सभी पदाधिकारी इसके अन्तर्गत आते है । प्राचीन काल से मध्यकाल तक कार्यपालिका की सत्ता ही सर्वोपरि होती थी किन्तु आधुनिक युग लोकतंत्र के युग में व्यवस्थापन व न्यायिक शक्तियों को पृथक कर कार्यपालिका की शक्तियों की सीमित एवं नियंत्रित कर दिया गया । लोकतंत्रीय राज्य अपनी प्रकृति से ऐसे संविधानवादी राज्य है जो सीमित शक्ति वाली एवं उत्तरदायी कार्यपालिका में विश्वास रखते हैं । लेकिन लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्वीकार किया गया है जिससे राज्य के प्रशासनिक कार्यो एवं दायित्व में वृद्धि हुई है । इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में विदेश नीति के क्षेत्र में भी राज्य के कार्य बढ़े है । जिससे कार्यपालिका के कार्य, शक्तियों एवं दायित्वों में वृद्धि हुई है । यह सरकार का अंग मात्र ही नही वरन् व्यवहार में सरकार शब्द का प्रयोग ही इसके लिए किया जाता है ।

कार्यपालिका के प्रकार - कार्यपालिका के प्रमुख रूप से निम्न प्रकार हो सकते हैं -

1. **नाममात्र एवं वास्तविक कार्यपालिका** जब राज्य के शासनाध्यक्ष को संवैधानिक दृष्टि से सम्पूर्ण प्रशासनिक अधिकार प्राप्त होते है किन्तु व्यवहार में उसकी शक्तियाँ नाम मात्र की ही होती है तो इस प्रकार की कार्यपालिका को नाममात्र की कार्यपालिका कहते है । ब्रिटेन के राजा या रानी, जापान का राजा तथा भारत का राष्ट्रपति नाम मात्र की कार्यपालिका के उदाहरण है ।

इनके विपरीत वास्तविक कार्यपालिका वह है जो व्यवहार में प्रशासन की सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग करती है । उदाहरण ब्रिटेन जापान तथा भारत में प्रधानमंत्री सहित मंत्रीमण्डल वास्तविक कार्यपालिका है ।

2. **एकल एवं बहुल कार्यपालिका** एकल कार्यपालिका के अन्तर्गत कार्यकारिणी की समस्त शक्ति किसी एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित होती है । उदाहरण के लिए अमेरिका की कार्यपालिका (राष्ट्रपति) एकल है । स्विटजरलैण्ड की कार्यपालिका बहुल है । यह सात सदस्यों से मिलकर बनती है । जिसमें एक अध्यक्ष होता है । लेकिन सभी सदस्य समान शक्तियां रखते है ।

3. **संसदीय य अध्यक्षात्मक कार्यपालिका** आधुनिक लोकतांत्रिक शासनों में पायी जाने वाली कार्यपालिकाओं के ये दो प्रमुख भेद है । संसदीय कार्यपालिका को उत्तरदायी कार्यपालिका कहा जाता है, क्योंकि यह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है । इसके लक्षण हैं -

(क) कार्यपालिका व व्यवस्थापिका में घनिष्ठ संबंध होते है । कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका में के भी सदस्य होते है ।

(ख) कार्यपालिका, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है ।

(ग) व्यवहार में कार्यपालिका भी व्यवस्थापिका को सामान्य अवधि से पहले भंग कर सकती है ।

(घ) कार्यपालिका सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करती है ।

(ङ) इसमे दोहरी कार्यपालिका होती है - नाममात्र एवं वास्तविक

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के प्रमुख लक्षण हैं -

कार्यपालिका का गठन व्यवस्थापिका से अलग होता है ।

कार्यपालिका की समस्त शक्तियों का निवास एक व्यक्ति अर्थात् राष्ट्रपति में होता है ।

व्यवस्थापिका कार्यपालिका को पदच्युद करने में असथ्र्य हेती है । उसे महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है ।

यूरोप, एशिया, अफ्रीका व आस्ट्रेलिया महाद्वीपों में संसदीय कार्यपालिका अधिक लोकप्रिय है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिका महाद्वीप में अध्यक्षात्मक कार्यपालिका अधिक लोकप्रिय है ।

4. **वंशानुगत तथा निर्वाचित कार्यपालिका -** इसमें कार्यपालिका अध्यक्ष वंशानुगत आधार पर नियुक्त होता है । यह इंग्लैण्ड, जापान, जोडर्न, नेपाल, स्वीडन, नार्वे आदि में है ।

निर्वाचित कार्यपालिका गणतंत्र में पायी जाती है । इसमें अध्यक्ष निर्वाचित होता है । भारत, फ्रांस, अमेरिका, इटली, जर्मनी आदि में है ।

कार्यपालिका की सत्ता में वृद्धि लोककल्याणकारी राज्य की धारणा प्रदत्त व्यवस्थापन. समस्याओं की जटिलता, नियोजन, अन्र्तराष्ट्रीय संबंध विदेशी व्यापार मंत्रिपरिषद द्वारा व्यवस्थापक के विघटन की शक्ति के कारण वर्तमान में कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि हुई है ।

कार्यपालिका का संगठन सम्पूर्ण कार्यपालिका के संगठन को दो प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है।

अ. राजनीतिक कार्यपालिका ब. स्थाई कार्यपालिका

(अ) राजनितिक कार्यपालिका

किसी देश की राजनीतिक कार्यपालिका का संगठन उस देश के राष्ट्राध्यक्ष एवं मंत्रिमण्डल द्वारा होता है । कार्यपालिका के चयन हेतु प्रमुख पद्धतियाँ है -

आनुवांशिक या पैतृक पद्धति - ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि देशों में राष्ट्राध्यक्ष की वंशानुगत आधार पर होती है, जो नाम मात्र की कार्यपालिका के रूप में कार्य करती है ।

जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन - कुछ देशों में मुख्य कार्यपालिका का निर्वाचन सीधे जनता द्वारा किया जाता है जैसे चिली, पेरु, मैक्सिको, ब्राजील, फ्रांस आदि ।

जनता द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन - इस पद्धति में जनता एक निर्वाचक मण्डल का चुनाव करती है वह मुख्य कार्यपालिका का चुनाव करता है । यह अमेरिका में होता है ।

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन-यह प्रणाली स्विटजरलैण्ड व भारत में विभिन्न रूपों में अपनाई गई है ।

मनोनयन द्वारा - कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड में गवर्नर जनरल की नियुक्ति मनोनयन द्वारा की जाती है । भारत में राष्ट्रपति राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति करता है ।

(ब) स्थायी कार्यपालिका - इसमें समस्त सार्वजनिक या सरकारी कर्मचारी वर्ग की गणना की जाती है । यह स्थायी इसलिए है क्योंकि राजनीतिक कार्यपालिका की तुलना में इसका कार्यकाल अधिक स्थायी होता है।

कार्यपालिका के कार्य - वर्तमान में राज्य के बारे में लोककल्याणकारी धारणा एवं लोकतंत्र के विस्तार के परिणामस्वरूप कार्यपालिका के कार्यो में वृद्धि हुई है और इसके परिणामस्वरूप कार्यपालिका के कार्यो में भी

असीमित विस्तार हुआ है । प्रमुख कार्य निम्न हैं -

1. <u>प्रशासन संबंधी कार्य</u> - कार्यपालिका शान्ति व व्यवस्था को बनाये रखने तथा व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों को लागू करने जैसे कार्यो को करती है । आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों ने समाज सेवा प्रशासन के सिद्धान्त को अपना लिया है । अत: अब कार्यपालिका कृषि, उद्योग व वाणिज्य संबंधी कार्य करने लगी है, यह सार्वजनिक स्वास्थ्य. शिक्षा, मनोरंजन, पर्यावरण, यातायात-संचार तथा श्रमिकों, स्त्रियों व अपाहिज बच्चों, गरीबों के कल्याण की योजनाओं को क्रियान्वित करने लगी है । इस कार्य के लिए एक प्रशासन तंत्र की स्थापना की जाती है । उसके अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति पदोन्नति, पदावनति, वेतन, पेंशन आदि संबंधी कार्य करती है ।

2. <u>कानून निर्माण संबंधी कार्य</u> - कार्यपालिका कानून निर्माण संबंधी कार्य करती है । अध्यादेश जारी करने, प्रदत्त व्यवस्थापन प्रणाली के अन्तर्गत नियम-उपनियम बनाने का कार्य करती है । संसदीय शासन में कार्यपालिका का व्यवस्थापिका में बहुमत होता है । इस कारण वह कानून बनवाने में सफल हो जाती है । अध्यक्षात्मक में ऐसा कम हो पाता है ।

3. <u>न्यायपालिका संबंधी कार्य</u> - यह न्यायाधीशों की नियुक्ति, क्षमादान करने की शक्ति. न्यायिक अभिकरणों की स्थापना संबंधी न्यायिक कार्य करती है ।

4. <u>वित्तीय कार्य</u> -. वार्षिक बजट कार्यपालिका द्वारा तैयार किया जाता है व्यवस्थापिका की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है । वह वार्षिक आय, व्यय, साधन आदि के बारे में प्रस्तावित करती है । व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत होने पर क्रियान्वित भी करती है ।

5. <u>वैदेशिक संबंधो के संचालन का कार्य</u> - कार्यपालिका प्रधान विदेशों में अपने राजदूत नियुक्त करता है तथा दूसरे देशों के राष्ट्र दूतों का स्वागत करता है । अन्य राज्यों से संधियां, समझौते, विदेश नीति का निर्धारण व संचालन का कार्य करती हैं । यद्यपि व्यवस्थापिका की भी भूमिका होती है किन्तु वर्तमान में कार्यपालिका की भूमिका महत्वपूर्ण है ।

6. <u>सैनिक कार्य -</u> बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा कार्यपालिका का प्रमुख कार्य है । इसके लिए वह स्थल, वायु व जल सेनाओं का नियंत्रण करती है । अध्यक्ष तीनों सेनाओं का प्रधान सेनापति भी होता है । युद्ध व शांति की घोषणा का अधिकारी होता है ।

7. <u>अन्य कार्य</u> - सभी देशों में कार्यपालिका विशिष्ट प्रतिमा एवं योग्यता वाले व्यक्तियों को विभिन्न अलंकारों या उपाधियों से सम्मानित करती हैं और राष्ट्र की विशिष्ट सेवा करने वाले नागरिकों को पेंशन आदि देकर उनकी आर्थिक सहायता करती है । यह विदेशी नागरिकों को नागरिकता का अधिकार भी प्रदान करने का कार्य करती है ।

इस प्रकार वर्तमान में कार्यपालिका के कार्य विस्तृत एवं महत्वपूर्ण हो गए है ।

13.9.3 न्यायपालिका

यह सरकार का तृतीय अंग है । अधिनायक तंत्र में न्यायपालिका. कार्यपालिका के अंग के रूप में कार्य करती है । किन्तु लोकतंत्र में न्यायपालिका का स्वतंत्र अस्तित्व होता है । यह कानूनों की व्याख्या करती है और पंक्तियों के आपसी विषयों के अलावा व्यक्ति व राज्य के विवादों पर भी निर्णय देती है ।

सी.एफ. स्ट्रांग के अनुसार न्यायपालिका शासन का वह विभाग है जिसका संबंध विधि का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करने से है । न्यायपालिका सदा ही न्यायधीशों का एक निकाय होती है, जो केन्द्र से और राज्य के दूर-दूर के क्षेत्रों में व्यक्तिक या सामुदायिक रूप में काम करते हैं ।

संसदीय शासन में न्यायपालिका संसद द्वारा पारित कानून का अनुसरण करने को बाध्य होते है । अध्यक्षात्मक लोकतंत्र (अमेरिका) में सर्वोच्चय न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार है जहाँ न्यायालय, व्यवस्थापिका के कानूनों को संविधान के अनुरूप नहीं होने पर रद्द कर सकता है ।

आधुनिक राज व्यवस्था में न्यायापालिका का विशेष महत्व है । यह व्यक्ति को न्याय प्रदान कराने के ' उस महान कार्य को पूरा करती है जिसके लिए नागरिक समाज (राज्य) की स्थापना की गई है । लोकतंत्र में तो न्यायपालिका न केवल व्यक्ति एवं वर्गो से अपितु कार्यपालिका की क्रूरता से भी निर्दोष व्यक्ति की रक्षा में समर्थ होती है । अत: मौलिक अधिकार की रक्षा के लिए भी न्यायपालिका का अस्तित्व आवश्यक है ।

गार्नर के शब्दों में 'न्याय विभाग के अभाव में एक सर्च राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती । कोई भी समाज बिना विधानमण्डल में रहता है, यह बात समझ में आ सकती है लेकिन किसी भी समय ऐसे राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती जिसमें न्यायपालिका की कोई व्यवस्था न हो ।

यह संघात्मक शासन में संविधान की व्याख्या और रक्षा कार्य करती है । संघ व इकाइयों के बीच शक्तियों के अतिक्रमण को रोकने का कार्य करती है, इस कारण महत्व है । यह न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति कहा जाता है ।

न्यायपालिका के कार्य लोकतांत्रिक राज्य में न्यायपालिका के प्रमुख कार्य निम्न हैं:

1. <u>संबन्धित समाज व्यवस्था की </u>रक्षा - आदर्श रूप में न्याय एक निरपेक्ष मान्यता है किन्तु व्यवहार में यह किसी समाज विशेष के आधारभूत सिद्धान्त व ढांचे को बनाये रखने का बुद्धि विधि एवं भावना से पूर्व प्रयत्न है । अर्थात् लोकतांत्रिक समाज व्यवस्था की रक्षा करती है।
2. <u>न्याय करना</u> - यह अपने समक्ष आने वाले अभियोगों, विवादों पर निर्णय देती है । चाहे वह व्यक्तियों, व्यक्ति व राज्य, संघ व राज्य के बीच हो सकते हैं ।
3. <u>कानून की व्यवस्था करना</u> - न्यायाधीश विभिन्न मुकदमों में संविधान, व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून तथा प्रथागत सिद्धांतों की व्याख्या तथा लागू करते हैं । वास्तव में कानून "लिखित शब्द मात्र होते है और न्यायाधीश अपनी व्याख्या द्वारा उन्हें जीवन्त बनाते है ।

4. <u>संविधान की रक्षा करना</u> - लोकतंत्र में जिन राज्यों ने संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकारा जाता है । उनमें सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार दिया जाता है । जिससे वह संविधान की रक्षा के साथ सामयिक संघीय आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करने में समर्थ हो जाता है । इससे वह व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका को संविधान का उल्लंघन एवं अतिक्रमण करने से रोकती है ।

5. <u>न्यायालय द्वारा कानून निर्माण</u>- कई बार ऐसे मुकदमे आते हैं । जिनके लिऐ कानून नहीं होता है । उनका निर्णय अनुभवी न्यायाधीशों द्वारा ऐसे विशेष मुकदमों में विवेक, औचित्य, तथ्य तथा परम्परा के आधार पर निर्णय कर देते है । इस प्रकार न्यायिक परम्परा को न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून कहा जाता है ।

6. <u>व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं अधिकारों की रक्षा</u> - लोकतंत्र में व्यक्ति की आधारभूत स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की रक्षा व्यक्तियों एवं राज्य किसी से भी रक्षा न्यायपालिका करती है।

7. <u>परामर्शात्मक कार्य</u> - कार्यपालिका या व्यवस्थापिका द्वारा परामर्श मांगने पर न्यायापालिका देती है । भारत, ब्रिटेन, कनाडा, पनामा, आस्ट्रेलिया आदि में है । किन्तु यह परामर्श उनके लिए बाध्यकारी नहीं होता है, यह मात्र सलाह होती है ।

8. अन्य कार्य -

(1) अधिनस्थ न्यायालयों के कार्यो का निरीक्षण करती है ।

(2) लिपिकों, अल्पव्यस्कों के सरंक्षकों की नियुक्ति, मृत व्यक्ति की सम्पत्ति के प्रबंधकों, सार्वजनिक सम्पत्ति के ट्रस्टियों की नियुक्ति करती है ।

(3) नागरिक विवाह को प्रमाणित करती है ।

(4) शपथ आयुक्त एवं अधिवक्ताओं को लाइसेन्स जारी करना ।

न्यायपालिका के प्रकार न्यायपालिका उदार संविधान व्यवस्था में स्वतंत्र न्यायपालिकाएं तथा अन्य में प्रतिबाधित न्यायपालिका स्थापित की जाती है । न्यायापालिका का प्रमुख उद्देश्य एवं कार्य होता है कार्यपालिका के प्रत्येक कार्य को न्यायिक औचित्य पूर्णता प्रदान करना है तो उसे प्रतिबद्ध न्यायपालिका कहते हैं ।

न्यायापालिका का संगठन इस प्रकार हो कि व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त हो, इस मान्यता पर आधारित हो कि न्याय का कार्य उच्च कोटि का तकनीकी विषय है। उसे शासन की तुलना में विधि शास्त्र का माना जाए तो स्वतंत्र न्यायपालिका होती है ।

न्यायपालिका का संगठन किसी देश की राजनीति व्यवस्था राजनीतिक दर्शन, परम्परा व अनुभवों के अनुरूप ही, वहां की न्यायपालिका का संगठन खड़ा किया जाता है । प्रमुख रूप से न्यायापालिका का संगठन इस प्रकार देख सकते हैं -

1. <u>पिरामिड के आकार का श्रृंखलाबद्ध संगठन</u> - इसका अर्थ है निम्न स्तर पर सीमित न्यायिक शक्ति वाले अनेक न्यायालय होते है और उनके ऊपर के स्तर पर न्यायालयों की संख्या में क्रमशः कभी किन्तु शक्तियों 'में क्रमश: वृद्धि होती जाती है । इन विभिन्न स्तरों के ऊपर एक सर्वोच्च न्यायालय होता है जो पूर्णत न्यायिक शक्ति सम्पन्न होता है । निम्न स्तर

के न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध उसे ऊपर के स्तर के न्यायालय में अपील की जा सकती है और अंतिम अपील सर्वोच्च न्यायालय में

2. <u>न्यायालय में पीठ व्यवस्था तथा एकल न्यायाधीश की व्याख्या</u> - सभी देशों की सर्वोच्च न्यायालयों में न्याय कार्य हेतु पीठ (बेंच) व्यवस्था को अपनाया जाता है इसमें न्यायाधीशों की संख्या तो मुकदमे में निहित संवेधानिक प्रश्नों एवं सार्वजनिक महत्व को ध्यान में रखकर की जाती है । इसके निर्णय बहुमत से तय किये जाते हैं ।

ब्रिटेन कनाडा, अमेरिका, भारत के निम्न स्तर में न्यायालयों में न्यायिक कार्य एक न्यायाधीश द्वारा ही किये जाते हैं -

3. <u>विभिन्न प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था</u>

<u>अ. संघीय राज्य में न्यायालय का संगठन -</u>

संघीय राज्य में दोहरा संगठन होता है - 1. संघीय न्यायालय 2. ईकाई राज्यों में न्यायालय

<u>ब. सामान्य एवं प्रकाशकीय न्यायालय -</u> फ्रांस में सामान्य नागरिकों संबंधी मुकदमे की सुनवाई हेतु सामान्य न्यायालय तथा प्रशासनिक अधिकारियों संबंधी मुकदमों की सुनवाई हेतु प्रशासकीय न्यायालय है ।

<u>स. विशिष्ट विषयों से संबंधित न्यायालय -</u> जेसे भारत में फौजदारी, दीवानी और माल से संबन्धित मुकदमों के लिए, जर्मनी में दीवानी, फौजदारी, प्रशासनिक एवं संवैधानिक संबंधी कुछ देशों में धार्मिक न्यायालय भी है । वर्तमान में बाल न्यायालय, श्रमिक न्यायालय, उपभोक्ता न्यायालय भी होते हैं ।

<u>द. दौरा न्यायालय</u> (Circuit Courts) - न्यायाधीश स्वयं विभिन्न क्षेत्रों में जाकर मुकदमों की सुनवाई करते है ब्रिटेन व अमेरिका में है. भारत में Board of revenue है ।

न्यायाधीशों की नियुक्ति को पद्धति प्रमुख रूप से निम्न है -

जनता द्वारा निर्वाचन व्यवस्था सर्वप्रथम फ्रांस में अपनाई गई थी । स्विटजरलैण्ड के कैण्टनों, अमेरिका के राज्यों तथा भारत में राज्यों की न्याय पंचायतों. में है ।

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन यह प्रणाली अमेरिका में कुछ राज्यों तथा संघीय न्यायालय में है ।

कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति यह अमेरिका. ब्रिटेन, भारत. कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि में प्रचलित है । वर्तमान में तीसरी प्रणाली ही लोकप्रिय है । इसे कुशल बनाने हेतु लॉस्की ने यह परामर्श दिया कि कार्यपालिका द्वारा भूतपूर्व न्यायाधीशों की समिति द्वारा सुझाये गए नामों को न्यायाधीश नियुक्त करना चाहिए ।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता इसका अर्थ है कि वह अपने न्यायिक कार्यो को करने में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के नियंत्रण से पूर्णतया मुक्त हो । इसके लिए आवश्यक है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति निष्पक्ष तरीके से हो, न्यायाधीश उच्च योग्यता एवं चरित्र वाले हो, लम्बा कार्यकाल तथा पदोन्नति की उचित व्यवस्था होनी चाहिए, पर्याप्त वेतन, भत्ता आदि की व्यवस्था होनी चाहिए, उनके द्वारा दिये गये निर्णयों की सार्वजनिक आलोचना दण्डनीय हो । अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत पर प्रतिबंध होना चाहिए. कार्यपालिका से पृथकरण हो ।

इस तरह लोकतांत्रिक व्यवस्था में ऐसे स्वतंत्र व निष्पक्ष न्यायालय की स्थापना हो सकेगी, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं संविधान की रक्षा करने में समर्थ हो ।

13.10 राष्ट्रीय राज्य एवं राष्ट्रीयता

आधुनिक युग में राज्य के विकास की अवस्था है - राष्ट्रीय राज्य एवं राष्ट्रीयता । इस इकाई के अन्तर्गत राष्ट्रीय राज्य के विकास की अवस्था को तथा राष्ट्रीयता की अवधारणा का अध्ययन किया जायेगा । तभी राज्य के विकास को पूर्णतया समझा व जा सकता है ।

आधुनिक युग में राष्ट्र और राज्य प्राय: एकाकार हो गए हैं । राज्य की सीमाओं को राष्ट्रीय सीमाएं कहा जाता है, राज्य के हित को राष्ट्रीय हित कहा जाता है और विभिन्न राज्यों के परस्पर संबंधो को अन्तर्राष्ट्रीय संबंध कहा जाता है । राष्ट्र राज्य में वहां के सभी निवासी आ जाते है, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म मापा या संस्कृति इत्यादि से संबंध रखते हो, शर्त यह है कि वे अपने सामान्य इतिहास सामान्य हित और सामान्य जीवन के महत्व के प्रति सजग हों और एक केन्द्रीय सत्ता के प्रति निष्ठा रखते हो ।

13.10.1 राष्ट्रीय राज्य के विकास की अवस्थाएं

वस्तुत: आधुनिक राष्ट्र राज्य का विकास मानव सभ्यता के बहुत लम्बे इतिहास की परिणति है । साधारणतया: इस विकास की प्रमुख अवस्थाएं इस प्रकार हैं -

1. **कबीला राज्य** (Tribal State) - यह राज्य का सबसे पुराना रूप है जिसमें छोटे-छोटे कबीले अपने-अपने सरदार के शासन में रहते थे । कबीले के सरदार को परामर्श देने के लिए एक सभा होती थी । कुछ कबीले खानाबदोश थे जिन्हे राज्य कहना ठीक नहीं होगा । अधिकांश कबीले निश्चित क्षेत्रों में बस गए थे । ये जाति, धर्म, आर्थिक हित के बंधनों में बंधे थे और शत्रुओं से मिलजुल कर मुकाबला करते थे । आस्ट्रेलिया के आदिवासी कबीलों के संगठन इस श्रेणी में आते है ।
2. **प्राच्य सामाज्य** (Oriental Empire) - यह वह स्थिति है जब नील गंगा. पीली नदी आदि की उर्वर घाटियों में प्रारंभिक सभ्यता का विकास हुआ और शहर बन गए । इन जगहों पर भिन्न-भिन्न स्वजन समूहों के लोग आकर मिल जुलकर रहने लगे । इन्होने मुकाबला करने में निपुणता प्राप्त करके अन्य क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की । प्राचीन मिश्र, बेबीलोन,सीरिया, भारत और चीन के साम्राज्य इसी श्रेणी में आते हैं ।
3. **यूनानी नगर राज्य** (Greek City State) - जब ईजियन और भूमध्य सागर की ओर सभ्यता का विस्तार हुआ तब यूरोप प्रायद्वीप में भी राज्य का उदय हुआ। इस तरह यूनानी नगर राज्य अस्तित्व में आप क्योंकि वहां पर्वतों, घने जंगलो और समुद्र ने भूमि को ऐसी अनेक घाटियों और द्वीपो में बांट दिया था जिनकी रक्षा करना सरल था परन्तु समुद्री मार्ग से ये आपस में जुडे हुए भी थे । यहाँ छोटे-छोटे नगर राज्य होने के कारण शक्तिशाली निरंकुश राज्य अस्तित्व में नहीं आए ताकि यहां के नागरिक मिल जुलकर शासन चलाते थे । वैसे इन नगर राज्यों में नागरिक अधिकार गिने-चुने लोगो को ही प्राप्त थे, 90% से अधिक आबादी दासों या अन्य देशी जनों की थी ।

4. **रोमन साम्राज्य**(Roman Empire) - जब आतंरिक कलह और ग्राह्य आक्रमण के कारण यूनानी नगर राज्य नष्ट हो गए तब यूरोप में रोम सारी सभ्यता का केन्द्र बना । और रोमन साम्राज्य विकसित हुआ । रोम यूरोप के बीचों-बीच सभ्यता और नौका चलन का केन्द्र था। रोमन लोगों ने निकटवर्ती पर्वतों के लोगों पर विजय प्राप्त कर उन्हे अपने साथ मिला लिया । भिन्न भिन्न जातियों, धर्मो व प्रथाओं को मानने वाले लोगो पर शासन करने के लिए विस्तृत कानूनी प्रणाली विकसित की गई । सम्राट की शक्ति पर धर्म की छाप लगा दी गई । उसकी अदम्य शक्ति के कारण व्यक्तियों की स्वतन्त्रता दर कर रह गई । लोकतंत्र और स्थानीय शासन की संस्थाएं सूज हो गई अन्तत: यह शक्तिशाली साम्राज्य अपने ही भार को न संभाल पाने के कारण छिन्न-भिन्न हो गया ।

5. **सामंती राज्य** (Feudal State) रोमन साम्राज्य के पतन के बाद केन्द्रीय सत्ता लुप्त हो गई । पांचवी शताब्दी ई. से मध्यकाल आरंभ हुआ जिसमें सारी शक्ति बड़े-बड़े जमींदारों व सामंत सरदारों के हाथ में आ गई वैसे छोटे-छोटे राज्यों में राजा की स्थिति सर्वोच्च मानी जाती थी परन्तु मुख्य शक्ति सामंत सरदारों के हाथ में ही रही । जनसाधारण कृषि दासों के रूप में खेतों पर घोर परिश्रम करते थे । और उनका जीवन जमींदारों के अधीन था । सामंत सरदारों के अलावा धार्मिक तंत्र के अधिकारियों विशेषत: पोप के हाथों में भी व्यापक शक्तियां आ गई थी । 14 वी शताब्दी तक आते आते पोप अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करने लगा और तब राजतंत्र की शक्ति को पुर्नजीवित किया गया । उन्ही दिनों उद्योग धन्धों के विकास के कारण जमींदारों की शक्ति को भी चुनौती दी जाने लगी ।

6. **आधुनिक राष्ट्र राज्य** (Modern Nation State) - 15 वीं शताब्दी से यूरोप में राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ । तब जमींदारों और धर्माधिकारियों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और नए आर्थिक संबंधो के अलावा लोग राष्ट्रीयता, भाषा, संस्कृति की एकता तथा देश की प्राकृतिक सीमाओं इत्यादि के विचार से स्थायी समूहों के रूप में जुड गए थे । इस तरह पहले फ्रांस,स्पेन, इंग्लैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, नीदरलैण्ड, रूस, जर्मनी और इटली में राष्ट्र राज्यों का विकास हुआ । प्रारंभिक राष्ट्र राज्यों में राजतंत्र का बोलबाला था । परन्तु व 18वीं शताब्दी से यूरोप में संविधानिक शासन का उदय हुआ । इंग्लैण्ड में यह परिवर्तन शान्तिपूर्ण तरीके से हुआ, परन्तु फ्रांस में इसके लिए क्रान्ति का सहारा लेना पड़ा ।

13.10.2 राष्ट्रीयता को अवधारणा एवं कारक

'राष्ट्र' की संकल्पना मूलत: सांस्कृतिक है । इस संकल्पना के बारे में मतभेद है । राष्ट्र का अंग्रेजी रूप नेशन शम की उत्पत्ति लेटिन भाषा के नेट्स (Natus) से हुई है जिसका अर्थ जाति या जन्म से होता है । लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि राष्ट्र जाति का पर्यायवाची है। बगैस तथा लीकॉक ने राष्ट्र की व्याख्या मुख्य रूप से वंश के आधार पर की है लेकिन प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र का तात्पर्य उस मानद समूह से लिया जाता है जिसमें एकता हो और यदि वे परतंत्र हो तो स्वतंत्र होने की भावना पायी जाए । राष्ट्र होने के लिए स्वतंत्र होना आवश्यक नहीं है, उसकी अभिलाषा ही पर्याप्त है ।

ब्राइस के शब्दों में राष्ट्र एक राष्ट्रीयता है जिसने अपना संगठन एक राजनीतिक संस्था के रूप में कर लिया है ओर जो स्वाधीन हो या स्वाधीनता का इच्छुक हो ।

प्रोफेसर गार्नर के अनुसार "राष्ट्र सांस्कृतिक रूप से संगठित और एक स्थाई जनसमुदाय है,जिसे अपने आध्यात्मिक जीवन की एकता और अभिव्यक्ति का ज्ञान है और जो उसे बनाये रखना चाहता है ।

राष्ट्रीयता का अर्थ है "राष्ट्रियता मूलत: एक मानसिक प्रवृत्ति या भावना है । ए.इ.जिर्मन लिखते हैं "धर्म की भांति राष्ट्रीयता भी आत्मपरक है, मनोवैज्ञानिक है मन की एक अवस्था है, एक आध्यात्मिक धारणा है, भावना का विचार का, जीवन का एक तरीका है । राष्ट्रीयता एक राजनीतिक धारणा न होकर शिक्षा संबंधी धारणा है ।"

वस्तुत: राष्ट्रीयता एक भावना भी है और विचारधारा भी है । एक भावना के नाते राष्ट्रीयता अपने राष्ट्र के प्रति लगाव का संकेत देती है इससे प्रेरित होकर व्यक्ति अन्य सभी प्रकार के हितों की तुलना में राष्ट्र के हित को प्रधानता देता है । एक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद यह मांग करता है कि राज्य के ढांचे या राजनीतिक संगठन का निर्माण राष्ट्र की आधारशिला पर होना चाहिए, जो लोग अपने आपको एक स्वाभाविक समुदाय के रूप में पहचानते है, और एक राष्ट्र के सदस्य होने का दावा करते हैं, उन्हे एक स्वाधीन राजनीतिक प्रणाली के रूप में रहना चाहिए और विश्व व्यवस्था के अन्तर्गत उन्हे अन्य राष्ट्रो के साथ बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए. किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्र के प्रभुत्व / अधिपत्य के अधीन नहीं रखा जाना चाहिए ।

राष्ट्रियता के कारक राष्ट्र के निर्माण हेतु अनेक कारक/तत्व उत्तरदायी होते है । यद्यपि इनके बारे में राजनीति शास्त्रियों में मतभेद है । विद्वानों द्वारा बताए गए तत्वों को राष्ट्रीयता के लिए अनिवार्य नही बताया जा सकता है फिर भी राष्ट्रीयता के लिए किसी देश में कुछ तल कमजोर हो तो कुछ का मजबूत होना आवश्यक है । प्रमुख कारक है:

1. **भौगोलिक एकता** प्राकृतिक सीमाऐंराष्ट्रीयता का विकास करने और उसे कायम रखने में जुड़ा महत्वपूर्ण काम करती है । भौगोलिक स्थिति और जलवायु का मनुष्य के चरित्र और शारीरिक गठन पर निश्चित रूप से प्रभाव पढ़ता है उसमें अपवाद भी है । दूर-दूर बिखरे हुए लोगो में भी एक राष्ट्र की भावना पनप सकती है । उदाहरण के लिये यहूदी, पोल, जर्मन और आयरिश लोग लेकिन इसका विपरीत भी होता है । 1947 से पूर्व भारत एक स्पष्ट भौगोलिक ईकाई था ।

2. **प्रजाति की एकता** कुछ लेखक राष्ट्रीयता का निर्माण करने और उसको मजबूत बनाने में प्रजातीय एकता को महत्व देते है जैसे जिमर्न और ब्राइस । लेकिन मैजिनी का कहना है कि राष्ट्रीयता के लिए प्रजाति अनिवार्य नहीं है । जैसे स्वीट्जरलेंण्ड और कनाड़ा में विभिन्न जाति के लोग एक साथ रहते है और एक सुद्दढ़ राष्ट्रीयता का निर्माण कर चुके हैं । प्रजातीय एकता से राष्ट्रीयता सुद्दढ होती है पर अनिवार्य नही है । राष्ट्रीयता की प्रारम्भिक अवस्था में प्रजातीय एकता अधिक महत्वपूर्ण है, बाद की अवस्था में कम । कोई भी राष्ट्र अधिक समय तक नहीं टिक सकता यदि उसके प्रजातीय वर्गो में तीव्र विभेद हो ।

3. **सामान्य संस्कृति या विचारों ओर आदर्शो की एकता** यदि राष्ट्रीयता मूल रूप में सांस्कृतिक धारणा है तो यह मुख्यत: कई संस्कृतियों की एकता में सामान्य रीतियाँ और व्यवहार सामान्य परम्पराएं और साहित्य, सामान्य लोककथा. काव्य और कला भी शामिल है, इससे सहयोग की भावना का विकास होता है । राष्ट्रीय साहित्य,संस्कृति और कला राष्ट्रीयता के कारण और परिणाम दोनों हो सकते हैं । साहित्य राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रसार का माध्यम है । संस्कृति के निर्माण मे राष्ट्रीय इतिहास व परम्पराओं का योग है ।

4. **भाषा को एकता -** यह सबसे स्पष्ट तत्व है । रैक्सैम्योर का विश्वास है कि राष्ट्र के निर्माण में जीत की अपेक्षा भाषा का महत्व कहीं अधिक है । जब सांस्कृतिक एकता हेतु प्रयास किये जाते है तब भाषा की आवश्यकता से बहुत बड़ी सहायता मिलती है । सामान्य भाषा के लाभ के बावजूद भी अनेक राष्ट्र है जहां एक सामान्य भाषा नहीं है । स्विटजरलैण्ड में कम से कम तीन भिन्न भाषाएं बोली जाती है । अमेरिका, कनाडा के नागरिक एक ही भाषा बोलते है लेकिन दोनों देशों के लोग आपस में मिलकर एक राष्ट्र बनाने को तैयार नहीं है । भारत में भी भाषा का विभेद राष्ट्रीय एकता में बाधक रहा हैं । यद्यपि हिन्दी को राष्ट्र भाषा का दर्जा दिया गया ।

5. **धर्म की एकता** इतिहास की प्रारंभिक अवस्थाओं में धर्म का प्रमुख स्थान रहा है । उदाहरण - यहुदियों में धर्म ही उनेक राष्ट्रीय जीवन का मुख्य आधार था । लेकिन धर्म की एकता अब महत्वपूर्ण तत्व नहीं रह गया है । धार्मिक सहिष्णुता,धर्म निरपेक्षता को अपनाया जाता है । अमेरिका में धर्म जनता के राष्ट्रीय जीवन में प्रदेश ही नहीं कर पाया है, पर इसके विपरित भारत में स्वार्थी दलों द्वारा अपने लाभ के लिए धार्मिक विभेद को भटकाया गया ।

6. **सामान्य आर्थिक हित** जापान और आस्ट्रेलिया की राष्ट्रीय एकता का प्रमुख तत्व यही है। निःसंदेह यह अन्य तत्वों के साथ जाति में एकता की भावना पैदा करता है । युद्ध के समय राष्ट्रीयता की भावना आर्थिक विभेदों को पार करके विभिन्न आर्थिक हित वाले लोगो को एक कर ' देती हैं

7. **सामान्य अधीनता** मजबूत और सुव्यवस्थित सरकार की अधीनता भी राष्ट्रीयता का सफल कारण होती है । अंग्रेजों के सुदृढ़ शासन में कुछ हद तक भारतीय राष्ट्रीयता का विकास हुआ ।

8. **सामान्य कष्ट** कभी-कभी सामान्य मुसीबतों ने राष्ट्रीयता में बड़ा शक्तिशाली योग दिया है । इतिहास साक्ष्य है कि अत्याचारों ने राष्ट्रीयता को सुदृढ़ किया है । जिर्मन - का कहना है कि यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना राजनैतिक अत्याचारों के फलस्वरूप निर्दयता पूर्वक सजग हो उठी है ।

9. **राजनैतिक संप्रभुता** यह दलील दी जाती है कि राज्य से राष्ट्रीयता बनती है, राष्ट्रीयता से राज्य नहीं । ग्रेट ब्रिटेन एक राजनीतिक संप्रभुता के अधीन है, पर उसमें चार पृथक राष्ट्रीय जातियाँ है यद्यपि राज्य से पहले राष्ट्र का अस्तित्व था फिर भी राष्ट्रीयता को सुदृढ बनाने में राजनैतिक संप्रभुता ने सहायता दी ।

10. **सार्वजनिक इच्छा** सहयोग करने की इच्छा और राष्ट्र बनने की इच्छा की हम सरलता से उपेक्षा नहीं कर सकते । इस पर अम्बेडकर ने काफी जोर दिया है ।

यदि किसी समुदाय के सदस्य अपने आप को राष्ट्र मानते हैं तो उसके लिए कुछ तत्व विकसित कर लेते है जैसे राष्ट्र भाषा, राष्ट्र जज, राष्ट्र गान, राष्ट्र के अन्य गौरव चिन्हों, राष्ट्र नाम के स्मारक बनवा सकते हैं । राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा भी इस भावना का विकास कर सकते हैं ।

13.10.3 राष्ट्रवाद का उदय

एक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद का उदय यूरोप में 18 वीं शताब्दी के अंत में हुआ। यह एक मान्यता के रूप में व्यक्त हुआ कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना शासन स्वयं चलाने का अधिकार होना चाहिए । वैसे मध्य युगीन यूरोप के अनेक भागों में मुख्यत: जाति, भाषा और संस्कृति के आधार पर राष्ट्रीयता भिन्नताओं की चेतना पनप रही थी । फ्रांसीसियों और अंग्रेजों का लम्बा संघर्ष इसी चेतना की अभिव्यक्ति था । 15 वीं शताब्दी के अन्त तक कुछ राष्ट्रीय राज्य भी अस्तित्व में आ गये थे । परन्तु उन दिनों राष्ट्र की एक धुंधली सी पहचान ही बन पायी थी । एक जैसी स्थानीय भाषाओं और रीतिरिवाजों के आधार पर किसी देश के लोगों को मोटे तौर पर राष्ट्र कहा जाने लगा था हालांकि उनकी कर प्रणालियाँ और नाप तौल की प्रणालियाँ एक जैसी नहीं थी । सबसे पहले फ्रांसीसी क्रांति ने राष्ट्रवाद की सहज स्वभाविक अभिव्यक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया ।

एक सिद्धान्त के रूप में राष्ट्रवाद का सर्वोत्तम निरूपण जर्मन दार्शनिक जी. डब्ल्यू. एफ. हीगल (1770-1831) और इतालवी विचारक ज्योसिप मैजिनी (1805-72) ने प्रस्तुत किया । हीगेल के इतिहास सिद्धान्त के अन्तर्गत राष्ट्र राज्य को विश्व चेतना की विकास यात्रा का वाहक माना गया है । मैजिनी ने इतालवी एकता के दार्शनिक के नाते यह विचार रखा कि राष्ट्रवाद नई विश्व व्यवस्था के आधार की भूमिका निभायेगा, प्रत्येक राष्ट्र अपने-अपने भूक्षेत्र में अपनी-अपनी सहज प्रतिभा का विकास करके विश्व कल्याण मे अपना विशेष योगदान करेगा । हीगल के विचारों ने जर्मनी के एकीकरण को बढ़ावा दिया । मैजिनी के विचारों ने इटली के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

19 वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में जगह-जगह जो राष्ट्रवाद की लहर चली उसने यूरोप के साम्राज्य को ध्वस्त करने में बड़ चढ़कर भूमिका निभाई । 20 वीं शताब्दी में प्रथम विश्व युद्ध (1914-1919) के बाद राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्तों को विधिवत मान्यता दी गई जिसके परिणामस्वरूप नये राष्ट्र अस्तित्व में आये ।

13.11 सारांश (Summary)

इस इकाई के अन्तर्गत राज्य की अवधारणा तथा उसके तत्वों का अध्ययन किया गया है ताकि यह स्पष्ट हो सके कि वास्तव में राज्य क्या होता है? तथा राज्य किन तत्वों से मिलकर बना है? राज्य का समाज, समुदाय, सरकार तथा राष्ट्र से संबंधो का विश्लेषण करके इन संस्थाओं में समानार्थी होने पर भी राज्य की इन संस्थाओं की भिन्नता को स्पष्ट किया

गया है । ताकि राज्य के सही अर्थ को प्रकट किया जा सके । इस इकाई के अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित प्रमुख मत-मतान्तरों पर आधारित सिद्धान्तों- दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, पितृ सत्तात्मक एवं मातृ सत्तात्मक, सामाजिक समझौता वादी सिद्धान्त तथा ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है । जिनमें राज्य की उत्पत्ति कई आधारों पर बताने की कोशिश की गई है यद्‌यपि सामाजिक समझौता सिद्धान्त में हॉब्स लोक तथा रूसो ने भिन्न-भिन्न मत देकर राज्य में कृत्रिम समझौतों की उपज माना है किन्तु सर्वमान्य सिद्धान्त ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त है साथ ही साथ इस इकाई के अन्तर्गत राज्य के विकास को प्राचीन से आधुनिक राष्ट्र राज्य तक की अवस्थाओं में स्पष्ट किया गया है । इसके अन्तर्गत राज्य से बडी हुई शक्ति एवं सत्ता की अवधारणाओं का भी अध्ययन किया गया । जिनके कारण राज्य अन्य समुदायों से भिन्न होता है । राज्य के महत्वपूर्ण अंग सरकार का अध्ययन किया गया है जिसके द्‌वारा राज्य भी शान्ति व सत्ता का वास्तविक प्रयोग किया जाता है ।

सरकार के तीनों अंगों - व्यवस्थापिका कार्यपालिका, न्यायपालिका का विस्तृत वर्णन किया गया है । इस इकाई के अन्त में आधुनिक राष्ट्रीय राज्य की विकास की अवस्थाओं तथा राष्ट्रीयता की अवधारणाओं, कारकों एवं उसके उदय को स्पष्ट किया गया है । इस प्रकार यह इकाई राज्य के बारे में समग्र दृष्टिकोण प्रकट करती है ।

13.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. राज्य को परिभाषित कीजिए तथा उसके आधारभूत तत्वों का वर्णन कीजिए ।
2. सामाजिक समझौता सिद्धान्त की विवेचना कीजिए और प्राकृतिक अवस्था, सामाजिक समझौते के विषय में हॉब्स, लोक एवं रूसों के विचार की व्याख्या कीजिए ।
3. शक्ति की अवधारणा की व्याख्या कीजिए । इसे आप प्रभाव और सत्ता से किस प्रकार पृथक कर सकते है ।
4. सत्ता के स्रोत या प्रकारों का वर्णन कीजिए । सत्ता के आधार एवं सीमाएं बताइये ।
5. आधुनिक लोकतंत्र में व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्यो और शक्तियों का वर्णन कीजिए ।
6. राष्ट्रीयता से आप क्या समझते है? राष्ट्रीयता के विकास को स्पष्ट कीजिए ।
7. शासन की कार्यपालिका शाखा के विभिन्न कार्यो का वर्णन कीजिए ।

13.13 संदर्भ ग्रन्थ

- ए.डी. आशीर्वादम्, कृष्णकान्त मिश्र, 'राजनीति विज्ञान', एस.चन्द्र एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2000.
- कृष्णकान्त मिश्र, 'राजनीतिक सिद्धान्त और शासन - मार्क्सवाद और उदारवाद' ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लि0 नई दिल्ली 2001
- डॉ0 ओमप्रकाश गाबा, राजनीतिक विचार विश्वकोष नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1996.
- श्री राम वर्मा, 'राजनीति विज्ञान के मूल आधार', कॉलेज बुक सेंटर, जयपुर व 1996-97

- पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त ।

इकाई - 14

संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nation Organisation)

इकाई को रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

14.2.1 संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य

14.2.2 संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त

14.3 संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग

14.3.1 महासभा संगठन एवं कार्य

14.3.2 सुरक्षा परिषद् संगठन एवं कार्य

14.3.3 आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् संगठन एवं कार्य

14.3.4 न्यास परिषद् संगठन एवं कार्य

14.3.5 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय: संगठन एवं कार्य

14.3.6 सचिवालय: संगठन एवं कार्य

14.4 राज्य संस्थाऐं एवं अधिराष्ट्रीय संस्थाएँ

14.4.1 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO)

14.4.2 संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO)

14.4.3 विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO)

14.4.4 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF)

14.4.5 यूनेस्को (UNESCO)

14.4.6 विनियोग संबंधी विवादों के समाधान का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र (ICSID)

14.4.7 अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन (IDA)

14.4.8 अन्तर्राष्ट्रीय वित निगम (IFC).

14.4.9 पुनर्निर्माण एवं विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (World Bank)

14.4.10 विश्व डाक संघ (UPU)

14.4.11 अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ (ITU)

14.4.12 अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उडड्यन संघ (ICAO)

14.4.13 विश्व मौसम विज्ञान संगठन (WMO)

14.4.14 अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्रिक परामर्शदात्री संगठन (IMCO)

14.4.15 संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संस्था (UNIDO)

14.4.16 अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन (IRO)

14.4.17 अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपातकालीन कोष (ICIF)
14.4.18 विश्व बौद्धिक संपदा संगठन (WIPO)
14.5 मानवाधिकार
14.6 सारांश
14.7 शब्दावली
14.8 संदर्भ ग्रन्थ

14.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे कि:

- संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना क्यों, कब और किन परिस्थितियों में हुई;
- संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंग कौन से हैं;
- संयुक्त राष्ट्र संघ के नियंत्रण में कार्य करने वाली प्रमुख संस्थाएं कौनसी हैं एवं उनके क्या कार्य है?

14.1 प्रस्तावना (Introduction)

शताब्दियों से मनुष्य की यह कामना रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थायी शान्ति की स्थापना होनी चाहिए । अत: मध्यकाल से ही शान्ति स्थापित करने की उसने अनेक योजनायें प्रस्तुत की हैं । उदाहरण के लिए, मध्ययुगीन राजनीति विचारक टामस एक्विनाज (Thomas Acquinas) ने कहा है कि संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि सभी राज्य विश्वव्यापी चर्च की आधीनता स्वीकार कर लें । इससे सर्वथा भिन्न इसी काल के एक दूसरे दार्शनिक दाँते (Dante) ने कहा है कि संसार के सभी शासकों को एक व्यापक साम्राज्य की आधानिता मान लेनी चाहिए । इन दो उपायों के अतिरिक्त एक तीसरा उपाय भी बताया गया और वह यह था कि संसार के सभी राज्यों को मिलकर एक प्रकार के विश्व संघ (World Federation) की स्थापना करनी चाहिए। परन्तु इन विचारों के संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि इन्हें वस्तु जगत में व्यवहारिक रूप नहीं दिया जा सकता था । 10 वीं शताब्दी में नेपोलियन के युद्धों के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीयवाद अपने कल्पनावादी युग की सीमाओं को लांघ कर उस युग में आ गया जब वह व्यावहारिक राजनीति की कसौटी पर खरा-उतर सकता था । इस युग में विज्ञान और प्रौद्योगिकी (Techonology) के क्षेत्रों में जो प्रगति हुई थी उसमे परिणामस्वरूप देशों की पारस्परिक दूरी बहुत कम हो गई थी, उनके बीच में इसलिए व्यापार भी बहुत अधिक बढ़ गया था । फलत: अब समूचा विश्व एक बाजार में परिणित हो गया था । इसके अतिरिक्त नेपोलियन के युद्धों से उत्पन्न व्यथा ने यूरोप के सभी देशों में शान्ति के लिए एक बलवती इच्छा को जन्म दिया था । अत: इस काल में इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका में अनेक शान्ति संगठनों की स्थापना हुई । इन तथ्यों के परिणामस्वरूप 19 वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीयवादी आन्दोलन ने पश्चिमी संसार में काफी प्रगति की । प्रथम महायुद्ध के उपरान्त राष्ट्र संघ की स्थापना के रूप में मनुष्य की शताब्दियों पुरानी आकांक्षा साकार रूप

में प्रगट हुई । सन् 1915 ई. में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, फांस और यही तक कि जर्मनी में भी ऐसी समितियॉ स्थगित करने के प्रयत्न किये गए जो राष्ट्रों के एक व्यापक संगठन को जन्म देने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर सकें । मई सन् 1915 में इसी आशय की पूर्ति के लिए एक समिति इंगलैंड में स्थापित की गई, जिसे 'लीग ऑफ नेशन्स सोसाइटी' (League of Nations Society) का नाम दिया गया । इसी प्रकार की एक समिति इसी वर्ष जून में अमेरिका में स्थापित हुई । 22 जनवरी, 1917 को राष्ट्रपति विल्सन ने अमरीकी सीनेट के समक्ष 'शान्ति के लिए विश्व संघ ' विषय पर भाषण दिया ।

राष्ट्रपति विल्सन ने 14 सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया था उसमें भी यह कहा गया था कि 'बड़े और छोटे राज्य को समान रूप से राजनैतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता का आश्वासन देने के लिए राष्ट्रों के एक सामान्य संगठन की रचना समझौते की शर्तों के द्वारा होनी चाहिए ।"इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई । राष्ट्र संघ की रचना में मुख्य भूमिका अमेरिका और ब्रिटेन की रही ।

राष्ट्र संघ की जब स्थापना की गई थी उस समय उसके निर्माताओं ने बड़े-बड़े सिद्धान्तों और उच्च आदर्शों का बखान किया था । यह कहा गया था कि संघ उदेश्य "आने वाली पीढियों की युद्ध के तांडव से रक्षा करना है" संसार को प्रजातंत्र के लिए सुरक्षित स्थान बनाना है और एक ऐसी शान्ति की स्थापना करना है, जो न्याय पर आश्रित हो ।" परन्तु अपने इन उद्देश्यों की प्राप्ति में उसे पूर्ण रूप से असफलता प्राप्त हुई । परन्तु इस असफलता के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि संघ की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग की भावनाओं के प्रसार में कोई भूमिका न थी । संघ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रथम परीक्षण था । यह सही है कि अपने सत्य की पूर्ति में उसे सफलता नहीं मिली, परन्तु अपनी असफलता के द्वारा भी उसने मानव जाति को लाभान्वित किया है । उसके जीवन-काल में मनुष्य ने जो अनुभव प्राप्त किए थे उनको संयुक्त राष्ट्र संघ की रचना करते समय पूरा लाभ उठाया गया । संघ की वास्तव में सबसे बडी असफलता यह थी कि जिन आदर्शो की पूर्ति के लिए उसकी स्थापना हुई थी वे आदर्श द्वितीय महा_युद्ध के बाद भी मानव जाति को अनु प्रमाणित करते रहे ओर उन्हीं आदेशों को पूरा करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण किया गया ।

14.2 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

द्वितीय महायुद्ध में धुरी-राष्ट्रों की पराजय के उपरान्त मनुष्य जाति के लिए आशा एवं समृद्धि की नई सम्भावनाएं प्रस्तुत हुई । अतएव विश्व शान्ति को कायम रखने के लिए तथा व्यक्तियों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने के लिए मित्र-राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की । किन्तु यही ध्यान में दखने की रात यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के विचार का जन्म कोई एक दिन में नहीं रूप था और न ही बह राष्ट्र संघ को दूसरा नाम देकर पुनर्जीवित करने का प्रयास मात्र था ।

वस्तुत: संयुक्त राष्ट्र संघ उस चिन्तन एवं क्रिया का परिणाम था जिसे मित्र राष्ट्रों ने द्वितीय विश्व युद्ध के काल में अपने अनुभव से प्राप्त किया था । शताब्दियों से मनुष्य संसार

में शान्ति को स्थायी बनाने की कामना करता आया है । संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसी उदेश्य की पूर्ति के लिए हुई थी । इसके सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति अटलांटिक चार्टर में हुई । इसके उपरान्त 1 जनवरी सन् व 1942 को सेनफान्सिसको में संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा के द्वारा इस दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण कदम उठाया गया । इसके पश्चात 30 अक्तूबर सन् 1943 की मास्को घोषणा में मित्र राष्ट्रों ने अत्यधिक सुस्पष्ट शब्दों में भविष्य की व्यवस्था से सम्बद्ध सिद्धान्तों की आस्था की । तेहरान सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और ग्रेट ब्रिटेन की कार्यपालिकाओं के अध्यक्षों ने एक दूसरे से पहली वार व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किया था । 1 दिसंबर, 1943 को एक विज्ञप्ति के द्वारा इन तीनों राज्यों ने यह घोषणा की कि 'हम अपने इस निश्चय को व्यक्त करते है कि हमारे राष्ट्र युद्ध में और आने वाली शान्ति में एक दूसरे के सहयोग से काम करेगें ।" मित्र राष्ट्र के नेताओं की उपर्युक्त घोषणाओं से यह स्पष्ट है कि वे ईमानदारी के साथ एक विश्व संगठन की स्थापना करना चाहते थे । अतः इस संगठन के संविधान की रचना के लिए 21 अगस्त सन् 1944 से 7 अक्तूबर सन् 1944 तक वाशिंगटन के एक भवन डम्बर्टन ओकस में चार महान शक्तियों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ । इस सम्मेलन के प्रस्तावों की घोषणा 9 अक्तूबर को की गई । इसी अवसर पर एक वक्तव्य देते हुए अमेरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह कहा था "कि 'प्रस्तावित सामान्य सम्मेलन को महराव की मुख्य आधारशिला समझना चाहिए । सुरक्षा और शान्ति की इमारत के नियोजन का कार्य अच्छी प्रकार से प्रारम्भ हो गया है । अब यह राष्ट्रों के लिए है कि वे रचनात्मक उद्देश्य और पारस्परिक विश्वास की भावनाओं के साथ इस निर्माण कार्य को पूरा करें ।" 1 जून, 1945 को आगे चलकर सेनफांसिस्कों में संयुक्त राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ तो इसके सदस्यों की संख्या 50 हो चुकी थी । इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र' के घोषणा पत्र (प्रस्तावना और अनुच्छेद 111 के साथ) को अन्तिम रूप दिया और संयुक्त राष्ट्र की औपचारिक स्थापना इसके अस्थायी मुख्यालय लेक सैक्सेस (अमरीका) में हुई । अधिकार पत्र पर 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा 26 जून, व 1945 को हस्ताक्षर किये गये, पौलेण्ड का प्रतिनिधित्व अधिवेशन में नहीं हुआ था । उसने बाद में इस पर हस्ताक्षर किये और वह 51 सदस्य राज्यों में से एक मूल सदस्य बन गया । अधिकारिक रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ 24 अक्तूबर, 1945 को अस्तित्व में आ गया जबकि अधिकार पत्र की पुष्टि चीन, फांस, सोवियत संघ, इंगलैण्ड तथा अमरीका तथा बहुसंख्यी अन्य हस्ताक्षरकर्ताओं द्वारा की गई थी, 24 अक्तूबर प्रतिवर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस के रूप में मनाया जाता है। 1946 से संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है और इसके सदस्यों की वर्तमान संख्या 192 है । इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र की स्थापना 24 अक्तूबर, 1945 को द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात इस आशा के साथ की गई थी कि यह विश्व संस्था मानव को युद्ध की विभीषिका से बचाने एवं उन्हें हर प्रकार से शान्ति एवं सुरक्षा प्रदान कराने में सहायक सिद्ध होगी, संयुक्त राष्ट्र अपनी पांच दशकीय यात्रा से अधिक पूर्ण कर चुका है. जिसमें उसके समान अनेक विवाद एवं समस्याएं

आई इन समस्याओं का कुछ का समाधान करने में सफल रहा तो कुछ में असफल रहा सफलता एवं असफलता को बड़े राष्ट्रों विशेष रूप से पूर्व सोवियत संघ पद अमरीका ने प्रभावित किया ।

14.2.1 संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्देश्य

चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के चार प्रमुख उद्देश्य है.

1 सामूहिक व्यवस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखना और आक्रामक प्रवृत्तियों को नियन्त्रण में रखना ।
2 अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान करना ।
3 राष्ट्रों के आत्म निर्णय और उपनिवेशवाद विघटन की प्रक्रिया को गति देना ।
4 सामाजिक, आर्थिक. सांस्कृतिक एवं मानवीय क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित एवं पुष्ट करना ।
5 निरस्त्रीकरण करना ।
6 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना करना

14.2.2 सयुंक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त

1 इसका प्रधान आधार छोटे-बड़े सब देशों की समानता और सर्वोच्च सत्ता का सिद्धान्त है।
2 सब सदस्यों से यह आशा रखी जाती है कि वे चार्टर द्वारा उन पर लागू होने वाले दायित्वों का पालन पूरी ईमानदारी से करेगें ।
3 सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय झगडों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों से करेगें ।
4 सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करेगें, वे किसी देश की स्वतन्त्रता का हनन करने की या आक्रमण करने की न तो धमकी देंगे और न ऐसा कार्य करेगें ।
5 कोई भी देश चार्टर के प्रतिकूल काम करने वाले देश की सहायता नहीं करेगा ।
6 संयुक्त राष्ट्र संघ, इसका सदस्य न बनने बाले राज्यों से भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने वाले सिद्धान्त का पालन करायेगा ।
7 संयुक्त राष्ट्र संघ किसी देश के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा ।

14.3 संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के तृतीय अध्याय में अनुच्छेद 7 के अनुसार इस संस्था के 'प्रधान अवयव' इस प्रकार है

महासभा
सुरक्षा परिषद्
आर्थिक और सामाजिक परिषद्
न्यास परिषद्
अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
सचिवालय

14.3.1 महासभा संगठन एवं कार्य

महासभा संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख अंगों में से सर्वाधिक वृहत एवं महत्वपूर्ण अंग है । संयुक्त राष्ट्र के समस्त सदस्यों को महासभा में बैठने का अधिकार है । इसका अधिवेशन साधारणत: वर्ष में एक बार होता है और चार्टर के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत सभी विषयों पर विचार करने का इसको अधिकार है । इस संस्था का रूप 'मानव पार्लियामेण्ट' (Human Parliament) का है. यद्‌यपि आज भी कुछ राष्ट्र इसके सदस्य नहीं है । चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिक्षद को कुछ स्वतन्त्र रूप से अधिकार प्राप्त होते है । इन अधिकारों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त विभागों पर महासभा का पर्याप्त अधिकार है ।

संगठन महासभा में संयुक्त राष्ट्र संघ के समी सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है और प्रत्येक राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार प्राप्त है यद्‌यपि प्रत्येक राष्ट्र को अधिकतम 5 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है । प्रतिनिधियों को बाद-विवाद में भाग लेने का अधिकार तो है, किन्तु बोट देने के समय एक देश का, चाहे यह कितना ही बड़ा राष्ट्र हो अथवा छोटा राष्ट्र हो, एक ही वोट समझा जाता है । संयुक्त राष्ट्र का यही प्रमुख अंग इस युग में विश्व लोकमत का प्रतीक बन गया है । आजकल इसके व 192 सदस्य राज्य है । इसी सदस्य संख्या को ही देखकर इसकी सार्वदेशिक विशेषता का अनुभव किया जा सकता है ।

मतदान प्रक्रिया चार्टर के अनुच्छेद 18 में महासभा की मतदान प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है । महासभा के प्रत्येक सदस्य का एक ही मत होगा । महत्वपूर्ण प्रश्नों पर महासभा के निर्णय उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुत से होगें और अन्य प्रश्नों पर निर्णय जिनमें दो तिहाई बहुमत द्‌वारा निर्णय किए जाने वाले प्रश्नों के अतिरिक्त प्रवर्गी निर्धारण भी सम्मिलित है, उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत द्‌वारा किया जाएगा। महत्वपूर्ण प्रश्नों की सूची में अनेक प्रश्न गिनाए गये है, जैसे (1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखने के विषय में सिफारिशें, (2) सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन. (3) आर्थिक सामाजिक परिषद्‌ के सदस्यों का निर्वाचन, (4) चार्टर के अनुच्छेद 86 के खण्ड 1 (ग) के अनुसार न्यास परिषद्‌ के सदस्यों का निर्वाचन, (5) संयुक्त राष्ट्र में नवीन सदस्यों का प्रवेश, (6) सदस्यता के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का निलम्बन. (7) सदस्यों का निष्कासन, (8) न्यास पद्धयति के परिचालन संबंधी प्रश्न और (9) बजट संबंधी प्रश्न

महासभा का वार्षिक अधिवेशन नियमित रूप से सितंबर माह के दूसरे मंगलवार से शुरू होता है । प्रत्येक नियमित सत्र के आरम्भ में महासभा नये अध्यक्ष, 21 उपाध्यक्ष और अपनी 6 मुख्य समितियों के सभा निर्वाचित करती है । समान भौगोलिक प्रतिनिधित्व प्रदान करने की दृष्टि से महासभा की अध्यक्षता प्रतिवर्ष राज्यों के पांच. समूहों-अफ्रीका, एशिया, पूर्वी यूरोप, लैटिन अमरीका और पश्चिम यूरोप तथा अन्य राज्यों को बारी-बारी से दी । जाती है । विशेष अधिवेशन बुलाने का भी उपबन्ध है । ऐसे विशेष अधिवेशन सुरक्षा परिषद्‌ अथवा संयुक्त राष्ट्र के सदस्य । के बहुमत द्‌वारा अनुरोध किए जाने पर महासचिव द्‌वारा बुलाये जाएगें ।

अधिकार और कर्तव्य सुरक्षा परिषद् के अन्तर्गत विचाराधीन विषयों पर महासभा वाद-विवाद कर सकती है, किन्तु जब तक परिषद महासभा के निर्णय कीं मांग न करें तर तक महासभा निर्णय नहीं कर सकती । सुरक्षा परिषद तथा अन्य अंग अपने वार्षिक कार्य-विवरण की रिपोर्ट महासभा के पास भेजते है और सभा में निर्धारित तिथि को इन पर विचार होता है । किन्तु महासभा सुरक्षा परिषद् की रिपोर्ट पर आलोचना करने के अतिरिक्त हेर-फेर नहीं कर सकती । महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद के 10 अस्थायी सदस्यों, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के 54 सदस्यों एवं न्यास परिषद के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन होता है ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की नियुक्ति भी महासभा सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर करती है । संयुक्त राष्ट्र संघ का आय-व्यय बजट महासभा द्वारा ही स्वीकृत होता है, अत: महासभा का अन्य अंगों पर स्वत: आर्थिक नियन्त्रण हो जाता है । उदण्ड राष्ट्रो को निकालने का अधिकार महासभा को प्राप्त है । यह किसी राष्ट्र को सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर कुछ समय के लिए संघ की सदस्यता से हटा सकती है. किन्तु यदि कोई चार्टर के आदेशों और सिद्धान्तों की लगातार अवहेलना करता है तो सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर महासभा उसे सदा के लिए निकाल सकती है । जो राष्ट्र सदस्यता शुल्क दो बर्ष लगातार अदा नहीं करता उसे साधारण सभा में मत देने का अधिकार नहीं होता किन्तु आर्थिक कठिनाई अथवा किसी अन्य विवशता के कारण यदि वह शुल्क बाकी रह गया तो महासभा को अधिकार है कि इस संबंध में सन्तोष होने पर कि जान-बुझकर देरी नहीं की गयी हे उसे मत देने के अधिकार से वंचित न करें ।

महासभा का ऐच्छिक कार्य चार्टर के अनुसार महासभा के दो प्रकार के कार्य है इसमें एक ऐच्छिक और दूसरा अनिवार्य है । पहले प्रकार अर्थात ऐच्छिक कार्य के अन्तर्गत शान्ति की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के खतरे को दूर करना और सुरक्षा तथा निरस्त्रीकरण के लिए समस्त देशों में सहयोग स्थापना की चेष्टा है । महासभा के अनिवार्य कार्य निम्नांकित है.

1 संयुक्त राष्ट्र संघ आय-व्ययक पास करना
2 सुरक्षा परिषद् तथा अन्य संस्थाओं व संगठनों की रिपोर्ट पर विचार करना
3 न्यास परिषद् का निरीक्षण रखना ।
4 अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उद्देश्यों से आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के संबंध में अध्ययन व जांच पडता करवाना तथा तदविषयक सिफारिशें करना ।
5 प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाति, लिंग, भाषा व धर्म के मानव अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रता का उपयोग करने में सहायता देना ।

इस प्रकार चार्टर द्वारा महासभा को इतने व्यापक अधिकार प्राप्त है कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का मसला उसके सामने पेश हो सकता है । संसार के किसी देश में ऐसी सरकार कायम हो जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरनाक हो तो उसके पडौसी राष्ट्र अथवा कोई अन्य राष्ट्र संसार में शान्ति कायम रखने की दृष्टि से महासभा में तत्संबंधी प्रश्न उठा सकते है और उसके संबंध में आलोचना भी की जा सकती है ।

महासभा की समितियां महासभा अपना कार्य-संचालन 6 मुख्य समितियों द्वारा करती है जो इस प्रकार है- (1) राजनीतिक एवं सुरक्षा समिति. (2) आर्थिक और वित्त समिति, (3) सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति, (4) न्यास समिति (5) प्रशासनिक एवं बजट समिति, तथा (6) कानूनी समिति ।

साधारण वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त यदि महासभा के सदस्य बहुतमत से अधिवेशन की मांग करें, या सुरक्षा परिषद् चाहे तो संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव 15 दिन के. अन्दर महासभा की बैठक बुला सकते है । विशेष अवस्था में सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यों के अनुरोध पर 24 घण्टे की सूचना पर विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है ।

महासभा को आधुनिक विश्व का उन्मुक्त अन्तःकरण कहा जाता है । विश्वशान्ति और सुरक्षा स्थापित करने में भी इसने महत्वपूर्ण योग दिया है । उल्लेखनीय है कि महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में प्रमुख रूप से भाग लिया है ।

आज महासभा का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माणक अंग के रूप में बढ़ता जा रहा है । नयी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण तथा नयी मान्यताओं की स्थापना के लिए महासभा महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है । नि:शस्त्रीकरण, नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था, आदि प्रश्नों पर महासभा के विशेष सत्र हो चुके है । आशा है कि इस दिशा में महासभा की पहल अन्तर्राष्ट्रीय विधि निर्माण को सुदृढ आधार प्रदान करेगी ।

14.3.2 सुरक्षा परिषद्: संगठन एवं कार्य

संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने विश्व संस्था की सम्पूर्ण शक्ति सुरक्षा परिषद् में निहित कर दी है । सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का पहरेदार माना जाता है । महासभा की अपेक्षा सुरक्षा परिषद् बहुत ही छोटा सदन है, परन्तु उसकी शक्ति महासभा की अपेक्षा बहुत व्यापक है । राजनीतिक विषयों में सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र का कार्यपालिकीय अंग है । पामर और पार्किन्स ने इसे संयुक्त राष्ट्र की कुंजी कहा है ए.एच. डाक्टर ने इसे संघ की प्रवर्तन भुजा तथा डेविट कुशमेन ने इसे दुनिया का पुलिसमैन कहा है । सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ का हृदय है । संकट का समय हो या शान्ति का. संयुक्त राष्ट्र के दूसरे अंग कार्य कर रहे ही या न कर रहे हों, वर्ष का कोई समय हो या कैसा ही मौसम हो, सुरक्षा परिषद् अपना कार्य करती ही रहती है ।

संगठन चार्टर के 5वें अध्याय में सुरक्षा परिषद् के संगठन सम्बन्धी नियम दिए गये हैं । इनके अनुसार परिषद् में मूलत पांच स्थायी और छ: अस्थायी कुल ग्यारह सदस्य होते थे, परन्तु सितम्बर व 1965 में चार्टर के संशोधन द्वारा अस्थायी सदस्यों की संख्या चढ़कर दस कर दी गयी । ऐसा इसलिए किया गया कि सन् 1945 ई. के पश्चात संघ के सदस्यों की संख्या दुगुनी से भी अधिक हो गयी और छोटे-छोटे सदस्य राज्य सुरक्षा परिषद् में अधिक स्थान की मांग करने लगे । तदनुसार महासभा ने निर्णय लिया कि 10 अस्थायी सदस्यों में से 5 एशियाई अफ़्रीकी राज्यों में से 1 पूर्वी यूरोप में से, 2 दक्षिणी अमरीका व शेष 2 पश्चिमी यूरोप व अन्य राज्यों में से होने चाहिए । इस प्रकार सुरक्षा परिषद की कुल सदस्य संख्या पन्द्रह हो गयी ।

चीन. फ्रांस. रुस (रूस ने सोवियत संघ का स्थान ले लिया है) ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका इसके स्थायी सदस्य है । जब तक सुरक्षा परिषद् का अस्तित्व रहेगा इनकी सदस्यता भी बनी रहेगी ।

अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन महासभा अपने दो-तिहाई बहुमत से दो वर्ष के लिए करती है । सदस्यों का निर्वाचन करते समय महासभा संगठन के उद्देश्यों, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के संबंध में संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के योगदान का तथा भौगोलिक क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता का ध्यान रखेगी । जिस देश का कार्यकाल समाप्त हो जाता है, उसे उसी साल पुन: उम्मीदवार होने का अधिकार प्राप्त नहीं होता । अस्थायी सदस्यों के प्रथम निर्वाचन में तीन सदस्य एक वर्ष के कार्यकाल के लिये चुने गये थे । आजकल इसकी सदस्य संख्या 15 है तथा दूसरे 10 अस्थायी सदस्य है । सन् 1945 में ही इन पांच स्थायी सदस्यों का नामोल्लेख कर दिया गया था, क्योकि उस समय यही अवधारणा की गयी थी कि द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात इन पांच राष्ट्रों के अतिरिक्त और कोई महान शक्ति विद्यमान नहीं थी, जो विश्व में शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखने में सक्षम प्रतीत हो । सन् 1945 ई. में तथाकथित पांच बड़े अस्थायी सदस्य राज्यों में चीन गणराज्य को भी रखा गया था, किन्तु सन् 1971 ई. में उसे स्थायी सदस्यों की सूची से निष्कासित कर साम्यवादी चीन को स्थायी सदस्य बनाया गया ।

परिषद् की कार्यप्रणाली सुरक्षा परिषद् में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के सिर्फ एक-एक प्रतिनिधि रहते है अत: इस परिषद् की बैठक में अधिक से अधिक पन्द्रह सदस्य उपस्थित होते हैं जिससे गम्भीर विषयों पर विचार-विमर्श करने और निर्णय देने में सुविधा होती है । सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य राज्य का एक-एक प्रतिनिधि संघ के मुख्य कार्यालय में बना रहता है । प्रक्रिया संबंधी मामलों में निर्णय के लिए 9 मतों की आवश्यकता होती है । प्रक्रिया संबंधी विषयों का आशय ऐसे मामलों से है जिनमें सुरक्षा परिषद् की बैठक के समय या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करना, आदि से है. परन्तु अन्य सभी महत्वपूर्ण पांचों स्थायी सदस्य भी उस निर्णय से सहमत हो । इस प्रकार प्रत्येक स्थायी सदस्य को सभी महत्वपूर्ण विषयों में निषेधाधिकार प्राप्त है, परन्तु साथ ही यह भी नियम है कि झगड़े से संबंधित दल मतदान नहीं करता । यदि कभी सुरक्षा परिषद् में ऐसे विषय पर विचार होता है, जिससे संयुक्त राष्ट्र के किसी ऐसे सदस्य राज्य के विशेष हितों पर प्रभाव पड़ता हो, जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य न हो तब वह राज्य सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही में भाग ले सकता है परन्तु उसे मतदान में भाग लेने का अधिकार नहीं होता ।

कार्य एवं क्षेत्राधिकार प्रमुख रूप से विश्व शान्ति एवं सुरक्षा इसका कार्यक्षेत्र है । सुरक्षा परिषद के क्षेत्राधिकार में आने वाले बहुत से संगठनात्मक विषयों में उसे कानूनी रूप से बाध्यकारी अधिकार प्राप्त है । नये राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान करना, महासचिव का चयन, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति, आदि सभी ऐसे कार्य जो वह महासभा से मिलकर करती है । सुरक्षा परिषद् अपने आन्तरिक मामलों का स्वयं निर्णय करती

है । केवल सुरक्षा परिषद् ही शान्ति भंग करने वाले के विरूद्ध कठोर कार्यवाही कर सकती है । यदि सुरक्षा परिषद् यह निर्णय करती है कि परिस्थिति से विश्व शान्ति एवं सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है या शान्ति भंग हो रही है, एवं यदि किसी राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण कर दिया है उसे कूटनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक कार्यवाही का आदेश करने का अधिकार है एवं सदस्य राष्ट्र चार्टर की इच्छानुसार उक्त निर्णय को मानने एवं लागू करने को बाध्य है । सदस्यता प्राप्त करने के लिए किसी भी देश को संयुक्त राष्ट्र के महासचिव के पास आवेदन प्रस्तुत करना पडता है । सुरक्षा परिषद् सदस्यता प्रदान करने से संबधित अपनी समिति की राय पर स्वयं उक्त देश की सदस्यता की पात्रता पर विचार करती है जिसमें वह बहुत ही विशिष्ट परिस्थितियों में सन्तुष्ट होकर महासभा के पास अपनी सिफारिश भेज देती है । सुरक्षा परिषद् की उक्त सिफारिश उसके सभी स्थायी सदस्यों की सहमति पर ही आधारित है । सुरक्षा परिषद् का उद्देश्य शान्ति की स्थापना माना जाता है । सुरक्षा परिषद् पहले तो विवाद को प्रस्तावों द्वारा समाप्त करना चाहती है, उसके बाद आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने पर विचार करती है और अन्त में सैनिक कार्यवाही की शक्ति एवं अधिकार का प्रयोग कर सकती है । चार्टर में संयुक्त राष्ट्र की सेना का कहीं उल्लेख नहीं है । सुरक्षा परिषद् के पास यह अधिकार अवश्य है कि वह सदस्य राष्ट्रों से किसी भी समय उसे सेनाएं उपलब्ध कराने को कह सकती है । सुरक्षा परिषद् को अधिकृत किया है वह शान्ति की स्थापना के लिए जल, थल तथा नम सेना का यथा उचित प्रयोग कर सके ।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निपटाने के लिए सुरक्षा परिषद् निम्नलिखित चार प्रकार के तरीके अपना सकती है

1 सर्वप्रथम, संबन्धित राष्ट्रों को आपसी वार्ता व पत्र-व्यवहार के लिए प्रेरित करती है ।

2 द्वितीय, पंचों, मध्यस्थों और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा निर्णय का सुझाव रखती है ।

3 तीसरे वे प्रभावी उपाय के रूप में दोषी राष्ट्र के विरूद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध की आज्ञा दे सकती है ।

4 आवश्यकता पड़ने पर अन्तिम उपाय के रूप में सैनिक कार्यवाही कर सकती है । संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी सेना नहीं है, पर सैनिक कार्यवाही के लिए सदस्य राष्ट्रों की सेनाएं प्राप्त होती है

मूल्यांकन बड़े राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद् को अपने राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए औजार की तरह प्रयोग किया है । कुछ विद्वानों का मत है कि सुरक्षा परिषद् शक्तिशाली राष्ट्रों के हाथ में खिलौना मात्र है । आजकल महाशक्तियों का सहारा पाकर सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के निर्णयों की अनसुनी कर देते हैं । बड़े राष्ट्रों की इच्छा के विपरीत किसी भी तरह का निर्णय वहां संभव नहीं है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुरक्षा परिषद् का निर्णय वीटों सम्पन्न राष्ट्रों का निर्णय है । सुरक्षा परिषद् के निर्णयों का आज अनेक राष्ट्र सम्मान नहीं करत है एवं बड़े राष्ट्र स्वयं उसकी उपेक्षा करते है । ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र की महासभा का प्रभाव बढ़ना एक अनिवार्य तथ्य हो गया है । महासभा के पास भी कोई स्पष्ट शक्ति तो नहीं है, परन्तु वह विश्व की संसद का स्वरूप धारण करती जा रही है । 3 नवम्बर, 1950 के शान्ति

के लिए एकता प्रस्ताव ने महासभा को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की है । संक्षेप में, महासभा का बढ़ता हुआ महल सुरक्षा परिषद् की भूमिका के ह्रास का कारण हे ।

फिर भी सुरक्षा परिषद् का महत्व बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ है । सुरक्षा परिषद् का महत्व इसलिए कम नहीं हो सकता क्योंकि पांचों महाशक्तियों का प्रतिनिधित्व है और वर्तमान समय में भी विश्व के किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को करने के लिए पांचों का सहयोग आवश्यक है, परन्तु पाचों स्थायी सदस्यों के पारस्परिक संघर्ष के कारण सामूहिक सुरक्षा तथा विश्व शान्ति हेतु संयुक्त राष्ट्र प्रणाली दुर्बल तथा अव्यावहारिक सिद्ध हुई है ।

14.3.3 आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् : सगंठन एवं कार्य

आर्थिक और सामाजिक परिषद् इस धारणा पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति केवल राजनीतिक विवादों के समाधान पर ही निर्भर नहीं करती है, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक. सामाजिक और उनसे संबंधित अन्य समस्याओं के संबंध में उचित और प्रभावपूर्ण कार्यवाही पर भी निर्भर करती है । राजनीतिक स्थिरता के अतिरिक्त सामाजिक स्थिरता और आर्थिक सन्तोष भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिये जरूरी है । महासभा के अधिनस्थ एवं उसके कार्यो को उसके प्रतिनिधि के रूप में संपन्न करने बाली संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् है ।

संरचना - प्रारंभ में इस परिषद् में 18 सदस्य होते थे । 1966 में चार्टर में एक संशोधन द्वारा इसके सदस्यों की संख्या 18 से बढाकर 27 कर दी गयी । तत्पश्चात् अनुच्छेद 61का एक बार पुन: संशोधन हुआ जो 24 सितम्बर, 1973 को लागू हुआ । इसके अनुसार, अब आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की सदस्य संख्या 54 हो गयी है जिनकी कार्यावधि 3 वर्ष है । 18 सदस्य एक तिहाई सदस्य प्रति वर्ष तीन वर्ष की कार्यवधि के लिए उन 18 सदस्यों को प्रतिस्थापित करने के लिए चुने जाते है जिनकी तीन वर्षीय कालावधि समाप्त हो चुकी होती है । परन्तु अवकाश ग्रहण करने वाला सदस्य तुरन्त पुन: निर्वाचित हो सकता है । परिषद् में प्रत्येक सदस्य राज्य का एक ही प्रतिनिधि होता है । इस प्रकार यह एक स्थायी संस्था है । आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के लिए कोई स्थायी सदस्यता का उपबन्ध नहीं है तथापि व्यवहार में तथाकथित पांच बडे सदैव निर्वाचित हो जाते है । साधारणत:, इसके निर्वाचित सदस्य ही इसकी बैठकों में भाग लेते है पर यह संयुक्त राष्ट्र के किसी भी सदस्य को बिना मतदान के किसी ऐसे विषय पर अपने विचार-विमर्श में आमन्त्रित कर सकती है, जो उस सदस्य के लिए विशेष चिन्ता का विषय हो ।

मतदान प्रक्रिया आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के प्रत्येक सदस्य को केवल एक मत देने का अधिकार होता है । इसमें निर्णय उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों को साधारण बहुमत द्वारा लिए जाते है । परिषद् जब किसी विशेष राज्य के विषय पर विचार-विनिमय करने बैठती है तो वह उस राज्य के प्रतिनिधि को आमन्त्रित करती है, किन्तु ऐसे आमन्त्रित प्रतिनिधि को मत देने का अधिकार नहीं होता । आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की बैठकें साल में दो बार होती है । अप्रैल और जुलाई में क्रमश: न्यूयार्क और जेनेवा में । महासभा की भांति एक साल के लिए सदस्य राज्यों में से ही एक सदस्य इसका सभापति निर्वाचित होता है ।

कार्य एवं शक्तियां - चार्टर के अनुसार, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के कार्य तथा शक्तियाँ है.

1. यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य तथा संबंधित मामलों पर अध्ययन कर सकती है तथा इस विषय में महासभा, संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों तथा विशिष्ट अभिकरणों को रिपोर्ट दे सकती है ।
2. यह सबके मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के आदर तथा लागू करने के लिए संस्कृति दे सकती है ।
3. यह अपनी क्षमता के अन्तर्गत आने वाले विषयों से संबंधित अभिसमयों के आलेख महासभा को प्रेषित कर सकती है ।
4. संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार अपनी क्षमता के अन्तर्गत आने वाले विषयों से संबंधित मामलों पर सम्मेलन बुला सकती है ।
5. सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर यह सुरक्षा परिषद् को सूचनाएं प्रेषित कर सकती है तथा सहायता कर सकती है ।
6. आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् महासभा की संस्तुतियों के पालन हेतु वह सब कार्य सम्पादित कर सकती है जो इसकी क्षमता के अन्तर्गत होते है ।
7. महासभा के अनुमोदन से, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्, सदस्यों तथा विशिष्ट एजेन्सियों की प्रार्थना पर सेवाएं अर्पित कर सकती है ।
8. उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त, यह चार्टर क अन्तर्गत निर्दिष्ट तथा महासभा द्वारा बनाये गये सभी कार्यो को सम्पादित करेगी ।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के प्रमुख कार्यो में से एक विभिन्न विशिष्ट अभिकरणों की गतिविधियों में समन्वय करना भी है । वस्तुत: गरीबों, घायलों तथा अशिक्षितों की सहायता करके आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् विश्व शान्ति की स्थापना में सहायता करती है । यह सभी प्रकार से लोगों के जीवन में सुधार करने का प्रयत्न करती है ।

सहायक निकाय परिषद के सहायक निकायों में शामिल है:

छ : कार्यशील आयोग सांख्यिकी आयोग, जनसंख्या आयोग, समाज विकास आयोग, मानवाधिकारों संबंधी आयोग, महिलाओं की स्थिति संबंधी आयोग और नशीली औषधियों का आयोग ।

क्षेत्रीय आयोग ।

1 अफ्रीका के लिए आर्थिक आयोग (अदीस अबाबा में मुख्यालय)

2 एशिया और पैसिफिक के लिए आर्थिक और सामाजिक आयोग, (बैंकाक)

3 यूरोप के लिए आर्थिक आयोग, (जिनेवा)

4 लैटिन अमेरिका के लिए आर्थिक आयोग (बगदाद)

छ : स्थायी समितियां कार्यक्रम और समन्वय समिति तथा प्राकृतिक साधनों, राष्ट्र बाहा निगमों, मानव बस्तियों, गैर सरकारी संगठनों और अन्तर्प्रशासनिक एजेन्सियों से समझौता वार्ता की समितियां।

मूल्यांकन आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने अनेक क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया है । विशेषत: इसके तथा विशिष्ट समितियों के तत्वाधान में एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के पिछडे हुए देशें को दी गयी तकनीकी सहायता तथा मानवीय अधिकारों की घोषणा इसकी प्रमुख सफलताएं मानी जाती है । शरणार्थियों, राज्यविहीन व्यक्तियों, ट्रेड यूनियनों के अधिकारों, दासता तथा बेगार जैसी समाज विरोधी कार्यवाहियों पर परिषद् द्वारा सतत विचार विमर्श होता रहता है । परिषद ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा किसी भी राष्ट्रीय, नस्ली तथा धार्मिक समुदाय को पूर्णतया समाप्त करने के प्रयास को अवैध घोषित कर दिया है । आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त जातियों एवं समुदायों के सामाजिक स्तर को उपर उठाया जाता है । आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् आधुनिक पद्धतियों से उत्पादन बढ़ाने में सहयोग देकर गरीबी निवारण में सहयोग देती है । यह आवश्यक उपकरणों, यन्त्रों, मशीनों, भवनों, सडकों एवं बन्दरगाहों को उपलब्ध कराकर व्यापार उद्योग तथा कृषि की उन्नति में सहयोग देती है । आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् ने एक विश्वव्यापी कल्याणकारी परिषद् के रूप में कार्य किया है । इसने विश्व को अभाव. दरिद्रता, रोग और निरक्षरता से मुक्ति दिलाने का, प्रयास किया है । आर्थिक एवं सामाजिक परिषद ने विविध जनसंख्या वर्गो बालक, युवा, महिला. वृद्धों, अपाहिज और शरणार्थियों के लिए कार्यक्रम तथा मादक पदार्थ-दुरुपयोग नियन्त्रण तथा अपराध निवारण जैसे विशेष सामाजिक संबंध वाले कार्यक्रम प्रारंभ किए है ।

14.3.4 न्यास परिषद संगठन एवं कार्य

चार्टर के अनुच्छेद 75 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत न्यास प्रदेशों के प्रशासन और नियन्त्रण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था स्थापित करेगा जो समझौतों द्वारा सम्पादित होगी ।

न्यास सिद्धान्त का उद्भव

यूरोपीय उपनिवेशीय राष्ट्रों ने 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विशाल भूखण्डों पर अपना शासन स्थापित कर रखा था । इन पराधीन क्षेत्रों के लोगों के साथ तरह-तरह से अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता था । 20 शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इन पराधीन प्रदेशों के लोगों ने अपने अपने क्षेत्रों में आत्म निर्णय के अधिकार की मांग की और स्वसशासन की प्राप्ति के लिए मुक्ति आन्दोलन शुरू किया ।

वार्साय सन्धि के पश्चात् इस धारणा में आमूल परिवर्तन हुआ कि उपनिवेश केवल साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी शक्तियों के हित के लिए विद्यमान है । सिद्धान्त रूप में यह कहा जाने लगा कि उपनिवेशों को अन्तत: स्वशासन प्रदान किया जाएगा । द्वितीय विश्वयुद्ध चल ही रहा था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान एक ओर पश्चिम यूरोप के अधिकांश एशियाई उपनिवेशों पर जापान ने अधिकार कर लिया था और उसने पूर्वी एशिया एवं प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में विजय प्राप्त कर ली थी, जिससे संयुक्त राज्य अमरीका अत्यन्त चिन्तित हो गया था तो दूसरी ओर एशिया के अधिकांश पराधीन भूखण्डों के लोग जाग्रत हो चुके थे और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे । ऐसी परिस्थिति में अमरीका के लिए इन पराधीन क्षेत्रों को स्वाधीनता का आश्वासन देना अत्यावश्यक हो गया । अन्तत: अमरीका इस विचार पर दृढ हो गया था कि

उपनिवेशवाद का युग अब समाप्त हो चुका है अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने पराधीन लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया, परन्तु ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल साम्राज्यवाद का शंख फूंकते रहे । उपनिवेशवाद उन्मूलन के मार्ग पर अमरीका पीछे नहीं हटा । जब संयुक्त राष्ट्र चार्टर का प्रारूप तैयार हो रहा था, उससे बहुत पहले ही भावी संगठन संबंधी अमरीकी प्रारूप 14 जुलाई. सन् व 1943ई को प्रकाशित हो चुका था । ' उक्त प्रारूप के अनुच्छेद व 12 में कहा गया था. 'पेसे पराधीन क्षेत्रों मे. जहां के लोग अभी पूरी तरह स्वशासन प्राप्त नहीं कर सके हैं, न्यास पद्धति का सिद्धान्त लागू किया जाएगा, जिसके अन्तर्गत स्थानीय लोगों के हितों को सर्वोपरि मानकर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण में रखा जाएगा । इस पद्धति का अन्तिम उद्देश्य यह होगा कि इन पराधीन क्षेत्रों के लोग राजनीति परिपक्वता प्राप्त कर सकेगें और आगे चलकर अपने-अपने क्षेत्रों का शासनभार स्वयं ग्रहण करेगें । '

न्यास परिषद् के उद्देश्य चार्टर के अनुसार न्यास पद्धति के चार उद्देश्य है - (1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को. बढाना. (2) लोगों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा संबंधी उन्नति में सहयोग देना स्वशासन अथवा स्वतन्त्रता के क्रमिक विकास में सहायता देना, (3) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेदभाव किए बिना सबके लिए मानवीय अधिकारों ओर मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढाना और उनमें यह भाव जगाना कि संसार के सब लोग एक - दूसरे पर निर्भर है, (4) सामाजिक, आर्थिक और वाणिज्य संबंधी मामलों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों के और उनके नागरिको के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना (धारा 76)

न्यास पद्धति के प्रदेश चार्टर मे न्यास पद्धति में आने वाले दो प्रकार के पराधीन प्रदेशों का वर्णन है - (1) ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, आदि पश्चिमी देशों के वशवर्ती और उनके साम्राज्यों के विविध प्रदेश इन्हें स्वशासन न करने वाले प्रदेश कहा जाता है । इसके संबंध में चार्टर में केवल सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन है और इन पर शासन करने वाली शक्तियों पर संघ का, इसके अतिरिक्त कोई नियन्त्रण नहीं है कि ये इनके संबंध में कुछ सूचनाएं संघ को दे । (2) न्यास प्रदेश ये तीन प्रकार के होते है - (अ) मैण्डेट के अधीन प्रदेश (ब) द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप शत्रु राज्यों से छीने गये प्रदेश, (स) अपनी इच्छा से महाशक्तियो द्वारा संघ को सौंपे जाने वाले प्रदेश । राष्ट्र संघ के मैण्डेंट वाले प्रदेशों में दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की तीव्र आलोचना के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास पद्धति के अन्तर्गत प्रदान करना स्वीकार नहीं किया था ।

न्यास पद्धति के अन्तर्गत आरम्भ में निम्नलिखित 11 प्रदेश थे :

	न्यास प्रदेश	प्रशासक प्रदेश
1	न्यूगिनी	आस्ट्रेलिया
2	रूआणड -उरुण्डी	बेल्जियम
3	फेंच कैमरून्ज	फांस
4	फेंच टोगोलैण्ड	फांस
5	पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैण्ड

6	टांगानिका	ग्रेट ब्रिटेन
7	ब्रिटिश कैमरून्ज	ग्रेट ब्रिटेन
8	ब्रिटिश टोगोलैण्ड	ग्रेट ब्रिटेन
9	नीरू	आस्ट्रेलिया
10	प्रशासन्त महासागर के द्वीपो का न्यास प्रदेश	संयुक्त राज्य अमरीका
11	सुमालीलैण्ड	इटली

न्यास परिषद् का संगठन न्यास परिषद् का संगठन निम्न प्रकार से होता है - (क) जिन राष्ट्रों को न्यास का भार सौंपा गया है ऐसे राज्य - (1) आस्ट्रेलिया, (2) न्यूजीलैण्ड (3) अमरीका, और (4) ब्रिटेन है । (ख) सुरक्षा परिषद् के दे स्थायी सदस्य जिनके शासन में कोई न्यास क्षेत्र नहीं है ऐसे राज्य चीन, फांस और रूस है । (ग) उतने दूसरे सदस्य जितने न्यासीय प्रदेशों को शासन प्रबन्ध चलाने वाले और न चलाने बाले देशों के बीच समान विभाजन के लिए पर्याप्त हों। ऐसे सदस्यों का निर्वाचन महासभा द्वारा तीन वर्षो के लिए होता है । निर्वाचित सदस्य अपनी अवधि समाप्त होने के तुरन्त बाद ही फिर निर्वाचित हो सकता है ।

इस प्रकार न्यास परिषद् के आज 12 सदस्य है जिनमें चार प्रबन्धकर्ता देश है, तीन सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य होने के कारण स्थायी सदस्य ओर पांच निर्वाचित सदस्य है ।

न्यास परिषद् के कार्य (1) न्यासीय प्रदेशों की जनता की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा संबंधी प्रगति के बारे में सूची तैयार करना जिसके आधार पर शासन-प्रबंध चलाने वाली संस्थाएं वार्षिक रिपोर्ट भेजती है । (2) इन प्रशासनिक सत्ताओं से प्राप्त रिपोर्टो की जांच और उन पर विचार करना । (3) इन सत्ताओं के परामर्श से प्रार्थना पत्रों पर विचार करना, सत्ता के साथ यदा-कदा नियत समय निरीक्षण के लिए न्यासीस प्रदेशों का दौरा करना । (4) न्यास परिषद् में निर्णय साधारण बहुमत से होते हे । प्रत्येक सदस्य का एक ही वोट होता है ।

न्यास परिषद् स्वयं ही अपने कार्य-संचालन के नियम बनाती है, जिसमें अध्यक्ष के चुनाव का ढंग भी सम्मिलित है । वर्ष में साधारणतया दो अधिवेशन होते है, जिनमें पहला जून के अन्तिम पक्ष और दूसरा नवम्बर के उतरार्द्ध में । आवश्यकतानुसार विशेष अधिवेशन न्यास परिषद् अथवा महासभा के प्रस्ताव अथवा सुरक्षा परिषद के अधिकांश सदस्यों के अनुरोध पर बुलाया जा सकता है । एक नियमित प्रतिनिधि मण्डल हर साल दौरे के लिए बाहर भेजा जाता है ।

मूल्यांकन न्यास परिषद् को अपने उद्देश्यों में अपूर्व सफलता मिली है । सी.टी. रामुलू के शब्दों में, न्यास पद्धति की सतत् प्रगति आधुनिक विश्व में राजनीतिक नैतिकता के उन बिन्दु का प्रतिनिधित्व करती है । प्लेनों और रिग्स ने लिख है कि "अपनी सफलताओं के कारण न्यास परिषद को विलोपन का सामना करना पड़ रहा है ।" परिषद की यह सबसे बडी उपलब्धि है कि अधिकांश न्यास प्रदेश 15-20 वर्षो की अल्प अवधि में ही स्वतन्त्र हो गये । सन् 1957 में ब्रिटिश टोगोलैण्ड सन् 1960 में फ्रेंच कैमरून तथा फ्रेंच टोगोलैण्ड तथा इटालियन सुमालीलैण्ड स्वतन्त्र हो गये । सन् 1961 में ब्रिटिश कैमरून तथा टांगानिका, 1962 में रूआण्डा-उरूण्डी,

1968 में नीक दीप तथा 1973 में न्यूगिनी के न्यास प्रदेश स्वतन्त्र हो गए । सितम्बर, 1975 में पपुआ न्यूगिनी का न्यास क्षेत्र स्वतन्त्र हो गया ।

14.3.5 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय : संगठन एवं कार्य

सेनफासिस्कों सम्मेलन का आयोजन करने वाले राष्ट्रों के आमन्त्रण पर विधिवेताओं की समिति, जिसमें 14देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, की बैठक 9 अप्रैल से 20अप्रैल, 1945 तक वाशिंगटन में हुई। इस बैठक में वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रारूप तैयार हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संध के चार्टर में 92 से 96 तक के अनुच्छेदों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का विधान है । अनुच्छेद 92 का मन्तव्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का न्याय संबंधी प्रधान उपकरण होगा । उसका काम उस विधान के अनुसार होगा जो परिशिष्ट रूप में से चार्टर के साथ सलंग्न है । अनुच्छेद 94 के अनुसार प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वह न्यायालय के निर्णयों का ठीक तरह से पालन करें । यदि एक पक्ष पालन न करें तो दूसरे पक्ष को अधिकार है कि सुरक्षा परिषद का ध्यान इस ओर उपयुक्त कार्यवाही के लिए आकृष्ट करें ।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हेग में 3 अप्रैल, 1946 को हुई थी । अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संविधान 70 अनुच्छेदों में है । इसमें न्यायालय के अधिकार, अधिकार क्षेत्र कार्य संचालन नियम, आदि सभी आवश्यक बातें दी हुई है । कार्यालय के भव्य भवन का निर्माण अमरीकी दानवीर स्वर्गीय कार्नेगी ने अपने धन से कराया था । अत: आज अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्यालय उसी भवन में है । संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 92 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के लिए न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय का गठन हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के समान ही न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजों संख्या 15 रखी गयी । ये न्यायाधीश अपने में से ही एक सभापति तथा उपसभापति चुनते है । न्यायाधीशों का चुनाव सुरक्षा परिषद् तथा महासभा द्वारा 9 वर्ष के लिए किया जाता है । न्यायाधीशों का चुनाव जाति भेद, रंग तथा धर्म भेद के आधार पर न होकर योग्यता के आधार पर होता है । ये व्यक्ति अपने राष्ट्र विधिवत के रूप में ख्याति पा चुके होते है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ माने जाते है। संविधान में कहा गया है कि न्यायाधीशों का नैतिक चरित्र उच्च होना चाहिए और उनमें बे योग्यताऐं होनी चाहिए जो उनके देश की न्याय संबंधी उच्च संस्थाओं के उच न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति के लिए आवश्यक हो । यह ध्यान रखा जाता है कि एक से अधिक न्यायाधीश एक ही राष्ट्र के न हो । इन न्यायाधीशों को कोई राजनीतिक कार्य या अन्य कोई व्यवसाय करने की आज्ञा नहीं होती । इनका पुनर्निवाचन भी हो सकता हैं । न्यायाधीशों का चुनाव करते समय यह भी ध्यान रखा जाता. है कि न्याय व्यवस्था में संसार की सभी न्याय व्यवसायों का प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए ।

उन्मुक्तियां न्यायाधीशों को अनेक विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं । उनको राजनयिक उन्मूक्तियां प्रदान की जाती है । न्यायालय के सम्मुख वादियों के प्रतिनिधि. परामर्शदाता और वकीलों को भी स्वतंन्त्रतापूर्वक कार्य करने की छूट दी जाती है ।

गणपूर्ति न्यायालय के विधान के अनुसार इसमें 15 न्यायाधीशों के अतिरिक्त अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त करने की भी व्यवस्था है । न्यायालय की गणपूर्ति 9 रखी गयी है ।

प्रक्रिया न्यायालय के सभी निर्णय बहुमत से लिए जाते है । बहुमत न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है ।

न्यायालय की भाषा फेंच तथा अंग्रेजी है । अन्य भाषाओं को भी अधिकृत रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है । न्यायालय अपनी कार्यविधि और नियमावली स्वंय तैयार करता है।

न्यायालय के सामने वे सब विवाद जा सकते है जिनको दोनों पक्ष उसके सामने रखना चाहे या जिनका संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर अथवा किसी सन्धि के अनुसार न्यायालय में लाया जाना अनिवार्य हों ।

न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत मुकदमों में वादी और प्रतिवादी केवल राष्ट्र ही सकते है. व्यक्ति नहीं । ऐसे राष्ट्र जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं है, अपने विवाद का निर्णय इस न्यायालय द्वारा करा सकते है किन्तु सुरक्षा परिषद द्वारा निर्धारित शर्तों को मानना पडेगा । सुरक्षा परिषद भी ऐसी शर्त नहीं रख सकती जिनके कारण गैर-सदस्य राष्ट्रों में असमानता छोटे-बडे का भेद दृष्टिगत हो।

न्यायालय के विधान के मन्तव्य के अनुसार मुकदमें के खर्च का कौन सा हिस्सा गैर सदस्य राष्ट्र की देना पडेगा निर्णय न्यायालय ही करेगा ।

न्यायालय का निर्णय अन्तिम समझा जाता है । निर्णय की अपील नहीं हो सकती, किन्तु कोई पक्ष समझे कि कोई आवश्यक बात न्यायालय के सम्मुख किसी कारण से अंत उपस्थित नहीं हो सकी अथवा प्रत्यक्ष रूप से कहीं भूल हुई है, तब उस अवस्था में पुन: विचार के लिए प्रार्थना पत्र दिया जा सकता है ।

न्यायालय को अधिकार है कि अपना निर्णय देने के पूर्व किसी व्यक्ति विशेषज्ञ अथवा कमेटी द्वारा मुकदमे से संबंधित किसी भी विषय के संबंध में जांच करा ले ।

मुकदमे की सुनवाई आमतौर से सार्वजनिक रूप में होती है, किन्तु न्यायालय स्वत: अथवा वादी प्रतिवादी की प्रार्थना पर बन्द कमरे में मुकदमें की सुनवाई कर सकता है ।

सब प्रश्नों का निपटारा उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत से होता है । यदि किसी प्रश्न पर न्यायाधीशों का मत बराबर हो तो सभापति अथवा उसकी अनुपस्थिति में जो सभापति का आसन ग्रहण कर रहे हों, अपना निर्णायक मत दे सकते है । मुकदमे की सुनवाई के लिए कम से कम नौ न्यायाधीशों की उपस्थिति अनिवार्य है ।

न्यायालय का खर्च सदस्य देश देते है । खर्च का कितना हिस्सा किसको देना पडेगा, इसलिए निर्णय महासभा करती है । संयुक्त राष्ट्र संघ के वार्षिक बजट में न्यायालय का बजट भी सम्मिलित रहता है और महासभा न्यायाधीशों तथा रजिस्ट्रार का वेतन निर्धारित करती है ।

यद्यपि न्यायालय का स्थायी कार्यालय हेग में है तथापि मुकदमे की सुनवाई दूसरे देश में भी हो सकती है । अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है :

1 ऐच्छिक क्षेत्राधिकार

2 अनिवार्य क्षेत्राधिकार

3 परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार

1 **ऐच्छिक क्षेत्राधिकार** अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि की धारा 36 के अनुसार न्यायालय उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनको संबंधित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें ।

2 **अनिवार्य क्षेत्राधिकार** राज्य स्वयं घोषणा करके इन क्षेत्रों में न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है । ये हैं सन्धि की व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य का उल्लंघन समझा जाए तथा किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षीतपूर्ति का रूप और परिणाम ।

3 **परामर्शत्मक क्षेत्राधिकार** अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य भी सम्पन्न किया जाता है । महासभा अथवा सुरक्षा परिषद किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श मांग सकती है । संयुक्त राष्ट्र संघ के दूसरे अंग तथा विशेष अभिकरण भी उनके अधिकार क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकते है ।

न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है, जिसे मानने के लिए किसी भी संस्था को बाध्य नहीं किया जा सकता ।

न्यायिक निर्णय की क्रियान्वित

संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए संघ के चार्टर की धारा 94 में व्यवस्था की गयी है । इसके अनुसार, संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले में विवाद होने पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को मानेगा । यदि एक पक्ष न्यायालय के निर्णय को- नहीं मानता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद का आश्रय ले सकता है । न्यायालय के निर्णय को क्रियान्वित कराने के लिए आवश्यक कार्यवाही तय करते समय सुरक्षा परिषद के 9 सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक है । इसमें से 5 स्थायी सदस्य भी होना चाहिये ।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मूल्यांकन

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं फिर भी जब से इसने जन्म लिया है, इसके द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को सुलझाया जा चुका है। यद्यपि उसके पास वे शक्तियां एवं अधिकार नहीं जो इसे वास्तव में प्राप्त होने चाहिए थे. फिर भी यह महान उद्देश्यों की एक साकार प्रतिमा है । अतिवादी प्रभुसत्ता का विचार न्यायालय के मार्ग में बहुत बडी बाधा है । इसका परित्याग करना होगा । इसी प्रकार सविधि की धारा 34 जिसमें यह कहा गया है किं न्यायालय के सम्मुख राज्य ही वादी और प्रतिवादी हो सकते है, को भी बदलना पडेगा ताकि व्यक्तियों को न्यायालय में पहुंचने का अधिकार देना होगा ।

गुडस्पीड ने लिखा है कि "अपनी क्षमता के बावजूद न्यायालय एक ऐसे विश्व समाज में कार्य करता है जो अभी भी इसे महत्वपूर्ण मामले सुपुर्द करने को तैयार नहीं है अथवा वह भी कार्य करने देने के लिए तैयार नहीं जो चार्टर में इसके लिए निर्देशित है । " अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओ 'के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना काम बडी कुशलता से किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में योगदान दिया है ।

14.3.6 सचिवालय : संगठन एवं कार्य

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ के छः प्रमुख अंगों में से एक है । अन्तर्राष्ट्रीय लोक सेवा ही इसकी अन्तर्राष्ट्रीय विशेषता है । संयुक्त राष्ट्र के अन्य प्रमुख अंग अपने-अपने कार्यकाल के अनुसार सदैव बदलते रहते है पर सचिवालय क साथ यह बात नहीं । इसमें स्थायी सेवाओं के व्यक्ति काम कते है । फलत: यह एक स्थायी संस्था है जिसका काम निरन्तर चलता रहता है। सचिवालय का कार्य उतने ही भिन्न स्वरूपों का है जितनी भिन्न संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा देखे जाने वाली समस्याओं की सूची है । इसमें सम्मिलित है शान्ति बनाये रखने के कार्य चलाना, विश्व से सम्बद्ध समस्याओं पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करना. विश्व की आर्थिक और सामाजिक प्रवृत्तियों तथा समस्याओं का सर्वेक्षण, मानव अधिकारों, निःशस्त्रीकरण और विकास जैसे विषयों पर अध्ययनों की तैयारी और भाषणों की व्याख्या, दस्तावेजों का अनुवाद तथा विश्व संचार माध्यम को संयुक्त राष्ट्र संघ के विषय में सूचना देना ।

सचिवालय का संगठन सचिवालय संयुक्त राष्ट्र का एक प्रशासनिक अंग है । सचिवालय में महासचिव तथा अन्य कर्मचारी होते है । महासचिव की नियुक्ति 5 वर्षो के लिए सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा होती है । वह संघ का मुख्य प्रशासकीय अधिकारी होता है । महासभा द्वारा बनाये गये विनियमों के अनुसार महासचिव सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है । आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् न्यास परिषद् तथा आवश्यकतानुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंगों के लिए आवश्यक कर्मचारी नियुक्त होते हैं । उनकी नियुक्ति में यथासम्भव भौगोलिक आधार को पर्याप्त रूप से महत्व दिया जाता है । इस बात का उपबन्ध चार्टर में विशेष रूप से किया गया है कि न तो महासचिव और न ही कर्मचारी वर्ग किसी राज्य से अथवा संघ से बाहर किसी दूसरे अधिकारी से अनुदेश माँगें और न प्राप्त करेगें । नियुक्ति के पश्चात अपने कार्यकाल में सचिवालय के सभी कर्मचारी विश्व नागरिक हो जाते है और वे केवल विश्व संस्था के प्रति ही निष्ठावान होते है ।

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र का एक वृहत प्रशासनिक तंत्र है, जिसे आठ विभागों में संगठित किया गया है:

1. सुरक्षा परिषद् संबंधी कार्यों का विभाग ।
2. आर्थिक विभाग ।
3. सामाजिक कार्यो का विभाग ।
4. न्यास एवं स्वशासितेतर क्षेत्रों में सूचना विभाग ।
5. सार्वजनिक सूचना विभाग ।
6. सम्मेलन तथा सामान्य सेवा विभाग ।
7. प्रशासनिक तथा वित्तीय सेवा विभाग ।
8. विधि विभाग ।

प्रत्येक का एक अध्यक्ष एवं एक उपमहासचिव होता है । उपमहासचिव के नीचे एकाधिक उच्च पदस्थ निदेशक होता है । उपमहासचिव की नियुक्ति महासचिव द्वारा की जाती है । इनकी नियुक्तियों का आधार इनकी कार्यक्षमता, अर्हता एवं क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व होता है ।

इनकी नियुक्ति करते समय महासचिव को यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि यथा सम्भव के विभिन्न क्षेत्रों का समुचित प्रतिनिधित्व हो सके ।

महासचिव सचिवालय संयुक्त राष्ट्र की प्रमुख संस्था है जिसके शीर्ष बिन्दु पर महासचिव का पद एवं उसका कार्यालय है । वह केवल सचिवालय का अध्यक्ष ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व संस्था के कार्यो का सूत्रधार कहा जा सकता है । उसे सचिवालय का मुख्य संचालक भी कह सकते है । महासचिव न केवल सामान्य प्रशासकीय कार्य करता है वरन् आवश्यकता पडने पर सुरक्षा परिषद् के सामने किसी भी ऐसे मामले को ला सकता है जिसके कारण, उसकी राय में, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए भय उत्पन्न हो सकता है । अपने इस अधिकार के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ का महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की रक्षा में महत्वपूर्ण योग देता है । महासचिव की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए होती है ।

महासचिव के कार्य -संयुक्त राष्ट्र महासचिव के प्रमुख कार्य निम्नलिखित -

1. **सामान्य प्रशासन** चार्टर के अनुसार, महासचिव संस्था का मुख, प्रशासनिक अधिकारी होता है । इस हैसियत से महासचिव महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद की सभी बैठकों में भाग लेता है तथा वह सभी कार्य सम्पादित करता है जो इन अंगों द्वारा उसे सौंपे जाते है । महासचिव संस्था के कार्य की वार्षिक रिपोर्ट महासभा को प्रेषित करता है ।

2. **तकनीकी कार्य** चार्टर के अनुच्छेद 98 के अनुसार, महासचिव ऐसे अन्य कार्य भी करेगा जो उसे महासभा सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद् द्वारा सौंपे जाएंगें । तकनीकी कार्या में लगभग सभी प्रकार के प्रश्नो पर अध्ययन, रिपोर्ट, सर्वेक्षण, आदि शामिल है ।

3. **सचिवालय का प्रशासन** सचिवालय में प्रशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व महासचिव पर ही होता है । वह महासभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है ।

4. **वित्तीय कार्य** संयुक्त राष्ट्र के बजट का संचालन सुचारू रूप से हो रहा है अथवा नहीं इसका सम्पुर्ण दायित्व महासचिव पर होता है, वह संयुक्त राष्ट्र का बजट तैयार करता है, जिसे बजट सलाहकार समिति के ससुख प्रस्तुत किया जाता है । वह संयुका राष्ट्र की सभी निधियों का अभिरक्षक है और उनके व्यय के लिए उत्तरदायी है ।

5. **प्रतिंनिध्यात्मक** कार्य सम्पूर्ण राष्ट्र संघ के लिए केवल एक ही महासचिव होता है, जो संघ के एक अभिकर्ता या प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है । विभिन्न अभिकरणों एवं सरकारों के साथ वार्ताओं में वह संघ का प्रतिनिधित्व करता है और संघ की ओर से करार करता है ।

6. **चार्टर के 99वे अनुच्छेद में** कहा गया है कि 'महासचिव किसी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान दिला सकता है जिससे उसके विचार में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के बने रहने में संकट उत्पन्न हो सकता है ।" इस शक्ति तथा कुछ अन्य कारणों से महासचिव संयुक्त राष्ट्र का प्रधान राजनीतिक अभिकर्ता बन गया है ।

महासचिव की यह राजनीतिक भूमिका तीन दिशाओं में विकसिंत हुई । प्रथम, उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताकार कहा जाने लगा है । दूसरे, वह अनेक अवसरों पर ऐसे प्रतिष्ठा रक्षक सूत्रों के रचयिता के रूप में सामने आया है, जिन्हें विवाद के विभिन्न पक्षों ने सम्मानजनक रूप से स्वीकार करना संभव हो पाया है । तीसरे, उसे विश्व की आत्मा की आवाज का संरक्षक कहा गया है ।

महासचिव की भूमिका महासचिव का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उसे केबल प्रशासकीय कार्यो का निर्वहन ही नहीं करना पडता है. अपितु राजनीतिक उत्तरदायित्वों को भी पूरा करना पडता है। उसकी भूमीका उतनी ही व्यापाक है जितने कि उसे वैधानिक अधिकार प्राप्त है, जितनी उसमें योग्यता और क्षमता है । यदि प्रशासनिक कार्या में उसकी भूमिका एक आरंभ जैसी है तो राजनीतिक क्षेत्र में उसकी भूमिका मध्यस्थ, वार्ताकर्ता और मतैक्य निर्माता के समान है ।

महासभा के अन्तिम सत्र में महासचिव द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली रिपोर्ट के माध्य से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उसके दृष्टिकोण व्यक्त होते है, अन्तर्राष्ट्रीय -राजनीति स्थिति और-घटनाचक्रों पर प्रकाश डाला जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के लिए सुझाव दिए जाते है ।

मूल्यांकन महासचिव की भूमिका व्यवहार में उससे कहीं अधिक व्यापक और प्रभावशाली हो गयी जितनी कि चार्टर के निर्माताओं ने परिकल्पित की थी, परन्तु फिर भी इस भूमिका की अपनी निश्चित सीमाएं है । अगर महाशक्तियों के मध्य तनाव कम हो जाता है तो स्वयं सुरक्षा परिषद् की अपने शान्ति स्थापना के उत्तरदायित्व को पूरा करने की क्षमता बढ जाती है और उसी अनुपात में महासभा और महासचिव की भूमिका संकुचित हो जाती है । इसके विपरीत, यदि महाशक्तियों के पारस्परिक मतभेदों के कारण सुरक्षा परिषद् में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है तब महासचिब के पास अपनी बात मनवाने के लिए कोई वास्तविक शक्ति नहीं रह जाती, क्योंकि महासचिव और महासभा के पास अपने निर्णयों को कार्यानित कराने के लिए कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है ।

14.4 राज्य संस्थाएं एवं अधिंराष्ट्रीय संस्थाएं

संयुक्त राष्ट्र राज्य संस्थाएं एवं अधिराष्ट्रीय संस्थाएं की वर्तमान विश्व संस्था के संघटक अंग नहीं है इनमें से कुछ संयुक्त राष्ट्र से बहुत पहले ही स्थापित हो चुके थे और बहुतों का गठन संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के बाद पृथक संविधान के अधीन किया गया है । अत: संयुक्त राष्ट्र के साथ उनका संबंध संघठनात्मक नहीं बल्कि संविदा जन्य है । संयुक्त राष्ट्र के सदृश प्रत्येक संस्था की अपनी सदस्यता, बजट एवं तंत्र है, किन्तु संयुक्त राष्ट्र के विपरित उनमें से प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के एक विशिष्ट क्षेत्र में कार्य करता है, जैसे श्रम, स्वास्थ दूर संचार आदि । विशिष्ट अभिकरण अन्तशासकीय करार पर आधारित होते हैं, तथा आर्थिक, सामाजिक संस्कृतिक शैक्षिक, आदि क्षेत्रों में विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय कार्य सम्पादित करते है । प्रत्येक विशिष्ट अभिकरण का अपना एक संविधान या चार्टर होता है जिसमें अभिकरण के कर्तक तथा जिम्मेदारियॉ वर्णित होती है । प्रत्येक संस्था का लगभग सामान्य संगठन होता है । उदाहरण के लिए, प्रत्येक में एक सभा, एक कार्यपालिका परिषद् तथा एक डाइरेक्टर अथवा

महासचिव होता है । प्रत्येक विशिष्ट संस्था का अपना एक सचिवालय होता है । राज्यों के बीच मैत्री स्थापना तथा उसका सुदृढीकरण, उनके बीच व्यापार पर चुंगी प्रतिबन्धों को कम करने पर भी आश्रित है । मुद्रा विनियम की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यपार में अक्सर बाधक होती है । शिक्षा अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास में योग प्रदान करती है और आपसी सूझबूझ को बढाती है। राष्ट्र आपस में मिलकर काम करके कार्य शर्तो, खाद्य उत्पादन मानव मात्र के स्वास्थ्य, डाक ब रेडियों संचार, आदि के कार्य में काफी मदद पहुंचा सकते है । हवाई क्षेत्र में आर्थिक एवं सामाजिक एवं विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी समझौतों के कुछ ऐसे अभिकरणों की स्थापना हुई जिन पर आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक, शिक्षा एवं स्वास्थ्य संबंधी क्षेत्रों में व्यापक जिम्मेदारियां है।

संयुक्त राष्ट्र की प्रमुख संस्थाएं निम्नलिखित है

1. अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु शक्ति अभिकरण (IAEA)

अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु उर्जा अभिकरण की संविधि का प्रारूप संयुक्त राष्ट्र के मुख्यालय में बुलाए गये एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में 26 अक्टूबर, 1956 को स्वीकृत हुआ था ।, तत्पश्चात इसकी स्थापना 29 जुलाई. 1957 ' को हुई । सन् 1957 में संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों ने एक समझौता सूत्र स्वीकार किया, जिसके अनुसार इसे स्वायत अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थिति प्रदान की गयी । अत: यथार्थ रूप से इसे संयुक्त राष्ट्र का न तो सहायक अंग कहा जा सकता है और न उसका विशिष्ट अभिकरण ।

अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु शक्ति अभिकरण का प्रमुख उद्देश्य परमाणु उर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग को प्रोत्साहन देना है । इसका उद्देश्य विश्व भर में शान्ति, स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए परमाणु उर्जा को दूतगीत से व्यापक बनाना और इस बात का निश्चय करना है कि इसके द्वारा को गयी सहायता सैनिक प्रयोजन से प्रयुक्त न हो सके । यह परमाणु उर्जा के नये साधनों का विकास करता है, उर्जा संरक्षण का प्रयास करता है और अनुसन्धान एवं विकास कार्यो में प्रगति लाता है ।

14.4.1 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की. स्थापना प्रथम विश्व युद्ध के बाद व 11 अप्रैल, 1919 को हुई थी । राष्ट्र संघ के अन्तर्गत यह प्रथम विशिष्ट अभीकरण था । 14 दिसम्बर, 1946 को इसे संयुक्त राष्ट्र संघ का अंग स्वीकार कर लिया गया । सन् 1969 में इसकी नोबल शांति पुरस्कार मिला । 1993 में इसकी सदस्य संख्या 167 थी । यह ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जो द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में भी कार्य करती रही । अन्तर सरकारी एजेन्सी के रुप में यह संगठन श्रमिकों की स्थिति में सुधार करने, जीवन स्तर उन्नत करने और आर्थिक तथा सामाजिक शान्ति बनायें रखने की कोशिश करता है । यह विश्व में श्रमिक, मालिक और सरकार के त्रिबिध सहयोग का प्रयत्न करने वाला सबसे बडा संगठन है । यह संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा मजदूरी, काम के घण्टे काम के लिये काम से क्षम उम्र, अलग अलग दर्जे के मजदूरों के लिए काम की शर्त कर्मचारियों को मुआबजा सामाजिक बीमा, वेतन

सहित छुट्टी, औद्योगिक सुरक्षा, रोजगार की व्यवस्था, श्रम संबंधी निरीक्षण, सभा आदि की आजादी जैसे विपदों पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संधियो के मसौदे तैयार कराकर स्वीकृत करता हू । अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के तीन अंग है : (1)श्रम सम्मेलन (2) प्रबांध शाखा, एवं (3) श्रम कार्यलय ।

14.4.2 संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि सगठन (FAO)

इसका संगठन का सन 1945 मैं खाद्य एवं कृषि संबंधी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के फलस्वरूप हुआ था । इस संगठन का उद्देश्य पोषण स्तर तथा जीवन स्तर को बढ़ाना है । इसका प्रमुख कार्य पोषण खाद्य एवं कृषि संबंधी सूचना संग्रहीत करना उनका प्रसार करना एवं विश्लेषण करना है । यह इन क्षेत्रों मे तकनीकी सहायता देती है, जैसे-पौष्टिक खुराक और खाने मे पीनने की चीजों की व्यवस्था भूमि के कटाव को रोकने सिचाई , इजीनियर, फिर से जंगल लगाना, जमा की हुई खाने पीने की चीजों को नष्ट होने से बचाना और रासायनिक खाद तैयार करना । कीड़े - मकोड़े से होने वाली फसल की हानि कम करने की कोशिश में इसके सदस्य विभिन्न देशों की सरकारों की सहायता कर रहे है । ये कृषि यंत्रों के अच्छे से अच्छे उपयोग और 'उत्पादन बढ़ाने मे भी सहायता कर रहे है ।

14.4.3 विश्व स्वास्थय संगठन (WHO)

इस संस्था का संविधान 22 जुलाई 1946 को स्वीकृत हुआ था और इसका उद्घाटन 7 अप्रैल, 1948, को हुआ । इसका उद्देश्य विश्व के देश की जनता द्वारा स्वस्थ की उच्चतम संभव दशा को प्राप्त करना है इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संगठन निम्नलिखित कार्य करता है- अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ के कार्य का संचालन और समन्वय, स्वास्थ के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ तथा इसके विशेष संगठनों तथा अन्य स्वास्थ साधी संस्थाओं में सहयोग स्थापित करना, महामारियों तथा बीमारियों के उन्मूलन के कार्यो को प्रोत्साहित करना, लोगों के पर्यावरणीय स्वास्थ्य की परिस्थितियों को तथा आहार, पोषण, निवास गृह और सफाई तथा काम करने की दशाओं को उन्नत करना, मातृ मंगल, वाल स्वास्थ्य और कल्याण कार्यों की वृद्धि स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसन्धान: स्वास्थ्य, शिक्षा और प्रशिक्षण को ऊँचा करना बीमारियों के अन्तर्राष्ट्रीय नामों के तथा निदान संबंधी कार्यो का मानकीकरण तथा खाद्य पदार्थ, दवाइयों तथा अन्य ऐसी वस्तुओं के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय मानक निश्चित करना । इस संगठन के तीन अंग है-(1)सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों की असेम्बली (2)असेम्बली द्वारा चुने गये 24 व्यक्तियों का प्रबंध बोर्ड, (3) सचिवालय इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है ।

14.4.4 अन्तर्राष्ट्रीय मुदा कोष (IMF)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच मौद्रिक सहयोग का ज्वलन्त उदाहरण है । इसकी स्थापना 27 दिसम्बर, 1945 को हुई तथा 1 मार्च, 1947 से इसने अपना कार्य प्रारंभ किया । संयुक्त राष्ट्र के साथ इसका संबंध परस्पर सहयोग के एक समझौते के अनुसार निर्धारित है जो 15 नवम्बर, 1947 को लागू हुआ था । कोष के अनुच्छेदों

में प्रथम संशोधन 28 जुलाई 1969 को हुआ था जिसमें विशेष आहरण अधिकारों (एस.डी. आर.) का प्रावधान रखा गया था । दूसरा संशोधन अगस्त, 1978 को लाग हुआ । इसके प्रमुख उद्देश्य है -(1) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की उन्नति करना, (2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढाना (3) विनिमय दरों को स्थायी बनाना, (4) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के अन्तरों की बिषमता दूर करना, (5) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान असन्तुलन को कम करना (6) लाभ के कामों में पूंजी लगाना । संक्षेप में मुद्रा कोष का उद्देश्य एक ऐसी प्रणाली का विकास करना है जिससे सदस्य देशों को विदेशी विनिमय की सुविधा हो, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिले और सदस्य देशों की आर्थिक उन्नति हो सके ।

14.4.5 यूनेस्को (UNESCO)

यूनेस्कों का पूरा नाम सयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक,' वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन हैं । इस संगठन की स्थापना 4 नवम्बर, 1946 को लन्दन में हुए नवम्बर 1945 के सम्मेलन द्वारा प्रस्तुत किए विधान के अनुसार की गयी । इसे 14 दिसम्बर, 1946 को संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ जोड दिया गया । प्रारंभ में इसके लगभग 20 सदस्य थे, लेनि आज यह सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है और इसकी सदस्य संख्या 180 तक पहुंच गयी है । यूनेस्कों के प्रस्ताव में उसका उद्देश्य निहित है । युद्ध मनुष्यो के मस्तिकों में प्रारंभ होते है, अत: मनुष्य के मस्तिकों में ही शान्ति की सुरक्षा के लिए अवस्था की जानी चाहिय ।" यूनेस्को का उद्देश्य शान्ति एवं सुरक्षा के लिए योगदान करना है जिसकी पूर्ति हेतु शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के द्वारा राष्ट्रों के मध्य निकटता की भावना का निर्माण करना आवश्यक है यह संस्था विभिन्न समुदायों में परस्पर ज्ञान एवं सद्भावना उत्पन्न करने में सहायक होती है ।

संयुक्त राष्ट्र का कोई भी सदस्य यूनेस्को का सदस्य बन सकता है जो राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं है वे भी यूनेस्को की सदस्यता प्राप्त कर सकते है, परन्तु ऐसे राष्ट्रों की सदस्यता हेतु कार्यकारी मण्डल की सिफारिश पर यूनेस्को महा सम्मेलन में उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से स्वीकृति मिलनी चाहिए ।

युनेस्को के तीन प्रमुख अंग है (1) महासम्मेलन-यह संस्था का सर्वोच्च निकाय है । (2) कार्यकारी ".मण्डल इसे यूनेस्को का हृदय कहा जाता है । (3) सचिवालय-सचिवालय विशेषज्ञों का आगार माना जाता है । यह पेरिस में स्थित है ।

14.4.6 विनियोग संबंधी विवादों के समाधान का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र (ICSID)

विनियोग संबंधी विवादों के समाधान का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र' (ICSID) एक स्वायतशासी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जिसका निर्माण राज्यों के नागरिकों के मध्य उत्पन्न होने वाले विनियोग संबंधी विवादों के समाधान के अभिसमय के अन्तर्गत हुआ यह अभिसमय 14 अक्तूबर, 1966 से प्रवर्तन में है आई.सी.एस.आई.डी. विभिन्न राज्यों तथा उनके नागरिकों के मध्य उत्पन्न होने बाले विनियोजन संबंधी विवादों के समाधान हेतु संसाधन तथा पंचनिर्णय के साधनों का प्रयोग

करता है जिससे विनियोजकों तथा विनियोजित राष्ट्रों के मध्य आपसी विश्वास का वातावरण उत्पन्न होता है ।

14.4.7 अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन (IDA)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन विश्व बैंक की एक सहायक संस्था है । इसकी स्थापना 24 दिसम्बर, 1960 को की गयी थी । मार्च 1961 में इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बनाया गया । इसका प्रमुख उद्देश्य अविकसित राज्यों के आर्थिक विकास के लिए न्यूनतम ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण देना है । अत: यह विश्व बैंक के विकास संबंधी उद्देश्यों को आगे बढाता है और उसकी कार्यवाहियों को अनुपूरिता करता है । विश्व बैंक के पदाधिकारी एवं कर्मचारी वर्ग ही इसके कार्य करते है ।

14.4.8 अन्तर्राष्ट्रीय वित निगम (IFC)

अन्तर्राष्ट्रीय वित निगम की स्थापना जुलाई 1958 में हुई तथा 20 फरवरी, 1957 को यह संयुक्त राष्ट्र का विशिष्ट अभिकरण बना । यद्‌यपि यह विश्व बैंक से निकट रूप से सम्बद्ध है तथापि एक पृथक विधिक इकाई तथा इसका कोष विश्व बैंक के कोष से पृथक है । विकासशील सदस्य राज्यों में निजी उद्‌योगों को वित्तीय सहायता देना इसका प्रमुख कार्य है । इसे ऋण केने वाली संस्था न कहकर प्रधानत: नियोजन निकाय कहा जा सकता है । इसकी संरचना विश्व बैंक की सरंचना के सदृश है ।

14.4.9 पुनर्निर्माण एवं विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (World Bank)

सन् 1944 के ब्रेटन वुडस से दो वित्तीय निकायों का उद्भव हुआ: (1) पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (विश्व बैंक) और (2) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष । इन दोनों वित्तीय निकायों की स्थापना सन 1946 में हुई । विश्व बैंक का प्रधान उत्पादक प्रयोजनों के लिए पूंजी निदेश नियोजन की सुविधा देकर सदस्यों के प्रदेशों के पुनर्निर्माण और विकास में सहायता देना है । यह निजी विदेशी पूंजी नियोजन को प्रोत्साहन देता है और सदस्य राज्यों को निजी पूंजी उपलब्ध न होने पर उन्हें ऋण देता है । वही देश विश्व बैंक का सदस्य हो सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होता है । इस प्रकार दोनों संस्थाओं की सदस्यता साथ-साथ चलती है । विश्व बैंक का प्रबन्ध तीन-स्तरीय होता है-एक अध्यक्ष, एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स एवं एक बोर्ड आफ ऐक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स ।

14.4.10 विश्व डाक संघ (UPU)

विश्व डाक संघ के उद्भभव का इतिहास लगभग एक सौ बीस वर्ष पुरान है सन् 1874 में बर्न में सामान्य डाक अभिसमय पर हस्ताक्षर कर सामान्य डाक यूनियन का निर्माण हुआ था, जो सन् 1878 में सार्वदेशिक डाक यूनियन हो गयी । यह संगठन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि डाक पारस्परिक विनियम के लिए सेमी सदस्य राज्य एक ही डाक प्रदेश है । इसका प्रमुख प्रयोजन पत्रों के परस्पर विनिमय के लिए देशों का एक डाक प्रदेश बनाना, डाक

सेवाओं में सुधार लाना और इस क्षेत्र में सहयोग को प्रोत्साहन देना हैं सभी राज्य इस संघ के सदस्य है।

14.4.11 अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ (ITU)

1 जनवरी, 1961 के अधिनियम एवं उससे अनुबद्ध विनियमों के अन्तर्गत इस संघ का निर्माण हुआ। इस संघ के प्रयोजन हैं (1) सभी प्रकार के दूर संचार के प्रयोग में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को कायम रखना एवं उसका विस्तार करना, (2) दूर संचार संबंधी प्रादेशिक सुविधाओं के विकास एवं उसकी उपादेयता को प्रोत्साहन देना 'उपर्युक्त प्रयोजनों की पूरी ' के लिए यह संगठन रेडियो बेव का आबंटन करता है और रेडियो वेब अंकित करता है, ताकि विभिन्न देशों को रेडियो स्टेशनों के बीच किसी तरह का हानिकारक हस्तक्षेप न होने पाये ।

14.4.12 अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उडड्यन संघ (ICAO)

इस संगठन की उत्पत्ति सन 1944 के सिविल उडड्यन के शिकागो अभिसमय से हुई थी । 4 अप्रैल, 1947 को इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बनाया गया । उक्त अभिसमय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सिविल उडड्यन की समस्याओं का अध्ययन, सिविल उडड्यन के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्ड एवं नियम निश्चित करना इसका प्रधान उद्देश्य है । इसके अतिरिक्त, यह अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन के विकास को प्रोत्साहन देता है । इसने विमान चालन संबंधी सेवाओं, यातायात के नियन्त्रण, संचार व्यवस्था, सुरक्षित अन्तराष्ट्रीय उडान के लिए नवीन प्रणाली, आदि का विकास किया है । आधार भूत रूप से यह तकनीकी संगठन है । इसके दो अंग है सभा तथा परिषद् ।

14.4.13 विश्व मौसम विज्ञान सगंठन (WMO)

1947 में एक अभिसमय द्वारा इसकी स्थापना की गयी । महासभा के प्रस्तावनुसार सन् 1951 ई. में इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बना लिया गया इस संगठन का प्रमुख प्रयोजन मौसम विज्ञान संबंधी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि करना है । इसके लिए यह मौसम के बारे में शीघ्र जानकारी प्राप्त करने एवं मौसम सूचना के दूत विनिमय के लिए विश्व भर में जगह-जगह पर मौसम विज्ञान प्रयोग शालाओं की स्थापना करता है ।

इसके प्रमुख अंग है - (1) विश्व मौसम विज्ञान कांग्रेस, (2) कार्यकारी समिति, (3) प्रादेशिक संघ, (4) कांग्रेस द्वारा निर्मित तकनीकी कमीशन. तथा (5) सचिवालय ।

14.4.14 अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्रिक परामर्शदात्री संगठन (IMCO)

इसकी विधिवत स्थापना 1958 में हुई। यह संगठन नौ परिवहन के लिए उन कार्यो को करता है जिनकी 'अन्तर्राष्ट्रीय सिविल उडड्यन संघ उडड्यन के लिए करता है । यह प्रधानत: सलाहकार अभिकरण है । यह समुद्रों में नौ परिवहन के लिए सुरक्षा नियम निर्धारित करता है, नौपरिवहन के क्षेत्र में विभिन्न सरकारों के अनावश्यक प्रतिबन्धों तथा भेदभाव को दूर

करने में सहायता देता है और नौपरिवहन के सभी मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देता है । इसके प्रमुख अंग है-सभा, परिषद् तथा सचिवालय ।

14.4.15 संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संस्था (UNIDO)

यह औद्योगिक सहयोग को संवर्धित करने तथा औद्योगिक संवर्धन के मामले में संयुक्त राष्ट्र के सभी संचालन कार्यो का समन्वय करने के लिए बनाया गया अभिकरण है । इसकी स्थापना 1 जनवरी, 1967 की महासभा ने की थी । 80 राज्यों के अनुसमर्थन के बाद यह संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट एजेन्सी बन गया है ।

14.4.16 अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन (IRO)

इसकी स्थापना 1948 में की गयी थी । इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है । इसका मुख्य उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करना है जिन्हें किसी कारण वश अपनी मातृभूमि छोडने के लिए मजबूर होना पड़े । यह संस्था ऐसे व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान करती है और शरणार्थी समस्या को निपटाने केलिए प्रयास करती है । यह संगठन शरणार्थियों को पुन: बसाने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है ।

14.4.17 अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपातकालीन कोष (ICIF)

महासभा द्वारा इस संस्था की स्थापना सितम्बर, 1946 में की गयी । 30 राष्ट्रों का एक कार्यकारी मण्डल इसका संचालन करता है । यह एक अद्ध स्वशासित संस्था है जिसका प्रमुख उद्देश्य स्वास्थ और पोषण, आदि कार्यक्रमों के माध्यम से रात कल्याण कार्यो में सहयोग देना है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संस्था बच्चों के स्वस्थ सुधार, पौष्टिक भोजन, शिक्षा व्यवस्था एवं अन्य कार्यक्रमो का संचालन करती है । इसके अतिरिक्त भूकम्प, बढ़, आदि परिस्थितियों में यह शिशुओं और उनकी माताओं के लिए अपेक्षित सहायता करती है ।

14.4.18 विश्व बोद्धिक संपदा संगठन (WIPO)

इसकी स्थापना के समझौते पर 1967 मैं स्टाकहोम मैं 51 देश हस्ताक्षर हुआ थे और यह अप्रैल 1970 में लाग हुआ था । 1947 में डाल्युआयपीओ सयुक्त राष्ट्र का एक विशेषी अभिकरण बना । इसका उद्देश्य विश्व भर मे बोद्धिक सम्पति के संरक्षण के लिए राज्यों मध्य सहयोग की प्रोन्नति करना है ।

14.5 सयुक्त राष्ट्र संघ तथा मानद अधिकार

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर मैं मानव अधिकार संबंधी पृथक घोषणा तो नहीं शामिल है, लेकिन चार्टर में अनेक स्थानों पर मानव अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है । मानव अधिकारों को राज्यों के बीच संगठित सहयोग स्थापित करने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर उद्देश्यों को क्रियान्वित करने के सिर आवश्यक समझा गया । संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में मानव अधिकारों के संबंध मे निम्नलिखित सन्दर्भ मिलता है

1. चार्टर की प्रस्तावना में, 'मानव के मौलिक अधिकारों, मानव के व्यक्ति के गौरव तथा महत्व में, तथा पुरूष एवं स्त्रियों के समान अधिकारों' में विश्वास प्रकट किया गया है ।
2. अनुच्छेद 1 के अन्तर्गत चार्टर के उद्देश्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है - 'मानव अधिकारों के प्रति सम्मान को बढाना देना, जाती लिंग भाषा या धर्म के बिना किसी भेदभाव के मूलभूत अधिकारों को बढ़ावा देना तथा प्रोत्साहित करना ।"
3. अनुच्छेद 13 में महासभा के द्वारा 'जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना सभी को मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता देना' की अवस्था है ।
4. अनुच्छेद 55 में यह प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्र संघ 'जाति, लिंग भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सभी के लिए मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं " को बढ़ावा देगा ।
5. अनुच्छेद 56 में उपबन्ध है कि सभी सदस्य राज्य मानव अधिकारों तथा मानव स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को अपना सहयोग प्रदान करेगें।
6. अनुच्छेद 26 के अनतर्गत आर्थिक और सामाजिक परिषद् के द्वारा 'सभी के लिए मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना बढ़ाने तथा उनके पालन के संबंध में सिफारिश करने" की व्यवस्था है ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में पहली बार मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा बल दिया गया है । चार्टर के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ को मानव अधिकारों के संबंध में केवल प्रोत्साहन देने का ही अधिकार है, कोई कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है । चार्टर के अन्तर्गत मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं का केवल उल्लेख है, परन्तु इनकी कोई व्याख्या नहीं की गयी है । वास्तव में, चार्टर इस संबंध में राष्ट्रों के मध्य सहयोग को अधिक आवश्यक मानता है । संयुक्त राष्ट्र संघ कार्यक्रमों का उददेश्य जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सब लोगों के मानव अधिकारों तथा मूल स्वतन्त्रताओं में वृद्धि करना तथा उनके प्रति सम्मान का भाव जगाना है ।

मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में मानव अधिकारों के आदर्श को स्वीकार करने के पश्चात संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकार आयोग' को मानव अधिकारों के मूलभूत सिद्धान्तों का मसविदा तैयार करने का कार्य सौंपा गया । लगमग तीन वर्षो के प्रयत्नों के बाद मानव अधिकार आयोग ने 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा का मसबिदा तैयार किया, इस मसविदे को महासभा ने कुछ संशोधनों के साथ 10 सितम्बर, 1948 को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया । मानव अधिकार घोषणापत्र में प्रस्तावना सहित 30 अनुच्छेद है । इस घोषणापत्र में न केवल नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का बल्कि सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों का भी पहली बार प्रतिपादन किया गया अर्थात काम करने के और समान काम के लिये समान पारिश्रमिक पाने के अधिकार का, ट्रेड यूनियनों से संगठित होने के अधिकार का, विश्राम तथा सामाजिक भरण-पोषण के अधिकार का शिक्षा के तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने के अधिकार का,

जीवन के अधिकार का, विचार, धर्म, शान्तिपूर्वक सभाएं करने तथा संगठन बनाने की स्वतन्त्रता, आदि का अधिकार सम्मिलित किया गया ।

14.6 सारांश (Summary)

संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए एक अलग विश्व संगठन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है । प्रथम महायुद्ध के उपरान्त राष्ट्र संघ (League of National) की स्थापना हुई । राष्ट्र संघ की असफलता के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सहयोग की भावना बनी रही । द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका देख चुके मित्र राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की । संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान करना हैं । संयुक्त राष्ट्र संघ विभिन्न राष्ट्रों की समानता में विश्वास करता है । विश्व के 192 देश इसके सदस्य हैं । इसके 6 प्रमुख अंग है: महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, न्याय परिषद, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एवं सचिवालय । संयुक्त राष्ट्र संघ की कई संस्थाएं हैं इनमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, खाद्य एवं कृषि संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूनेस्को, विश्व बैंक आदि प्रमुख है । संयुक्त राष्ट्र संघ मानव अधिकारों की रक्षा के लिए भी महत्वपूर्ण कार्य करता है ।

14.7 शब्दावली

राष्ट्र संघ	(League of National)
संयुक्त राष्ट्र संघ	(United National Organisation)
महासभा	(General Assembely)
सुरक्षा परिषद	(Security Council)
अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय	(International Court)
सचिवालय	(Secretariate)
मानव अधिकार	(Human Right)

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 बी.एल.फीडया - अन्तर्राष्ट्रीय कानून, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स : आगरा 1999

2 बी.एल.फडिया - भारत और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स : आगरा 2004

3 डी.सी.चतुर्वेदी - अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति रस्तोगी पब्लिकेशन्स : मेरठ 1980

पत्रिका

1 प्रतियोगिता दर्पण. अक्टूबर, 1998

2 Kurt Waldheim -secretary general basic facts about the united national united national publication New York 1980.

इकाई15

भारतीय संविधान-विशेषताएं मूल अधिकार, संघात्मक ढाँचा, विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, निर्वाचन प्रक्रिया, प्रशासनिक प्रक्रिया एवं न्यायिक प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भारतीय की विशेषताएं

15.3 मूल अधिकार

15.3.1 समानता का अधिकार

15.3.2 स्वतंत्रता का अधिकार

15.3.3 शोषण के विरूद्ध अधिकार

15.3.4 धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार

15.3.5 संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

15.3.6 संवैधानिक उपचारों का अधिकार

15.4 संस्थात्मक संरचना

15.4.1 संघात्मक ढांचा

15.4.2 सरकारी ढांचा

15.5 राजनैतिक प्रक्रियाएं

15.5.1 निर्वाचन प्रक्रिया

15.5.2 प्रशासनिक प्रक्रिया

15.5.3 न्यायिक प्रक्रिया

15.6 इकाई सारांश

15.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.8 संदर्भ ग्रन्थ

15.0 उद्देश्य (Objective)

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पाएंगे कि:

- भारतीय संविधान की कौनसी विशेषताएं है?
- एक नागरिक के रूप में व्यक्ति को कौन से मौलिक अधिकार मिले हुए है?
- भारतीय संविधान द्‌वारा निर्धारित संघात्मक की प्रकृति क्या है?

- सरकार की संस्थात्मक की संरचना विधायिका कार्य पालिका न्यायपालिका कैसी पाई जाती है?
- प्रक्रियात्मक अन्तर्क्रिया की अभिव्यक्ति किस रूप में सामने आती है?

15.1 प्रस्तावना (Introduction)

हमारे लिए 15 अगस्त, 1947 का दिन अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इस दिन भारत पर अंग्रेजी शासन का अन्त हुआ । भारतीयों को प्रशासनिक सत्ता का हस्तान्तरण हुआ जिसके फलस्वरूप भारतीयों को सत्ता सम्भालने का सुअवसर प्राप्त हुआ । अब भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र बन चुका था । स्वतंत्र राष्ट्र का अपना संविधान होता है । जिसके अनुसार उस देश की शासन व्यवस्था संचालित की जा सके । उसी सविधान से राष्ट्र का विकास होता है जिसका निर्माण वहां की जनता द्वारा बनाया गया हो या संविधान निर्मात्री सभा द्वारा बनाया गया हो । भारत का संविधान भारत की जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा तथा एक संविधान सभा द्वारा बनाया गया है । भारतीय संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर. 1946 को हुई थी तथा इसकी अन्तिम बैठक 26 नवम्बर, 1949 को हुई । संविधान निर्माण में 2 वर्ष 11 मास 18 दिन लगे । भारत का संविधान तो 26 नवम्बर.1949 को ही बनकर तैयार हो गया था लेकिन ऐतिहासिक महल के कारण इसे 26, जनवरी, 1950 को लाग किया । भारतीय संविधान में विश्व की श्रेष्ठ व्यवस्थाओं को ग्रहण किया है । जिसमें इग्लैण्ड, अमेरीका, कनाड़ा, आयरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया की शासन व्यवस्थाएं है । भारतीय संविधान अनेक विशेषताओं से युक्त है । इस इकाई में बिन्दु संख्या 15.2 में हम इन्ही विशेषताओं का अध्ययन करेंगे । इसके बाद आप भाग 15.3 में भारतीय नागरिकों को संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों की चर्चा करेंगे । भाग 15.4 में संस्थात्मक संरचना एवं विधायिका कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के रूप में सरकार की शक्तियों के विभाजन के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे । इसके बाद हम भाग 15.5 में राजनीतिक प्रक्रियाओं की चर्चा करेंगे । इकाई के अन्त में सारांश एवं अभ्यसार्थ प्रश्न दिए गए हैं ।

15.2 भारतीय संविधान की विशेषताएं

भारतीय संविधान की उल्लेखनीय विशेषताएं इस प्रकार है :

(i) सर्वाधिक व्यापक निर्मित और लिखित संविधान है

भारत का सबिधान विश्व का सबसे बड़ा संविधान है । इसमें 395 अनुच्छेद तथा 12 अनुसूचियां है । जबकि कनाडा के संविधान में 147, आस्ट्रेलिया के संविधान में 128 और अमरीकी संविधान में केवल 7 अनुच्छेद ही है । इंग्लैण्ड के संविधान के विपरीत भारत का संविधान लिखित है तथा इसका संविधान सभा के द्वारा निर्माण किया गया है ।

(ii) सर्वप्रभुत्व सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य

भारत आन्तरिक मामलों तथा बाहरी मामलों में निर्णय लेने में स्वतंत्र है । बाहरी सत्ता का कोई नियंत्रण नहीं है । इसके साथ ही भारत एक लोकतान्त्रिक राज्य है क्योंकि भारत की राजनीतिक सत्ता जनता के हाथ में है । जनता अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से

शासन सत्ता सम्भालती है । भारत लोकतान्त्रिक राज्य होने के साथ-साथ एक गणराज्य भी है, क्योंकि भारत का राष्ट्रपति वंशानुगत न होकर जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है।

(iii) कठोरता तथा लचीलेपन का समन्वय

भारतीय सबिधान में कठोरता तथा लचीलेपन का समन्वय किया गया है । संविधान संशोधन प्रणाली के आधार पर देखें तो भारत के संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान हैं जो संसद के साधारण बहुमत से संशोधित लिए जा सकते हैं तथा कुछ प्रावधान ऐसे हैं जो संसद के दो तिहाई बहुमत के साथ-साथ राज्यों का अनुसमर्थन भी आवश्यक है । अत: भारत के संविधान में दोनो पद्धतियों को अपनाया गया है ।

(iv) एकात्मक लक्षणों के साथ संघात्मक शासन व्यवस्था

भारतीय संविधान में एकात्मक तथा संघात्मकता के दोनों ही लक्षण मौजूद हैं । भारतीय संविधान के अनुच्छेद एक में कहा गया है कि भारत राज्यों का संघ होगा । इस प्रकार देखें तो भारत में संघात्मक शासन अवस्था अपनाई गई है । शासन की सारी शक्ति एक जगह केन्द्रित न होकर केन्द्र ब राज्यों में विभाजित की गई है । इसके साथ ही संविधान की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की है लेकिन भारत में संघात्मक शासन के साथ-साथ कुछ एकात्मकता के तल भी विद्यमान है जैसे:- इकहरी नागरिकता, इकहरी न्यायपालिका, अखिल भारतीय सेवाएं, राज्यपालों की नियुक्ति एंव राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार आदि लक्षण संघात्मक के साथ एकात्मक को प्रदर्शित करते हैं ।

(v) संसदीय शासन व्यवस्था

भारत के संविधान में इग्लैण्ड की संसदात्मकता शासन व्यवस्था को अपनाया गया है । भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण वास्तविकता सत्ता मंत्रिपरिषद में निहित है। जो संसद द्वारा निर्वाचित होती है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है । राष्ट्रपति को नाममात्र की शक्तियां प्राप्त हैं वह तो केवल संवैधानिक अध्यक्ष ही होता है । राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद' की सहायता से तथा उसके परामर्श से ही कार्य करता है । मंत्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायित्व रहते हैं, क्योंकि लोकसभा जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों का सदन होता है।

(vi) मौलिक अधिकारों को व्यवस्था

भारतीय सविधान में व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा के लिए मूल अधिकारों की व्यवस्था की है । वर्तमान समय में संविधान द्वारा नागरिकों को 6 मौलिक अधिकार प्रदान किए गए है तथा 42वे संवैधानिक संशोधन द्वारा नागरिकों को 10 मूल कर्तव्य निश्चित किए है । भारतीय संविधान के चौथे अध्याय में शासन संचालन के लिए मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिन्हे नीति निर्देशक तत्व कहा गया है । ये तत्व आयरलैण्ड के संविधान से लिए गए है ।

(vii) ईकहरी नागरिकता

भारतीय संविधान में संघात्मक शासन व्यवस्था अपनाई गई है । संघात्मक शासन व्यवस्था में दोहरी नागरिकता होती है लेकिन संविधान में समस्त देश के लिए समान रूप से एक ही नागरिकता की अवस्था की गई है । संयुक्त राज्य अमेरिका में एक संध की नागरिकता

है तथा दूसरी राज्य की नागरिकता है लेकिन भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारतीय एकता को बनाए रखने के लिए इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की है ।

(viii) समाजवाद तथा पंथ निरपेक्षता

समाजवादी राज्य तथा पंथ निरपेक्षता भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषता मानी जाती है । 42वे संवैधानिक संशोधन के द्वारा समाजवादी राज्य तथा पंथ निरपेक्षता दोनों को भारतीय संविधान का प्रमुख अंग बना दिया गया । अब भारत पंथ निरपेक्ष तथा समाजवादी राज्य है । पंथ निरपेक्षता के कारण ही आज भारत में किसी विशेष धर्म को राज्य द्वारा मान्यता प्रदान नही की है । भारत में सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता की नीति को अपनाया गया है ।

(ix) सार्वजनिक वयस्क मताधिकार

लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में सरकार जनता द्वारा. निर्वाचित होती है । अत: भारतीय संविधान में जनता को सरकार चुनने के लिए सार्वजनिक सदस्य मताधिकार की व्यवस्था प्रदान की है । कोई भी व्यक्ति जिसकी उग्र 18 वर्ष हो, उसको मतदान करने का अधिकार है । लेकिन मतदान का अधिकार प्रदान करते समय किसी जाति, धर्म या लिंग के आधार पर भेदभाव नही किया जाता है । मतदान करने के लिए सिर्फ उसकी उम्र को देखा जाता है कि यह निर्धारित आयु प्राप्त कर ली है या नहीं ।

(x) स्वतंत्र न्यायपालिका को व्यवस्था

संविधान की आस्था तथा मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता आवश्यक है । भारतीय संविधान में न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाए रखने का प्रयास किया गया है । जिसमें निम्न व्यवस्थाएं है । उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है । उनके पद की सुरक्षा होना, न्यायधीशों के कार्यकाल तथा वेतन में कमी न होना आदि । इसके साथ ही न्यायधीशों को तभी उनके पद से हटाया जा सकता है जब वे अपने पद का दुरूपयोग करें । ऐसा करने पर संसद महाभियोग द्वारा हटा सकती है ।

(xi) हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा

राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए हमारे संविधान में हिन्दी को देवनागरी लिपि में भारत की राष्ट्रभाषा घोषित किया गया है । 1965 में संभाषा विधेयक पास कर अनिश्चित काल तक हिन्दी के साथ अंग्रेजी को जारी रखने की अनुमति दी गई ।

15.3 मूल अधिकार

हमारे संविधान के भाग 3 में मौलिक अधिकारों की विवेचना की गई है । मूल अधिकारों से आशय उन अधिकारों से है जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक एवं अनिवार्य होने के कारण सबिधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किए जाते है और उन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता । जवाहर लाल नेहरू ने मूल अधिकारों को सबिधान की अन्तरात्मा कहा । मूल संविधान में 7 मौलिक अधिकारों की व्यवस्था थी । लेकिन 1978 में 44 वा संवैधानिक संशोधन हुआ जिसमें सम्पत्ति का अधिकार निकाल दिया गया जिसके फलस्वरूप 6 मौलिक अधिकार शेष रह गए । दिसम्बर 2002 में 86 वें संवैधानिक संशोधन के

आधार पर देश के 6-14 आयु के सभी ' बच्चों को निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा का मूल अधिकार प्रदान किया गया है लेकिन यह अलग से मूल अधिकार नहीं है । इसको स्वतंत्रता के अधिकार सम्बन्धी अनुच्छेद 21 में 21 A पर जोड़ा गया है । संविधान में निम्नलिखित मूल अधिकार दिए गए हैं : (1) समानता का अधिकार, (2) स्वतंत्रता का अधिकार, (3) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (4) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (5) संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार एवं (6) संवैधानिक उपचारों का अधिकार ।

15.3.1 समानता का अधिकार

भारतीय संविधान के अनुच्छेद व 4 से 18 तक समानता के अधिकार का उल्लेख किया गया है । इसमें सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान माना गया है तथा जाति, धर्म, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध किया गया है । इसके साथ ही छुआछूत करना वर्जित माना गया है । सरकारी नौकरियों में सभी को समान अवसर प्राप्त होने की बात कही गई है ।

15.3.2 स्वतंत्रता का अधिकार

अनुच्छेद 19 से 22 तक स्वतंत्रता के अधिकार का प्रावधान किया गया है जिसमें बिचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी सम्मलित है । बिना हथियारों के शांतिपूर्ण सभा करना, समुदाय और संघ निर्माण की स्वतंत्रता, भारत क्षेत्र में अबाध निवास की स्वतन्त्रता और रोजी रोटी के लिए कोई भी कारोबार या काम करना आदि स्वतंत्रताएं महत्वपूर्ण है । लेकिन ये परम नहीं है । इसलिए राज्य अनेक आधारों पर युक्ति-युक्त प्रतिबंध लगा सकता है । अनुच्छेद 20 के तहत किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय में लाग किसी कानून का उल्लंघन न किया हो । अनुच्छेद 21 में कहा गया है कि जब तक कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का प्रयोग नहीं होगा उसे जीवन व व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता है । अनुच्छेद 22 में बिना किसी कारण किसी व्यक्ति को पकडा नही जा सकता, अगर किसी को पकडा जाता है तो 24 घंटे के भीतर उसे निकटतम अदालत में पेश किया जाने का प्रावधान है ।

15.3.3 शोषण के विरूद्ध अधिकार

अनुच्छेद 23 व 24 के अन्तर्गत व्यक्तियों को शोषण के विरूद्ध अधिकार प्राप्त है । अनुच्छेद 23 के तहत किसी भी व्यक्ति से बेगार नहीं लिया जा सकता है तथा अनुच्छेद 24 के कारखानों में भीषण काम पर 14 साल से कम आयु के बच्चों के काम करने की मनाही है । इस अधिकार के पीछे यह उद्देश्य है कि राज्य या अन्य कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरूद्ध कार्य करने के लिए विवश करना या मानव देह का दुरूपयोग नहीं कर सकता है।

15.3.4 धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार

सबिधान की प्रस्तावना में भारत को पंथ निरपेक्ष राज्य कहा है । अनुच्छेद 25 में सभी को धर्म या अन्तःकरण की स्वतंत्रता है । किसी से बलपूर्वक धर्मान्तरण नहीं किया जा सकता है । अनुच्छेद 26 के तहत सभी लोग अपनी धार्मिक संस्था बना सकते है । अनुच्छेद 26 में राज्य ऐसे कोई कर नहीं लगा सकता जिसकी आय से किसी विशेष धर्म का लाभ हो । अनुच्छेद 28 में राजकीय संस्थाओं में धार्मिक शिक्षण का निषेध किया गया है ।

15.3.5 संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

हमारे सबिधान के द्वारा भारत के सभी नागरिकों को संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार अनुच्छेद 29 और 30 के तहत प्रदान किया गया है । जिसके तहत सभी लोगों को अपनी भाषा व लिपि सुरक्षित बनाए रखने का अधिकार प्राप्त है एंव धार्मिक भाषाई अल्पसंख्यक लोग अपनी संस्थाएं बना सकते हैं तथा उनका प्रबन्ध कर सकते है । ये दोनों अनुछेद अल्पसंख्यकों के हितों के लिए हैं ।

15.3.6 संवैधानिक उपचारों का अधिकार

अनुच्छेद 32 के तहत अगर मौलिक अधिकारों का हनन होता है तो व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर कर सकता है । इस अधिकार माध्यम से व्यक्तियों के मौलिक अधिकार सुरक्षित रहते हैं । इस अधिकार के द्वारा न्यायालय व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों और कार्यपालिका के कार्यो को अवैधानिक घोषित कर सकते है जो व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का हनन करते हो । सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए निम्न पांच लेख जारी कर सकते हैं । (1) बन्दी प्रत्यक्षीकरण, (2) परम देश, (3) प्रतिषेध, (4) उत्प्रेरण एवं (5) अधिकार प्रच्छा ।

15.4 संख्यात्मक सरंचना

किसी भी देश की राजनीतिक संरचनाओं का अध्ययन करने के लिए वहां की राजनीतिक संस्थात्मक संरचना का अध्ययन आवश्यक है । भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के 'अध्ययन के लिए आवश्यक है कि यहां की संघात्मक व्यवस्था का आकलन किया जाए. इसके साथ ही शासन के तीनों अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की विस्तृत रूपरेखा को देखने का प्रयास किया जाएगा ।

15.4.1 संघात्मक ढांचा

संविधान में भारत के लिए एक संघात्मक शासन व्यवस्था अपनाई गई है । यह संघात्मक व्यवस्था कनाडा के संघात्मक अवस्था पर आधारित है. लेकिन भारतीय संविधान में संघ राज्य शब्द ही नहीं है । उसके स्थान पर अनुच्छेद 1 में लिखा है कि भारत राज्यों का संघ होगा । संघात्मक शासन के लिए सबसे पहले इस रात की आवश्यकता होती है कि शक्तियों का बंटवारा केन्द्र व राज्यों के बीच होना चाहिए । भारतीय संविधान की सातवीं

अनुसूची में केन्द्र राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया है । जिसमें तीन प्रकार की सूचियां है । (1) संघ सूची. (2) राज्य सूची एवं (3) समवर्ती सूची ।

(1) **संघ सूची** इसमें राष्ट्रीय महत्व के 97 विषय है जैसे विदेश संबंध, युद्ध शांति, संचार, रेले, डाक तार, जलमार्ग, सेना, मुद्रा सिक्का, बैंकिंग, सर्वोच्च न्यायालय. उच्च न्यायालय आदि सम्मिलित हैं ।

(2) **राज्य सूची** इसमें स्थानीय महल के 66 विषयों का प्रावधान था, लेकिन अब इसमें 61 विषय हैं । शांति व्यवस्था. पुलिस, जेल, कृषि, सिंचाई. सहकारिता आदि सम्मिलित है ।

(3) **समवर्ती सूची** इसमें 47 विषय हैं । जैसे बिजली, शिक्षा, सम्पत्ति का लेन देन, उद्योग कारखाने, श्रम. दीवानी. फौजदारी का कानून इत्यादि ।

संविधान के माग 11 व 12 में केन्द्र व राज्यों के बीच सम्बन्ध बताए गए हैं । संघ सूची के विषय केन्द्र के पास है । राज्य सूची के विषय राज्य के पास है, लेकिन समवर्ती सूची के विषय केन्द्र व राज्य दोनों को दिए गए है. किन्तु यह स्पष्ट किया गया है कि समवर्ती सूची के विषय पर दोनों में मतभेद उत्पन्न होता है तो केन्द्र का कानून सर्वोच्च माना जाएगा ।

संघात्मक शासन की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय का होना आवश्यक है । भारतीय संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की है । जो समय-समय पर केन्द्र ब राज्यों के बीच विवादों का समाधान करता है । भारत में लिखित कठोर संविधान है जिसके अनुसार ही देश का प्रशासन चलाया जाता है । संघात्मक शासन के लिए यह आवश्यक होता है कि व्यवस्थापिका का उच्च सदन राज्यों का प्रतिनिधित्व करें । भारत की राज्य सभा राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है । यह प्रतिनिधित्व राज्यों की समानता के आधार पर न होकर जनसंख्या के आधार पर है । वर्तमान समय में भारतीय संघ में 28 राज्य और 7 केन्द्र प्रशासित प्रदेश हैं। भारतीय संविधान के इन प्रावधानों को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारत एक संघात्मक राज्य है ।

संविधान में एकात्मक तत्व

भारत एक संघात्मक राज्य होते हुए भी संविधान में कुछ ऐसे तत्व विद्यमान हैं जिनके कारण एकात्मक के लक्षण प्रकट होते हैं । इन तत्वों का समावेश निम्न प्रावधानों में मौजूद है ।

भारतीय संविधान के केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों का बंटवारा किया गया है । जिनमें केन्द्र को राज्यों से ज्यादा शक्तियां दी गई है । सभी महत्वपूर्ण 97 विषय केन्द्र को दिए गए हैं । समवर्ती सूची के 47 विषय हैं जिन पर राज्य तथा केन्द्र दोनों कानून बना सकते. हैं लेकिन विरोध होने पर केन्द्र का कानून मान्य होगा ।

संघात्मक शासन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत दोहरी नागरिकता पाई जाती है लेकिन भारतीय संविधान के अन्तर्गत इकहरी नागरिकता का प्रावधान है । राज्यों की अपनी कोई नागरिकता नहीं है । अत: भारतीय संविधान का यह लक्षण एकात्मकता को प्रदर्शित करता है ।

प्राय: सभी संघात्मक राज्यों में संघ व राज्यों के अलग अलग संविधान होते हैं । लेकिन भारतीय संघ के लिए एक ही संविधान है । अमरीका तथा आस्ट्रेलिया की संघात्मक

व्यवस्थाओं को देखें तो वहां की संघ की इकाइयों की सहमति के बिना संघ उनकी सीमाओं में परिवर्तन नहीं कर सकता, लेकिन भारतीय संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अनुच्छेद 3 के अनुसार राज्यों की सीमाओं में परिर्वतन कर सकती. है तथा किसी भी राज्य से कोई प्रदेश पृथक करके नया राज्य बना सकती है एवं राज्य का नाम बदल सकती है ।

भारतीय संविधान में अनुच्छेद 352, 356 तथा 360 के तहत राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा कर सकता है । अनुच्छेद 352 के तहत संकट उपस्थित होने पर राज्य सूची के विषय पर संसद कानून बना सकती है । अनुच्छेद, 356 के अनुसार राज्य का संवैधानिक तत्र विफल होने पर राज्य की सारी प्रशासनिक शक्तियां राष्ट्रपति के नियन्त्रण में आ जाती है जो राज्यपाल की सहायता से शासन चलाता है । अनुच्छेद 360 के तहत वित्तीय संकट उपस्थित होने पर राज्यों की वित्त अवस्था पर केन्द्र का नियंत्रण स्थापित हो जाता हैं ।

संघ राज्यों में कानूनों को लागू करने के लिए दोहरी न्याय-व्यवस्था आवश्यक होती है। अमेरीका में यह व्यवस्था विद्‌यमान है लेकिन भारत में एकीकृत न्याय अवस्था को अपनाया गया है । भारत में न्यायालयों का गठन पिरामिड रूप में किया गया है ।

भारत में एकात्मकता को प्रदर्शित करने वाले तलों में अखिल भारतीय सेवाएं है जो भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था का एकीकृत रुप है । निर्वाचन आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्‌वारा की जाती है जो संसद के साथ-साथ राज्य की विधानसभाओं का चुनाव भी सम्पन्न कराता है ।

भारतीय संविधान में संघीय सदस्य के सभी लक्षण मौजूद हैं लेकिन इनमें कुछ तल एकात्मकता को प्रदर्शित करते हैं । इसी आधार पर कुछ लेखक इसे एकात्मक तथा संघातम्कता का मिलाजुला रुप मानते हैं । इसी आधार पर दुर्गादास बसु का कथन है कि 'भारतीय सबिधान न तो नितान्त संघात्मक है और न ही एकात्मक वरन् यह दोनों का मिश्रण है । यह एक अनुपम प्रकार का मिश्रित प्रणाली है ।" प्रो. के. सी. ह्रीलर का मत है कि 'भारतीय संविधान एक ऐसे एकाएक राज्य की स्थापना करता है जिसमें गौण रूप से कुछ संघीय तत्व है । न. कि ऐसे संघ राज्य की स्थापना करता है जिसमें गौण रूप से कुछ एकात्मक तत्व है ।" भारतीय संविधान के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें संघात्मक राज्य की स्पष्ट अवस्था की है। सिर्फ भारत की एकता को बनाये रखने के लिए कुछ एकात्मक तलों का प्रावधान करना पड़ा ।

15.4.2 सरकारों ढांचा

विधायिका संविधान के अन्तर्गत संघीय विधान मण्डल को संसद कहा जाता है । भारतीय संसद का निर्माण द्‌विसदनीय सिद्धान्त के आधार पर किया गया है । जिसका अर्थ है कि संसद के दो सदन होंगे । हमारी संसद के दो सदन है । एक उपरी सदन जिसको राज्य सभा कहा जाता है तथा दूसरा निम्न सदन जिसको लोकसभा कहा जाता है । राष्ट्रपति किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता है लेकिन बह संसद का अभिन्न अंग है । संसद लोकसभा, राज्य सभा तथा राष्ट्रपति तीनों से मिलकर ही बनती है । राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग इसलिए है कि यही दोनों सदनों की बैठकें चलाता है तथा दोनों सदनों का सत्रावसान करता है । लोकसभा को भंग करता है । संसद में पास किए गए विधेयकों को अनुमति देता है ।

लोकसभा लोकसभा को संसद का निम्न सदन कहा जाता है । लोकसभा के सदस्यों का चुनाव जनता प्रत्यक्ष रुप से करती है । जिस व्यक्ति की उम्र 18 वर्ष हो वह लोकसभा के सदस्यों को वोट दे उकता है । लोकसभा के सदस्यों की संख्या 552 निर्धारित कर रखी है । लेकिन वर्तमान में (23 राज्यों से 530 सदस्य, 13 सदस्य केन्द्र प्रशासित प्रदेशों से तथा 2 सदस्य एंग्लोइडियन समुदाय के जिनको राष्ट्रपति मनोनीत करता है) - सदस्य संख्या 545 है । सामान्य रूप से लोकसभा का कार्यकाल इसकी पहली बैठक से पाच वर्ष तक का होता है । लेकिन राष्ट्रपति इसे पहले भी भंग कर सकता है । लोकसभा सदस्य के लिए चुनाव लड़ने के लिए उसकी आयु 25 बर्ष होनी चाहिए । लोकसभा की कार्यवाही को संचालित करने के लिए एक अध्यक्ष होता है जिसे स्पीकर कहा जाता है । उसकी अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष सदन का प्रधान होता है । लोकसभा को ही वास्तविक संसद कहा जाता है क्योंकि मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप सें लोकसभा के प्रति ही उत्तरदायी रहती है । लोकसभा में जिस दल को बहुमत होता है उसके नेता को राष्ट्रपति प्रधानमंत्री बनाता है ।

राज्यसभा राज्यसभा हमारी संसद का उपरी सदन है । संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 निश्चित की गई है । लेकिन वर्तमान समय में इसकी सदस्य संख्या 245 है । इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते है । बाकी सदस्य जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं । इन सदस्यों को राज्यों की विधानसभाओं के सदस्य बनते हैं । यहां आनुपातिक प्रतिनिधित्व या एकल संक्रमणीय मत प्रणाली का प्रयोग होता है । राज्यसभा एक स्थायी सदन है जो कभी भंग नहीं होता इसके सदस्य 6 वर्ष के लिए चुने जाते हैं । हर दो बर्ष के बाद एक तिहाई सदस्यों का चुनाव किया जाता है । राज्यसभा का पदेन सभापति उपराष्ट्रपति होता है जो इसकी बैठकों का संचालन करता है । इसकी अनुपस्थिति में उपसभापति बैठकों की अध्यक्षता करता है ।

संसद के कार्य

1. **संसद का मुख्य कार्य कानून बनाना हैं** । संसद को संघीय सूची तथा समवर्ती सूची के समी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है । संकट काल के राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है । राज्यसभा राष्ट्रहित के लिए बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राज्य सूची के किसी भी विषय पर संसद को कानून बनाने के लिए अनुरोध कर सकती है ।

2. **संविधान के द्वारा देश के सम्पूर्ण वित्त पर नियंत्रण संसद को प्रदान किया है।** संसद ही बजट पारित करती है । संसद की अनुमति के बिना न तो कर लगाया जा सकता है न ही एकत्र किया जा सकता 'है ।

3. **भारतीय में संसदीय शासन को अपनाया है।** अत: मंत्रीमण्डल सामूहिक रूप से संसद के प्रति ही उत्तरदायी रहती है । मंत्रीमण्डल उस समय तक सत्ता में रह सकता है जब तक कि उसको लोकसभा में बहुमत प्राप्त है । संसद के सदस्य अविश्वास प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव सरकार पर नियंत्रण रखते है ।

4. **भारतीय संसद को सविधान में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है।** वह संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है । संसद राज्यों की ' इच्छा के बिना भी उसकी

सीमाओं में परिवर्तन तथा नए राज्य बना सकती है । भारतीय संसद निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करती है जिनमें राष्ट्रपति का निर्वाचन तथा उपराष्ट्रपति का निर्वाचन शामिल है । संसद के दोनो सदनों द्वारा राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है । इसके साथ ही उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाकर उनको हटा सकती है ।

लोकसभा तथा राज्य सभा में सम्बन्ध

लोकसभा तथा राज्यसभा को वैधानिक क्षेत्र मे कार्य सम्पन कराने के लिए मिल-जुल कर कार्य करना आवश्यक है । अगर इनमें सहयोग नहीं है तो विधायी संबंधी किसी भी प्रकार का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता । इसके साथ ही संवैधानिक संशोधन संबंधी कार्यो के बारे मे दोनों सदना को समान शक्ति प्राप्त है । राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के चुनाव में दोनों सदनों की समान भूमिका रहती है । सर्वोच्च न्यायालय तथा उचन्यायालय के न्यायधीश को हटाने के लिए महाभियोग की प्रक्रिया दोनों सदन द्वारा ही लगाई जाती है । लोक सभा तथा राज्य सभा के कार्यो का मूल्याकन करने पर ज्ञात होता है कि कुछ मामलों को लौकसभा को राज्य सभा से ज्यादा शक्तियां प्राप्त है जो निम्न है -

1. वित सम्बन्धी शक्तियां लोक सभा को ही प्राप्त है । राज्यसभा वित्त विधेयक को न तो अस्वीकार कर सकती है न ही उसमें संशोधन कर सकती है । लोकसभा के द्वारा वित विधेयक पास किए जाने के बाद राज्यसभा 14 दिन में पास करना आवश्यक है अन्यथा बिना पास किए ही यह मान लिया जाता है कि राज्य सभा ने अनुमति प्रदान दर दी है ।
2. कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं इसके बारे में निर्णय लौक सभा का अध्यक्ष करता है।
3. राज्यसभा को मंत्रिपरिषद के प्रति अविश्वास प्रस्ताव पारित करने की शक्ति नहीं है ।

भारतीय संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान हैं जिनके आधार पर राज्य सभा को विशेष शक्तियां प्रदान की है जो लोकसभा को प्राप्त नहीं है । ये विशेष शक्तियां निम्न है -

1. **अनुच्छेद 249 के तहत** राज्य सभा यह घोषणा कर सकती है कि राष्ट्रीय हित के लिए यह जरूरी है कि संसद राज्य सूची के विषय में कानून बनाए । इसके लिए- राज्य सभा को दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता है । अगर राज्य सभा यह प्रस्ताव पारित कर देती है तो संसद किसी भी राज्य सूची के विषय पर कानून बना सकती है ।
2. **अनुच्छेद 312 के तहत** राज्यसभा को दो तिहाई बहुमत से एक विशेष प्रस्ताव पास कर सकती है । जिसके द्वारा नई अखिल भारतीय सेवायें स्थापित कर सकती है ।

कार्यपालिका

भारत में इंग्लैण्ड के समान संसदीय शासन प्रणाली है । संसदीय शासन में दो प्रकार की कार्यपालिका ' होती है एक नाममात्र की दूसरी वास्तविक । भारत में नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति है तथा वास्तविक कार्यपालिका प्रधानमंत्री तथा उसका मंत्रिमण्डल है. लेकिन कार्यपालिका सम्बन्धी सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम से होते हैं ।

राष्ट्रपति

भारत एक गणराज्य है । इसलिए संविधान में राष्ट्रपति की व्यवस्था की गई है । यह कार्यपालिका का प्रधान होता है । समस्त कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां राष्ट्रपति में निहित है। वह कार्यपालिका के अध्यक्ष के साथ साथ राज्य का अध्यक्ष भी होता है । संविधान के अनुच्छेद 52 में कहा गया है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा एवं अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा बह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वंय तथा अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा ।

भारतीय संविधान के द्वारा कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान राष्ट्रपति को बनाया है । जिसके पास कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां नाममात्र की होती है । सिर्फ वह नाम का शासक होता है । वास्तविक शासन की शक्तियां मन्त्रिमण्डल के पास होती है । राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है और भारतीय संघ में उसकी स्थिति अमरीकी राष्ट्रपति के स्थान पर ब्रिटिश सम्राट जैसी है ।

राष्ट्रपति का निर्वाचन एवं कार्यकाल

राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न होकर अप्रत्यक्ष रूप से होता है । इस चुनाव में एकल संक्रमणीय मत प्रणाली का प्रयोग होता है । राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है जिसमें (1) संसद को दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य एवं (2) राज्य विधानसभाओं और 70वे संवैधानिक संशोधन के अनुसार संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होते है । राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच बर्ष का होता है किन्तु भारतीय संधान के अनुच्छेद 61 के अनुसार राष्ट्रपति के द्वारा संविधान का उल्लंघन किए जाने पर संसद द्वारा उस पर महाभियोग लगाकर हटाया जा सकता है ।

राष्ट्रपति को शक्तियां

अनुच्छेद 53 के अनुसार भारतीय संघ की कार्यपालिका की सभी शक्तियां राष्ट्रपति में नीहित है । इनका प्रयोग या तो स्वंय करता है या उनके नाम से अधीनस्थ पदाधिकारी करते हैं। राष्ट्रपति को कार्यपालिका सम्बन्धी महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं, जिससे महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति करता है । वह प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है । प्रधानमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों, राज्य के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय और उन न्यायालयों के न्यायाधीशों, महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष, निर्वाचक आयोग, विदेशों में राजदूत आदि की नियुक्ति करता है । लेकिन यह नियुक्तियां प्रधानमंत्री तथा मत्रिमण्डल के परामर्श से ही होती है ।

विधायी शक्तियां

राष्ट्रपति संसद का अधिवेशन बुलाता है, सत्रावसान करता है । संसद के अधिवेशन के प्रारम्भ में अभिभाषण देता है । लोकसभा को भंग कर सकता है । राष्ट्रपति ही संसद द्वारा पारित विधेयकों की स्वीकृति प्रदान करता है, उसके बाद ही वह कानून का रूप ग्रहण करता है। राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है जब संसद का सत्र नहीं चल रहा हो ।

वित्तीय व न्यायिक शक्तियां

वित्तीय क्षेत्र में राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त है । उसकी अनुमति के बिना धन विधेयक या वित्त विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । उसकी पूर्वानुमति

से ही बजट प्रस्तुत किया जाता है । राष्ट्रपति अपराधियों को क्षमा प्रदान कर सकता है या उनके दण्ड को स्थगित या कम कर सकता है ।

आपातकालीन शक्तियां

भारत में राष्ट्रपति को कुछ अवसरों पर संकटकालीन शक्तियां प्राप्त है

(i) **अनुच्छेद 352** के तहत युद्ध, बाहय आक्रमण अथवा सशस्त्र क्रान्ति का खतरा उत्पन्न होने पर भारत अथवा किसी भी क्षेत्र में राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा कर सकता है । राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा से संविधान के संघात्मक उपबन्ध निलम्बित हो जाते है लेकिन राष्ट्रपति तभी ही आपातकाल की घोषणा करता है जब प्रधानमंत्री तथा उसका मंत्रिमण्डल लिखित रूप से सिफारिश करें ।

(ii) **अनुच्छेद 356 के आधार पर** राष्ट्रपति को राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या अन्य किसी प्रकार से विश्वास हो जाए कि राज्य में शासन संवैधानिक नियमों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है तो वहां राष्ट्रपति सरकार को बर्खास्त कर या निलम्बन कर राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है । राष्ट्रपति वहां का प्रशासन राज्यपाल के माध्यम से चलाता है ।

(iii) **अनुच्छेद 360 के तहत** राष्ट्रपति को वित्तीय आपात की घोषणा करने का अधिकार है। भारत या उसके राज्य क्षेत्र में वित्तीय साख संकट में होने पर राष्ट्रपति इस अधिकार प्रयोग करता है । इस आपात के तहत सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा अन्य अधिकारियों के वेतन में कटौती कर सकता है । उपर्युक्त तीनों आपात की घोषणा राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की सिफारिश से ही करता है । साथ ही घोषणा के बाद संसद की मंजूरी आवश्यक हैं अन्यथा ये घोषणाएं लागू नहीं हो सकती ।

संधीय कार्यपालिका मंत्रिपरिषद ओर प्रधानमंत्री

सैद्धान्तिक दृष्टि से देखें तो समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति तो संवैधानिक अध्यक्ष मात्र है । वास्तविक कार्यपालिका शक्तियां मंत्रिपरिषद के पास होती है । राष्ट्रपति के नाम से समस्त शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद करती है ।संविधान के अनुच्छेद 74 में लिखा है कि राष्ट्रपति को उसके कार्यो को करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति ऐसी -सलाह के अनुसार कार्य करेगा । इस प्रकार भारतीय संघीय व्यवस्था में प्रधानमंत्री ओर उसकी मंत्रिपरिषद ही वास्तविक कार्यपालिका होती है । राष्ट्रपति तो नाममात्र की कार्यपालिका होती है ।

प्रधानमंत्री ओर मंत्रिपरिषद का गठन

अनुच्छेद 75 के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वह प्रधानमंत्री की सलाह पर करता है । लेकिन प्रधानमंत्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति सिर्फ औपचारिकता ही पूरी करता है । लोकसभा में जिस दल को बहुमत प्राप्त होता है उस दल के नेता को राष्ट्रपति प्रधानमंत्री बनाता है । प्रधानमंत्री जिन व्यक्तियों की सूची मंत्री बनाने के लिए राष्ट्रपति को देता है उनको राष्ट्रपति मंत्री बनाता है । वर्तमान समय में लोकसभा के सदस्यों के कुल 15 प्रतिशत व्यक्तियों को ही मंत्रिमण्डल में लिया जा सकता है

इससे ज्यादा नहीं । मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहती है । लोकसभा अविश्वास के द्वारा मंत्रिमण्डल को पदणुत कर सकती है ।

वर्तमान में भारतीय संघीय अवस्था को मीत्रमण्डलीय शासन न कहकर प्रधानमंत्रीय शासन व्यवस्था कहा जाने लगा है क्योंकि प्रधानमंत्री ही सर्वसर्बा होता है । उसको लोकसभा में बहुमत प्राप्त होता है और अपने दल का नेता होने के कारण सारी शक्तियां प्रधानमंत्री में केन्द्रित हो गई है। राष्ट्रपति को जितनी भी कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त है उनका प्रयोग प्रधानमंत्री तथा मंत्रीमण्डल करता है ।

न्यायपालिका

शासन के तीन अंगों में न्यायपालिका तीसरा अंग है । व्यवस्थापिका कानूनों का निर्माण करती है कार्यपालिका उनको लाग करती है और न्यायपालिका इन कानूनों के उल्लघंन करने वालों को दण्ड देती है । वैसे आमतौर पर न्यायपालिका को व्यक्तियों को न्याय प्रदान करने वाली संस्था माना जाता है । भारतीय संविधान में संविधान की व्याख्या तथा उसकी रक्षा के लिए न्यायपालिका की स्थापना की है । भारत में न्यायपालिका का संगठन, एकात्मक एकीकृत तथा सौपानिक व्यवस्था है । भारतीय संघ में न्यायपालिका के सर्वोच्च शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है जो भारत में एक है तथा दिल्ली के स्थित है । इसके बाद उच्च न्यायालय है जो भारतीय संघ के प्रत्येक राज्य में एक है । राज्यों में उच्च न्यायालय के अधीन अधिनस्थ न्यायालय हैं जिनमें जिला न्यायालय मुंशिप न्यायालय प्रमुख हैं ।

सर्वोच्च न्यायालय

मारतीय संविधान की रक्षा तथा उसकी व्याख्या करने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय का है। वह संसद द्वारा निर्मित ऐसे प्रत्येक कानून को अवैध धोषित कर सकता है जो संविधान के अनुकुल नही हो । सर्वोच्च न्यायालय संविधान की रक्षा करने के साथ साथ नागरिको की स्वतंत्रता और अधिणरों की रक्षा करता है । वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश है तथा 25 अन्य न्धायाषीश है । जिन्हे राष्ट्रपति निमुक्त करता है । ये 65 वर्व की आयु तक या 6 वर्ष तक जो भी पहले हो तक कार्य करते हैं । अगर किसी नयायधीश के खिलाफ अक्षमता या दुर्व्यवहार का आरोप है तो संसद उसे महामियोग के द्वारा हटा सकती है। संसद कानून के द्वारा न्यायाधीशों की संख्या घटा-वरा सकती है । सहिधान के हारा सुप्रीम कोर्ट को तीन प्रकार के क्षेत्राधिकार प्रदान किया है, जो निम्न है -

(i) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार

(ii) अपीलीय क्षेत्राधिकार

(iii) प्रमर्शदात्र क्षेत्राधिकार

'प्रत्येक राज्य में न्याय कार्य का परिचालन करने के लिए एक उच्च न्यायालय होता है। जो स्वतंत्र निकाय होता है । राज्यों की कार्यपालिका अथवा विधान मण्डलों को उन न्यायालयों को नियंत्रित करने अथवा इनकी व्यवस्था करने में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है । उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की न्यूनतम संख्या के बारे में संविधान में कोई प्रावधान नहीं है । समय- समय पर यह संख्या राष्ट्रपति निश्चित करता है । उच्च न्यायालयों के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है ।

न्यायिक पुनरावलोकन

भारतीय संविधान द्वारा न्यायिक प्रक्रिया को गीत प्रदान करने के सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन कि शक्ति प्रदान की है । न्यायिक पुनरावलोकन ली व्यवस्था से सर्वोच्च न्यायालय संविधान तथा उसकी सर्वोच्च की रक्षा करता है । न्यायिक पुनरावलोकन' से आशय है यदि संसद या राज्य ली विधानमण्डलों द्वारा ऐसा कानून बनाया जाता है जो संविधान अनुकूल नहीं हो या मौलिक अधिकारों का हनन करता हो तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसा कानून को रद्द कर बसता है । इस रद्द करने के अधिकार को ही न्यायिक पुनरावलोकन कहा जाता है । राज्यों के सम्बन्धों मैं इस शक्ति का प्रयोग सम्बन्धित उच्च न्यायालय के द्वारा किया जाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 131 और 132' सर्वोच्च न्यायालय को संसद तथा राज्य सरकार द्वारा निर्मित कानूनों का पुनरावलोकन करने का अधिकार दिया गया है । इसके साथ के अनुच्छेद 13 व 32 मौलिक अधिकारों के बारे में सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्रदान करता है ।1950 से लेकर अब तक सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का अनेक बार प्रयोग किया है । जिनमें गोलकनाथ विवाद', केश्वानन्द भारती बनाम केरल राज्य (1973) और मिनर्वा मिल्स विवाद (1980) प्रमुख है । अत: सुप्रीम कोट इस शक्ति के आधार पर राज्य के ऐसे कानून या आदेश को रद्द कर सकता है जो असंवैधानिक हो ।

15.5 राजनीतिक प्रक्रियाएं

राजनीतिक संरचनाओं के अध्ययन करने से सिर्फ वहां कि शासन व्यवस्थाओं कि ही मोटे रुप से जानकारी मिलती है । इन संस्थाओं को प्रभारित एवं परिवर्तित करने वाले तत्वों कि जानकारी नहीं मिल पाती है । इसलिए हम राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करना आवश्यक समझते है । जिसमे हम निर्वाचन प्रक्रिया में चुनाव कि आवश्यकता मतदान ली प्रणालियां, प्रशासनिक प्रक्रिया में नीति निर्माण व अखिल भारतीय सेवाएं एवं न्यायिक प्रक्रिया में हम भारत कि न्यायप्रणाली की विस्तृत कार्यप्रणाली को देखने का प्रयास करेंगे ।

15.5.1 निर्वाचन प्रक्रिया

भारत विश्व का सबसे बड़ा प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र है । प्रतिनिधि लोकतंत्र के अन्तर्गत निर्वाचन ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा जनता अपने प्रतिनिधियों का चयन अपनी ओर से सत्ता का प्रयोग करने के लिए करते हैं । भारत में जो सरकार बनती है वह जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा बनाई जाती है । अत: प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए एक निश्चित चुनाव प्रक्रिया अपनायी जाती है ।

सार्वजनिक वयस्क मताधिकार

देश की आजादी के बाद सबसे बड़ी क्रान्ति यह थी कि लोकसभा तथा राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचन के लिए सार्वजनिक वयस्क मताधिकार को अपनाया गया । इससे पूर्व मत देने के लिए कुछ अर्हताएं जरूरी थी, जैसे शिक्षा. सम्पत्ति, उपाधि आदि । लेकिन भारतीय संविधान में इन सभी को समाप्त कर दिया गया है । साथ ही स्वतंत्रता से पूर्व में प्रचलित साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को भी समाप्त कर सार्वजनिक वयस्क मत प्रणाली को अपनाया है । जिसके अन्तर्गत 18 वर्ष की आयु वाला कोई भी व्यक्ति लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं

के निर्वाचन में मतदान कर सकता है । किसी के साथ मत देने के अधिकार मे कोई भेदभाब नहीं किया जाता है ।

निर्वाचन आयोग

भारतीय संविधान के अन्तर्गत मतदान की सुव्यवस्था करने के लिए अनुच्छेद 324 के तहत एक निर्नानन आयोग का गठन किया है । जिसमें कहा गया है कि वह ससंद और प्रत्येक राज्य विधानमण्डल के वास्ते तथा राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के लिए सभी निर्वाचनों का अधीक्षण निर्देशन और नियन्त्रण करेगा । निर्वातन आयोग में एक मुख्य चुनाव आयुका होता है तथा कुछ अन्य चुनाब आयुक्त नियुक्त करने का प्रावधान है, जैसा कि ससंद के कानून के द्वारा निर्धारित किया जाए । 1993 में इसमें दो चुनाव आयुक्त और नियुका करने का प्प्रावधान कर दिया है । इसलिए वर्तमान समय में चुनाव आयोग तीन सदस्य निकाय है । मुख्य चुनाब आयोग को राष्ट्रापति नियुक्त करता है, जो अधिकतम 65 वर्ष या 6 वर्ष जो पहले हो तक कार्य करता है लेकिन चुनाव आयोग को अपने पद के दुरूपयोग करने पर संसद उसे महाभियोग द्वारा हटा सकती है । दो अन्य निर्वाचन आयुक्तो की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करता है तथा मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सलाह से उन्हे पद से हटा सकता है । गुनाग आयोग का कार्य देश में चुनाव सम्पन्न कराना है । जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950 जिसमें चुनाव प्रणाली के बारे में प्रावधान है के तहत निर्वाचन सन्बन्धी कार्य करता है । चुनाब आयोग इसी अधिनियम के तहत संसद एवं राज्यों की विधानमण्डलों का चुनाब कराता है । राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के चुनाव के लिए अलग से कानून बना हुआ है । अनुच्छेद 327 के तहत संसद को निर्वाचन सम्बन्धी कानून बनाने का अधिकार है । जिसमें कहा गया है कि वह संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य विधानमण्डल के सदन या उसके प्रत्येक सदन के निर्वावनों से सम्बन्धित सभी मामलों के बारे में कानून बना सकेगी ।

भारत में मतदान का तरीका एवं चुनाव प्रणाली

भारत में संसद, राज्य की विधानमण्डलों. राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति का चुनाव गुप्त मतदान के आधार होता है । जिसमें वोट देने बाले का मत गुज रखा जाता एवं । लोकसभा तथा विधानसभाओं के चुनावों में सामान्य बहुमत प्रणाली का प्रयोग होता है । जिसके तहत जिस उम्मीद्वार को सबसे ज्यादा वोट प्राप्त होते, उसको बिजयी घोषित किया जाता है । राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत प्रणाली से तथा गुज मतदान द्वारा होता है । हमारे याह । समय समय पर चुनावों की खामियों को देखते हुए चुनाब सुधार किए जाते रहे हैं ।

राजनीतिक दल

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है क्योंकि जनता सारा शासन नहीं सकती है, अत: वह अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करती है । राजनीतिक दल ही अपने प्रत्याशियों को चुनावों में खड़ा करते है और बहुमत प्राप्त होने पर शासन सत्ता सम्मालते है । भारत में बहुदलीय शासन ववस्था है, जिसमें अनेक राजनीतिक दल सत्ता हासिल करने के लिए संघर्ष करते है । वर्तमान समय में एक भी ऐसा राजनीतिक दल

नहीं है जो अकेले अपने बहुमत पर सरकार बना सके । अत: मिली जुली सरकारों का युग आ गया है । राजनीतिक दल जनता व सरकार के बीच एक सम्पर्क सूत्र का काम करते हैं ।

15.5.2 प्रशासनिक प्रक्रिया

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् विरासत में प्राप्त प्रशासनिक ढांचे का पर्यावरण पूर्णतया बदल गया । साम्राज्यवादी शासन के स्थान पर एक प्रजातान्त्रिक लोक कल्याणकारी शासन की स्थापना संविधान में की गई । राज्य के इस नए स्वरूप के लिए आवश्यक था कि एक अत्यत्त गतिशील समतावादी, प्रजातांत्रिक, जननोमुखी और विकासोन्मुखी प्राथमिक ढांचा, श्रेप्ठजनीय केन्द्रीकृत, संवेदनशील, शासकोन्मुखी और सत्तात्मक ढांचे की स्थापना की जाए क्योकि लोकतंत्र के अन्तर्गत शासन जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा किया जाता है । जिनके लिए प्रशासनिक प्रक्रिया का दायित्व सम्मालना कठिन होता है । इसलिए सिविल सेवाओं का गठन सरकारी तन्त्र के लिए अनिवार्य अंग है, क्योंकि ये अराजनीतिक कर्मचारी है । जो जन निर्वाचित प्रतिनिधियों के निर्देशन एवं नियंत्रण के अधीन एवं नियमों तथा सिद्धान्तों के अनुसार प्रशासन चलाने के लिए उलरदायी होते है । भारत में प्रशासनिक ढांचे के निर्माण के लिए लोक सेवाओं का गठन किया गया है । अनुच्छेद हा 2 में अखिल भारतीय सेवाओं की संरचना की अवस्था की गई है । स्वतंत्रता से पूर्व भारत. में आईसीएस. की अवस्था थी, लेकिन -वर्तमान समय में मारतीय सिविल सेवा का पुनर्गठन किया गया है । जिसके तहत भारत में तीन प्रशासनिक सेबाएं अस्तित्व में है :-

(1) भारतीय प्रशसनिंक सेवा (IAS)

(2) भारतयि पुलिस सेवा (IPS)

(3) भारतीय वन सेवा (IFS)

अनुच्छेद 309 के द्वारा संसद को संघीय लोक सेवाओं का विधानमण्डलों को राज्यों में लोक सेवाओं और पदों के लिए भर्ती का और नियुक्त व्ययक्तियों को सेवा शतों का विनियमन का अधिकार दिया गया है ।

भारत में प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करने का उद्देश्य जनसेवा उपलअ कराने से है । भारत में राजनीतिक निर्णय एवं नीतिगत निर्णय मंत्रिमण्डल द्वारा लिए जाते हैं । लेकिन इन निर्णयों को क्रियाचित करना प्रशासन का काग है अत: प्रशासन सीधा जनता से जुडा हुआ है । भारत में प्रशासन पर नियंत्रण रखने का दाधिकार जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों को है । जनता की सेवा का काम प्रशासन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के निर्देशन में करता है । नीति को निर्धारित करना मंत्रियों का काम है, लेकिन उसको कार्याचित करना लोक सेवा के कर्मचारियों पर निर्भर है । चाहे लोक सेवक इन निर्णयों से सहमत न भी हो तो उनका यह दायित्व है कि वे अपने कार्यो को दायित्व के साथ निर्वहन करें ।

लोकसेवक भयमुक्त होकर राजनीतिक कार्यपालिका को परामर्श दें इसलिए संविधान में उनका कार्यकाल सुरक्षित किया गया है । भारत में कार्यपालिका (सरकार) जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों में से बनती है । जिसमें अधिकतर मंत्री नोसिखिए होते हैं तथा अपने विषय के विशेषज्ञ नहीं होते हैं, लेकिन प्रशासनिक अधिकारी जो मंत्रियों के अधीन काम करते है अपने

विषय के विशेषज्ञ होते है । ये मंत्रियों को प्रशासनिक प्रक्रियाओं में सहायता प्रदान करते हैं । भारत में राजनीतिक कार्यपालिका अस्थाई होती है । समय-समय पर सरकारें बदलती रहती हैं, लेकिन लोक सेवक स्थाई होते है इसलिए प्रशासन में स्थिरता बनी रहती है । इसके साथ ही ये राजनीतिक रूप से तटस्थ होते है । इनका किसी पार्टी विशेष से कोई लगाव नहीं होता है । सरकार किसी भी दल की हो । ये सभी सरकारों के साथ प्रशासनिक निर्णय क्रियाचित करते है। भारत में ये स्थायी सेवाएं प्रशासनिक प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान कर रही है और मंत्रिगण इसको लोकप्रियता का आधार प्रदान करते हैं । मंत्रिगण विधानमण्डल और प्रशासन में एक कड़ी का काम करते है।

भारतीय प्रशासन का उद्देश्य समाज कल्याण और विकास है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रशासन का विकेन्द्रीकरण किया गया है । 73वे एवं 74वें संवैधानिक संशोधन प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण के लिए ऐतिहासिक कदम माना जाता है । समाज कत्याण हेतु संविधान में प्रशासन पर सामाजिक न्याय व लोक कल्याण के जीटल उद्देश्यों के लिए निर्मित विविध प्रकार की नीतियों का क्रियान्वयन करने का दायित्व सौंपा है ।

भारत की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि जिन उद्देश्यों के लिए प्रशासनिक व्यवस्था का गठन किया गया था उनमें कई प्रकार के दोष पैदा हो गए हैं । स्वतंत्रता के वाद प्रशासनिक अधिकारियों को जनता के प्रति प्रीतवद्ध बनाया गया था । लेकिन वर्तमान समय में प्रशासन में अप्रत्याशित रूप से भ्रष्टाचार बढ रहा है । जिसके परिणामस्वरूप जनहित सम्बन्धी उस प्रतिबद्धता का अभाव है जो कि लोक प्रशासन विशेषकर कल्याणकारी और विकासात्मक प्रशासन में होनी चाहिए । भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था लालफीताशाही का शिकार बन गई है । जिसके कारण निर्णय से लिए जाते हैं । इसके साथ ही प्रशासनिक प्रकिया सम्बन्धी जटिलता एवं कठोरता भी भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था को कमजोर कर रही है । प्रशासनिक अवस्था में राजनीतिक हस्तक्षेप बढ़ रहा है । आए दिन मंत्रिगण प्रशासनिक मामलों में हस्तक्षेप कर रहे है । जिनमें प्रशासनिक कर्मचारियों का हस्तान्तरण, उत्पीडन एवं प्रशासनिक सेवाओं का अनुचित प्रयोग प्रमुख है । इस प्रकार से राजनीतिक हस्तक्षेप का प्रभाव प्रशासनिक निष्पादन पर प्रतिरोधी हो रहा है । स्वतंत्रता के 60 वर्ष बाद भी प्रशासनिक अधिकारियों तथा जनता के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हुए हैं जिसके कारण प्रशासनिक कार्यकुशलता में कमी आयी है । भारतीय प्रशासनिक प्रक्रिया की सफलता के लिए आवश्यक है कि सरकार के स्थायी अंग लोकसेवा और मंत्रियों को मिल-जुलकर कार्य करना अनिवार्य है । सिविल कर्मचारी का कर्त्तथ है कि वह राजनीति में तटस्थ रहे और मंत्री को चाहिए कि वह इस तटस्थता को विवेक पूर्ण ढंग से भलीभांति समझने की कोशिश करता रहे । इस प्रकार स्थायी लोक सेवाएं उत्तरोत्तर आने वाले मंत्रिमण्डलों मे कड़ी का कार्य करते हुए प्रशासन को स्थिरता एवं निरन्तरता प्रदान कर सकती है । इन कमियों के बावजूद भी भारतीय प्रशासन की उपलब्धियों को अनदेखा नहीं किया जा सकता है । विगत वक्षों में एक सुदृढ़ और स्थिर प्रशासनिक सवा प्रदान किया है ।

15.5.3 न्यायिक प्रक्रिया

'न्यायिक प्रक्रिया' शब्द साधारणत: अर्थ में न्यायालयों द्वारा विधि के अनुसार अपनाई जाने वाली वह कार्यवाही है जिसके माध्यम से किसी भी मामले को आदेश या फैसला देकर अन्तिम रुप से निपटाया या निष्पादित किया जाता है । यद्यपि न्यायिक प्रक्रिया शब्द को स्पष्टत: परिभाषित नही किया गया है, लेकिन हमारे देश की शीर्ष अदालत सर्वोच्च न्यायालय ने एक मामला सीता रानी बनाम जम्बू कश्मीर के मामले मे । अपने फ़ैसले में 'न्यायिक प्रक्रिया' की स्पष्टत: व्याख्या इस प्रकार से की है । न्यायिक प्रक्रिया के अन्तर्गत फिरी। मामले में पक्षकारों की विशुद्धता विषयगत सन्तुष्टि और व्यक्तिगत राय को नहीं माना गया है । न्यायिक प्रक्रिया में एक संवधि पर्याप्त स्पष्टता को इंगित करती है कि उस प्राधिकारी की कतिपय मामलों पर व्यक्तिगत सन्तुष्टि स्पष्ट होनी चाहिए और जिसके आधार पर अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत वह अपना मत उन कार्यों को करने या कुछ आदेश निकालने और उसमे अन्य न्यायिक कार्य कार्यपालिका कार्या के सदृश्य होनी चाहिए । भारतीय संविधान के अनुच्छेद 50 के अन्तर्गत देश एवं प्रदेश में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका स्थापित करने की व्यवस्था की गई है और देश के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कोई भी दिया गया आदेश निर्देश एवं निर्णय (फैसला) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 141 के अनुसार सभी अधीनस्थ अदालतों पर बाध्यकारी माना गया है ।

न्यायिक प्रक्रिया के अलावा इसी के समानार्थी शब्द 'न्यायिक कार्यवाही' (Judicial Proceeding) का प्रयोग किया गया है जिसको दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (झ) के अन्तर्गत निम्न प्रकार परिभाषित गया है । 'धारा 2 (झ)' के अन्तर्गत कोई ऐसी कार्यवाही है जिसके अनुक्रम में साक्ष्य वैध रूप से शपथ पर लिया जाता है या लिया जा सकता है, लेकिन न्यायिक प्रक्रिया न्यायिक कार्यवाही का एक व्यापक रूप है । पुलिस आयुक्त दिल्ली बनाम निबंधक दिल्ली उच्च न्यायालय (1997) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपना फैसला देते हुए यह स्पष्ट किया था कि निष्पक्ष विचारण का आश्वासन देना न्याय का निपटारा करने का प्रथम आज्ञापक बताया गया है । इसी से सम्बन्धित आवश्यक उपबन्ध दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 327 के अन्तर्गत दण्ड न्यायालयों को कुता न्यायालय माना जाने की व्यवस्था की गई है । जिसमें जनता न्यायालय में साधारणत: सुविधापूर्वक प्रवेश कर सकेगी अर्थात न्यायालय की केवल बलात्कार एवं महिलाओं के अपहरण सम्बन्धी मामलों की जांच या विचारण बन्द कमरे में की जाने की व्यवस्था की है । न्यायालय भी विधि के शासन एवं संविधान के प्रहरी एवं संरक्षक माने गए है । न्यायालय को कोई भी न्यायिक प्रक्रिया अपनाते समय न्यायिक अपेक्षा प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त के साथ-साथ विधि की समुचित प्रक्रिया अपनाते हुए न्यायालय के पीठासीन अधिकारी को निष्पक्ष स्वतंत्र बिना किसी भेदभाव से न्यायालय में आवश्यक न्यायिक कार्यवाही या न्यायिक प्रक्रिया सम्यक विवेक एवं समझ से, सम्यक प्रकार से विधि में दिए गए प्रावधानों के अनुसार ही अपनाना चाहिए । न्याय में बिना विवेक बिना सोचे समझे एवं अत्यधिक तीव्रता से काम करना भी न्याय में कोई दूषित कार्यवाही होने के कारण न्याय को दफनाया हुआ मान लिया जाता है और न्याय देने में अत्यधिक विलम्ब करना भी न्याय नकारने के बराबर माना

जाता है । इसलिए न्यायिक प्रक्रिया में आज नये सिद्धान्त मानव अधिकार एवं त्वरित न्यायिक प्रक्रिया तो सिद्धान्त ने अपना लोकप्रिय स्थान ग्रहण कर लिया है । अव हम न्यायिक प्रक्रिया से सम्बन्धित सबिधान एवं विधि में जहां भी व्यवस्था दी गई है, का स्पष्ट उल्लेख करना श्रेष्ठकर समझते हैं ।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भी सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय प्रदान करने की बात मूलभूत ढांचे के रूप में स्वीकार की गई है और संविधान को भारत के समस्त लोगों द्वारा अंगीकृत अधिनियमित एवं आत्मार्पित करने की बात पर जोर दिया गया है । भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों की विवेचना करने पर हम इम परिणाम पर पहुंचे हैं कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 की मूल भावना में यह प्रावधान किय गया है कि 'किसी व्यक्ति को उसके प्राण और दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जायेगा अन्यथा नहीं ।" मूल अधिकारों के संदर्भ में 'विधि' की परिभाषा संविधान के अनुच्छेद 13(3) क में विधि के अन्तर्गत भारत के राज्य क्षेत्र में विधि का बल रखने वाला कोई अध्यादेश, आदेश उपविधि नियम, विनियम, अधिसूचना तथा कड़ी या प्रथा को विधि के रूप में बताया गया है । भारत में न्यायपालिका न्यायिक प्रक्रिया अपनाते समय विधि के शासन को अपनाती है । विधि का शासन मुख्यत: सामान्य विधि (Common law) पर आधारित है तथा संविधान के अनुच्छेद 21 में बताये गए प्रावधान अमरीकी सबिधान में पंचम तथा चौदहवें संशोधनों पर आधारित है । सर्वोच्च न्यायालय ने एक मामले ज्ञान कौर बनाम पंजाब राज्य के मामले में पांच न्यायमूर्तियों की संविधान न्यायपीठ ने अपने निर्णय में यह कहा कि 'जीने का अधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है जो अनुच्छेद 21 में प्रत्याभूत है परन्तु जीवित रहने का अधिकार में आत्महत्या करने का अधिकार शामिल नहीं है ।" न्यायालय ने आगे कहा कि अनुच्छेद 21 में प्राण का अधिकार जीवन रक्षा के लिए है । यह किसी व्यक्ति के जीवन का अन्त करने के लिए या आत्महत्या का अधिकार नहीं पढ़ा जा सकता है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत अमरीकी संविधान की विधि द्वारा उचित प्रक्रिया के स्थान पर विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को अपनाया गया है । राह प्रावधान जापानी सविधान 1948 के अनुच्छेद 31 से लिया गया है । सर्वोच्च न्यायालय ने एक प्रसिद्ध मामला मेनका गांधी बनाम भारत संघ में फैसला देते हुए यह घटित किया था कि 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अन्तर्गत" 'युक्तियुक्त' (Reasonable). 'निष्पक्ष" (Fair) और 'न्याय संगत' (Just) होने चाहिए तथा अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत बताई गई विधि बिल्कुल मनमानी एवं अनुचित नहीं हो सकती है । इस मामले में यह भी अवधारित किया कि यह अनुच्छेद 21 का उपयोग केवल कार्यपालिका के विरुद्ध ही नहीं किया जाएगा बल्कि इसके अन्तर्गत विधायिका द्वारा किए गए कार्य भी सम्मलित किए जाएंगे।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20 के अन्तर्गत अभियुक्त व्यक्ति के अधिकार दिए गए हैं । जिनका 3 खण्डों में प्रावधान किया गया है । प्रथम खण्ड के अन्तर्गत कार्योत्तर दण्ड विधि के विरूद्ध अधिकार दिया है । इसका तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए तब तक सिद्ध दोष नहीं ठहराया जाएगा जब तक कि उसने ऐसा कार्य करने के समय जो अपराध के

रूप में आरोपित है किसी प्रर्वतन विधि का उल्लंघन नहीं किया है या उससे अधिक दण्ड का भागी नहीं होगा जो उस अपराध के किये जाने के समय प्रर्वतन विधि के अधीन आरोपित की जा सकती थी । इस अनुच्छेद के खण्ड दो में दोहरे दण्ड के विरूद्ध अधिकार देने की बात कही गई है । खण्ड दो के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक से अधिक बार अभियोजित एवं दण्डित नहीं किया जाएगा। यह प्रावधान अब संविधान के अतिरिक्त इस नियम की अभिव्यक्ति साधारण दण्ड अधिनियम 1897 की धारा 28, दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 26 और भारतीय दण्ड संहिता की धारा 71 में पाई जाती हैं । इस अनुच्छेद के खण्ड 3 में यह उपबन्धित किया गया है कि किसी अपराध के लिए अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वंय के विरूद्ध साक्षी होने के लिए मजबूर या बाध्य नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति को मानसिक या शारीरिक रूप से उत्पीड़न नहीं किया जा सकता ।

संविधान का अनुच्छेद 22 अनुच्छेद 21 का ही विस्तृत रूप है । अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत ''अवैध गिरफ्तारी' और 'निरोध' (नजरबन्दी) के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान की गई है । इस अनुच्छेद की अनुपालना में किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करने सम्बन्धी प्रक्रिया का विस्तृत विवरण दण्ड प्रक्रिया संहिता 1873 की धारा 41 से 81 तक में मिलता है । भारतीय संसद ने विधिक प्रक्रिया की उचित अनुपालना में कई नियामक निरोध (नजरबन्दी) कानून बनाए है । इस अनुच्छेद के खण्ड 2 में यह आवश्यक व्यवस्था कि गई है कि प्रत्येक व्यक्ति जो गिरफ्तार किया गया है और हवालात में विरूद्ध किया गया है बन्दीकरण के स्थान से न्यायालय तक आवश्यक समय छोड़कर ऐसा गिरफ्तार किए हुए व्यक्ति को 24 घंटे की कालावधि में निकटतम दण्ड अधिकारी (मजिस्ट्रेट)के समक्ष पेश किया जाएगा और बिना दण्डाधिकारी के आदेश के आगे हवालात में (पुलिस अभिरक्षा) में नहीं रखा जा सकता है । इस प्रकार के उपबन्ध दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 56, 57 और 167 मे भी है । यदि 24 घंटे की कालावधि के अन्दर समक्ष दण्डाधिकारी बन्दीकरण का आदेश नहीं देता है तो उस गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को निर्मुक्त होने का अधिकार है ।

न्यायिक सक्रियता वाद

न्यायिक सक्रियता बाद के बारे में संविधान में कुछ भी नहीं कहा गया है लेकिन पिछले कुछ वर्ष में भारत के सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने न्यायिक सक्रियता बाद को बढ़ावा दिया है । सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश भगवती प्रसाद तथा कृष्ण अय्यर ने इस परम्परा को चालू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी । इसके अन्तर्गत जो कार्य व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को करने चाहिए थे वे कार्य अब न्यायपालिका करने लग गई है। देश की राजनीति, प्रशासन और सामाजिक आर्थिक जीवन में फैली हुई सुस्ती, भ्रष्टाचार तथा अन्याय के निवारण के लिए देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों में महत्वपूर्ण निर्णय दिए हैं । अब यह नई परम्परा विकसित हो गई है कि जो न्यायालय का द्वार खटखटाएगा उसे न्याय मिलेगा । इस नई विकसित परम्परा के लक्षण निम्न है :-

- न्यायिक प्रक्रिया यह कहती है कि याचिका कोई पीड़ित पक्ष की दायर कर सकता है लेकिन वर्तमान समय में जनहित के अन्तर्गत कोई व्यक्ति या संस्था याचिका दायर कर सकती है तथा न्यायालय चाहे तो याचक से कोई शुल्क ही न लेवें ।

- न्यायिक प्रक्रिया के अनुसार केस को सुनने और उसके निर्णय देने में समय लगता है । जो याचिकाएं जनहित में आती है उनकी तुरन्त सुनवाई तथा तुरन्त न्याय दिया जाता है । ऐसी याचिकाएं जनहित से संबन्धित किसी भी मामले में ली जा सकती है जैसे हैजा, प्लेग के रोकथाम, नालों की सफाई अधिक समय से बन्द कैदियों की रिहाई या जेल के भीतर कैदियों के साथ दुर्व्यवहार को रोकना, भ्रष्टाचार को रोकना आदि । उदाहरण के तौर पर राजस्थान उच्च न्यायालय ने जर्मन महिला के साथ हुए बलात्कार की घटना को स्वप्रेरित लेकर मात्र 16 दिन में आरोपियों को सजा दिलवायी इस कार्यवाही से स्पष्ट होता है कि क्या न्यायालय त्वरित कार्यवाही करके न्याय सुलभ करा रहे हैं ।
- इस सम्बन्ध में सबसे आश्चर्य जनक बात यह है कि अब याचिका आये बिना ही न्यायालय स्वप्रेरित या अखबार की खबर से प्रसंज्ञान लेकर कार्यबाही कर देते हैं । उदाहरण के लिए गुजरात उच्चन्यायालय के न्यायमूर्ति ठक्कर ने उस विधवा को पेंशन दिलवायी जिसे विभाग कई वर्षो तक परेशान कर रहा था । दिल्ली उच्च न्यायालय में मार्टिन मेसी को दस हजार रूपये दिलाये जिसे यातायात पुलिस ने बहुत पीटा था ।

न्यायिक सक्रियता की यह प्रवृति जो बढ़ी है इसके आधार पर इसकी आलोचना की जा रही है कि न्यायपालिका छोटी-छोटी बातों को विनियमित करने लगती है तो इससे देश में विधि के शासन को धक्का पहुंचता है तथा यही प्रवृत्ति भयानक है । अगर इसी तरह न्यायालय काम करते रहे तो देश में न्यायिक अधिनायकवाद आ जाएगा । लेकिन दूसरी ओर यह कहना है कि इस प्रवृत्ति में आम आदमी को राहत पहुंचाई है । इसलिए जन साधारण इसकी प्रशंसा कर रहे हैं तथा इसके बारे में यह कहा जा सकता है कि जब देश में व्यवस्थापिका लकवाग्रस्त तथा कार्यपालिका भ्रष्ट हो चुकी हो अथवा दोनो निष्क्रिय हो गयी हो तो ऐसी स्थिति में न्यायपालिका की सक्रियता से ही किसी सुधार की आशा की जाती है ।

न्यायपालिका कीं स्वतंत्रता

न्यायपालिका सुचारु रूप से तभी कार्य कर सकती है जब वह व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका न्यायपालिका के कार्य में हस्तक्षेप न करें जिससे न्यायाधीश अपना निर्णय अपने विवेक से दे सके और उन पर बाहर से कोई दवाब न डाल सके । न्यायपालिका की स्वाधीनता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीश सुयोग्य हो । अत: उनका चयन बहुत सावधानी से होना चाहिए । भारत के अन्तर्गत न्यायपालिका को कुछ हद तक स्वतंत्र बनाए रखने का प्रयास किया गया है । न्यायपालिका को व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के हस्तक्षेप से मुक्त रखा गया है । भारत में न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है एक बार नियुक्त होने के बाद न्यायाधीशों को कार्यकाल की सुरक्षा प्रदान की गई है ताकि वे निर्भय होकर अपने न्याय दायित्व को पूरा कर सके । केवल दुराचार के आधार पर संसद महाभियोग द्वारा ही उन्हे हटा सकती है । जो एक कठिन प्रक्रिया है । न्यायाधीश भ्रष्ट न हो इसलिए उनके पर्याप्त वेतन की व्यवस्था की गई है । सर्वोच्च न्यायालय को अपनी कार्यप्रणाली नियमन हेतु नियम बनाने का अधिकार है । न्यायालय को कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण के अभाव में उसकी स्वतंत्रता को आघात पहुंच सकता है । अत: सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारी वर्ग पर पूर्ण नियंत्रण

प्राप्त है । सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय तथा कार्यो की आलोचना नहीं की जा सकती है । भारत में न्यायिक प्रक्रिया सुचारू बनाने हेतु न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाए रखने का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत ही किया गया है ।

15.6 सारांश (Summary)

इस इकाई के अन्तर्गत हमने भारतीय संविधान में उल्लेखित महत्वपूर्ण संरचनाओं को देखने का प्रयास किया है जिसके अन्तर्गत भारतीय संविधान सभा की रचना एवं भरतीय संविधान की विशेषताओं का आंकलन किया गया है। इसके साथ ही संविधान द्वारा भारतीय नागरिकों को कौन-कौन से मूल अधिकार दिए है उनकी विस्तृत चर्चा की गई है । संस्थात्मक संरचनाओं के अन्तर्गत भारत का संघात्मक ढांचा जिसके तहत एकात्मक तत्व तथा संघात्मक दोनों तत्वों का अध्ययन किया गया है। सरकारी दावा के तहत कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका की सरधना एवं कार्यप्रणाली की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की गई है । साथ ही तीनों अंगों में पारस्परिक संबंधों को देखने का प्रयास किया गया है। अन्त में राजनैतिक प्रक्रियाओं के बारे में बताया है। राजनीतिक प्रक्रियाएं निर्वाचन नीति निर्माण, न्यायिक तथा प्रशासनिक मामलों में सम्बधित होती है। इसके तहत इसने सार्वजनिक वयस्क मताधिकार चुनाव आयोग मतदान प्रणाली नीति निर्माण प्रक्रिया, कार्यपालिका तथा प्रशासन के बीच पारस्परिक सम्बन्धों एवं न्याय प्रणाली के बारे में संवैधानिक प्रावधान क्या ह? तथा वर्तमान में न्याय प्रक्रिया में न्यायिक सक्रिय वाद की बढ़ती प्रवृत्ति को जानने का प्रयास किया गया है। अत: इस इकाई के माध्यम से भारतीय संविधान एवं सरकार के ढांचे की विस्तृत जानकारी मिल पाएगी।

15.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. भारतीय संविधान मे दिए गए मूल अधिकारों की समीक्षा कीजिए।
3. भारतीय संघात्मक सरंचना पर एक लेख लिखिए ।
4. " भारत में राष्ट्रपति की शक्तियों का उल्लेख कीजिए।
5. विभिन्न राजनीतिक प्रक्रियाओं की समीक्षा कीजिए ।

15.8 संदर्भ ग्रन्थ

फाडिया, बी.एल.. भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य मदन पब्लिकेशन आगरा 2004

कौर, इन्द्रजीत : लोक प्रशासन, साहित्य मदन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स आगरा 2003

पाण्डेय, जी. एस.एस: भारत का संयिधान मैसर्स युनिवर्सिटी बुक हाउस लि. जयपुर 2004

पायली एम. वि: भारतीय संविधान एक परिचय विकास पब्लिशिंग हाउस प्राईवेट लिमिटेड 1997

कौशिक, सुशीला : भारतीय शासन एवं राजनीति, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविधालय

कौल एम. एन. एवं शकधर. संसदीय प्रणाली तथा व्यवहार मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी। नारायण इकबाल. भारतीय सरकार एवं राजनीति, राजस्थान हिन्दी मन्थ अकादमी, जयपुर

जोशी, आर. पी. वं आढा आर.एस. : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पुनर्रचना के बिबिध आयाम, रावत पब्लिकेशन जयपुर 2000

अवस्थी, अमरेश्वर एवं माहेश्वरी श्रीराम : लोकप्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा 2002

कश्यप सुभाष हमारी संसद 2002

कोठारी, रजनी, भारत में राजनीति

भारतीय दण्ड संहिता

ऑल इण्डिया रिर्पोट

इकाई-16

प्रजातंत्र ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज व्यवस्था(राजस्थान के विशेष सन्दर्भ मैं) गतिशील प्रजातंत्र, राष्ट्रीय एकता को चुनौतियां: क्षेत्रीयता एवम् साम्प्रदायिकता

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 प्रजातंत्र की परिभाषा

16.3 विशेषताएं

16.4 गतिशील प्रजातंत्र

16.5 राष्ट्रीय एकता की चुनौतियां

16.5.1 क्षेत्रीयता

16.5.2 क्षेत्रवाद के कारण

18.5.3 भारत में क्षेत्रवाद के विभिन्न रूप

16.5.4 सामुदायिक क्षेत्रवाद का भारतीय राजनीति पर प्रमाद

16.5.5 साम्प्रदायिकता के लिए उत्तरदायी तल

16.6 ग्रामीण विकास

16.7 राजस्थान का पंचायती राज अधिनियम 1994

16.7.1 अधिनियम के महत्वपूर्ण प्रावधान

16.8 सारांश

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.0 उद्देश्य (objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- जान सकेंगे कि प्रजातंत्र क्या है? एवं इसकी क्या समस्याएं हे?
- राष्ट्रीय एकता की चुनौती के रूप में क्षेत्रीयता का विश्लेषण करके उसके प्रभावों को विशेष रूप से समझ सकेंगे ।
- साम्प्रदायिकता के अर्थ, उसके कारको और प्रभावों को भारतीय सन्दर्भ में रेखाकिंत करने के योग्य हो जाएगें ।
- ग्रामीण विकास की अवधारणा के महत्व को जान सकेंगे ।
- राजस्थान में पंचायत राज प्रणाली की विशेषताओं से अवगत हो जायेंगे ।

16.1 प्रस्तावना (introduction)

इस इकाई में आपको प्रजातंत्र के अर्थ एवं गतिशील प्रजातंत्र की अवधारणा से अवगत कराया जाएगा । भाग 16.5 में राष्ट्रीय एकता की महत्वपूर्ण चुनौतियों यथा क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता की चर्चा की जाएगी ।इसी प्रकार भाग 16.6 में ग्रामीण विकास एवं अन्त में राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994 पर प्रकाश डाला जाएगा ।

16.2 परिभाषा (Definition)

प्रजातंत्र सरकार संचालन की एक महत्वपूर्ण प्रणाली है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की सरकार की गतिविधि में भागीदारी आवश्यक है प्रजातंत्र को निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया गया है : जनता की सरकार का वास्तविक अर्थ है, जनता की ओर से सरकार, जनता के द्वारा सरकार का अभिप्राय है. प्रतिनिधिमूलक सरकार तथा जनता के लिये सरकार का अभिप्राय है, जनहित के प्रति प्रतिबद्ध सरकार ।

प्रो. सीले के शब्दों में लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की सहभागिता होती है ।

जेम्स बाइस ने लोकतंत्र को एक ऐसी सरकार बताया है कि 'जिसमें योग्य नागरिकों के बहु मत की इच्छा का शासन होता है । चार्ल्स ईमेरियम ने लोकतन्त्र राजनीतिक समुदाय का एक ऐसा रूप है जिसमें राज्य की नीतियों का राजनीतिक नियन्त्रण और दिशा निर्देश समुदाय के बहु संख्यक भाग द्वारा किया जाता है ।

एफ.जे.हर्नशा के शब्दों में सामान्यतया लोकतान्त्रिक राज्य वह है जिसमें संप्रभुता समष्टि रूप से जनता मे हाथों में रहती है । इसमें जनता का शासन सम्बन्धी मामले पर अपना निर्णय होता है तथा जनता ही यह निश्चित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासन स्थापित किया जाये । राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र शासन की ही विधि नहीं है बल्कि यह सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियन्त्रण करने तथा उसे हटाने की भी विधि है । इसकी निम्न विशेषताएँ है

16.3 प्रजातंत्र की' विशेषताएं

(1) सभी व्यक्तियों की गरिमा समान रूप से आदरणीय है ।

(2) मनुष्य निरन्तर प्रयास से पूर्णता हासिल कर सकता है ।

(3) राज्य या सरकार को अपने द्वारा उपलब्ध सुविधाओं का न्यायपूर्ण 'ढंग से वितरित किया जाना ।

(4) सामाजिक नीति के विषय में कोई भी अंतिम निर्णय जनता के सहयोग से ही होना चाहिये ।

(5) मनुष्य में विद्यमान स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे स्व-शासन के लिये प्रेरित करती है ।

(6) लोकतन्त्र आम सहमति पर आधारित शासन है । इसी के समानान्तरण लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों के विचारों और दृष्टिकोणों को पर्याप्त महत्व दिया जाता है ।

(7) विवादों का निबटारा बल या शक्ति के प्रयोग से नहीं वरन् विचार विमर्श द्वारा किया जा सकता है । इस सन्दर्भ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा है कि - लोकतन्त्र शासन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति किसी मुद्दे पर विचार व्यक्त करने के लिये स्वतन्त्र है । वुल्फ के शब्दो में एक लोकतान्त्रिक समाज स्वतन्त्र, समान, सक्रिय और बुद्धिमान नागरिकों का समाज है. जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये जीवन का निर्धारण स्वत: करता है और अन्य को भी ऐसा ही करने की अनुमति देता है ।'

16.4 गतिशील प्रजातंत्र

गतिशील प्रजातंत्र से हमारा तात्पर्य शासन की उस व्यवस्था से है जिसमें समाज और परिस्थितियों के अनुरुप बदलाव होते है और प्रजातंत्र का सफल संचालन लगातार चलता रहता है, प्रजातंत्र के शास्त्रीय', स्वरूप से जिसमें प्रजातंत्र को जनता के लिये, जनता का और जनता द्वारा शासन की प्रमुख व्याख्या वाली सरकार व्यवस्था माना जाता है । उसे किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवस्था प्रभावित करती है, वही गतिशील प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था की सही व्याख्या है, इस क्रम में भारत की प्रजातान्त्रिक व्यावस्था को समझना बहुत आवश्यक है, जिसमें बदलाव हमारे अपने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधारों पर हुआ है, भारत में प्रजातंत्र की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है ।

भारत 15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्र हुआ और 26 जनवरी 1950 को यह एक गणतंत्र बना । स्वतन्त्र भारत की संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान 26 जनवरी 1950 से लागू हुआ जिसकी प्रस्तावना में भारत को 'सर्वप्रभुता सम्पन्न समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष. लोकतान्त्रिक गणराज्य' घोषित किया गया है । सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली को भारत में अपनाया गया है । संविधान के भाग 3 में नागरिकों को कतिपय मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं, जिनका उद्देश्य नागरिकों के अपने विकास का मार्ग प्रशस्त करना है । व्यवहार में भी नागरिक इन मूलभूत स्वतन्त्रताओं तथा अधिकारों का उपयोग करते रहे हैं । इन अधिकारों का किसी प्रकार से दुरूपयोग न हो, इसकी देखरेख करने मे सर्वोच्च न्यायालय ने सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया है । इस प्रकार यह माना जा सकता है कि संवैधानिक धरातल पर भारत सही अर्थो में एक लोकतान्त्रिक संविधान है ।

भारत में लोकतान्त्रिक प्रतिरूप पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था को कार्य करते हुए छ: दशक से अधिक समय बीत चुका है । इस कालखण्ड में भारत में पूर्णतया समयबद्ध आधार पर निर्वाचन होते रहे हैं । निर्वाचन का समयबद्ध एवं निष्पक्ष आयोजन इस बात का प्रतीक है कि भारत में लोकतंत्र का क्रियान्वयन ठीक से चल रहा है । कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर तो यह कहा ही जा सकता है । प्रत्येक चुनाव में भारतीय मतदाता पहले से कहीं अधिक संख्या में चुनाव में भागीदारी करते रहे हैं । इसीलिये मतदाता पूर्व चुनाव की तुलना में अधिक परिपक्व नजर आते रहे हैं ।

हाल के वर्षो में चुनाव प्रक्रिया में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के रक्षक के रूप में कार्य किया है । सन्दर्भ में एस.कौशिक ने 'भारत में लोकतंत्रीय पद्धति (आलेख) में कहा है कि

1987 में इसने एक दल के प्रभुत्व को हिला दिया, 1971 में इसने उन महत्वपूर्ण कदमों की पुष्टि की जो भारत में स्थायित्व तथा व्यवस्थित शासन के लिये आवश्यक थे । 1977 में इसने राजनीतिक अवस्था को तानाशाही तथा अति केन्द्रित शासन के पंजों से रचाया । 1 980 में इसने गुटवादी राजनीति को समाप्त किया । 1964 में स्थायित्व तथा राष्ट्रीय एकता के प्रति निष्ठा प्रकट की । इसी तरह की सोच 1989,1991, 1996, 1998,1999 और 2004 के आम चुनावों में दिखाई देता है ।

चुनावों में केवल धन ही नहीं वरन् हिंसा की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है । परिणाम स्वरूप भारत में राजनीतिक प्रकिया का निर्धारण आतंकवादियों और कमजोर राजनीतिज्ञों द्‌वारा किया जा रहा है । चुनावी राजनीति की बाध्यताओं ने राजनीतिक दलों, विशेष रूप से शासक दल को राजनीतिक दांवपेंच में माहिर कर दिया है । जिस तरह राजनेताओं ने जातिवाद, सामदायिकता को हवा दी है, अल्पसंख्यक को बढावा और मतदाताओं के गुमराह किया है, उसे लोकतंत्र के विरूद्ध ही माना जायेगा ।

लोकतन्त्र के सफल क्रियान्दयन के लिये राजनीतिक दलों की स्वस्थ भूमिका अनिवार्य ही नहीं वरन् अपरिहार्य है । आज भारत का शायद ही कोई राजनीतिक दल हो जो अपने सिद्धान्तों के प्रति जागरूक है । निर्वाचन के समय प्रकाशित घोषणा पत्रों का निर्वाचन के बाद शायद ही कोई महत्व रह जाता है ।

भारतीय लोकतंत्र आज जातिवाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद तथा भ्रष्टाचार की समस्याओं से सूझ रहा है । ये सभी प्रवृत्तियाँ भारतीय लोकतंत्र को कमजोर करने वाली है और एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में भारत के विकास में बाधक है । यह एक विडम्बना ही कही जायेगी कि जिन राजनीतिक दलों का कार्य लोकतंत्र में राष्ट्रीय हितों की साधना होता है वही राजनीतिक दल सत्ता प्राप्ति के लिये निरन्तर अपने वोट बैंक को विस्तृत करने में लगे हैं । प्रत्याशियों के चयन से लेकर मंत्रियों की नियुक्ति तक में जाति और समुदाय निर्धारक तब बन गये हैं ।

सामाजिक और आर्थिक रूप से भी भारतीय लोकतंत्र आशिक ही सफल हुआ है । भारत की जनसंख्या का एक बडा भाग आज भी गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहा है । बेरोजगारी की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही है । असमानता सम्भवत: भारतीय लोकतंत्र की सबसे बडी त्रासदी है । अत: सामान्यतौर पर निष्कर्ष स्वरूप यही कहेंगे कि भारत में अब तक जितनी भी पंचवर्षीय योजनाएं चलाई गई हैं उनका पूरा लाभ समाज के उन वर्गों तक नहीं पहुंचा है जो इनका लक्ष्य थी । स्व.राजीव गांधी (पूर्व प्रधानमंत्री) ने इस तथ्य को स्वीकार भी किया था । इसीलिये नागरिकों को प्राप्त मौलिक अधिकारों का कोई सार्थक महत्व नहीं निकल पाया है।

16.5 राष्ट्रीय एकता को चुनौतियां

भारत की राष्ट्रीय एकता को चुनौतियों के रूप में निम्न दो का उल्लेख विस्तार के साथ किया जा सकता है :

16.5.1 क्षेत्रीयता

भारत एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ अनेक जातियाँ और प्रजातियाँ निवास करती है जिनके अलग-अलग धर्म एवम् भाषाएं है जिनके आधार पर वो अपने को मानते है, और इसी कारण ये समूह अपने-अपने क्षेत्र विशेष के आर्थिक विकास में अधिक रूचि रखते है । दूसरी ओर ये अपनी सांस्कृतिक पहचान को भी कायम रखना चाहते है अतएव वे क्षेत्र के बाहर के लोगों को क्षेत्र में नही रहने देना चाहते, इसी मानसिकता के कारण भारत में क्षेत्रवाद का जन्म हुआ।

क्षेत्रीयता या क्षेत्रवाद की अवधारणा को समझने के लिये जानना होगा कि क्षेत्रवाद क्या है? यह एक बहुअर्थी शब्द है भौगोलिक दृष्टि से इसका अभिप्राय जिले के एक भाग या जिले या राज्य के एक भाग या पूरे राज्य से लिया जा सकता है । इसके अलावा सत्र का विशिष्ट तत्व अधिकतम समरूपता होती है जिसकी भाषा, सामाजिक संगठन, जनांकिकीय गठन, सांस्कृतिक प्रतिमान, आर्थिक जीवन, ऐतिहासिक अनुभव अथवा राजनीतिक पृष्ठभूमि हो सकती है ।

क्षेत्रवाद की अवधारणा को संकुचित और वृहत दोनों संदर्भों में देखा जाता है । संकुचित अर्थात् स्थानीय हितों के प्रति विशेष लगाव जबकि वृहत संदर्भों में देखा जाता है । संकुचित अर्थात् स्थानीय हितों के प्रति विशेष लगाव जबकि वृहत संदर्भ में इसका प्रयोग केन्द्र के प्रति आन्दोलन को इंगित करने के लिये किया जाता है । सामान्य रूप से क्षेत्रवाद को उग्र केन्द्रीयकरण के विरूद्ध प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । क्षेत्रीय आन्दोलन, भौगोलिक अलगाव, स्वतन्त्र ऐतिहासिक परम्परा प्रजातीय, जातीय अथवा धार्मिक विशिष्टता तथा स्थानीय हितों जैसे तलों या इनमें से दो या दो से अधिक मिश्रण का परिणाम होता है ।

16.5.2 क्षेत्रवाद के कारण

(i) क्षेत्रवाद विभिन्नता को जन्म देता है । राज्य पुनर्गठन आयोग द्वारा भाषायी आधार पर राज्य के पुनर्गठन के वादक अनेक क्षेत्रों मे अलगाव का मनोभाव बना हुआ है । महाराष्ट्र में विदर्भ या मराठवाड़ा, गुजरात में सौराष्ट्र, बिहार में झारखण्ड, मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ या उत्तरप्रदेश में बुन्देलखण्ड या उत्तराखण्ड. पश्चिम बंगाल में गोरखालैण्ड तथा जग कश्मीर में लद्दाख की मांग इसी मनोवृति का परिणाम है ।

(ii) भाषायी लगाव क्षेत्रवाद का एक और प्रमुख कारण है । 1948 में राज्य पुनर्गठन पर बिचार करने के निमित नियुक्त दर आयोग ने भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने के लिये बात कही थी । इसके बावजूद राजनीतिज्ञों ने अपने निजी हितों के चलते भाषायी बिलों को प्रश्रय देना जारी रखा । जल्दी ही इसका परिणाम सामने आया जब 1953 में तेलगू भाषी लोगों के लिये तत्कालीन मद्रास राज्य का भाग लेकर आन्धप्रदेश नामक नये राज्य की स्थापना हुई ।

(iii) राज्य के अलग-अलग भागों में आर्थिक विकास की असंतुलित स्थिति में भी क्षेत्रवाद के उदय का एक मुख्य कारण रही है । आन्धप्रदेश में तेलंगाना, महाराष्ट्र में पूर्वकाल में

शिवसेना द्वारा चलाया गया आन्दोलन, असम में ऑल असम स्ट्रडेण्ट यूनियन तथा आल आसम गण संग्राम परिषद् द्वारा चलाए गए आन्दोलन के पीछे यही कारण थे ।

(iv) सामाजिक अन्याय और पिछड़ापन क्षेत्रवाद के उदय के एक प्रमुख कारण है । विशेष रूप से जब इस पिछडेपन में आर्थिक पिछड़ापन भी मिल जाता है । विहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश के आदिवासियों द्वारा झारखण्ड तथा उत्तरप्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों की जनसंख्या द्वारा उत्तराखण्ड की मांग इसी श्रेणी के उदाहरण है ।

(v) क्षेत्रवाद में राजनीतिक कारण भी होते हैं । कभी-कभी स्थानीय तथा क्षेत्रीय राजनेता भी अपनी पृथक राजनीतिक पहचान बनाने के लिये इस तरह के आन्दोलन को प्रेरित करते हैं।

16.5.3 भारत में क्षेत्रवाद के विभिन्न रूप

क्षेत्रवाद के निम्न स्वरूप है:

(1) भाषायी क्षेत्रवाद या भाषायी आधार पर चलाए गये क्षेत्रीय आन्दोलन

स्वतन्त्रता के साथ ही यह अहसास होने लगा की देश में क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाएं जल्दी ही व्यवस्था को चुनौती देने वाली है । फिर भी राष्ट्रीय नेताओं में यह आम सहमति थी कि क्षेत्रवादी तनाव को शांत करना कठिन नहीं होगा । पचास के दशक के प्रारम्म में ही श्रीरमलू की दुःखद मृत्यु और 1953 में आन्ध्रप्रदेश की स्थापना के साथ ही भारत में भाषायी क्षेत्रवाद की शुरुआत हुई । भाषाई क्षेत्रवाद उस समय चरम पर पहुंच गया जब महाराष्ट्र राज्य की स्थापना के लिये पांचसौ से अधिक लोगों ने अपने प्राण दे दिए । यद्यपि जस्टिस फजल अली की अध्यक्षता में राज्य पुनर्गठन आयोग की संस्तुतियों के अनुरूप 1956 में भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया था, परन्तु इसके बावजूद अधिकांश बर्ग असंतुष्ट रहे । आयोग ने पृथक राज्य की सभी मांगों को निरस्त कर दिया । परिणामत: 1960 में बम्बई को विभाजित करके महाराष्ट्र और गुजरात की स्थापना की गई । असम को विभाजित करके 1962 में नागालैण्ड की स्थापना की गई । इसी प्रकार 1968 में हरियाणा और पंजाब पृथक हुए । 1972 में अरूणाचल प्रदेश और मिजोरम को केन्द्र शासित बनाया गया । 1987 में दोनों ही राज्य बन चुके थे ।

(2) संरक्षणात्मक या सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रवाद

भारत के विभिन्न भागों में क्षेत्रीय असंतुलन ने विशेष रूप से आर्थिक क्षेत्र में, भारत में संरक्षणात्मक या सामाजिक आर्थिक क्षेत्रवाद को जन्म दिया, सात के दशक में ही इसी के चलते भारत को विभिन्न भागों में भूमि पुत्र के सिद्धान्त के आधार पर आन्दोलन चलाए गये । इन आन्दोलनों के द्वारा क्षेत्र के मूल निवासियों के साथ विशेष व्यवहार की मांग की गई । शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय आदि के क्षेत्र में इन्हें प्राथमिकता देने की मांग की गई ।

(3) साम्प्रदायिक क्षेत्रवाद

यह क्षेत्रवाद का वह प्रकार है जिसमें क्षेत्रवादी आन्दोलन एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों द्वारा चलाए जाता है । इस श्रेणी के क्षेत्रवाद में भाषायी तत्त भी सहायक होता है, परन्तु इसके

बावजूद इन श्रेणी के तत्व पर हावी रहता है । अकाली दल द्वारा पंजाब में चलाया गया उग्रवादी आन्दोलन इसका एकमात्र उदाहरण है ।

16.5.4 भारतीय राजनीति पर प्रभाव

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की राजनीतिक व्यवस्था के व्यवहारिक विकास को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता राष्ट्र के समक्ष एक बडी आन्तरिक चुनौती है, केवल हमारे धर्म निरपेक्ष और संघीय व्यवस्था के क्रियान्वयन और स्थानीय दृष्टि से ही नहीं बरन् राष्ट्रीय जीवन और पहचान को निर्धारित करने वाले मौलिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी, कारण यह है कि साम्प्रदायिकता को स्वीकार करने का तात्पर्य यह है कि धर्म निरपेक्ष भारत के अस्तित्व को नकार देना और इस अर्थ में यह विभाजनकारी प्रवृति भारतीय राष्ट्र और समाज के समक्ष सबसे शक्तिशाली वास्तविक खतरा है । होना यह चाहिये था कि औद्योगिक विकास, शहरीकरण और शिक्षा के विकास से हमारे समाज में धर्मनिरपेक्ष शक्तियाँ अधिक सशक्त होती और धार्मिक कट्टरता में कमी आती परन्तु हुआ इसके बिल्कुल विपरीत ही स्वतन्त्रता के बाद से ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक शक्तियाँ बढ़ती गयी और स्थिति यहाँ तक पहुंच गयी है कि इसके द्वारा हमारी राज्य व्यवस्था के आधार पर प्रहार किया जा रहा है । इसका विकृत स्वरूप कहीं भी दिखाई दे जाता है । समकालीन भारत में सामदायिकता दो विशिष्ट कारणों से विस्फोटक रूप ले चुकी है एक तो यह कि अब सामदायिकता की मनोवृत्ति केवल शहरों तक ही सीमित नहीं रह गयी है, यह अब सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में भी तेजी से प्रसारित हो रही है । दूसरी बात यह है कि अब साम्प्रदायिकता क्रमश: जन आन्दोलन का रूप लेती जा रही है, इसे हम राम जन्म भूमि, बाबरी मस्जिद प्रकरण के रूप में देख सकते हैं ।

साम्प्रदायिकता का अर्थ क्या है? सामान्यतया साम्प्रदायिकता का अभिप्राय अपने विशिष्ठ सम्प्रदाय के हितों को राष्ट्र के हितों की तुलना में अधिक महत्व तथा प्राथमिकता देना या अन्य सम्प्रदाय के लोगों के प्रति दुर्भावना विकसित करना है । कमी-कभी भ्रमवश: साम्प्रदायिकता का अभिप्राय धर्म अथवा धार्मिक कट्टरता, अनुदारवाद या किसी सम्प्रदाय विशेष से आर्थिक निकटता का अहसास करने के अर्थ में भी किया जाता है । किसी धर्म अथवा धार्मिक व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्धता साम्प्रदायिकता नहीं है, परन्तु धर्म या धार्मिक व्यवस्था का निहित स्वार्थो के लिये दुरूपयोग साम्प्रदायिकता है, किसी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति विशेष लगाव अथवा धर्मरबद्धता साम्प्रदायिकता नहीं है, परन्तु एक धार्मिक सम्प्रदाय को अन्य धार्मिक सम्प्रदायों अथवा राष्ट्र के विरूद्ध प्रयोग करना साम्प्रदायिकता है, इस प्रकार साम्प्रदायिकता धर्म का अनुचित शोषण है । उसका उद्भव है अन्य सम्प्रदायों के वास्तविक अथवा काल्पनिक भय से होता है । यह आधुनिकीकरण और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की विपरीत प्रक्रिया है ।

16.5.5 साम्प्रदायिकता के लिए उत्तरदायी कारण

राजनीतिक स्तर पर साम्प्रदायिकता के लिये दो प्रमुख उदारवादी कारण राज्य और चुनावी प्रक्रिया भारतीय राज्य स्वतन्त्रता के पश्चात् जनमानस की आकांक्षाएं पूरा करने में

न्यूनाधिक रूप से असमर्थ होने के कारण वैधता के गंभीर संकट के दौर में है । इसी के साथ ही भारतीय राज्य संस्थागत व्यवस्था एवं इसको विनियमित करने वाले मानदण्डों को बरकरार रखने और आगे बढ़ाने में भी असफल रहा है । इस असफलता ने एक ओर नेताओं को राष्ट्रीय एकता को आर्थिक सांस्कृतिक और क्षेत्रीय एकता के संदर्भ में परिभाषित करने का अवसर दिया है और दूसरी ओर ऐसे नेतृत्व में आत्मरक्षा के लिये इस संस्थागत व्यवस्था जिसने सदैव व्यक्ति एवं राज्य के बीच एक मध्यवर्ती काम किया है की संरचना एवं क्रियाओं को कमजोर करने का प्रयास भी किया है।

परिणामस्वरूप, राज्य के मामलों को चलाने का एक व्यक्ति केन्द्रित ढंग अपनाया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि जनमानस में साम्प्रदायिक आवेगों के उभार के रूप में निकला है, निर्वाचन के लिये लाभबन्दी के निमित इस प्रवृति में निरन्तर बढ़ोतरी होती गई है. क्योंकि राजनेता अपने निर्वाचन मण्डलों को सफलतापूर्वक संजोकर नहीं रख पाये हैं । अत: सत्ता में बने रहने की अनिवार्यता में उन्हीं लोगों को अपने संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थों की परिपूर्णतः हेतु इतर संस्थागत तरीके अपनाने पर बाध्य कर दिया । ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिकता आसानी से पनपती हैं ।

इस सन्दर्भ में बिपिन बन्द ने अपनी पुस्तक कम्युनीलिज्म इन मार्डन इण्डिया 1987, में लिखा है आर्थिक धरातल पर स्वतन्त्र भारत की पूंजीवादी विकास प्रणाली ने दो प्रकार की साम्प्रदायिकता में वृद्धि की है पहला तो यह कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, तीव्र रूप से बढ़ती जनसंख्या की तुलना में काफी धीमी गीत से विकसित हुई है । परिणामत: गरीबी, बेरोजगारी और असमानता जैसी मूलभूत समस्याओं के समाधान इस अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं हो पाया है । इसके चलते अस्वस्थ प्रतियोगिता और निराशा की भावना को बढ़ावा मिला है, दूसरी यद्यपि कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में पूंजीवादी विकास प्रणाली ने आमदनी और खुशहाली को उत्पन्न किया है, परन्तु इसका वितरण असमान रहा है । इससे भी व्यापक पैमाने पर निराशा का जन्म हुआ है । इन दो कारणों के चलते एक ओर तो गरीबी और असमानता बढी और दूसरी ओर नये सामाजिक समूह भी प्रकट हुए जिससे शक्ति सम्बन्धों के नये समीकरण भी बने।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक रणधीर सिंह का कहना है कि भारत में पूंजीवाद का विकास विकृत ढंग से हुआ है । विकास की प्रक्रिया ने शुरू के ही कुछ वर्ष में अमीर गरीब के बीच में विकसित हो रही दूरी का अहसास करा दिया युवकों के लिये न तो रोजगार उपलब्ध है और न ही समाज के लिये कोई आदर्श या श्रेष्ठ दृष्टि । ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से धार्मिकता, पुनरूत्थानवाद, कट्टरबाद तथा साम्प्रदायिक विचारधारा को प्रश्रय मिला है ।

16.6 ग्रामीण विकास

ग्रामीण विकास एक बहुतआयामी गतिविधि है । यदि ग्रामीण विकास की वृहद अवधारणा को देखा जाये तो इसमें ग्रामीण लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार की बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है । विशेष रूप से उन लोगों के जीवन में सुधार की बात है जो गरीब एवम् कमजोर वर्गों से है । ग्रामीण विकास के प्रमुख मुद्दे जिनमें सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाओं के

लिये आधारभूत ढांचा तैयार करने की जरूरत है । इसमें स्कूल, स्वास्थ केन्द्र, मकान, सडकें, संचार व आवागमन के साधन, जल आपूर्ति, बाजार व्यवस्थाएं, पोषाहार, कृषि व उद्योग धंधे, पशुपालन, विद्युतीकरण आदि को लिया जा सकता है ।

ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाना और उनके विकास के क्रम को आत्मपोषित बनाना ही ग्रामीण विकास का प्रमुख लक्ष्य है । यह एक ऐसी व्यूह रचना है जो लोगों के एक विशिष्ट समूह के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने के लिये आवश्यक है । ग्रामीण विकास को उद्देश्य, प्रक्रिया एवं विधि के रूप में देखा जा सकता है ।

ग्रामीण क्षेत्र में विकास के लिये नीतियां एवं रणनीतियाँ बनाना इस कार्यक्रम का अहम् मुद्दा है:

- उपलब्ध भौतिक एवं मानवीय संसाधनों का पूरा-पूरा उपयोग करना ।
- ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों के लिये उच्च आय तथा बेहतर जीवनयापन की सुविधाएं जुटाना ।
- विकास प्रक्रिया में सभी तबकों की प्रभावी भागीदारी बढ़ाना ।

प्रक्रिया के रूप में ग्रामीण विकास

- ग्रामीणों के रहन-सहन में सुधार लाना - इसमें रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान, स्वच्छ
- पेयजल व सामाजिक सुविधाए सम्मिलित हैं ।
- ग्रामीण क्षेत्रों का संतुलित विकास करना तथा बढती हुई ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों की
- असमानताओं में कमी लाना ।
- ग्रामीण व्यवस्था में आर्थिक संसाधनों का संग्रहण तथा संस्थानिक ढांचे का निर्माण करना ।
- ग्रामीण विकास के लिए पर्यावरण संरक्षण एवं जनसंख्या नियंत्रण आदि को संभव बनाना ।

16.7 राजस्थान पंचायत राज अधिनियम 1994

भारत में पंचायती राज की स्थापना सन् 1957 में नियुक्त बलवन्त राय मेहता कमेटी की सिफारिशों के आधार पर की गई थी । राजस्थान इस अवस्था को स्थापित करने वाला अग्रणी राज्य था । उसके बाद लगभग भारत के सभी राज्यों में ग्रामीण विकास को गीत प्रदान करने हेतु पंचायती अवस्था स्थापित की लेकिन यह सारा प्रयोग आधे-अधूरे मन से किया गया। अफसर शाही का जबरदस्त दखल, वित्तीय संसाधनों की कमी, राजनीति की घुसपैठ तथा राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव आदि कारकों ने इस क्षेत्र में अकर्मण्यता की स्थिति उत्पन्न कर दी । सन् 1977 में पहली बार सत्ता में आई जनता पार्टी ने पंचायती राज व्यवस्था को इस दयनीय स्थिति से उबारने के लिये अशोक मेहता समिति गठित की जिसने इसमें प्राण फूंकने के लिये कुछ ठोस सुझाव दिये । लेकिन जनता पार्टी का राज चला गया और इस सम्बन्ध में कोई रचनात्मक प्रयत्न नहीं हो सका ।

पंचायती राज अवस्था को सुदृढ़ धरातल प्रदान करने का श्रेय स्वर्गीय राजीव गांधी को दिया जा सकता है जिसने अपने प्रधानमंत्री काल में इसे नया स्वरूप देने का निश्चित किया । प्रजातान्त्रिक संस्थाओं को सुदृढ़ करने तथा सत्ता की भागीदारी सुनिश्चित करने के उद्देश्य से संविधान संशोधक विधेयक 72, 73 पेश किया जो 1992 में पारित हुआ ।

16.7.1 अधिनियम के महत्वपूर्ण प्रावधान

1. **ग्राम सभा** ग्राम सभा को धारा 3 के आधार पर संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है । अनिवार्य रूप से वर्ष में दो बैठक बुलानी होगी । ये बैठकें वित्तीय वर्ष की पहली तिमाही अप्रेल से जून तथा वित्तीय वर्ष के अन्तिम तिमाही जनवरी से मार्च में बुलाना आवश्यक है। इस बैठक में 1/10 मतदाता होने आवश्यक है । इसमें आय व्यय, बजट प्रस्ताव, सार्वजनिक समस्याओं अदि पर चर्चा होगी इस प्रकार पंचायत पदाधिकारी जनता के प्रति उत्तरदायी होंगे ।
2. **पंचायत चुनाव** धारा 17 के अनुसार पंचायती राज संस्थाओं की चुनाव व्यवस्था नियंत्रित करने के लिये स्वतंत्र राज्य चुनाव आयोग स्थापित किया जायेगा, जिसके आयुक्त राज्यपाल द्वारा नियुक्त किये जायेंगे । पंचायती राज संस्थाओं का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित होगा । यदि किसी संस्था को समय पूर्व भंग कर दिया जाता है तो उसके चुनाव छः माह के भीतर करवाने होंगे । इसका सीधा प्रभाव यह पडा कि लम्बे समय तक इन संस्थाओं के चुनाव होते ही नहीं थे जो अब निश्चित रूप से होना आवश्यक हो जायेंगे ।
3. **चुनाव का तरीका** विधेयक की धारा 13,14 के अनुसार पंचायती राज संस्थाओं के समस्त सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे जनता के द्वारा चुने जायेंगे । इस अधिनियम से पूर्व जनता सरपंच तथा पंचों का निर्वाचन करती थी तथा पंच व सरपंच प्रधान का तथा प्रधान और सरपंच मिलकर जिला प्रमुख का । परन्तु अब मतदाताओं के द्वारा चार वोट डाले जायेंगे । 1 -वार्डपंच, 2- सरपंच, 3-पंचायत समिति के सदस्य, 4-जिला परिषद् के सदस्य । चुनाव समाप्त होने के पश्चात् प्रधान का निर्वाचन पंचायत समिति के सदस्य अपने में से करेंगे तथा प्रमुख जिला प्रमुख का निर्वाचन जिला परिषद् के सदस्य अपने में से करेंगे । विधायक व सांसद इन चुनावों में अपना मत नहीं दे सकेंगे । इस तरह से काफी हद तक चुनावों में बढ़ते धन के प्रयोग को रोका जा सकेगा ।
4. **आरक्षण** धारा 15 के अनुसार महिलाओं के लिये 1/3 इसी तरह से अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लिये और पिछड़े वर्गो के लिये निश्चित अनुपात में आरक्षण की व्यवस्था की गई । शिक्षित होना पहले आवश्यक था जिसे धारा 26 के अनुसार आवश्यक नहीं रखा गया है ।
5. **राज्य वित्त आयोग :** धारा 1 व 8 के अनुसार राज्य स्तर पर एक वित्त आयोग होगा । अध्यक्ष सदस्य एवं सचिव की नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा की जायेगी । यह आयोग राज्य सरकार एवं पंचायती राज संस्थाओं के बीच विभिन्न करो की आय के वितरण हेतु सिद्धान्त तय करेगा तथा पंचायती राज संस्थाओं को राज्य द्वारा दिये जाने वाले अनुदान को तय किया जायेगा । राज्यपाल इन सिफारिशों को क्रियान्दित हेतु विधानसभा में पेश करेगा ।
6. **अविश्वास प्रस्ताव** धारा 37 के अनुसार सरपंच प्रधान तथा जिला प्रमुख के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पद ग्रहण के दो वर्षो में नहीं रखा जा सकेगा । प्रस्ताव पेश करने के लिये व 73 सदस्यों का बहुमत आवश्यक होना तथा एक बार पेश किया गया प्रस्ताव यदि पारित

न हो तो पुनः ऐसा प्रस्ताव एक वर्ष बाद ही पेश किया जा सकता है । इससे अनावश्यक रूप से ऐसे निर्वाचित पदाधिकारियों के लिये समस्याएं सामने नहीं आयेगी ।

16.8 सारांश (Summary)

- प्रजातन्त्र की सरकार व्यवस्था का स्वरूप है, इसके अन्तर्गत नागरिकों के सरकार व्यवस्था में भाग लेने की व्यवस्था उल्लेखनीय है ।
- भारत में इस प्रयोग को चलते हुए लगभग 55 वर्ष हो गये है, इस बीच संविधान को अपनाना, चुनावों का नियमित समय पर सम्पन्न होना और उसमें आये दोष जिसमें धन बल और बाहु बल का अत्यधिक उपयोग इस प्रयोग का सीमाएं है ।
- क्षेत्रवाद, प्रजातान्त्रिक अवस्था का मुख्य दोष है, इसके विकसित होने से राजनीति विशेषकर प्रजातान्त्रिक राजनीति के संचालन में बाधा आती है ।
- साम्प्रदायिकता, भारतीय सन्दर्भ में प्रजातन्त्र ही, नहीं राजनीतिक प्रक्रियाओं को जटिल बनाती है, एक बहुलवादी समाज में इसके फलस्वरूप जटिलताएं बढ़ती है ।

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. निम्न लिखित शब्दों को पारिभाषित कीजिये:

   (1) प्रजातंत्र (2) साम्प्रदायिकता (3) गतिशील प्रजातंत्र (4) क्षेत्रीयता (5) ग्रामीणविकास
2. प्रजातंत्र की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिये तथा भारत में प्रजातंत्र की समस्याएं बतलाइये ।
3. भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या को स्पष्ट करते हुए उसके समाधान के तरीकों पर प्रकाश डालिये ।
4. क्षेत्रीयता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके भारत में प्रभावों पर टिप्पणी कीजिये ।
5. राजस्थान में पंचायत राज के नये अधिनियम की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिये ।

इकाई-17

राजस्थान एक परिचय

इकाई को रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 राज्य का इतिहास

17.3 राजस्थान का प्रशासनिक स्वरूप

17.4 राजस्थान के बोर्ड एवं निगम

17.5 राजस्थान की भौगोलिक स्थिति

17.5.1 प्राकृतिक दशाएं

17.5.2 जलवायु

17.5.3 मिट्टियां

17.5.4 प्रमुख नदियां एवं झीलें

17.5.5 प्रमुख पर्वत चोटियां

17.6 राजस्थान में वन संसाधन

17.6.1 अभयारण्य

17.7 राजस्थान में पशुधन

17.7.1 पशुओं पर आधारित उद्योग

17.8 राजस्थान में खनिज

17.8.1 राज्य में खनिज आधारित उद्योग

17.9 राजस्थान में उर्जा स्रोत

17.9.1 राज्य की प्रमुख विद्युत परियोजनाएं एवं विद्युत का उपयोग

17.10 राजस्थान में कृषि एवं सिंचाई परियोजनाएं

17.11 राजस्थान में मानवीय संसाधन

17.12 देश की अर्थ व्यवस्था में राजस्थान का स्थान

17.13 सारांश

17.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.0 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

- राजस्थान का शाब्दिक अर्थ एवं इतिहास एवं यहां के प्रशासनिक स्वरूप, भौगोलिक स्थिति के वारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- समझ सकेंगे कि वन संसाधन, पशुधन एवं खनिज कौन-कौन से हैं;

- प्रदेश के उर्जा स्रोत, कृषि एवं सिंचाई परियोजनाओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- राज्य के मानवीय संसाधनों एवं
- देश की अर्थव्यवस्था में राज्य के स्थान के बारे में अध्ययन करेंगे ।

17.1 प्रस्तावना (Introduction)

देश की अर्थव्यवस्था में, संस्कृति में, सभ्यता में राजस्थान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । यह अति प्राचीन राज्य है । यहां पर विभिन्न प्रकार की मिट्टियां. खनिज पदार्थ, भाषाएं एवं कृषि उत्पादन पाये जाते हैं । इस राज्य की अलग-अलग वेशभूषा एवं बोलियों के होने पर भी पूरे राज्य की संस्कृति में काफी एकरूपता है । राज्य के आधे से अधिक भाग में मरूस्थल है, कहीं पठार है और कहीं नदी एवं नहरों से सिंचाई होती है।

राजस्थान का शाब्दिक अर्थ राजधानी है । जोधपुर महाराजा भीमसिंह ने 1791 ई. में जयपुर नरेश को 'राजस्थाना" (राजधानियों) में एकता की इच्छा प्रकट करते हुए एक पत्र लिखा था । इससे यह प्रकट होता है कि यह शब्द बहुत पहले से प्रचलन में था । कर्नल जेम्स टॉड ने अपने ग्रन्थ 'एनाल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान" मे सर्वप्रथम इस शब्द को प्रदेश वाची अर्थ दिया । राजस्थान का अर्थ आरम्भ में राजा का स्थान था, किन्तु. अब इसका अर्थ स्थानों को राजा या श्रेष्ठ स्थान है ।

17.2 राज्य का इतिहास

राजस्थान की धरती पर मनुष्य के निवास 'का समय बहुत प्राचीन काल (लगभग एक लाख वर्ष पूर्व) से माना जाता है । रामायण एवं महाभारत जैसे प्राचीन ग्रन्थों में राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों के अनेक नाम मिलते है जो वहां पर शासन करने वाली जातियों और भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर रखे गए थे ।

पाषाण कालीन मानव के अवशेष बनास, गंभीरी, बेडच इत्यादि नदियों के किनारे मिले हैं । सिंधु घाटी सभ्यता से पहले एवं समकालीन विकसित सभ्यता के अवशेष आहड़ की सभ्यता एवं कालीबंगा से मिले हैं ।

ईसा की चौथी शताब्दी के आरम्भ में यहां पर गुप्त शासन से संबंधित स्थापत्य विशेषताएं विभिन्न क्षेत्रों के मंदिरों में मिली है । इसके बाद यहां पर हूणों का राज्य रहा ।

700 ई. से 1200 ई. तक के काल को यहां पर राजपूत काल कहा जाता है । इस समय में विभिन्न वंशों के राज्य स्थापित हुए । और इनकी स्थापना के साथ ही विदेशी आक्रमण प्रारम्म हुए । 740 ई. में सिंध के अरबों का, 1191 एवं 1192 में मोहम्मद गौरी का, इसके बाद दिल्ली के सुल्तानों के और इनके बाद मुगलों के आक्रमण होते रहे ।

राजस्थान में शान्ति एवं अवस्था की स्थापना रजवाडों के अंग्रेजों के साथ करारनामें करने के बाद हुई । यहां पर 1657 की क्रान्ति का असर भी रहा । राज्य के राजाओं से अंग्रेजों की संधियों के कारण सामन्तों के अधिकार खल होने से बे अंग्रेज विरोधी हो गए, इससे 1857 की क्रान्ति को बल मिला।

1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् राजस्थान में स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है-

(i) राजनैतिक चेतना और क्रान्तिकारी हलचल 1665 ई. से 1924 ई तक

(ii) जन आन्दोलन तथा राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना 1924 ई. से 1938 ई. तक

(iii) प्रजामंडल और स्वायत शासन की मांग 1933 ई. से 1959 तक ।

स्वतंत्रता से पूर्व राजस्थान में कुल 2, रियासतें, 2 खुद मुख्तियार ठिकाने और अजमेर मेरवाड़ा का ब्रिटिश क्षेत्र था ।

आधुनिक राजस्थान का उदय स्वर्गीय थी बल्लभ भाई पटेल के प्रयत्नों द्वारा छोटी-छोटी रियासतों के विलय से हुआ । इसका प्रारम्म 16 मार्च, 1948 से हुआ जब अलवर, भरतपुर, धौलपुरव करौली राज्यों एवं नीमराना की चीफ शिप ने मिलकर मत्स्य संघ बनाया यह प्रथम चरण था । दूसरे चरण में 25 मार्च, 1948 को बासवाडा, बून्दी, डूंगरपुर, झालावाड, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, किशनगढ तथा टोंक राज्यों ने मिलकर राजस्थान संघ बनाया । तीसरे चरण में 13 अप्रेल,1948 को राजस्थान संघ के साथ उदयपुर रियासत का विलय होने से संयुक्त (वृहद्) राजस्थान बना । चौथे चरण में 30 मार्च, 1949 को वृहद् राजस्थान के साथ जयपुर, जोधपुर, जैसलमेर एवं बीकानेर रियासतों का विलय हुआ और इसे राजस्थान नाम दिया गया। 15 मई, 1949 को राजस्थान के साथ मत्स्य संघ का विलय हुआ । अर्थात् चौथे चरण के साथ पहले चरण का विलय हुआ, यह पॉचवा चरण था । 23 जनवरी, 1950 को पांचवें चरण के राजस्थान के साथ सिरोही(आबू ब देलवाडा को छोड़कर) का विलय हुआ । यह छठवां चरण था । 1 नवम्बर, 1958 को छठे चरण के राजस्थान में अजमेर, आर देलवाडा व सुनेल टप्पा का विलय किया गया । और सिरोंज मध्यप्रदेश को दिया गया, यह अंतिम चरण था । इसके बाद वर्तमान राजस्थान बना ।

17.3 राजस्थान का प्रशासनिक स्वरूप

राजस्थान का एकीकरण 1 नवम्बर, 1958 को पूर्ण हुआ और वर्तमान समय में राजस्थान में 7 सम्भाग 33 जिले, 91 उपखण्ड एवं 241 तहसीलें हैं ।

राजस्थान में सम्भाग के अनुसार जिलों की स्थिति निम्न प्रकार से हैं-

1. जयपुर सम्भाग में -जयपुर,अलवर, सीकर, एवं झुन्झूनु जिले हैं ।
2. कोटा सम्भाग में -कोटा, बारां. बून्दी, झालावाड एवं करौली जिले हैं ।
3. उदयपुर सम्भाग में -उदयपुर. राजसमंद, चित्तोड़गढ़, प्रतापगढ़, बासवाडा एवं डूंगरपुर जिले हैं ।
4. जोधपुर सम्भाग में -जोधपुर, पाली, जालौर, सिरोही, बाडमेर एवं जैसलमेर जिले हैं ।
5. बीकानेर सम्भाग में -बीकानेर, गंगानगर, हनुमानगढ़ एवं चुरू जिले हैं ।
6. अजमेर सम्भाग में -अजमेर, टीक, नागौर, एवं भीलवाडा जिले हैं ।
7. भरतपुर सम्भाग में -भरतपुर, दौसा, धौलपुर एवं सवाई माधोपुर जिले हैं ।

17.4 राजस्थान के बोर्ड एवं निगम

राजस्थान में निम्नलिखित निगम एवं बोर्ड हैं, इनके नाम के साथ इनके मुख्यालय दर्शाये गये हैं-

1. राजस्थान वित्त निगम	जयपुर
2. राजस्थान राज्य पथ परिवहन निगम	जयपुर
3. राजस्थान राज्य बीज निगम	जयपुर
4. राजस्थान भूमि विकास निगम	जयपुर
5. राजस्थान पर्यटन विकास निगम	जयपुर
6. राजस्थान राज्य खान एवं खनिज विकास निगम	उदयपुर
7. राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान	अजमेर
8. राजस्थान राज्य कृषि विपणन बोर्ड	जयपुर
9. राजस्थान खादी ग्रामोद्योग बोर्ड	जयपुर
10. राजस्थान राज्य विद्युत मण्डल*	जयपुर
11. राजस्थान राजस्व मण्डल	अजमेर
12. राजस्थान राज्य पाठ्य पुस्तक मण्डल	जयपुर
13. राजस्थान राज्य डेयरी फैडरेशन लिमिटेड	जयपुर
14. राजस्थान लोक सेवा आयोग	अजमेर

* राजस्थान सरकार ने एक अधिसूचना जारी कर राजस्थान विद्युत मण्डल को पांच भागों मे विभाजित कर दिया है- 1. राजस्थान विद्युत उत्पादन निगम, 2. राजस्थान विद्युत प्रसारण निगम, 3. राजस्थान विद्युत वितरण निगम । राजस्थान विद्युत वितरण निगम के जयपुर, जोधपुर एवं अजमेर में मुख्यालय रखे गये हैं ।

17.5 राजस्थान की भौगोलिक स्थिति

राजस्थान भारत के उत्तर-पश्चिम में 23' 10' से 300 12' उत्तरी अक्षांशों एवं 89' 30' से 73. वा' पूर्वी देशान्तरों के बीच स्थित है । यह क्षेत्रफल के हिसार से देश का सबसे बडा राज्य है । इसका क्षेत्रफल 3,42,239 वर्ग किमी. है जो समस्त भारत के क्षेत्रफल का लगभग दसवां भाग (104 प्रतिशत) है । इसकी लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) 650 किमी. तथा चौड़ाई (दक्षिण-उत्तर) 764 कि. मी. है । राजस्थान देश के पांच राज्यों: उत्तर एवं उत्तर-पूर्व में पंजाब एवं हरियाणा. पूर्व में उत्तर प्रदेश -तथा दक्षिण-पूर्व में मध्य प्रदेश एवं दक्षिण-पश्चिम में गुजरात से घिरा हुआ है । और उत्तर-पश्चिम में पाकिस्तान के साथ लगभग 1070 कि.मी. अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा से जुडा हुआ है, जो भारत पाकिस्तान की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा बनाती है । 1991 की जनगणना के अनुसार राज्य की जनसंख्या 440 करोड थी,जो बढ़कर 2001 जनगणना के अनुसार 5.64 करोड हो गयी है । 1981-91 मै राज्य की जनसंख्या वृद्धि दर 28.40 प्रतिशत रही, और 1991-2001 में राज्य की जनसंख्या वृद्धि दर 28.33 प्रतिशत रही ।

17.5.1 प्राकृतिक दशाएं

प्राकृतिक दशाओं में प्राकृतिक दिमाग, जलवायु मिट्टी, वनस्पति, पशुधन, खनिज सम्पदा, नदियां एवं झीलें सम्मिलित की जाती है ।

प्राकृतिक विभाग

धरातल की रचना की दृष्टि से राज्य को बार प्राकृतिक भागों में बांटा जा सकता है:

1. **उतर-पश्चिम मरुस्थलीय भाग** राज्य के कुल क्षेत्र का लगभग 55 प्रतिशत भाग अरावली पर्वत , के पश्चिम में पाकिस्तान की सीमा तक फैला हुआ थार का रेगिस्तान हैं । बाडमेर, जैसलमेर, जोधपुर, नागौर, बीकानेर, चुरू एवं झुंन्जुनू जिले मरुस्थलीय भाग में तथा जालोर, पाली, सीकर, सिरोही, जयपुर एवं अजमेर अर्ध-मरूस्थली भाग में आते हैं, यहां गर्मी एवं सर्दी काफी अधिक पडती है । दिन-रात के ' तापमानों में काफी अन्तर पाया जाता है । यहां वर्षा बहुत कम होती है । कुओं में पानी काफी गहरा होता है । यहां का मुख्य पशु ऊँट होता है । वर्तमान समय में इंदिरा गांधी नहर गंग नहर, एवं भाखड़ा नहर । के कारण इस क्षेत्र के काफी बडे भू-भाग में पैदावार में काफी वृद्धि होने की सम्मावना है ।
2. **मध्य का पहाड़ी माग** अरावली पर्वत जो संसार के प्राचीनतम पर्वतों में से एक है, गुजरात राज्य के पालनपुर कस्बे' से लेकर दिल्ली तक फैला हुआ है । राजस्थान में दक्षिण से उत्तर-पूर्व के लगभग । 10 प्रतिशत भाग में फैला हुआ है । इस पर्वत का लगभग 55० किमी. भाग राजस्थान में पड़ता है । इसकी '_ सबसे उँची चोटी आबू में 1722 मीटर ऊँची गुरू-शिखर है ।
3. **'उतर-पूर्वी मैदानी भाग** राजस्थान में गंगा-यमुना, बनास एवं चम्बल नदी की घाटियों के कारण मैदानी भागों का निर्माण हुआ है । इनमें अलवर, भरतपुर, धौलपुर, सवाई माधोपुर, जयपुर, टोंक, चित्तौड़गढ़, उदयपुर, भीलवाडा, कोटा, बून्दी एवं झालावाड जिले आते हैं । राज्य के इस भाग में वर्षा अधिक होने से यह अत्यधिक उपजाऊ है । यह क्षेत्र प्रमुख औद्योगिक क्षेत्र एवं घना बसा हुआ है ।
4. **दक्षिण-पूर्वी पठार** राजस्थान के कुछ हिस्सों में विन्धाचल पर्वत के ऊँचे उठे हुए मुड़े भाग और मालवा के पठार हैं जो सवाई माधोपुर, भरतपुर. करौली. धौलपुर. झालावाड़, कोटा, बून्दी. भीलवाडा. बासवाडा, डूंगरपुर, चित्तौडगढ आदि जिलों में फैले हुए हैं । इस क्षेत्र में वाणिज्यिक फसलें एवं मूल्यवान : खनिज बहुतायत में पाये जाते हैं ।

17.5.2 जलवायु

राजस्थान की जलवायु शुष्क मरूस्थलीय है। यहां गर्मियों में अत्यधिक गर्मी तथा सर्दियों में अत्यधिक सर्दी पड़ती है । सर्दी में तापमान अनेक स्थानों पर शून्य और इससे भी कम (ऋणात्मक डिग्री) तक पहुँच जाता है। और गर्मियों में कई स्थानों पर तापमान 40. से 5०

सेन्टीग्रेड या इससे भी अधिक होता है । राजस्थान का रेगिस्तानी प्रदेश देश का सबसे गर्म प्रदेश माना जाता है । यहां पर वर्षा का वितरण अनिश्चित किस्म का रहता है।

1. शुष्क जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत जैसलमेर, बाडमेर का उत्तरी भाग, बीकानेर का पश्चिमी भाग, गंगानगर का दक्षिणी भाग तथा जोधपुर का पश्चिमी भाग आता है ।
2. अर्द्ध-शुक जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत गंगानगर, बीकानेर, जोधपुर, बाड़मेर जिले का पश्चिमी भाग तथा बुल. सीकर, झुन्झुनू नागौर, पाली व जालौर आता है ।
3. उप आंध्र जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत अलवर, जयपुर, अजमेर, झुन्झुनू पाली, सीकर ब जालौर जिले के पूर्वी भाग तथा ओक सिरोही ब भीलवाडा का उत्तरी-पश्चिमी भाग आता है ।
4. आर्द्र जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत भरतपुर, धौलपुर, कोटा, बून्दी, सवाई माधोपुर, दक्षिण-पूर्वी टोंक तथा उत्तरी चित्तौड़गढ़ जिले का क्षेत्र आता है ।
5. अति आर्द्र जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत दक्षिण-पूर्वी कोटा. झालावाड, बासवाडा जिले तथा उदयपुर जिले का दक्षिण-पश्चिमी भाग आता है ।

17.5.3 मिट्टीया

राजस्थान में अनेक प्रकार की मिट्टियां पायी जाती है, जो निम्न है-

1. **बलुई मिट्टी** राजस्थान के अधिकांश भागों में पायी जाती है । यह गंगानगर, बुल, बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर, बाड़मेर, सीकर, झुन्झुनू नागौर तथा जालौर जिलों में पायी जाती है । इसमें नमी अधिक समय तक नहीं रह पाती है । यह कम उपजाऊ होती है।
2. **भूरी रेतीली मिट्टी** बालू मिट्टी जैसी ही होती है, लेकिन उससे अधिक उपजाऊ होती है । यह भूरे रंग की होती है । यह पाली, सीकर, जोधपुर, बीकानेर, झुन्झुनू सिरोही आदि जिलों में पायी जाती है ।
3. **लाल मिट्टी** में लोहे की मात्रा अधिक पायी जाती है, इसमें मक्का की फसल अच्छी होती है । यह उदयपुर, बांरावाड़ा तथा डुंगरपुर जिलों में पायी जाती है ।
4. **लाल-पीली मिट्टी** में नमी अधिक रहती है, इसमें कपास, मूँगफली तथा फलों की खेती होती है । यह अजमेर. उदयपुर, भीलवाड़ा, सिरोही जिलों में पायी जाती है ।
5. **काली मिट्टी** कोटा, बून्दी एवं झालावाड़ा जिलों के पठारी क्षेत्रों में पायी जाती है । इसमें कपास की फसल पैदा होती है ।
6. **लाल-काली मिट्टी** डूंगरपुर, उदयपुर, बांसवाड़ा, भीलवाड़ा चित्तौड़गढ़ जिलों में पायी जाती है । यह मिट्टी सभी फसलों के लिए उपयुक्त होती है ।
7. **कछारी मिट्टी** अलवर, भरतपुर, धौलपुर, सवाई माधोपुर टोंक, दौसा आदि जिलों में पायी जाती है । यह मिट्टी उपजाऊ होती है ।

17.5.4 प्रमुख नदियां एवं झीलें-

राजस्थान की कुछ नदियां अरब सागर में एवं कुछ नदियां बंगाल की खाड़ी में गिरती है ।

अरबसागर में गिरने थाली नदियां हैं- लूनी, माही, सोम, जाखम, साबरमती. पश्चिमी बनास आदि । बंगाल की खाड़ी में गिरने वाली नदियां हैं- चम्बल. बनास. बेड़च, कोठारी, खारी, पार्वती, कालीसिंध, बाण गंगा आदि ।

प्रदेश में आन्तरिक जलप्रवाह की नदियां हैं- घग्घर, कान्तली, साबी, काकनेय, मन्था, पावटा आदि ।

राजस्थान में मीठे पानी की एवं खारे पानी की झीलें है । मीठे पानी की झीलें- जयसमन्द, राजसमन्द, पिछोला, सिलीसेढ़, आनासागर, कोलायत, पुष्कर, फतहसागर, बालसमन्द, उदयसागर, फॉयसागर, गैबसागर, नक्खी, नवलखा आदि । खारे पानी की झीलें- सांभर, डीडवाना, पचपदरा, लूणकरनसर आदि ।

17.5.5 प्रमुख पर्वत चोटियां

राजस्थान की सबसे ऊँची पर्वत चोटी गुरू शिखर (1727 मीटर) सिरोही में एवं सबसे नीची पर्वत चोटी बैराठ (704 मीटर) जयपुर में हैं एवं अन्य चोटियाँ है सेर (सिरोही), जरगा (उदयपुर), अचलगढ़ (सिरोही), रधुनाथगढ़ (सीकर), खो (जयपुर), तारागढ़ (अजमेर), बावाई (जयपुर), भैराच (अलबर) ।

17.6 राजस्थान का वन संसाधन

राजस्थान में 31,901,99 वर्ग कि.मी क्षेत्र में बन फैले हुए हैं । इसमें 17097.94 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में संरक्षित वन हैं जो कुल बन क्षेत्र का 53.60 प्रतिशत हिस्सा है । 11500 3 वर्ग कि.मी (३१ .05 प्रतिशत) क्षेत्र मे रिजर्व किया हुआ वन क्षेत्र है और 3303.92 वर्ग कि.मी. (10.35 प्रतिशत) क्षेत्र अवर्गीकृत वन क्षेत्र है ।

राज्य में वनों से निम्नलिखित मुख्य उपज प्राप्त ।होती है.. जलाने की लकडी, घास, बांस यह कागज बनाने के काम आता है । शहद और मोम भी प्राप्त किया जाता है । सानवान, सालर, बबूल से इमारती लकड़ी प्राप्त होती है । खेजड़ी. बबूल, ढाक, पीपल नीम आदि से गोंद प्राप्त होता है । तेन्दु पत्तों से बीड़ी बनाई जाती है । खस घास भी पैदा होती. है जो सुगन्धित पदार्थ तैयार करने काम आती ई । कत्था भी प्राप्त किय जाता है । आंवले का उत्पादन भी होता है इसकी छाल से चमड़ा साफ किया जाता है।

17.6.1 अभ्यारण्य

राजस्थान में तीन राष्ट्रीय उद्यान है'।

1. **रणथम्भौर वन्य जीव अभ्यारण्य. सवाई माधोपुर ।**
2. **केवलादेव घाना पक्षी बिहार' भरतपुर**

3. **राष्ट्रीय मरू उद्यान. जैसलमे**र।

राज्य में 21 वन्य जीव अभयारण्य हैं

1. सरिस्का अभयारण्य, अलवर 2. तालछापर अभयारण्य, चुरु 3. सीतामाता अभयारण्य, चित्तौड़गढ़, 4. कुम्भलगढ़ अभयारण्य,उदयपुर 5. दर्रा अभयारण्य,कोटा 6. वनविहार अभयारण्य, धौलपुर 7.जयसंभद अभयारण्य,उदयपुर 8. माउण्टआबू अभयारण्य,सिरोही 9. चम्बल अभयारण्य. कोटा 10.जवाहर सागर अभयारण्य,कोटा 11. नाहरगढ़ अभयारण्य, जयपुर 12. जमवारामगढ़ अभयारण्य, जयपुर 13. कैलादेवी अभयारण्य, करौली 14. रामगढ़ विषधारी अभयारण्य,बून्दी 15. फुलवाड़ी की नाल अभयारण्य, उदयपुर, 16. भैंसरोड़गढ़ अभयारण्य, चित्तौड़गढ़ 17. सज्जनगढ़ अभयारण्य, उदयपुर 18. शेरगढ़ अभयारण्य, बारां 19. बन्ध वारेठा अभयारण्य, भरतपुर 20. टाटगढ़ रावली अभयारण्य, अजमेर 21. सवाई मानसिंह अभयारण्य, सवाई माधोपुर ।

राजस्थान में दो टाईगर प्रोजक्ट हैं

1. सरिस्का वन्य जीव अभयारण्य, अलवर

2. रणथम्भौर वन्य जीव अभयारण्य.

17.7 राजस्थान में पशुधन

राज्य में निम्न पशुओं की कई नस्लें पायी जाती हैं-

गाय - हरियाणवी, मालवी, राठी, नागौरी, कांकरेजी, थारपारकर, गिर, सांचौरी मेवाती, रथ ।

भैंस - मुर्राह, देशी, किरन ।

बकरी - जमनापारी, बड़वारी, अलवरी, लोही, सिरोही, झरवाड़ी ।

भेड़ - मारवाड़ी, नाली, मगरा, शेखावाटी, जैसलमेरी, मालपुरी, पूगल, बागड़ी ।

राज्य में चार भेंड़ प्रजनन अनुसंधान केन्द्र फतेहपुर (सीकर), मालपुरा (टोंक), अम्बिका नगर (टोंक) एवं शाहपुरा में हैं ।

राजस्थान में पशुओं पर आधारित उद्योग

1. दुग्ध व्यवसाय पूरे राजस्थान में फैला हुआ हैं ।
2. ऊन व्यवसाय मुख्य रुप से जैसलमेर, बाड़मेर, जोधपुर, पाली, सीकर, चूरु, जयपुर में सक्रिय है ।
3. मुर्गी पालन उदयपुर, अलवर एंव बीकानेर में स्थापित है ।
4. चमड़ा उद्योग अधिकांशत: जोधपुर, जयपुर, टोंक एंव बीकानेर में स्थापित है ।

राजस्थान पशुधन की दृष्टि से सम्पन्न है । राज्य के मरुस्थलीय माग में पानी की कमी के कारण फसल कम पैदा होती है अत: पशुपालन करना ही यहां का जीविकोपार्जन का मुख्य साधन है । राजस्थान में देश के पशुधन का 7 प्रतिशत तथा भेंड़ो का 30 प्रतिशत भाग पाया जाता है । राज्य में 1992 की पशुगणना के अनुसार पशुओं की संख्या 4.84 करोड़ थी, जिसमें गोधन 1.16 करोड, भैंसे एवं भैंस 77.75 लाख, भेड़े 1.24 करोड़, बकरे- बकरीयां 1.52 करोड़,ऊँट 7.46 लाख, तथा अन्य 7 लाख थी ।

17.8 राजस्थान में खनिज

राजस्थान को खनिजों का अजायबघर कहा जाता है । यह खनिज सम्पदा की दृष्टि से सम्पन्न है । यहॉ पर धात्विक खनिजों में लोहा. तांबा, जस्ता चांदी टगंस्टन, मैंगनीज आदि गैर धात्विक खनिजों में जिप्सम, सगंमरमर, अभ्रक, चूने का पत्थर, वैराइट्स. फैल्सपार, घीया पत्थर, रॉक फास्फेट आदि एंव आग्नेय खनिजों में पेट्रोलियम, कोयला, लिग्नाईट आदि पाये जाते है ।

स्वतत्रंता प्राप्ति के समय राज्य में केवल 17 प्रकार के खनिजों का दोहन होता था, अब इनकी सख्या बढ़कर 66 हो गयी हैं । भारत में राजस्थान ही एक ऐसा राज्य है जो पन्ना (एमरेल्ड), तामड़ा (गार्नेट), बालेस्टोनाईट, जास्पर का उत्पादन करता है और जिप्सम, एस्बेस्टॉस, सोप स्टोन, रॉक फॉस्फेट, केल्साईट, फेल्स्पार, सीसा, ताम्बा. मार्बल,एवं विभिन्न रंग के अन्य इमारती पत्थरों के उत्पादन में प्रथम स्थान पर हैं।

देश के कुल खनिज उत्पादन में राजस्थान का भाग निम्न प्रकार है -

जिप्सम-93 प्रतिशत, घीया पत्थर-90 प्रतिशत, जास्पर-100 प्रतिशत, फेल्सपार-70 प्रतिशत, चूने का पत्थर- 13 प्रतिशत, अभ्रक-22 प्रतिशत और इमारती पत्थर-37 प्रतिशत है ।

राज्य में प्रमुखखनिज आधारित उद्योग

सीमेंट उद्योग - उदयपुर, ब्यावर, चित्तौड़गढ़, मोड़क, सवाईमाधोपुर, निम्बाहेड़ा सिरोही, कोटा।

सफेद सीमेंट - गोटन।

नमक उद्योग - साभंर, डीडवाना, पंचपदरा ।

सगंमरमर उद्योग- मकराना, चित्तौड़गढ़, सिरोही, उदयपुर, जयपुर, किशनगढ़ ।

पत्थर उद्योग - कोटा, रामगंज मण्डी, चित्तौड़गढ़, उदयपुर ।

17.9 राजस्थान के ऊर्जा स्रोत

राजस्थान में परम्परागत उर्जा स्रोत कोयला, लकडी, गोबर, वनस्पति, अवशिष्ट, विद्युत, खनिज तेल आदि है और गैर परम्परागत स्रोत अणु शक्ति, पवन चक्की, सौर ऊर्जा. भूगर्भीय ऊर्जा, प्रकृतिक गैस, गौबर गैस आदि ।

17.9.1 राज्य की प्रमुख विद्युत परियोजनायें

(i)	राजस्थान परमाणु विद्युत गृह	-	470.00 मेगावाट
(ii)	कोटा थर्मल विद्युत संयंत्र (प्रथम चरण)	-	220.00 मेगावाट
(iii)	कोटा थर्मल विद्युत संयंत्र (द्वितीय एवं तृतीय चरण)	-	630.00 मेगावाट
(iv)	भांखरा नांगल परियोजना	-	205.47 मेगावाट
(v)	चम्बल परियोजना	-	386.00 मेगावाट
(vi)	सिगंरौली सुपर थर्मल पावर स्टेशन	-	307.00 मेगावाट
(vii)	सतपुडा ताप विद्युत गृह	-	125.00 मेगावाट

(viii)	व्यास परियोजना	-	150.00 मेगावाट
(ix)	माहीपन विद्युत परियोजना	-	140.00 मेगावाट
(x)	रिहन्द परियोजना	-	95.00 मेगावाट
(xi)	नरोरा परियोजना	-	45.00 मेगावाट

राजस्थान में विद्युत का उपभोग निम्न प्रकार है -

1.	औद्योगिक एंव रेलवे	-	46.30 प्रतिशत
2.	कृषि कार्य	-	32.00 प्रतिशत
3.	घरेलू उपभोग	-	11.20 प्रतिशत
4.	वाणिज्यिक	-	5.40 प्रतिशत
5.	सार्वजनिक जल प्रदाय	-	4.48 प्रतिशत
6.	रोड़ लाईट	-	0.62 प्रतिशत
	कुल	=	100.00 प्रतिशत

प्रदेश मे बिजली उपलब्धि का रिकार्ड बेहतर है । 1997-98 के दौरान बिजली की कुल मांग और वास्तविक उपलब्धि के बीच अन्तर मात्र 0.9 प्रतिशत रहा । पर बिजली के बाहुल्य वाले कुछ राज्यों को छोड़कर राजस्थान में विद्युत की यह उपलब्धता देश के कई राज्यों के मुकाबले बेहतर है । मध्य प्रदेश में यह अन्तर 17 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 25 प्रतिशत, गुजरात में 6.4 प्रतिशत, कर्नाटक में 27.5 प्रतिशत, आंध्र प्रदेश मे11 प्रतिशत, तमिलनाडु में 19 प्रतिशत, रहा । ज्ञातव्य है कि राजस्थान में 1996-97 में विद्युत की उच्चतम मांग व उपलब्धि में 5.6 प्रतिशत का अंतर था । 1997-98 में राज्य विद्युत मण्डल ने 1495 करोड़ यूनिट की आपूर्ति की, जो 1996-97 में 1390 करोड़ यूनिट की आपूर्ति से साढ़े सात प्रतिशत अधिक थी ।

17.10 राजस्थान मे कृषि एवं सिचाई परियोजनाएं

राजस्थान में दोनों तरह की फसल पैदा की जाती हैं- 1. खाद्यान्न फसलें : गेहुँ जो, बाजरा. मक्का, जार, चना, चावल, तूर, आदि । 2. वाणिज्यिक फसलें राई, सरसों, मूँगफली, अलसी, अरण्डी, सन्न, गन्ना, कपास, हल्दी, धनिया, आलू अफीम आदि

राज्य में मुख्य फल आम, अनार, सतंरा, नींबू चीकू माल्टा, नाशपती, पपीता, अन्जीर, खरबूजा, केला, अमरुद, अगुंर आदि पैदा होते हैं ।

राज्य में दोनों यांत्रिक कृषि फार्म हैं- 1. सूरतगढ यांत्रिक .फार्म (गंगानगर) एंव 2. जैतसर यांत्रिक फार्म (बीकानेर) । ये दोनों ही. कृषि फार्म रुस के सहयोग से स्थापित किये गये हैं ।

राज्य में कृषि पर आधारित प्रमुख उद्योग निम्न लिखित है -1 सूती कपड़ा उद्योग 2. चीनी उद्योग 3. वनस्पति घी उद्योग 4. खादी उद्योग 5. रेशम उद्योग 6. साबुन उद्योग 7. अचार मुरब्बा उद्योग ।

राजस्थान में सिंचाई के साधन - 1.कुएं एंव नलकूप से 63 प्रतिशत 2. तालाब से 3.75 प्रतिशत 3. नहरें 33.25 प्रतिशत आवश्यकता की पूर्ति करती हैं ।

मुख्य नहरे - 1. गंग नहर, लम्बाई-137 कि.मी., सिंचित क्षेत्र-1.5 लाख हैक्टेयर 2. गंग नहर लिकं चेनल, लम्बाई-80 कि.मी. 3. भरतपुर नहर, लम्बाई-28 कि.मी., सिंचित क्षेत्र-8.5 हजार हैक्टेयर 4. गुड़गावां नहर, लम्बाई-58 कि.मी., सिंचित क्षेत्र-28.2 हजार हैक्टेयर ।

राज्य की बहुउद्देश्यीय परियोजनाएं

1. तरल परियोजना, चम्बल नदी पर, 47.8 हजार हैक्टेयर सिंचित क्षेत्र ।
2. जवाई परियोजना, जवाई नदी पर, 41.0 हजार हैक्टेयर सिंचित क्षेत्र ।
3. माही परियोजना, जाखम नदी पर. 8.8 लाख हैक्टेयर (कुल)राजस्थान, गुजरात ।
4. जाखम परियोजना,जाखम नदी पर, 23.5 हजार हैक्टेयर ।
5. भाखरा नागंल परियोजना, सतलज नदी पर, 2.3 लाख हैक्टेयर ।
6. बीसलपुर परियोजना, बनास नदी पर 49.9 हजार हैक्टेयर ।
7. व्यास परियोजना, व्यास नदी पर, 21 लाख हैक्टेयर (कुल) राजस्थान हरियाणा. पंजाब।
8. इंदिरा गांधी नहर परियोजना. हीरके बैराज से उद्‌गम, मुख्य नहर की लम्बाई 634 कि.मी कृषि योग्य सिंचित क्षेत्र 15.79 लाख हैक्टेयर ।

राज्य देश में खाद्‌यान्न उत्पादन की दृष्टि से नौवें स्थान से ऊपर उठकर छठे स्थान पर आ गया है । खाद्‌यान्न का वार्षिक औसत उत्पादन सातवीं पंचवर्षीय योजना में 75 लाख टन से बढ़कर आठवीं योजना में 105 लाख टन हो गया । तिलहन उत्पादन दो गुने से भी अधिक । सरसों उत्पादन में प्रथम स्थान पर, तिल व सोयाबीन के उत्पादन में द्‌वितीय स्थान पर बताया गया । भारत में प्रति हैक्टेयर पर उत्पादन 1500 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर हैं, राजस्थान में यह 600 कि.ग्रा. से 1000 कि.ग्रा. के बीच है, राष्ट्रीय औसत से भी कम ।

17.11 राजस्थान में मानवीय संसाधन

राजस्थान में 1901 मैं जनगणना विभाग की स्थापना की गयी थी, तब से ही जनगणना व्यवस्थित व नियमित रुप से की जा रही है । यहां पर प्रति दस वर्ष के बाद जनगणना होती है । पिछली जनगणना 2001 में सम्पन हुयी, 2001 की जनगणना के अनुसार राजस्थान का जनसख्या की दृष्टि से देश में आठवां (8) स्थान है । जबकि क्षेत्रफल की दृष्टि से यह प्रथम स्थान पर है । यहां की जनसंख्या 5.64 करोड़ है । यह देश की कुल जनसंख्या का 5.50 प्रतिशत है । राज्य में 1981-91के दशक में जनसंख्या वृद्धि दर 28.44 रही जो 1991-2001 के दशक में 28.33 हो गयी है । इससे यह प्रतीत होता है कि जनसंख्या वृद्धि में बहुत कम गिरावट रही । 1991 में प्रति 1000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 910 थी जो बढ़कर 2001 में 922 हो गयी है । इससे यह स्पष्ट होता है कि राज्य में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या पहले की तुलना में बढ़ी है ।

राज्य में जनसंख्या घनत्व 1981 में प्रतिवर्ग किलोमीटर 100 व्यक्ति था जो 1991 में बढ़कर 129 हो गया, और 2001 में 165 हो गया । राज्य में कुल 61.03 प्रतिशत व्यक्ति शिक्षित हैं । 1991 में केवल बिहार ही साक्षरता में राजस्थान से पिछड़ा हुआ था । लेकिन 2001 में राजस्थान ने जम्मू व कश्मीर (54.46), उत्तर प्रदेश (57. 36), बिहार (47.53), अरुणाचल प्रदेश (54.74), झारखण्ड (54.13), एंव दादरा एवं नगर हवेली (60.03) को पीछे छोड़कर देश के अन्य क्षेत्रो में अपने स्थान क्रम में सुधार किया है । देश की औसत साक्षरता दर 65.38 प्रतिशत की तुलना में पीछे है । राज्य में पुरुष साक्षरता दर 76.46 प्रतिशत है, जो अखिल भारतीय साक्षरता दर 75.85 से अधिक है । राज्य के लिए यह सुखद स्थिति है । महिला साक्षरता दर 44.34 प्रतिशत है ।

राज्य की कुल जनसंख्या का 22.88 प्रतिशत भाग नगरों में निवास करता है, देश में इसका स्थान 12वां है । राज्य में अनुचित जाति के 76.07 लाख व्यक्ति निवास करते हैं जो राज्य की कुल जनसंख्या का 17.29 प्रतिशत है, और अनुसूचित जन-जाति के 54.74 लाख व्यक्ति निवास करते हैं जो कुल जनसंख्या का 12.44 प्रतिशत है । राज्य में जन्म दर (प्रति हजार) 9.1, मृत्यु दर (प्रति हजार) 32.2 एवं शिशु मृत्यु दर (प्रति 1000 बच्चों पर) 85 (1995 मे) है ।

17.12 देश की अर्थव्यवस्था में राजस्थान का स्थान

क्रमसंख्या	विवरण	भारत	राजस्थान
1.	कुल जनसंख्या		
	व्यक्ति	1,028,610,328	56,507,188
	पुरुष	532,156,772	29,420,011
	स्त्रियां	496,453,556	27,087,177
2.	दशकीय वृद्धि दर		
	1981-1991	23.86	28.44
	1991-2001	21.34	28.41
3.	स्त्री-पुरुष अनुपात		
	1991	927	910
	2001	933	921
	0-6 आयु समूह	2001	927 909
4.	जनसंख्या घनत्व (व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर)		
	1991	267	129
	2001	324	165
5.	साक्षरता दर		

	व्यक्ति	64.8	60.4
	पुरुष	75.3	75.7
	स्त्रियां	53.7	43.9
6.	परिवार का औसत आकार	5.3	6.1
7.	कुल जनसंख्या में प्रतिशत		
	अनुसूचित जाती	16.2	17.2
	अनुसूचित जनजाति	8.2	12.6

स्रोत: भारत की जनगणना-2001

17.13 सारांश (Summary)

राजस्थान का शाब्दिक अर्थ राजा का स्थान है । यहां पर बहुत प्राचीन काल से ही मनुष्य का निवास रहा है । रामायण एवं महाभारत जैस प्राचीन ग्रन्थों में भी यहां के विभिन्न क्षेत्रों के नाम मिलते हैं । इसका अर्थ है कि उस समय में भी ये क्षेत्र विकसित थे और अपना महत्व रखते थे । प्रदेश में कई स्थानों पर पाषाण कालीन, सिन्धु सभ्यता से पूर्व के एवं उसके समकालीन अवशेष मिले हैं । गुप्त कालीन सभ्यता के अवशेष भी मिले हैं । 700 ई. से यहां राजपूत काल का प्रारम्भ होता है जो देश की स्वतंत्रता तक कायम रहा । राजपूत काल में यहां पर विदेशी आक्रमण व मुगलों के आक्रमण भी होते रहे हैं । अंग्रेजों के शासन का प्रभाव भी यहां रहा, उनकी यहां के रजवाड़ों से संधियां होती रही । 1857 की क्रान्ति का एवं देश के स्वतंत्रता आन्दोलन का प्रभाव भी राज्य में रहा । और राज्य की जनता ने इस आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ।

स्व. सरदार बल्लभ भाई पटेल के प्रयासों से देशी रियासतों का एकीकरण करके राजस्थान प्रान्त की स्थापना की गयी । इस राज्य को छः सम्भागों में बांटा गया है यहां 32 जिले, 91 उपखण्ड एवं 241 तहसीले हैं । यह राज्य देश के पांच राज्यों से घिरा हुआ है और पाकिस्तान के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा से जुड़ा हुआ है । इसे चार प्राकृतिक भागों में बांटा जा सकता है । यहां की जलवायु शुक मरूस्थलीय है । यहां पर विभिन्न प्रकार की मिट्टियां पायी जाती है । यहां पर कुछ लगातार बहने बाली नदियां एवं कुछ वर्षा के मौसम में बहने वाली नदियां है । राज्य में अधिकांश मीठे पानी की एवं तीन खारे पानी की झीलें हैं । खारे पानी की झीलों से नमक पैदा किया जाता है । यहां की प्रमुख पर्वत चोटी माउण्ट आबू में गुरू शिखर है जो 1727 मीटर ऊँची है ।

राजस्थान में 32 हजार वर्ग कि.मी. क्षेत्र में वन फैले हुए हैं यहां के वनों से कई मुख्य उपज प्राप्त होती है इनमें इमारती लकडी, जलाने की लकड़ी, शहद, मोम एवं औषधीय जडी-बूटीया भी प्राप्त की जाती है । यहां वन्य जीव अभ्यारण भी हैं जिनमें पशु निर्भीकता से विचरण करते हैं ।

राजस्थान में कई प्रकार के पशु पाये जाते हैं और इन पशुओं पर आधारित उद्योग भी पूरे प्रान्त में फैले हुए है जो यहां के लोगों की जीविका के प्रमुख साधन हैं । राजस्थान का देश में खनिजों के मामले मे प्रमुख स्थान है । यहां पर धात्विक एवं गैर-धात्विक दोनों ही प्रकार के

खनिज प्रचुरता सें पाये जाते हैं । इन खनिजों पर आधारित उद्योग यहां के व्यक्तियों की जीविका के प्रमुख साधन हैं ।

यहां पर कई विद्युत परियोजनाएं भी है जो राज्य की विद्युत मांग को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । राज्य में कृषि एवं सिंचाई परियोजनाओं के द्वारा खाद्य उत्पादन में बढ़ोतरी की जाती रही है और वर्तमान समय में राजस्थान देश में खाद्यान्न उत्पादन की दृष्टि से नौवे स्थान से ऊपर उठकर छठे स्थान पर आ गया है ।

राज्य में 2001 की जनगणना के अनुसार 5.64 करोड़ व्यक्ति निवास करते हैं । यहां 165 व्यक्ति प्रति वर्ग कि.मी. क्षेत्र में निवास करते हैं और प्रति 1000 पुरुषों के पीछे 922 महिलाएं है । शिक्षा के क्षेत्र में देश का उन्नीसवां स्थान है । राज्य की 22.88 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करती है । यहां पर 12 विश्वविद्यालय, 174 राजकीय महाविद्यालय, 384 प्रोफेशनल महाविद्यालय, 194 अन्य कॉलेज हैं । वर्तमान में यह भी सम्भावना प्रबल है कि यहां पर आई आई टी भी खुल सकता है । तीन वर्ष पूर्व उच्च शिक्षा में राज्य 10 वे स्थान पर था आज दूसरे स्थान पर है, प्रथम स्थान पर कर्नाटक है । राज्य सरकार उच्च शिक्षा में गुणवत्ता और विस्तार पर जोर दे रही है । नए साल में राज्य की उच्च शिक्षा एज्यूकेशन ट्यूरिज्म पर फोकस होगी । एज्यूकेशन ट्यूरिज्म प्रोग्राम के तहत देश-विदेश के छात्र स्कॉलरशिप लेकर ग्रुप में किसी रिसर्च प्रोजेक्ट को पूरा करने के लिए विभिन्न स्थानों की यात्राएं करते हैं और विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेते हैं । आशा की जाती है कि इस प्रोग्राम के तहत राज्य के विश्वविद्यालयों में विदेशी छात्रों की संख्याएं बढ़ेगी ।

17.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए ।

1. राजस्थान की भौगोलिक स्थिति के बारे में बताइए ।
2. राजस्थान में 2001 की जनगणना के आधार पर मानवीय संसाधनों का वर्णन कीजिए ।
3. राज्य की कृषि एवं सिंचाई परियोजनाओं की विस्तृत व्याख्या कीजिए ।
4. राजस्थान के वन संसाधनों की व्याख्या कीजिए ।
5. राज्य में पाये जाने वाले खनिजों की विवेचना कीजिए ।
6. राज्य के पशुधन की विवेचना कीजिए ।

इकाई -18

जनांकिकी

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 जनांकिकी की परिभाषा, अवधारणा एवं विकास
18.3 भारत में जनसंख्या संरचना
18.3.1 जनसंख्या वृद्धि
18.4 जन्म दर
18.5 मृत्यु दर
18.6 जनसंख्या घनत्व
18.7 लिंग अनुपात
18.8 साक्षरता अनुपात
18.9 नगरीकरण
18.10 सारांश
18.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
18.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

18.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पायेंगे कि-

- जनांकिकी किसे कहते हैं एवं इसका विकास कैसे हु आ?
- भारत में जनांकिकी से सम्बन्धित आँकड़े क्या हैं?
- भारत में एवं राजस्थान में जनसंख्या वृद्धि, जन्म दर, मृत्यु दर, लिंग अनुपात, जनसंख्या घनत्व एवं शैक्षिक स्थिति कैसी है; एवं
- सामाजिक स्थिति एवं परंपराओं ने हमारी जनसंख्या वृद्धि व आर्थिक विकास को कहाँ तक प्रभावित किया है।

18.1 प्रस्तावना (Introduction)

किसी भी देश का सामाजिक- आर्थिक विकास वहाँ की जनसंख्या की स्थिति पर निर्भर करता है । वहाँ निवास करने वाले व्यक्तियों की संख्या, जनसंख्या वृद्धि दर, मृत्युदर, देश में स्त्रियों की संख्या एवं उनकी सामाजिक स्थिति और शैक्षिक स्थिति का सामाजिक आर्थिक विकास पर प्रभाव पडता है । इसी प्रकार किसी भी देश की परंपराओं, संस्कृति एवं आर्थिक स्थिति का वही की जनसंख्या वृद्धि पर. बच्चों की मृत्यु दर पर, जनस्वास्थ्य के विकास पर एवं शैक्षिक स्थिति पर प्रभाव पड़ता है ।

18.2 जनांकिकी की परिभाषा, अवधारणा एवं विकास

जनांकिकी (Demography) ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ होता है मानव के बारे में लिखना । मानव का इतिहास जो पुराने अभिलेखों से विकसित किया जाता है । जनसंख्या के बारे में जानकारी रखने की एवं इसके बारे में ज्ञानार्जन करने की इच्छा मानव के स्वभाव में प्रारम्म से ही रही है । इस जानकारी के पिछे इसके कई उद्देश्य हो सकते हैं जैसे किसी भी राज्य की सुरक्षा करना एवं आय प्राप्त करने के लिए कर लगाना । इन दोनों ही उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य की सीमाओं में जन्म, मृत्यु आवास एवं आवास से संबंधित जानकारी रखना बहु त आवश्यक समझा जाता शा ।

जनसंख्या के इन ऑकड़ो को एकत्रित करने के लिए एवं सुचारू रूप से रखने के लिए इनका लेखा- जोखा रखना आवश्यक होता है । भारत जैसे राष्ट्र के विभिन्न समाजों के गठन व उनकी मान्यताओं को समझने के लिए भी हमें इन पर आश्रित होना पडता है । पंजीयन प्रणाली के द्वारा राज्य की जनसंख्या के ऑकडे रखने का उदाहरण ईसा से 1250 वर्ष पूर्व (1250 B.C.) मिश्र के राजा रामेश द्वितीय के समय से पाया जाता है ।

जनसंख्या के संबंध में आंकड़े रखने के उदाहरण विभिन्न सभ्यताओं में भी पाये जाते हैं (बेबीलोनियां, चीन, भारत आदि) । भारत के प्राचीन ग्रन्थों में भी जनसंख्या के ऑकड़ों के बारे में जानकारी मिलती है । चाणक्य (321-296 B.C) के द्वारा लिखे गये ग्रन्थ "अर्थशास्त्र" में जनसंख्या के विभिन्न आंकड़ों के बारे में जानकारी मिलती है । इस ग्रन्थ में करों द्वारा प्राप्त आय एवं विभिन्न मदों पर किये जाने वाले व्यय की जानकारी मिलती है । "आइने-अकबरी" में अबुल फजल ने भी अकबर की सेना के ऑकड़े बताये हैं । राजस्थान में मुहणोत नैणसी ने 17वीं शताब्दी के मारवाड़ के गाँवों एवं नगरों तथा उनमें स्थित घरों की संख्या बतलाई है।

जनांकिकी (Demography) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रांसीसी लेखक ऐशिले गिलार्ड ने 1855 में अपनी पुस्तक "Elements de Statistique Humain on Demographic Comparee" में किया । इन्होने इसे जनसंख्या के भौतिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा नैतिक दशाओं तथा सामान्य रितीयों का गणितीय अध्ययन माना है । या फिर वे इसे व्यापक दृष्टिकोण से मानद जाति का सामाजिक एवं प्राकृतिक इतिहास मानते हैं ।

जनांकिकी की अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाएं दी है । अलग-अलग विषय जैसे अर्थशास्त्र. इतिहास, संस्कृति. समाजशास्त्र, भूगोल एवं जीव विज्ञान के विद्वानों ने अपने-अपने विषय के तत्वों को समावेशित करके परिभाषित किया है । कुछ विद्वानों ने इसकी उपादेयता के आधार पर एवं कुछ विद्वानों ने इसके अन्दर अध्ययन की जाने वाली विषय सामग्री से संबंधित करके इसको परिभाषित किया है । इस प्रकार विभिन्न विषयों एवं विभिन्न दृष्टिकोणों से इसकी परिभाषाएं देने के कारण इसकी परिभाषा में एकत्व नहीं हैं विभिन्नता है ।

जनांकिकी में सामान्यत: किसी देश के निवासियों की संख्या एवं उसकी वृद्धि तथा हास उनके जन्म एवं मृत्यु की दरों तथा प्रजनन तथा विवाह आदि के ऑकड़ो का अध्ययन किया जाता है और इससे सम्बद्ध सामाजिक समस्याओं का निदान ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता है ।

जनांकिकी का सम्बंध जनसंख्या की रचना, जनसंख्या के प्रादेशिक वितरण, और आकार तथा इसमें होने वाले परिवर्तनों और उनके कारणों से है । इरेन टाउबर के मतानुसार 'जनांकिकी उन्नत तकनीक के विश्लेषण तथा ऑकडों की मौजूदगी के कारण साहित्य से अधिक विज्ञान हो गया है ।"

18.3 भारत में जनसंख्या संरचना (Composition of Population in India)

आज भारत के पास विश्व के कुल भू-क्षेत्र का 2.4 प्रतिशत है । क्षेत्रफल के हिसाब से भारत का विश्व में सातवां स्थान है और जनसंख्या के हिसाब से विश्व में दूसरा स्थान है, प्रथम स्थान चीन का है । भारत की जनसंख्या में प्रतिवर्ष आस्ट्रेलिया की कुल जनसंख्या के बराबर जनसंख्या जुड जाती है । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में जनसंख्या वृद्धि अधिक गति से होती है । इस बढ़ती हुई जनसंख्या को आवश्यक वस्तुएं जैसे टनों खाद्यान्न, 3 लाख आवास, 5 लाख रोजगार, 1,40,000 विद्यालय, 4 लाख अध्यापक, 300 लाख मीटर कपड़ा आदि प्रतिवर्ष उपलब्ध कराया जाना आवश्यक है, यह देश की अर्थव्यवस्था पर अतिरिक्त भार है ।

प्राचीन समय से भारत की जनसंख्या वृद्धि के ऑकडे किंग्सले डेविस द्वारा 1951 में लिखी गयी पुस्तक "भारत और पाकिस्तान की जनसंख्या" में मिलते हैं । 300 ई0 पूर्व से 1846 तक जनसंख्या 10 से 14 करोड़ थी । 1855 से 1871 । तक जनसंख्या में कुछ वृद्धि हुई । 1600 ई0 से 1855 ई0 तक जनसंख्या में 7.5 करोड़ की वृद्धि हुई और इनमें भी 4.5 करोड़ की वृद्धि केवल 1846 ई0 से 1655 ई0 के बीच हुई । इन आँकड़ो को देखकर इन पर अधिक विश्वास भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि भारत में जनसंख्या से संबंधित ऑकड़े, जन्मदर, मृत्युदर आदि रखने का विधिवत प्रावधान नहीं था और अशिक्षा व रूढ़िवादिता के कारण जनता में जागरूकता भी नहीं थी । जनसंख्या के एक बहुत लम्बे समय तक स्थिर बने रहने के पीछे कई कारक जिम्मेदार हैं जेंसे- जन्मदर और मृत्युदर का बहुत अधिक होना । लम्बे समय तक युद्ध तथा अशांति रहना, प्लेग, महामारी, अकाल, बाद. एवं बीमारियां इन सभी कारणों से मृत्युदर बहुत अधिक रहती थी, इस कारण से जनसंख्या वृद्धि बहुत कम हो पाती थी या नहीं हो पाती थी । अधिक जन्मदर को अधिक मृत्युदर रोककर जनसंख्या वृद्धि को स्थिर बनाये रखती थी ।महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय परम्पराओं में इन्हीं कारणों से जन्मदर को सदैव बढ़ाने के ही प्रोत्साहित किया गया है । राज्य की नीतियां भी जन्मदर को बढ़ाने में सहायक थी । सारणी एक में 300 से वर्ष 1871 तक के जन संख्या सम्बन्धी आकड़ों को प्रदर्शित किया गया है । सारणी -18.1 से यह स्पष्ट है कि 300 ई. पूर्व से वर्ष 1646 तक जन संख्या लगभग स्थिर रही ।

सारणी - 18.1 (प्राचीन भारत में जनसंख्या)

वर्ष	जनसंख्या
300 ई0 पू0	10 से 14 करोड़

1600	10 से 14 करोड़
1800	12 से 14 करोड़
1834	13 से 14 करोड़
1846	13 करोड़
1855	17.5 करोड़
1867	19.4 करोड़
1871	25.5 करोड़

आधुनिक काल में एक लम्बे समय तक शांति बनी रही, जनस्वास्थ्य कार्यक्रमों पर ध्यान दिया जाने लगा, बीमारियों पर नियंत्रण किया गया, प्लेग, महामारी, बाढ़ आदि पर भी कुछ हद तक नियंत्रण करने में सफलता प्राप्त की गयी । इन सभी कारणों से मृत्युदर को कम किया गया, लेकिन जन्मदर पहले की भाँति अधिक रही, अत: जनसंख्या वृद्धि होने लगी । भारत में विधिवत जनगणना का प्रारम्भ 1871 से किया गया और इसके पश्चात् 1881 ई0 से प्रति दस वर्ष के पश्चात् जनगणना होती रही है । 1871 ई0 के समय भारत की जनसंख्या 25.5 करोड़ अनुमानित की गयी ।

सारणी - 18.2 (भारत में जनसंख्या)

वर्ष	जनसंख्या(करोड़ों में)
1901	23.84
1911	25.21
1921	25.13
1931	27.90
1941	31.87
1951	36.11
1961	43.92
1971	54.81
1981	68.33
1991	84.64
2001	102.70

सारणी 18.2 से यह ज्ञात होता है कि देश की जनसंख्या 1901 में 23.84 करोड़ थी जो बढकर वर्ष 2001 में 1 अरब 2 करोड़ 70 लाख हो गयी । 1911 से 1921 के दशक में जनसंख्या में थोडी गिरावट आयी थी लेकिन इसके बाद लगातार वृद्धि होती रही है ।

देश के राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों की जनसंख्या की स्थिति का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि सबसे अधिक जनसंख्या उत्तरप्रदेश में हैं । इस राज्य में देश की 15.15 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है । दूसरा स्थान महाराष्ट्र का है यहॉ पर देश की 9.48 प्रतिशत जनसंख्या रहती है । देश की जनसंख्या में 8.07 प्रतिशत जनसख्या के हिस्से सहित तीसरे स्थान पर बिहार है । सबसे कम जनसंख्या देश की 0.006 प्रतिशत लक्ष द्वीप में, इससे

थोडी अधिक 0.01 प्रतिशत दमन और दीव में और 0.02 प्रतिशत दादर और नगर हवेली में निवास करती है ।

जनसंख्या के हिसाब से 1991 में राजस्थान का देश में नौंवा स्थान था यहाँ पर 44,005,990 जनसंख्या निवास करती थी, जो देश की जनसंख्या का 5.20 प्रतिशत हिस्सा थी। 2001 में यहॉ की जनसंख्या बढ़कर 56,507,188 हो गयी यह देश की जनसंख्या का 5.20 प्रतिशत है और इस प्रदेश का स्थान 8वां हो गया ।

सारणी 18.3 से हम भारत में 1901 से 2001 तक की जनसंख्या वृद्धि का अध्ययन करेंगे ।

सारणी-18.3 भारत में जनसंख्या वृद्धि - 1901-2001

वर्ष	जनसंख्या (करोड़ो में)	दशकीय परिशुद्द वृद्धि(करोड़ो में)	द्शकीय परिशुद्ध वृद्धि (करोड़ में)
1901	23.84		
1911	25.21	1.37	5.75
1921	25.13	-0.08	-0.31
1931	27.90	2.76	11.00
1941	31.87	3.97	14.22
1951	36.11	4.24	13.31
1961	43.92	7.81	21.64
1971	54.81	10.89	24.8
9181	68.33	13.52	24.67
1991(1)	84.64	16.31	23.87
2001(2)	102.70	18.06	21.54

स्त्रोत :

(1) जम्मू और कश्मीर की 1991 की अंतरगणना की गयी जनसंख्या शामिल है ।

(2) मणिपुर के सेनापति जिले के पाओमाटा माओमारम और पुरूल उपखण्डों के 2001 के ऑकडें शामिल नहीं हैं ।

उपर्युक्त सारणी 18.3 से हमें विदित होता है कि देश की जनसंख्या 1901 में 23.84 करोड थी जो 1911 में बढ़कर 25.21 करोड़ हो गयी । इन दस वर्षो में जनसंख्या में 1 करोड़ 37 लाख की वृद्धि हुई। 1911 से 1921 के दशक में जनसंख्या में 8 लाख की कमी दर्ज की गयी और यह घटकर 25.13 करोड़ हो गयी । इसके पश्चात् जनसंख्या में वृद्धि होने लगी और यह 1921-31 के दशक में 27.90 करोड़, 1931-41 के दशक में 31.87 करोड़,1941-51 के दशक में 3811 करोड़, 1951-61 के दशक में 36.11 करोड़, 1961-61 के दशक में 43.92 करोड,1961-71 के दशक में 54.81 करोड़, 1971-81 के दशक में 68.33 करोड़, और 1981-91के दशक में 84.64 करोड़; और 1991-2001 के दशक में 1अरब 2 करोड़ 70 लाख हो गयी । इससे हमें यह ज्ञात होता है कि 1911 से 1921 के दशक में जनसंख्या में गिरावट

आयी, और 1921 के पश्चात् इसमें लगातार वृद्धि होती रही । लेकिन यह वृद्धि एक समान नहीं रही, 1921 से 1961 तक वृद्धि कम गति से हुई और 1961 से लगातार तीव्र गीत से वृद्धि होती रही है और 2001 में जनसंख्या एक अरब के ऑकडों को भी पार कर गयी । अगर हम दशकीय वृद्धि दर पर भी नजर डाले तो देखते हैं कि 1921-31 के दशक में इसमें 11.00 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है और 1931-41 के दशक में 14.22 प्रतिशत वृद्धि हुई लेकिन 1941-51 के दशक में यह वृद्धि पिछले दशक की तुलना में कुछ कम हुई । इसके पश्चात् 1951-61 के दशक में 21.64 प्रतिशत, 1981-71 के दशक में बढ़कर 24.80 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है । 1971-61 में वृद्धि की दर 24.67 प्रतिशत, 1981-91 में 23.87 प्रतिशत और 1991-2001 में 21.54 प्रतिशत दर्ज की गयी है । इससे यह पता चलता है कि 1971 के पश्चात् जनसंख्या वृद्धि की दर में गिरावट आना प्रारम्भ हो गया है और जनसंख्या में 1971 के पश्चात् लगातार घटती दर से वृद्धि हो रही है ।

'सारणी 18.4 में 1981-91 और 1991-2001 की राष्ट्रीय औसत वृद्धि दर और राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों की जनसंख्या वृद्धि दर का दशकीय प्रतिशत परिवर्तन हुआ है । इससे विदित होता है कि 1981-91 के दशक की राष्ट्रीय औसत वृद्धि दर 23.87 प्रतिशत थी जबकि देश के 28 राज्यों में से 18 राज्यों की दशकीय वृद्धि दर राष्ट्रीय औसत वृद्धि दर से अधिक थी और 10 राज्यों की कम थी । सात केन्द्र शासित प्रदेशों की दशकीय वृद्धि दर राष्ट्रीय औसत वृद्धि दर से अधिक थी । 1991-2001 के दशक की राष्ट्रीय औसत वृद्धि दर 21.54 प्रतिशत थी । भारत के राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में 15 राज्यों और 5 केन्द्र शासित प्रदेशों की दशकीय वृद्धि दर राष्ट्रीय औसत वृद्धि से अधिक और 13 राज्यों और 2 केन्द्र शासित प्रदेशों की दशकीय वृद्धि दर राष्ट्रीय औसत वृद्धि दर से कम थी । प्रदेशों में दशकीय वृद्धि दर का तुलनात्मक अध्ययन करने पर देखने में आया है कि 1981-91 के दशक में नागालेंण्ड 56.08 प्रतिशत दशकीय वृद्धि दर के साथ प्रथम स्थान पर था और 1991-2001 के दशक में भी 64.53 प्रतिशत दशकीय वृद्धि दर के साथ प्रथम स्थान पर रहा । नागालैण्ड में जनसंख्या वृद्धि दर पिछले दशक की तुलना में इस दशक में 8.45 प्रतिशत अधिक रही, यह विचारणीय बिन्दु है । 1981-91 के दशक की तुलना में 1991-2001 के दशक में अधिक वृद्धि दर वाले प्रदेश एवं केन्द्र शासित प्रदेश है:- सिक्किम जहाँ 28.47 प्रतिशत से बढ़कर 33.06 प्रतिशत हो गयी. हरियाणा 27.41 प्रतिशत से बढ़कर 28.43 प्रतिशत, उत्तरप्रदेश 25.61 से बढ़कर 25.85 प्रतिशत, बिहार 23.38 प्रतिशत से बढ़कर 28.82 प्रतिशत, गुजरात 21.19 प्रतिशत से बढ़कर 22.66 प्रतिशत, दादर एवं नगर हवेली 33.57 प्रतिशत से बढ़कर 59.22 प्रतिशत और दमन और दीव 28.62 प्रतिशत से बढ़कर 55.73 प्रतिशत हो गयी ।

1981-91 के दशक की तुलना में 1991-2001 के दशक में कम वृद्धि दर वाले प्रान्त एवं केन्द्र शासित प्रदेश हैं:- मिजोरम 39.70 प्रतिशत से घटकर 28.82 प्रतिशत, अरूणाचल प्रदेश 36.83 प्रतिशत, से घटकर 27.00 प्रतिशत, त्रिपुरा 34.30 प्रतिशत से घटकर 16.03 प्रतिशत, मेघालय 32.86 से घटकर 30.65 प्रतिशत, जम्मू और कश्मीर 30.89 प्रतिशत से

घटकर 29.43 प्रतिशत, मणिपुर 29.29 प्रतिशत से घटकर 24.86 प्रतिशत, राजस्थान 28.44 प्रतिशत से घटकर 28.41 प्रतिशत, मध्यप्रदेश 27.24 प्रतिशत से घटकर 24.26 प्रतिशत, महाराष्ट्र 25.73 प्रतिशत से घटकर 22.73 प्रतिशत, छतीसगढ़ 25.73 प्रतिशत से घटकर 18.27 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल 24.73 प्रतिशत से घटकर 17.77 प्रतिशत, असम 24.24 प्रतिशत से घटकर 18.92 प्रतिशत, आन्धप्रदेश 24.20 प्रतिशत से घटकर 14.59 प्रतिशत, झारखण्ड 24.03 प्रतिशत से घटकर 23.36 प्रतिशत, उत्तरांचल 23.13 प्रतिशत से घटकर 20.41 प्रतिशत. कर्नाटक, पंजाब. हिमाचल प्रदेश, उडीसा. गोवा, तमिलनाडु और केरल में भी जनसंख्या की वृद्धि दर कम दर्ज की गयी है । इनमें केरल 1981-91 के दशक में 14.32 प्रतिशत वृद्धि के साथ सबसे नीचे के स्थान पर था और 1991-2001 के दशक में भी 9.43 प्रतिशत वृद्धि के साथ सबसे नीचे के स्थान पर रहा । केन्द्र शासित प्रदेशों में दिल्ली, अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, चंडीगढ़, पांडीचेरी और लक्ष द्वीप 1981-91 की तुलना में 1991-2001 के दशक में जनसंख्या वृद्धि में कमी दर्ज करवाने वाले हैं । इनमें जनसंख्या वृद्धि 1981-91 के दशक में 48.70 प्रतिशत से घटाकर 1991-2001 के दशक में 26.90 प्रतिशत पर लाने वाला अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह प्रथम स्थान पर है और द्वितीय स्थान पर पांडीचेरी रहा है जहाँ 33.64 प्रतिशत से घटकर 20.82 प्रतिशत दर्ज की गयी है ।

सारणी - 18.4

राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों की दशकीय वृद्धि दर

क्रं. सं.	विवरण	1981-91	1991-2001
1.	भारत	23.87	21.54
2.	नागालैण्ड	56.08	64.53
3.	दिल्ली	51.54	47.02
4.	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	48.70	26.90
5.	चंडीगढ़	42.16	40.28
6.	मिजोरम	39.70	28.82
7.	अरुणाचल प्रदेश	36.83	27.00
8.	त्रिपुरा	34.30	16.03
9.	पाण्डिचेरी	33.64	20.62
10.	दादर और नगर हवेली	33.57	59.22
11.	मेघालय	32.86	30.65
12.	जम्मू और कश्मीर	30.89	29.43
13.	मणिपुर	29.29	24.86
14.	दमन और द्वीप	28.62	55.73
15.	सिक्किम	28.47	33.06
16.	लक्षद्वीप	28.47	17.30

17.	राजस्थान	28.44	28.41
18.	हरियाणा	27.41	28.43
19.	मध्यप्रदेश	27.24	24.26
20.	महाराष्ट्र	25.73	22.73
21.	छतीसगढ़	25.73	18.27
22.	उत्तरप्रदेश	25.61	25.85
23.	पश्चिम बंगाल	24.73	17.77
24.	असम	24.24	18.92
25.	आंध्रप्रदेश	24.20	14.59
26.	झारखण्ड	24.03	23.36
27.	बिहार	23.38	28.62
28.	उत्तरांचल	23.13	20.41
29.	गुजरात	21.19	22.66
30.	कर्नाटक	21.12	17.51
31.	पंजाब	20.80	20.10
32.	हिमाचल प्रदेश	20.79	17.54
33.	उड़ीसा	20.06	16.25
34.	गोवा	16.08	15.21
35.	तमिलनाडु	15.39	11.72
36.	केरल	14.32	9.43

18.4 जन्मदर (Birth Rate)

किसी देश की जन्मदर से अभिप्राय प्रति एक हजार व्यक्तियों के पीछे जन्म लेने वाले बच्चों की संख्या से है । भारत विश्व का सर्वाधिक जन्म दर वाला देश है । । सारणी 18.5 से देश की उच्च जन्म दर का पता लगाया जा सकता है

सारणी - 18.5

भारत की ओसत वार्षिक जन्म दर

वर्ष	जन्मदर (प्रति हजार)	वर्ष	जन्मदर (प्रति हजार)
1901-1910	49.2	1961-1970	41.2
1911-1920	48.1	1971-1976	39.9
1921-1930	46.4	1976-1981	34.6
1931-1940	45.2	1981-1986	33.2
1941-1950	39.9	1986-1991	29.7

1951-1960	41.7	1999	26.1

उपर्युक्त सारणी से यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि भारत में जन्म दर 1901-10 के दशक में बहुत अधिक थी और यह धीरे-धीरे कम होती जा रही है । यह 49.2 प्रति हजार से घटकर 1999 में 26.1 प्रति हजार तक आ गयी है, लेकिन यह दर भी बहुत अधिक है ।

भारत मे ऊंची जन्म दर के लिए सामाजिक और धार्मिक कारण जिम्मेदार हैं । इन कारणों को संक्षेप में निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है-

1. भारत में प्रत्येक स्त्री एवं पुरूष के लिए विवाह करना एक आवश्यक सामाजिक एवं धार्मिक कार्य है ।
2. विवाह की आयु बहा कम होने के कारण एक लम्बा विवाहित जीवन व्यतीत करते हैं इससे जनन क्षमता की अवधि अधिक रहती है ।
3. हिन्दू धर्म के अनुसार परिवार में पुत्र होना आवश्यक है । पुत्र की कामना सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक कारणों से बहुत होती है । इस कारण से पुत्र प्राप्ति के लिए परिवार का आकार बढ़ता जाता है ।
4. भारत में प्रारम्भिक काल में बच्चों की मृत्यु दर अधिक थी इस कारण 2-3 जीवित बच्चे जिंदा रह सके इसके लिए परिवार में 7-8 बच्चों को जन्म दिया जाता था ।
5. स्त्री शिक्षा में कमी होना भी एक महत्वपूर्ण कारण है ।
6. परिवार नियोजन के साधनों का बड़ा कम उपयोग किया जाता है ।
7. देश में बच्चों को भगवान की देन मानकर पैदा किया जाता है । यह माना जाता है कि "जो जीवन देता है वह रोजगार भी देगा" और बच्चों के जन्म को रोकना अपराध माना जाता है ।
8. संयुक्त परिवार प्रथा का होना भी इसे बढ़ावा देता है क्योंकि उसमें व्यक्तिगत निर्णय लेना कठिन होता है तथा आर्थिक दायित्वों को सामूहिक रूप से बांट लेने की परम्परा भी निश्चितता ला देती है ।

   सारणी 18.6 से पता चलता है कि राजस्थान में जन्म दर देश की औसत जन्म दर से हमेशा अधिक रही है।

सारणी - 18.6

भारत एवं राजस्थान की जन्मदर का तुलनात्मक विवरण (प्रति एक हजार)

वर्ष	1985	1986	1987	1988	1989	1999
भारत	32.9	32.6	32.2	31.5	30.5	26.1
राजस्थान	39.7	36.4	35.1	33.3	33.9	31.1

18.5 मृत्युदर (death rate)

किसी देश की मृत्युदर से अभिप्राय प्रत्येक एक हजार व्यक्तियों के पीछे मरने वाले व्यक्तियों की संख्या से है । सारणी 18.7 से देश में मृत्युदर का पता चलता है ।

सारणी - 18.7

भारत में औसत मृत्युदर

वर्ष	मृत्युदर (प्रति एक हजार)	वर्ष	मृत्युदर (प्रति एक हजार)
1911-1920	47.2	1971-1975	15.5
1921-1930	36.3	1976-1980	13.8
1931-1940	31.2	1981-1985	11.0
1941-1950	27.4	1986-1990	10.6
1951-1960	22.8	1991	9.8
1961-1970	17.0	1992	10.8
		1999	8.7

उपर्युक्त सारणी से पता चलता है कि 1911-20 के दशक से पहले मृत्युदर काफी ऊँची थी और 1921 के बाद इसमें गिरावट आती रही है। 1911-20 के बीच मृत्युदर 47.2 प्रति हजार थी जो 1991 में घटकर 9.8 प्रति हजार हो गयी, लेकिन 1992 में फिर थोड़ी बढ़कर 10.8' हो गयी और 1999 में घटकर 8.7 प्रति हजार हो गयी।

1891-1901 एवं 1911-1920 के दशकों के दौरान व्यापक अकाल, विस्तृत रूप से इन्लुएंजा के प्रकोप, हैजा, मलेरिया. प्लेग आदि महामारियों के कारण देश में मृत्युदर काफी अधिक थी । इसके बाद इन महामारियों पर नियंत्रण करना, अच्छे भोजन, पीने के लिए स्वच्छ पानी की व्यवस्था, उन्नत चिकित्सा सुविधाओं की उपलब्धता, सफाई पर ध्यान देना आदि के कारण मृत्युदर को नियंत्रित किया गया है ।

मृत्युदर में तीव्रगति से कमी आने का एक महत्वपूर्ण कारण शिशु मृत्युदर में कमी आना है । सारणी 18.8 से देश में शिशु मृत्युदर का पता चलता है ।

सारणी - 18.8

भारत में शिशु मृत्युदर

वर्ष	शिशु मृत्युदर (प्रति हजार)
1971-75	134
1976-80	124
1981-85	90
1986-90	91
1991	79
1999	70

शिशु मृत्युदर के अधिक होने के मुख्य कारण थे - अपर्याप्त भोजन, निमोनिया, दस्त, संक्रामक और परजीवी रोगों का प्रकोप आदि । बार-बार और शीघ्रातिशीघ्र गर्भ ठहरने के कारण शिशु मृत्युदर में वृद्धि हो जाती है । इन कारणों पर नियंत्रण करने के प्रयास किये गये हैं जिसके फलस्वरूप काफी सीमा तक शिशु मृत्युदर पर नियंत्रण किया गया है, और इसे निम्नतम स्तर पर लाने के प्रयास जारी है ।

राजस्थान में 1999 में मृत्युदर देश की औसत मृत्युदर से थोडी कम थी, भारत में यह 8.7 प्रति हजार थी और राजस्थान में 8.4 प्रति हजार थी । शिशु मृत्युदर हमेशा देश की औसत शिशु मृत्युदर से अधिक रही है । देश में शिशु मृत्युदर 1988 में 94 थी, 1989 में 91 और 1999 में 70 थी जबकि राजस्थान में यह 1988 में 103,1989 में 96 और 1999 में घटकर 81 हो गयी है ।

भारत में प्रजनन काल के दौरान स्त्रियों की मृत्युदर भी काफी अधिक है । 15-45 वर्ष की उम्र की स्त्रियों में यह 300-400 प्रति हजार है । बच्चे को जन्म देने से पहले और जन्म देने के बाद स्त्रियों की मृत्यु होने के लिए कई कारण जिम्मेदार है- निर्धनता. अपर्याप्त सावधानी, चिकित्सा सुविधाओं का अभाव, अशिक्षा, अपर्याप्त भोजन, लोगों को जानकारी का अभाव और ग्रामीण क्षेत्रों में प्रसूति सुविधाओं का अभाव होना आदि महत्वपूर्ण है । उपर्युक्त कारणों को दूर करके स्त्रियों की मृत्युदर पर नियंत्रण करने के प्रयास किये जा रहे हैं ।

18.6 जनसंख्या घनत्व (Density of Population)

जनसंख्या घनत्व से तात्पर्य मनुष्यों के प्रति वर्ग किलोमीटर निवास से हैं । एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में जितने मनुष्य रहते हैं वह जनसंख्या घनत्व कहलाता है । जनसंख्या घनत्व आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण घटक है । सारणी 18.9 से हम देश के जनसंख्या घनत्व के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं ।

सारणी - 18.9

भारत में जनसंख्या घनत्व

वर्ष	1901	1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971	1981	1991	2001
जनसंख्या घनत्व (प्र. वर्ग कि.मी.	77	82	81	90	103	117	142	177	216	267	325

सारणी 18.9 से पता चलता है कि 1901 में जनसंख्या घनत्व 77 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी था जो बढ़कर 2001 में 325 हो गया । 1911 के दशक से 1921 के दशक में इसमें थोड़ी सी कमी आयी थी यह 82 प्रति बर्ग किमी से घटकर 81 प्रति वर्ग किमी हो गया था, लेकिन बाद में यह निरन्तर बढ़ता रहा है । 1991 में 267 और 2001 में 325 व्यक्ति प्रति बर्ग किमी हो गया ।

भारत में विभिन्न राज्यों में जनसंख्या घनत्व में काफी भिन्नता देखी जाती है । सारणी से हमें पता चलता है कि कुछ प्रदेशों का आकार बड़ा है अर्थात् उनका क्षेत्रफल अधिक है ओर वही पर जनसंख्या घनत्व कम है और कुछ प्रदेशों का क्षेत्रफल कम है लेकिन जनसंख्या घनत्व अधिक है। 1991 और 2001 के दशकों का जनघनत्व देखने पर हमें पता चलता है कि

1991 और 2001 दोनों ही दशकों में 16 राज्य देश के औसत जनघनत्व से अधिक जनघनत्व वाले राज्य थे और 19 राज्य देश के औसत जनघनत्व से कम जनघनत्व वाले राज्य थे, 2001 के दशक में 9 राज्य 100 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी से कम जनघनत्व वाले राज्य थे, 2001 में इनकी संख्या घटकर मात्र 4 रह गयी है ।

राज्यों में 1991 के दशक में पश्चिम बंगाल 767 जनसंख्या घनत्व के साथ प्रथम स्थान पर, 749 के साथ केरल दूसरे स्थान पर और 685 जनघनत्व के साथ बिहार तीसरे स्थान पर था, लेकिन 2001 में पश्चिम बंगाल 903 जनघनत्व के साथ प्रथम स्थान पर रहा लेकिन 881 जनघनत्व के कारण बिहार तीसरे स्थान से दूसरे स्थान पर और 819 जनघनत्व के साथ केरल दूसरे से तीसरे स्थान पर हो गया । सबसे कम जनसंख्या घनत्व अरूणाचल प्रदेश में हैं, 1991 में 10 व्यक्ति और 2001 में 13 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर यहाँ पर निवास करते हैं । दो राज्य मेघालय और मणिपुर में एक समान (103) जनसंख्या घनत्व है ।

1991 और 2001 में पाँच केन्द्र शासित प्रदेश- दिल्ली, चण्डीगढ़, पाण्डिचेरी, लक्षद्वीप और दमन और दीव केन्द्र शासित प्रदेशों और राज्यों में सर्वोच्च स्थान पर रहे हैं । दिल्ली 1991 में 6352 से बढ़कर 2001 में 9430 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर के साथ प्रथम स्थान पर रही है । राजस्थान का देश में 1991 में 26वां स्थान था जो 2001 में घटकर 24वां हो गया है । राजस्थान में जनसंख्या घनत्व के बारे में सारणी 18.10 से हम जानकारी प्राप्त कर सकते हैं ।

सारणी - 18.10

राजस्थान में जनसंख्या घनत्व (19Z1-2001)

वर्ष	1901	1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971	1981	1991	2001
जनसंख्या घनत्व	30	32	30	34	41	47	59	75	100	129	165

सारणी संख्या 18.10 से हमें ज्ञात होता है कि 2001 में 30 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी से बढ़कर 2001 में 165 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी हो गये हैं । 1911 के दशक में 32 से 1921 के दशक में घटकर 30 व्यक्ति प्रति बर्ग किमी हो गये थे । इस एक दशक के अलावा जनसंख्या घनत्व में वृद्धि होती रही है । राजस्थान में सबसे अधिक जनघनत्व जयपुर में हैं जहाँ पर 471 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी निवास करते हैं और सबसे कम जैसलमेर में हैं जहाँ पर 13 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी रहते हैं ।

सारणी - 18.11

राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों का जनसंख्या घनत्व 1991 एवं 2001

क्रम संख्या	राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश	जनसंख्या घनत्व	
		वर्ष 1991	वर्ष 2001
	भारत	267	325
1.	दिल्ली	6352	9340

2.	चंडीगढ़	5632	7900
3.	पाण्डिचेरी	1683	2030
4.	लक्षद्वीप	1616	1895
5.	दमन और द्वीप	907	1413
6.	पश्चिम बंगाल	767	903
7.	बिहार	685	881
8.	केरल	749	819
9.	उत्तर प्रदेश	548	690
10.	पंजाब	403	484
11.	तमिलनाडु	429	480
12.	हरियाणा	372	478
13.	दादर और नगर हवेली	282	449
14.	गोवा	316	364
15.	असम	286	340
16.	झारखण्ड	274	338
17.	महाराष्ट्र	257	315
18.	त्रिपुरा	263	305
19.	आन्ध्रप्रदेश	242	277
20.	कर्नाटक	235	276
21.	गुजरात	211	258
22.	उड़ीसा	203	236
23.	मध्यप्रदेश	158	196
24.	राजस्थान	129	165
25.	उत्तरांचल	132	159
26.	छत्तीसगढ़	130	154
27.	नागालैण्ड	73	120
28.	हिमाचल प्रदेश	93	109
29.	मेघालय	79	103
30.	मणिपुर	82	103
31.	जम्मू और कश्मीर	77	100
32.	सिक्किम	57	76
33.	अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह	34	43

34.	मिजोरम	33	42
35.	अरुणाचल प्रदेश	10	13

18.7 लिंग अनुपात (Sex Ratio)

लिंग अनुपात से आशय एक हजार पुरूषों के पीछे स्त्रियों की संख्या से है । लिंग अनुपात एक महत्वपूर्ण जनांकिकीय घटक है । स्त्रियों की संख्या के द्वारा किसी देश की कार्यशील जनसंख्या का अनुमान लगाया जाता है । किसी भी देश की प्रति व्यक्ति आय वहां के उत्पादन कार्य में वहां की स्त्री जनसंख्या के योगदान से बहुत प्रभावित होती है ।

सारणी-18.12

भारत में लिंगानुपात (1901-2001)

वर्ष	1901	1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971	1981	1991	2001
लिंगानुपात	972	968	955	950	945	946	941	930	934	927	933

सारणी-18.12 के अध्ययन से यह पता चलता है कि भारत में पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या बहुत कम है और उसमें लगातार गिरावट आती जा रही है । 1901 में जहां 1000 पुरूषों के पीछे 972 स्त्रियाँ थी जो 2001 में गिरकर 933 रह गयी । सारणी से हमें मालूम चलता है कि 1901 से 2001 तक केवल तीन दशकों में स्त्रियों की संख्या में मामूली सी बढ़त दर्ज की गई हैं । 1941-1951 के दशक में 945 से बढ़कर 946 हो गई । 1971-1981 के दशक में 930 से बढ़कर 934 और 1991-2001 के दशक में 927 से बढ़कर 933 हो गयी है। इन तीन दशकों में मामूली सी वृद्धि को छोड़कर लगातार इनकी संख्या में गिरावट आती रही है। यह स्थिति किसी भी देश के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होती है ।

राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में लिंगानुपात की स्थिति का अध्ययन करने पर यह देखा गया है कि देश में केवल दो राज्य ही ऐसे हैं जहां पर स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। एक है केरल जहां 1000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 1991 में 1036 से बढ़कर 2001 में 1058 हो गयी इस राज्य का देश में प्रथम स्थान है । दूसरे स्थान पर केन्द्र शासित प्रदेश पाण्डिचेरी है जहां पर 1000 पुरूषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 1991 में 979 थी और 2001 में 1001 हो गयी है।

1000 पुरूषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 1991 में चंडीगढ़ में सबसे कम थी जहां 790 थी और 2001 में यहां पर स्त्रियों की संख्या घटकर 777 हो गयी । फिर भी इसका स्थान सबसे नीचे नहीं रहा । नीचे से दूसरा अर्थात् 33वॉ स्थान रहा क्योंकि 34वे स्थान पर दमन एवं दीव आ गया था । जहां 1000 पुरूषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 710 है । 1991 में दमन एवं दीव का स्थान 8वें स्थान पर था उस समय इस केन्द्र शासित प्रदेश में स्त्रियों की संख्या 1000 पुरूषों के पीछे 969 थी । यह विचारणीय बिन्दु है कि 1991 से 2001 के दशक में इस प्रदेश में स्त्रियों की संख्या में इतनी गिरावट आने के पीछे क्या कारण है?

राजस्थान में लिंग अनुपात देश के औसत लिंग अनुपात से कम रहा है । 1991 में राजस्थान में 1000 पुरूषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 910 थी और देश में इसका स्थान 24वां था । 2001 में स्त्रियों की संख्या बढ़कर 1000 पुरूषों के पीछे 921 हो गयी और इसका स्थान 20वां' हो गया ।

सारणी 18.13 से हमें राजस्थान में लिंग अनुपात की स्थिति का पता चलता है ।

भारत में लिंग अनुपात पुरूषों के पक्ष में रहा है और पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या में लगातार कमी आती जा रही है । यह देश के लिए और समाज के लिए अच्छी स्थिति नहीं है । इसके लिए कई कारण जिम्मेदार है । जैसे-

1. देश में लड़कियों के स्थान पर लडकों को प्राथमिकता देना । वर्तमान में तो गर्भावस्था के दौरान ही जाँच करवाकर गर्भ में लड़की होने पर उसे गर्भपात द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।
2. अशिक्षा. साधनों का अभाव, गंदगी, अल्पआयु में विवाह एवं प्रसव होने से एवं अधिक बच्चों का भार होने से स्त्रियों की अल्पआयु में ही मृत्यु हो जाती है ।
3. प्रारम्भ से ही लडकियों को हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है और दहेज के लिए जला देना भी महत्वपूर्ण कारण है ।

   उपर्युक्त कारणों को दूर करते हुए स्त्रियों को सुरक्षा प्रदान करके इनकी संख्या में वृद्धि करना देश एवं समाज के हित में होगा ।

सारणी-18.13

राजस्थान में लिगानुपात (1901-2001)

वर्ष	1901	`1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971	1981	1991	2001
लिंगानुपात	905	908	896	907	906	921	908	911	919	910	921

सारणी 13 से राजस्थान में लिंगानुपात की स्थिति का अध्ययन करने पर हम पाते है कि इस प्रदेश में 1901 तक 1000 पुरूषों के पीछे स्त्रियों की संख्या एक दशक में बढ़ती है दूसरे दशक में घटती है फिर बढ़ती है और घटती है । इस प्रकार लगातार उतार-चढ़ाव आते रहे हैं । लेकिन 1971 और 1981 दो दशक ऐसे हैं जिनमें स्त्रियों की संख्या लगातार बढ़ती रही है। हम देखते है कि 1000 पुरूषों के पीछे 1901 में 905 स्त्रियां थी जो 1911 में बढ़कर 908 हो गयी लेकिन 1921 में घटकर 896 हो गयी, 1931 में फिर बढ़कर 907 हो गयी और 1941 में घटकर 906 हो गयी, लेकिन 1951 में फिर बढ़कर 921 हो गयी 1961 में घटकर 908 हो गयी, 1971 में बढ़कर 911 ओर 1981 में फिर बढ़ी ओर 919 हो गयी, लेकिन 1991 में घटकर 910 हो गयी और फिर 2001 में बढ़कर 921 हो गयी । सारणी में हमने देखा है कि 1951 और 2001 के दशकों में 1000 पुरूषों के पीछे स्त्रियों की संख्या समान (921)रही है ।

राजस्थान में लिंग अनुपात पुरूषों के पक्ष में रहा है और स्त्रियों की संख्या पुरूषों की तुलना में कम रही है ।

18.8 साक्षरता अनुपात (Literacy Ratio)

किसी भी देश एवं समाज के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण घटक होता है । जहां पर शिक्षा का स्तर उच्च स्तर का होता है वही जनसंख्या वृद्धि की दर कम और सीमित साधनों से भी आर्थिक विकास की गति अधिक होती है । देश में नियोजित आर्थिक विकास की प्रक्रिया की सफलता शिक्षा के समुचित विकास पर निर्भर करती है। देश के संविधान में शिक्षा को बहुत महत्व प्रदान किया गया है और सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था का प्रावधान रखा गया है ।

देश की शैक्षिक स्थिति का अध्ययन हम सारणी 18.14 से करते हैं । जनगणना में उस व्यक्ति को शिक्षित माना जाता है जो लिखना और पढ़ना जानता है । 1951,1961 और 1971 की जनगणना में 5 वर्ष की आयु और उससे अधिक आयु वाले व्यक्तियों को शिक्षित व्यक्तियों की गणना में लिया गया है और 1981,1991 की गणना में 7 वर्ष एवं उससे अधिक आयु के व्यक्तियों को इस श्रेणी में रखा गया है ।

सारणी-18.14

भारत में साक्षरता दर (1951-2001)

वर्ष	कुल व्यक्ति (प्रतिशत)	पुरुष (प्रतिशत)	महिलाएं(प्रतिशत)
1951	18.33	27.16	8.86
1961	28.31	40.41	15.34
1971	34.45	45.95	21.97
1981	43.56	56.37	29.75
1981 (साक्षरता दर 5 वर्ष से अधिक आयु)	41.42	53.45	28.46
1991	52.2	64.1	39.3
2001	64.8	75.3	53.7

1981 के लिए 5 वर्ष एवं इससे अधिक आयु की जनसंख्या के आधार पर साक्षरता दर कोष्ठक में बतायी गयी है ।

सारणी 18.14 के अनुसार 1951 में 18.33 प्रतिशत व्यक्ति शिक्षित थे जो बढ़कर 2001 में 64.8 प्रतिशत हो गये । पुरूषों की साक्षरता दर 27.16 प्रतिशत से बढ़कर 75.3 प्रतिशत और महिलाओं 8.86 प्रतिशत से बढ़कर 5३.7 प्रतिशत हो गयी । इसका अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि पिछले पचास वर्षो के दौरान कुल साक्षरता दर में 46.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई है पुरूषों की सारक्षरता दर में 48.1 प्रतिशत और महिला साक्षरता दर में 44.9 प्रतिशत की वृद्धि हुई है । साक्षरता दर की यह स्थिति आशा के अनुकूल नहीं है । इसमें हमें सुधार करने की आवश्यकता हैं ।

राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों की साक्षरता दर का अध्ययन करने पर हम देखते है कि केरल 1991 में 89.8 प्रतिशत और 2001 में 90.9 प्रतिशत साक्षरता दर के साथ प्रथम

स्थान पर है। 1981 में 82.3 प्रतिशत और 2001 में 88.8 प्रतिशत के साथ मिजोरम दूसरे स्थान पर और लक्षद्वीप 1991 में 81.6 प्रतिशत और 2001 में 86.7 प्रतिशत के साथ तीसरे स्थान पर रहा है । बिहार 1991 में 37.5 प्रतिशत और 2001 में 47.0 प्रतिशत साक्षरता दर के साथ सबसे नीचे के स्थान पर रहा है ।

पुरूष साक्षरता के क्षेत्र में केरल 1991 मे 93.6 प्रतिशत और 2001 में 94.2 प्रतिशत के साथ प्रथम स्थान पर रहा है । 1991 में 90.2 प्रतिशत और 2001 में 92.5 प्रतिशत के साथ लक्षद्वीप दूसरे स्थान पर और मिजोरम 1991 में 85.6 प्रतिशत और 2001 में 90.7 प्रतिशत के साथ तीसरे स्थान पर रहा है । बिहार 1991 में 51.4 प्रतिशत और 2001 में 59.7 प्रतिशत के साथ सबसे नीचे के स्थान पर रहा है । अरूणाचल प्रदेश 1991 और 2001 में क्रमशः 51.5 प्रतिशत और 63.8 प्रतिशत के साथ नीचे से दूसरे स्थान पर रहा है ।

महिला साक्षरता में भी 1991 और 2001 में केरल प्रथम स्थान पर रहा है । यहां पर साक्षरता दर महिलाओं की क्रमशः 86.2 प्रतिशत और 87.7 प्रतिशत रही है । मिजोरम दूसरे स्थान पर रहा है । वहां पर 1991 में 78.6 प्रतिशत और 2001 में 86.7 प्रतिशत महिलाएं साक्षर थी । बिहार महिला साक्षरता के क्षेत्र में 1991 में 22.0 प्रतिशत के साथ नीचे से दूसरे स्थान पर था । लेकिन 2001 में 33.1 प्रतिशत महिलाओं को साक्षर करने के उपरान्त भी सबसे नीचे के स्थान पर रहा, क्योंकि 1991 में सबसे नीचे के स्थान पर राजस्थान था जहाँ मात्र 20.4 प्रतिशत महिलाएं साक्षर थी, लेकिन इस राज्य ने 2001 में महिला साक्षरता के क्षेत्र में प्रगति करके 4३ 9 प्रतिशत महिलाओं को साक्षर करके अपना स्थान सबसे नीचें (34वें) से 29 वॉ स्थान प्राप्त किया है ।

सारणी-18.15

राजस्थान में साक्षरता दर (1981-2001)

वर्ष	कुल व्यक्ति (प्रतिशत)	पुरुष (प्रतिशत)	महिलाएं(प्रतिशत)
1981	30.09	44.76	13.99
1991	38.6	55.0	20.4
2001	60.4	75.7	43.9

सारणी के अध्ययन से हम समझ पाते हैं कि राजस्थान में 1981 साक्षरता दर 30.09 प्रतिशत थी बह बढ़कर 2001 में 60.4 प्रतिशत हो गयी अर्थात् दो इसमें 30 प्रतिशत की वृद्धि दर दर्ज की गयी है । पुरूष साक्षरता दर 1981 में आह प्रतिशत से बढ़कर 2001 में 75.7 प्रतिशत हो गयी । दो दशकों में इसमें 31 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी है और 2001 में यह राष्ट्रीय औसत पुरुष साक्षरता दर से भी अधिक है । महिला साक्षरता के क्षेत्र में 1981 में 13.99 प्रतिशत और 1991 में 20.64 प्रतिशत के साथ देश में सबसे नीचे अपना स्थान रहता था । 2001 में इस प्रान्त ने महिला साक्षरता में प्रगति की और इसे 439 प्रतिशत तक बढ़ाया । हम देखते है कि दो दशकों में इसमें 30 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई और देश में अपना स्थान 34 वें स्थान की जगह 29वें स्थान पर दर्ज करवाया है ।

देश में साक्षरता के क्षेत्र में समानता नहीं है । ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता का अनुपात बहुत कम है । इसका कारण ग्रामीण क्षेत्रों में शैक्षणिक संस्थाओं का विकास कम होना है । और लोगों में शिक्षा के प्रति जागरूकता का अभाव होना भी है । शिक्षा की कमी के कारण यही के लोग परम्परावादी, भाग्यवादी एवं निराशावादी हैं । इसी कारण जनसंख्या वृद्धि से होने वाले दुष्परिणामों को भी नहीं समझ सकते हैं । साक्षरता के विकास के फलस्वरूप ही यही की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को दूर किया जा सकता है ।

18.9 नगरीकरण (Urbanisation)

भारतीय जनगणना के अनुसार " शहर वह क्षेत्र है जिसकी जनसंख्या पाँच हजार या इससे अधिक है तथा जो शहरी क्षेत्र की विशेषताओं को रखते हो ।" 1971 में शहर शब्द को अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है- " शहर वह क्षेत्र है जिसकी निम्नतम जनसंख्या 5000 है और जिसकी कार्यकारी जनसंख्या का कम से कम 75 प्रतिशत गैर-कृषि व्यवसायों में कार्यरत हो ।"

आर्थिक विकास का मापक नगरीकरण होता है । शहरों का विकास औद्योगिकरण का सूचक होता है । भारत में शहरों का विकास देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ होता गया है।

सारणी-18.16

भारत में ग्रामीण एवं शहरी जनसंख्या (1901-2001)

वर्ष	जनसंख्या ग्रामीण (प्रतिशत)	जनसंख्या शहरी (प्रतिशत)
1991	89.16	10.84
1911	89.71	10.29
1921	88.83	11.17
1931	88.01	11.99
1941	86.15	13.85
1951	82.71	17.29
1961	82.03	17.97
1971	76.30	23.70
1991	74.28	25.72
2001	72.19	27.81

सारणी 18.16 के अवलोकन करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि 1901 एवं 1911 के दशकों में मात्र 10.84 प्रतिशत जनसख्या ही शहरी क्षेत्रों में निवास करती थी । देश में ग्रामीण परिवेश अधिक था । 1941 तक शहरी क्षेत्रों में मामूली वृद्धि होती रही है । 1951 के दशक में शहरी जनसंख्या में अप्रत्याशित वृद्धि दर्ज की गयी और यह 13.85 प्रतिशत से बढ़कर 17.29 प्रतिशत हो गयी । 1961 के दशक में मामूली सी वृद्धि (.68 प्रतिशत) हुई । इसके पश्चात् अप्रत्याशित वृद्धि 1971-81 के दशक में दर्ज की गयी इसमें शहरी जनसंख्या 19.91 से बढ़कर

23.70 प्रतिशत हो गयी । 1981-91 में 23.70 प्रतिशत से बढ़कर 25.72 प्रतिशत और 1991 से 2001 में बढ़कर 27.81 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करने लगी है । 1901 से 2001 तक के समय में शहरी जनसंख्या में सर्वाधिक वृद्धि 1941-51 के दशक में 3.44 प्रतिशत और 1971-81 के दशक में 3.79प्रतिशत दर्ज की गयी है । उपरोक्त सारणी के अध्ययन से हम देखते है कि लगातार शहरी जनसंख्या में वृद्धि होती रही है और यह 10.84 प्रतिशत से बढ़कर ' 27.81 प्रतिशत हो गयी है ।

सारणी-18.17

राज्यों एवं केन्द शासित प्रदेशों में ग्रामीण एवं नगरीय जनसख्या (2001)

क्रम संख्या	राज्य / केन्द्र शासित प्रदेश	ग्रामीण	नगरीय
	भारत	72.19	27.81
1.	दिल्ली	6.82	93.18
2.	चंडीगढ़	10.23	89.77
3.	पांडिचेरी	34.43	66.57
4.	गोवा	50.24	49.76
5.	मिजोरम	50.34	49.66
6.	लक्षद्वीप	55.54	44.46
7.	तमिलनाडु	55.96	44.04
8.	महाराष्ट्र	57.57	42.43
9.	गुजरात	62.64	37.36
10.	दमन और दीव	63.75	36.25
11.	कर्नाटक	66.01	33.99
12.	पंजाब	66.08	33.92
13.	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	67.37	32.63
14.	हरियाणा	71.08	28.92
15.	पश्चिमी बंगाल	72.02	27.98
16.	आंध्रप्रदेश	72.70	27.30
17.	मणिपुर	73.42	26.58
18.	मध्यप्रदेश	73.54	26.46
19.	केरल	74.04	25.96
20.	उत्तरांचल	74.33	25.67
21.	जम्मू और कश्मीर	75.19	24.81
22.	राजस्थान	76.61	23.39
23.	दादर और नगर हवेली	77.11	22.89

24.	झारखण्ड	77.76	22.24
25.	उत्तरप्रदेश	79.22	20.78
26.	अरुणाचल प्रदेश	79.25	20.75
27.	छत्तीसगढ़	79.91	20.09 28.
28.	मेघालय	80.42	19.58
29.	नागालैण्ड	82.77	17.23
30.	त्रिपुरा	82.94	17.06
31.	उड़ीसा	85.00	15.00
32.	असम	87.10	12.90
33.	सिक्किम	88.93	11.07
34.	बिहार	89.54	10.46
35.	हिमाचल प्रदेश	90.20	9.80

सारणी - 18.17 के अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि देश के सभी राज्यों में नगरीकरण का विकास समान रूप से नहीं हुआ है । कुछ प्रदेशों में निवास करने वाली जनसंख्या ग्रामीण जनसंख्या से अधिक है और अधिकतर प्रदेशों में ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत शहरी जनसंख्या से अधिक है । इस दृष्टि से देखने पर हम पाते है कि मात्र तीन केन्द्र शासित प्रदेश दिल्ली, चण्डीगढ़ और पांडिचेरी में ग्रामीण जनसंख्या शहरी जनसंख्या से कम है । दिल्ली मे मात्र 6.82 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है और 93.18 प्रतिशत जनसंख्या नगरों में निवास करती है। देश में नगरीय जनसंख्या रहने वाले प्रदेशों में दिल्ली का स्थान प्रथम है । चण्डीगढ़ में 89.77 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में रहती है । इसका स्थान दूसरा है और पाण्डिचेरी 66.67 प्रतिशत नगरीय जनसंख्या के साथ तीसरे स्थान पर है । दो राज्य गोवा और मिजोरम ऐसे हैं जहाँ पर ग्रामीण एवं शहरी जनसंख्या का प्रतिशत लगभग बराबर है । गोवा में ग्रामीण क्षेत्र में 50.24 प्रतिशत और नगरीय क्षेत्र में 49.76 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है और मिजोरम में 50.34 प्रतिशत ग्रामीण और 49.66 प्रतिशत नगरीय जनसंख्या है ।

देश के 15 राज्यों में नगरीय जनसंख्या, राष्ट्रीय औसत 27.81 प्रतिशत से अधिक है और 20 राज्यों में राष्ट्रीय औसत से कम है । हिमाचल प्रदेश में 9.80 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करती है और इसका देश में 35 वां स्थान है। 34 वें स्थान पर बिहार है जहाँ 10.46 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में रहती है ।

राजस्थान में नगरों में निवास करने वाली जनसंख्या का प्रतिशत राष्ट्रीय औसत से कम रहा है । यहाँ पर 1971 में 17.63 प्रतिशत, 1981 में 21.05 प्रतिशत, 1991 में 22.88 प्रतिशत और 2001 में 23.39 प्रतिशत जनंसख्या नगरों मे निवास करती थी । इसका अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि 1971 से 1981 के दशक में सर्वाधिक नगरीय जनसंख्या में वृद्धि (3.42 प्रतिशत) हुई है । 1981 से 1991 के दशक में 1.83 प्रतिशत और 1991 से

2001 के दशक में मात्र 0.51 प्रतिशत वृद्धि हुई है । इस प्रदेश में ग्रामीण जनसंख्या अधिक है।

भारत में नगरीकरण के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी है:-

1. आवागमन के साधनों का विकास
2. ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अभाव में नगरों की और रोजगार के लिए प्रस्थान
3. भूमिहीन श्रमिकों का मजदूर के रूप में शहरों में बस जाना।
4. शहरों के औद्योगिकरण के कारण रोजगार के लिए आना ।
5. शहरों में आधारभूत सुविधाओं जैसे:- पानी बिजली आवागमन के साधन, चिकित्सा सुविधा एवं शिक्षा की उपलब्धता के कारण लोगों का नगरों में आवास करना ।

18.10 सारांश (Summary)

भारत में प्राचीन काल से 1000 ई. तक जनसंख्या वृद्धि कम रही है । इसका कारण उस समय देश में जन्म दर और मृत्यु दर दोनों ही बहुत थी । देश में अकाल, बाढ, महामारी, प्लेग, चेचक इत्यादि के कारण मृत्यु दर बहुत अधिक थी । स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं की कमी और जानकारी का आशय भी मृत्यु दर अधिक होने का कारण थे। इन कारणों से एक बहुत लम्बे समय तक जनसंख्या वृद्धि स्थिर सी बनी रही । आधुनिक काल में चिकित्सा संबंधी अनुसंधानों एवं सुविधाओं के विस्तार से महामारी, बीमारियाँ इत्यादि पर रोक लग जाने के कारण, बाढ़ और अकाल पर नियंत्रण कर लिये जाने के कारण मृत्यु दर में गिरावट आयी । इससे जनसंख्या वृद्धि होने लगी । 1901 से 1961 तक जनसंख्या वृद्धि कम रही, लेकिन 1971 में जनसंख्या विस्फोट की स्थिति रही । इसके बाद जनसंख्या वृद्धि दर में गिरावट आती रही है ।

वर्तमान समय पर जन्म दर 26.1 प्रति हजार है और मृत्यु दर 8.7 प्रति हजार है । इससे यह पता चलता है कि जन्म दर अधिक है और मृत्यु दर काफी कम है । इस कारण से जनसंख्या वृद्धि अधिक है । जनसंख्या वृद्धि अधिक होने से जनसंख्या घनत्व में वृद्धि होती रही है । यह 1901 में 77 से बढ़कर 2001 में 325 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर हो गयी । हालांकि जन घनत्व देश के सभी राज्यों में समान नहीं है इसके लिए भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक कारण जिम्मेदार है । देश में लिंग अनुपात की स्थिति स्त्रियों के विपक्ष में है । प्रति एक हजार पुरूषों के पीछे 1901 में 972 थी जो घटकर 2001 में 933 हो गयी । यह स्थिति देश के लिए, समाज के लिए हानिकारक है । राज्यों में भी लिंग अनुपात की स्थिति में भिन्नता है । देश में केरल और पांडिचेरी में ही 2001 में पूरूषों से स्त्रियों की संख्या अधिक रही है ।

देश में शिक्षा के स्तर में सुधार हुआ है । 1951 में यहाँ पर 18.33 प्रतिशत व्यक्ति शिक्षित थे जो बढ़कर 2001 में 64.8 प्रतिशत हो गये । पुरूषों की तुलना में स्त्री शिक्षा के स्तर में अधिक वृद्धि हुई है । यह 8.86 प्रतिशत (1951 में) से बढ़कर 2001 में 53.7 प्रतिशत हो गया लेकिन फिर भी यह पुरूषों की शिक्षा में स्तर से काफी पीछे है । शिक्षा के क्षेत्र

में भी देश में एक रूपता नहीं है । देश में नगरीकरण की प्रक्रिया की गति 1961 तक धीमी थी इसके बाद इसमें वृद्धि हुई और यह 1901 में 10.64 प्रतिशत से बढ़कर 2001 में 27.81 प्रतिशत हो गयी । नगरीकरण सभी प्रदेशों में समान गति से नहीं बढ़ा है । उन राज्यों में अधिक तेजी से बढ़ा है जहाँ पर औद्योगिकरण अधिक है आधारभूत सुविधाएं अधिक है, रोजगार के अवसर अधिक है ।

18.11 अभ्यार्थ प्रश्न

अ. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए:-

1. राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों की दशकीय वृद्धि दर की व्याख्या कीजिए ।
2. भारत में लिंग अनुपात की स्थिति की विस्तृत विवेचना कीजिए ।
3. देश में नगरीकरण पर एक टिप्पणी लिखिए ।
4. भारत के शैक्षिक स्तर पर पद टिप्पणी लिखिए ।
5. भारत में जनसंख्या घनत्व पर एक टिप्पणी लिखिए ।
6. देश में जन्म दर की स्थिति स्पष्ट कीजिए ।
7. देश में मृत्यु हर की विवेचना कीजिए
8. देश मे ऊँची जन्म दर के कारणों की व्याख्या कीजिए ।

18.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. आशिष बोस: 'डेमोग्राफिक डाइवरसिटी ऑफ इण्डिया' 1991, सेन्सस, बी. आर पब्लिशिंग कार्पोरेशन नई दिल्ली-7, 1991
2. सेन्सस ऑफ इण्डिया- 2001
3. वी. सी. सिन्हा एवं आर. एन. दुबे: "भारत की आर्थिक समस्याएं," लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1972

इकाई-19

विज्ञान, प्रौद्योगिकी, पर्यावरण एवं प्रदूषण

इकाई को रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 विज्ञान और प्रौद्योगिकी
19.3 पर्यावरण- परिभाषा एवं पर्यावरणीय जन चेतना
19.4 पर्यावरण प्रदूषण
19.4.1 जल प्रदूषण
19.4.2 वायु प्रदूषण
19.4.3 नाभिकीय प्रदूषण
19.4.4 मृदा प्रदूषण
19.4.5 ध्वनि प्रदूषण
19.5 प्रदूषण के कारण
19.6 प्रदूषण तत्व एवं उनके प्रभाव
19.7 नियंत्रक विधियां
19.8 पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन
19.10 पर्यावरण कानून
19.11 महत्वपूर्ण बिन्दु
19.12 प्रश्नावली

19.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थी को विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अर्थ को स्पष्ट करना है । विकास के परिणामस्वरूप प्रौद्योगिकी से पर्यावरण में हो रहे महत्वपूर्ण परिवर्तनों एवं प्रदूषण से आपको अवगत करना है । इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेगें कि:

- पर्यावरण किसे कहते है?
- पर्यावरण प्रदूषण कितने प्रकार के है एवं उनके क्या प्रभाव पडते है?
- पर्यावरण प्रदूषण का नियंत्रण किस प्रकार किया जा सकता है?

19.1 प्रस्तावना (Introduction)

विज्ञान के माध्यम से प्राप्त शक्ति से मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का सपना संजोया है । आकाश के पार चन्द्रमा की धरती पर पैर रखना तथा मंगल गृह के वायु मंडल की खोज मानव को विज्ञान ही की देन है । विज्ञान के साथ प्राप्त औद्योगिकी का

उपयोग औद्योगिकीकरण के साथ जहां मानव को उपभोक्ता बना रहा है वही पर्यावरण में प्रदूषण को भी बढ़ावा दे रहा है । इस इकाई में आप विज्ञान, प्रौद्योगिकी. पर्यावरण और प्रदूषण के विभिन्न तथ्यों की जानकारी विस्तार से प्राप्त कर सकेंगे ।

इस जानकारी से शिक्षार्थी में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की जानकारी प्राप्त हो सकेगी । शिक्षार्थी पर्यावरण को शुद्व व स्वच्छ रखने हेतु जागरूक हो सकेगें तथा विभिन्न प्रकार के प्रदूषण के बारे में जानकर उन्हें रोकने के प्रयास में सहभागी हो सकेंगे ।

सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत कम थी इसीलिए वह प्रकृति से स्वत: प्राप्त संसाधनों द्वारा ही अपना कार्य बड़ी सरलता से चला लेता था । विज्ञान ने आज मनुष्य को द्रुतगामी बना लिया है और उसके सारे कार्य पलक झपकते ही सम्पन्न होने से उसे विज्ञान का महत्व बहुत ही तेजी से समझ में आ गया है । विज्ञान ने ही मनुष्य को सरपट भागना सिखाया तथा उसे पूर्णत: अपनी गिरफ्त में ले लिया । विश्व की बढ़ती जनसंख्या से विज्ञान और अधिक शक्तिशाली बनकर प्रौद्योगिकी के साथ प्राकृतिक संसाधनों को समाप्त करने में अपनी अचूक भूमिका निभा रहा है और मानव अपनी सभ्यता के अस्तित्व पर मंडराते बादलों से अनभिज्ञ विज्ञान की प्रगति को ही स्वयं की प्रगति समझने की भूल करता जा रहा है। यह सच है कि विज्ञान का मानव विकास में विशेष महत्व है तथापि विज्ञान के विकास में निहित खतरों की अनदेखी भी नहीं करनी चाहिए ।

19.2 विज्ञान और प्रौद्योगिकी (Science and Technology)

विज्ञान के माध्यम से पनपी प्रौद्योगिकी ने देश, काल, वातावरण की परवाह किये बिना अपने अस्तित्व के विशेष ध्वज से विकास की पताका फहराकर मानव जीवन को सुगम तथा सरल बनाने में सहयोग कर मानवता पर कुठाराघात किया है । प्रौद्योगिकी के कारण मानव को प्राकृतिक संसाधनों से हाथ धोना पड़ रहा है तथा वायु जल, मृदा एवं शोर के प्रदूषण के कारण विभिन्न बीमारियों के साथ जीना सीखना पड़ रहा है जो निश्चित ही एक आत्मघाती कदम है जिसका श्रेय प्रौद्योगिकी के विकास को ही दिया गया है । सतत विकास की अवधारणा के मूल में स्थित प्रकृति के साथ प्रौद्योगिकी एवं मानव के समझने से ही प्रौद्योगिकी का प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक उपयोग संभव हो सकता है अन्यथा वह दिन दूर नहीं होगा जब मानव को विकसित प्रौद्योगिकी से प्राप्त लाभों को अस्पताल में रोगी रूप में भर्ती होकर उठाना पडेगा। प्रौद्योगिकी का समुचित उपयोग पर्यावरण मित्र के रूप में होकर सतत विकास की अवधारणा को बल प्रदान करने के रूप में होना आज समय की आवश्यकता है ।प्रौद्योगिकी का विकास निश्चित ही हमारी जरूरत है परन्तु प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप प्रकृति प्रदत्त उन्मुक्त शक्तियों का विनाश जल,वायु मृदा, एवं ध्वनि के प्रदूषण के रूप में कोई भी नही चाहेगा । अकेले सिर्फ तेल पीरवहन टैंकरो द्वारा लगभग 285 मिलियन गैलन तेल समुद्र में प्रवेश कर जाता है । इतने तेल से समुद्र की सतह पर लगभग 20 फीट चौड़ी आधा इंच मोटी व 13816 किलोमीटर (8633 समुद्री मील) लंबी परत बन जाती है ।

प्रौद्योगिकी विकास से पर्यावरण हनन का उपरोक्त उदाहरण अन्य प्रौद्योगिकी प्रदत्त क्रियाकलापों का एक सोच मात्र है जिसके माध्यम से हम विज्ञान के महत्व को सीमित

प्रौद्योगिकी के साथ पर्यावरण के हित में सोचने को विवश हैं। द्वितीय महायुद्ध में प्रयुक्त हुए अणु बम से यह सिद्ध हो गया है कि वर्तमान काल में प्रौद्योगिकी की उपलब्धता का उपयोग यदि सही ढंग से नहीं किया गया तो मनुष्य का स्वयं का जीवन भी खतरे में पड़ जायेगा

19.3 पर्यावरण परिभाषा एवं पर्यावरणीय जन चेतना

सामान्यतया पर्यावरण का अर्थ हमारे चारों ओर उपस्थित वातावरण परिवेश आदि से लगाया जाता है जिसमें कि हम रहते है अर्थात जीवन की परिस्थितियों के समस्त तथ्य मिलाकर पर्यावरण का निर्माण करते है तथा जीव अपने पर्यावरण से और पर्यावरण जीवों से प्रभावित होता है ।

मानव अपनी भौतिक सुख सुविधा एवं निरंतर बढ़ती महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए प्राकृतिक वनसंपदा का जिस तेजी से दोहन कर रहा है उसका परिणाम धीरे-धीरे सामने आ रहा है । मानव ने सर्वाधिक दोहन दन संपदा का किया है । वन न केवल प्राकृतिक संतुलन बनाए रखते है बल्कि इनसे स्वच्छ वातावरण भी मिलता है । लेकिन आज वनों के कटने से प्राकृतिक असंतुलन बढ़ गया है । उसी का परिणाम है कि धरती का तापमान बढ़ने लगा है तथा वर्षा का अभाव हो रहा है। कल कारखानों बढ़ते यातायात के साधनों से निकलते धुएं से वातावरण आच्छादित हो रहा है । व्यक्ति को जीवन की पहली आवश्यकता शुद्ध प्राणवायु का अभाव हो रहा है । ऐसे में यदि व्यक्ति पर्यावरण को शुद्ध व स्वच्छ बनाने में अपना कर्तव्य नही निभायेंगे तो आने वाला कल उन्ही के लिए अभिशाप बन जाएगा ।

निरंतर बढ़ते प्रदूषण के कारण पर्यावरण का हास हो रहा है । घरेलू अपशिष्टों, उद्योगों एवं कारखानों से निकला कचरा, अस्पतालों द्वारा निकला कचरा धीरे-धीरे मृदा का अपक्षरण कर रहा हे । रासायनिक उर्वरकों के बढते उपयोग के कारण कृषि उत्पादन पर वितरित प्रभाव पड़ रहा है । इस समस्या के समाधान हेतु आवश्यकता है हम पर्यावरण संतुलन की दिशा में सशक्त कदम उठाएं।

वर्तमान पर्यावरणीय समस्याओं का मूल कारण हमारी सामाजिक और आर्थिक अवधारणाएं हैं । विकास योजना बनाते समय पर्यावरण को फैशन की तरह माना जाता है जिसमें व्यक्ति कपडे बदल कर स्वयं को नया समझने का झूठा अभिमान पालता है । परन्तु पर्यावरण में शुद्ध जल, वायु मृदा वनस्पति एवं जीव जन्तु तथा शांति निश्चित ही पर्यावरण को यथार्थ के रूप में प्रकट करते है जिनके बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नही है । यह ध्यान नही दिया जाता कि प्राकृतिक संसाधन सीमित है जिनका एक निश्चित सीमा तक ही पुन: उपयोग किया जा सकता है । आर्थिकविकास के लिए इस सीमा को पार नही करना चाहिए क्योंकि संसाधनों के अत्यधिक उपयोग से विकास क्षमता कम हो जाती है और आर्थिक गतिविधियों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थों के कारण भविष्य में उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । इस प्रकार आर्थिक विकास से मोह और सामाजिक लक्ष्यों में परस्पर विराधोभास उत्पन्न हो जाता है ।

हाल ही के कुछ वर्षो से यह अनुभव किया जाने लगा है कि जीवन स्तर में सुधार के लिए प्राकृतिक संसाधनों के अनुरूप विकास लक्ष्य निर्धारित किया जाना चाहिए । वहन क्षमता पर आधारित योजना प्रकिया, ऐसी नई प्रौद्योगिकी जिसमें कच्चे माल और उर्जा के कारगर

उपयोग से उत्पादन बढाया जा सके ऐसे उद्योगो की स्थापना के लिए जिनमें अधिक संसाधनों की आवश्यकता न पडे, आर्थिक ढांचे में परिवर्तन तथा निवारक पर्यावरणीय नीति द्वारा विकास के लक्ष्यों और पर्यावरण में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है ।

विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में विकास के लक्ष्यों और नीतियों के कारण उत्पन्न पर्यावरणीय समस्याओं का विश्लेषण तथा सतत विकास के सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पर्यावरण-मित्र या स्वच्छ प्रौद्योगिकी को विशेष महत्व आज समय की आवश्यकता समझा गया है ।

19.4 पर्यावरण प्रदूषण

पर्यावरण प्रदूषण की समस्या आज एक ज्वलंत समस्या बन गई हैं । हम जानते है कि सभी जीवधारी अपनी वृद्धि विकास एवं सुव्यवस्थित रूप से अपना जीवन-क्रम चलाने के लिए संतुलित वातावरण पर निर्भर करते है । संतुलित वातावरण में प्रत्येक घटक लगभग एक निश्चित मात्रा एवं अनुपात में उपस्थित होता है परन्तु कभी-कभी वातावरण में एक अथवा अनेक घटकों की मात्रा या तो आवश्यकता से अधिक बढ़ जाती है अथवा वातावरण में अन्य हानिकारक घटकों का प्रवेश हो जाता है जिस कारण वातावरण दूषित हो जाता है और जीवधारियों के लिए किसी न किसी रूप में हानिकारक सिद्ध होता है । यह प्रदूषण कहलाता है ।

प्रदूषण वायु जल एवं स्थल की भौतिक, रासायनिक और जैविक विशेषताओं का वह अवांछनीय परिवर्तन है जो मनुष्य और उसके लिए लाभदायक जंतुओं, पौधो, औद्योगिक संस्थानों तथा दूसरे कच्चे माल इत्यादि को किसी मी रूप में हानि पहुंचाता है ।

जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ अस्वच्छता की समस्या की भी उत्पत्ति हुई है ।बड़े-बडे देशों में मल-मूत्र तथा कारखानों के पास औद्योगिक और रासायनिक कचरे में तेजी से बढने के कारण जल ही नही वायु और पृथ्वी भी प्रदूषण से परेशान है तथा भारत जैसे देश के पास मल-मूत्र घरेलू कचरे और गंदे जल को बहाने का प्रश्न प्रमुख है इस कारण विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देश प्रदूषण से पीड़ित है । उपरोक्त वर्णित संतुलित भौतिक वातावरण को तीन भागों में विभाजित किया जाता है:

1. **स्थल मंडल** इस वातावरण में चट्टाने, रेत इत्यादि है । इस भाग से पौधे अपने जीवन के लिए आवश्यक खनिज पदार्थ प्राप्त कर सकते है ।
2. **जल मंडल** इस वातावरण में स्थल मंडल पर उपस्थित जल है । जल नदी, झील, तालाब और समुद्र इत्यादि में पाया जाता है । सभी जीवधारियों के जीवन के लिए जल आवश्यक है ।
3. **वायु मंडल** स्थल और जल मंडल के उपर 200 मील तक वायु मंडल फैला है । वायु मंडल की बहुत सी गैसे जैसे आक्सीजन, कार्बन-डाईआक्साइड तथा नाइट्रोजन संतुलित मात्रा तथा अनुपात में उपस्थित होती है ।

19.4.1 जल प्रदूषण

जल सभी जीवधारियों के लिए महत्वपूर्ण है । सभी पौधे आवश्यक खनिज तल जल से घुली अवस्था में प्राप्त करते है । पौधों द्वारा निर्मित भोजन का स्थानान्तरण भी तरल रूप में

होता है। मनुष्य एवं अन्य जन्तुओं के लिए मी जल आवश्यक है । जल में बहुत से खनिज तत्व, कार्बनिक-अकार्बनिक पदार्थ तथा गैसें घुली होती है । यदि जल में घुले पदार्थ आवश्यकता से अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाते है अथवा कुछ ऐसे पदार्थ एकत्रित हो जाते है जो साधारणतया जल में उपस्थित नही होते तो जल हानिकारक हो जाता है और प्रदूषित जल कहलाता है । विभिन्न उपयोगों में आने वाले जल का प्रदूषण का कारण उसमें रोग उत्पन्न करने गले जीवाणु वाइरस (विषाणु, औद्योगिक संस्थानों से निकले अनावश्यक पदार्थ, अपतृणनाशी पदार्थ, दूसरे कार्बनिक पदार्थ जैसे कीटाणुनाशक पदार्थ तथा रासायनिक खाद है । जिस समय सीवेज को जलाशय में डाला जाता है तो जल में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है । सीवेज में उपस्थित जीवाणु कार्बनिक पदार्थो का ऑक्सीजन करते है जिसमें ऑक्सीजन का उपयोग होता है और जिससे. जल में बदबू हो जाती है ।

केन्द्रीय जल स्वास्थ्य इंजीनियरिंग अनुसंधान संस्थान के अनुसार भारत में प्रति 1,00,000 व्यक्तियों में से 60 व्यक्तियों की मृत्यु आन्त्र रोगों (टाइफाइड, पेचिश आदि) से होती है । जिसका कारण अशुद्ध जल है । शहरों में भी शत-प्रतिशत निवासियों के लिए स्वास्थ्यकर पेयजल का प्रबंध नही है । देहली जैसे शहर में प्रदूषित जल से महामारी के रूप में पीलिया रोग का प्रकोप कई बार हो चुका है । कही कही मलेरिया फिर से आने लगा है । देश के अनेक शहरों में पेयजल किसी निकटवर्ती नदी से लिया जाता है और प्राय: उसी दिन में उपचार के पश्चात (या बिना उपचार के ही) शहर का मल-मूत्र और कचरा तथा कारखानों से निकलने वाले बेकार द्रव्य प्रवाहित कर दिए जाते है । परिणामस्वरूप हमारे देश की अधिकांश नदियों का जल प्रदूषित होता जा रहा है गंगा की पवित्रता और शुद्धता को कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी ओर कलकत्ता के कारखाने नष्ट कर रहे है । गोमती के जल को प्रदूषित करने के लिए लखनऊ उत्तरदायी है तो भद्रावती के जल को गंदा करने के लिए आसपास के क्षेत्र में स्थित इस्पात, कागज और अन्य औद्योगिक संस्थान । यमुना की शुद्धता को देहली, मथुरा और आगरा के उद्योग प्रदूषित करते है । यही हालत राजस्थान के कोटा शहर में चंबल नदी की भी हो रही है ।जल प्रदूषण को मापने के लिए बायोकैमिकल ऑक्सीजन डिमांड परीक्षा की जाती है। इस परीक्षा में आक्सीजन की वह मात्रा मापी जाती है जो जल के एक नमूने में जीवाणुओं द्वारा कार्बनिक पदार्थो को नष्ट करने के लिए आवश्यक होती है । घर की गंदी नाली से निकले गंदे पदार्थो की बी.ओडी. 200-400 पीपीएम. की ऑक्सीजन (एक लीटर गंदे जल के लिए) होती है । पीने के स्वच्छ जल की बीओडी 1 पीपीएम. (पार्ट पर मिलियन) से कम होनी चाहिए ।

19.4.2 वायु प्रदूषण

वायु मंडल में विभिन्न प्रकार की गैसें, जीवधारियों की अनेक क्रियाओं के द्वारा एक विशेष अनुपात में उपस्थित रहती है । इन गैसो का असंख्य जीवधारियों और वायुमंडल के बीच चक्रीकरण होता रहता है । जीवधारियों के द्वारा ही ऑक्सीजन एवं कार्बन-डाइऑक्साइड वायुमंडल में संतुलित मात्रा में रहती है । श्वसन द्वारा कार्बन-डाइओंक्साइड उत्पन्न होकर वायुमंडल में मिलती रहती है और ऑक्सीजन वातावरण से जीवधारियों द्वारा निरंतर ली जाती रहती है । हरे पौधे प्रकाश की उपस्थिति में कार्बन-डाइऑक्साइड लेकर ऑक्सीजन निष्कासित

करते रहते है जिससे वातावरण में ऑक्सीजन और कार्बन-डाइऑक्साइड का संतुलन बना रहता है। परन्तु मनुष्य विभिन्न प्रकार से इस संतुलन को नष्ट करता रहता है । मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार वनों को काटता है तथा विभिन्न औद्योगिक संस्थानों के वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड क्लोराइड, सल्फर डाइऑक्साइड SO_2, सिलिकन टेट्राफलोराइड और कार्बन करण वायुमंडल में प्रविष्ट होते रहते है । औद्योगिक चिमनियों से निष्कासित गैस SO_2, का प्रदूषकों में प्रमुख स्थान है। SO_2, रन्ध्रों के द्वारा पत्तियों में प्रदेश करती है और हीरतलवकों को नष्ट करती है, जीवद्रव कुंचन करती है तथा पर्णमध्योतक को नष्ट करती है । इसके प्रभाव से पत्तियों के किनारे और नसों के मध्य का स्थान सूख जाता है। उन सान्द्रता में पौधों की कौशिकाओं की मृत्यु भी हो सकती लै । इसके अतिरिक्त वायु में उपस्थित नमी का अवशोषण कर SO_2, सल्फ्यूरिक अम्ल बनाती है जिससे पौधों के उतक नष्ट हो जाते है । उच्च सान्द्रता में श्वास नली के रास्ते हमारे फैफडों में जाकर क्षति पहुंचाती है तथा पत्थरों, स्टील, कागज इत्यादि पर भी SO_2 का बुरा प्रभाव पड़ता है । यह गैस इन पदार्थो का क्रमिक क्षयीकरण करती है । प्रसिद्ध ऐतिहासिक धरोहर ताज महल को प्रदूषण इसी गैस की देन है ।

जेट विमान, मोटर, स्कूटर वू दूसरी मशीनरी, गाड़िया, जिनमें पेट्रोल, मोबिल आयल, डीजल, मिट्टी का तेल आदि विभिन्न प्रकार के कार्बनिक पदार्थ जलाकर अथवा कोयला जलाकर उर्जा उत्पन्न की जाती है,से निकला धुंआ भी प्रदूषण का कारण है । वायुमंडल में ओजोन, रबर इत्यादि को हानि पहुंचाती है । मल-मूत्र से विषैली गैसे भी मेन होलो से निकलकर छायादार वृक्षों का वृद्धिरोधन, पूर्ण विलग्र तथा उत्पादक-ह्रास करती हैं

वायु-प्रदूषण से मनुष्य के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है । इससे श्वसन सम्बन्धी बहुत से रोग जैसे फैंफडो कैंसर, अस्थमा और फैफडो से सम्बंधित दूसरे रोग हो जाते है । वायु में वितरित बहुत सी धातुओं के कण बहुत से रोग उत्पन्न करते है । सीसे के कण नाड़ी-मंडल के रोग उत्पन्न करते है । कैडमियम श्वसन-विष का कार्य करता है रक्त दाब बढाकर हृदय सम्बंधी बहुत से रोग उत्पन्न करता है । नाइट्रोजन ऑक्साइड से फैफडो, हृदय और आखों के रोग हो जाते है । ओजोन आंख के रोग, खांसी एवं सीने की दुखन उत्पन्न करती है । इस प्रकार प्रदूषित वायु एग्जीमा, मुंहासे तथा एन्थेक्स इत्यादि उत्पन्न करती है । लोहे की खानों मे यदि लौह अयस्क की धूल में सिलिका धुल मिल जाये तो खनिजों को लौह सकितमयता रोग हो जाता हैं । लगभग 24 प्रतिशत खनिक इस रोग से ग्रस्त पाये जाते है ।

हमारे देश में कोयले की अनेक खाने हैं जिनमें खनिकों को फुक्फस धूलिमयता काफी मात्रा में होती है । धनबाद में एक परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि 3.7 प्रतिशत खनिक इस रोग से पूर्णतया ग्रस्त थे तथा 11.7 प्रतिशत को इसके होने की आशंका थी । झरिया क्षेत्र खनिकों में 19 प्रतिशत इस रोग से पीड़ित पाए गए ।

स्मोग में विशेष रूप से नाइट्रोजन के ऑक्साइड तथा हाइड्रोक्रार्बन्स पाये जाते है जो इंजन से निकलते है । ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के मिलने से नाइट्रिक ऑक्साइड बनती है । यह हवा से मिलकर नाइट्रोजन डाइऑक्साइड बना लेती है जो भूरे रंग की तीखी गैस है । यह

गैस प्रकाश का अवशोषण करती है जिसके नाइट्रिक ऑक्साइड और ऑक्सीजन का एक परमाणु बन जाता है । यह नेसन्ट ऑक्सीजन बहुत क्रियाशील होती है । नेसन्ट ऑक्सीजन ऐसे अणुओं के साथ बहुत शीघ्रता से क्रिया करती है । जिनमें बगैर जले हाइड्रोकार्बन्स होते हैं । इस क्रिया से हाइड्रोकार्यन मूलक बन जाते है जो ऑक्सीजन के अणुओं से मिलकर ओजोन बना लेते है या नाइट्रोजन डाईऑक्साइड से मिलकर पर ऑक्सीएसीटिल नाइट्रेट बना लेते है । ओजोन और पी.ए.एन. दोनों ही पौधो के लिए अत्यन्त हानिकारक है । पी.ए.एन. प्रकाश संश्लेषण के प्रकाश कर्म के चलने में बाधा पहुंचाता है और ओजोने वाष्पोत्सर्जन की क्रिया को तीव्र करती है । पी.ए.एन. आखो में जलन पैदा करता है दोनों मिलाकर छोटी-छोटी बूदें बना लेते है जो कि वायु में मिलकर धुंध बना लेती है ।

वायु प्रदूषण से मनुष्य के फैफडों में सूजन उत्पन्न होती है । जिस समय फैंफड़ों को उत्तेजित करने वाला कोई पदार्थ के रूप में फैफडे तक पहुंचता है तो वहां म्यूकस का स्त्रावण अधिक होने लगता है जिसके कारण श्वास नलियां बंद हो जाती है और मनुष्य लगातार खांसता रहता है । लगातार खांसने के कारण फैफडों की नलियों पर अधिक दबाव पड़ता है जिसमें एलवियोलाई की भित्तियां फट जाती है और सतह का क्षेत्रफल कम होने के कारण गैसों के आदान-प्रदान की क्रिया अर्थात् श्वसन-दर कम हो जाती है ।

19.4.3 नाभिकीय प्रदूषण

परमाणु शक्ति उत्पादन केन्द्रो और परमाणवीय परीक्षण से जल, वायु तथा पृथ्वी का प्रदूषण होता है जो आज की पीढी के लिए ही नही वरन आने वाली पीढीयों के लिए भी हानिकारक सिद्ध होता है । एक नाभिकीय विस्फोट के द्वारा इलेक्ट्रान, प्रोटोन के साथ ही साथ न्युट्रोन तथा (ऐल्फा) एवं (बीटा) कण प्रवाहित होते है जिनके कारण गुणसूत्रों पर उपस्थित जीन्स में उत्परिवर्तन उत्पन्न होते है जो आनुवांशिक है । नाभिकीय विस्फोट से विस्फोटन के स्थान पर तथा उसके आसपास बहुत अधिक हानि होती है और लंबी अवधि में यह समस्त संसार के लिए भी हानिकारक होता है । इस प्रकार के विस्फोट से लंदन, न्यूयार्क तथा देहली जैसे बडे शहर भी शीघ्र ही नष्ट किए जा सकते है तथा वैज्ञानिकों के पास अभी तक इससे बचाव के कोई साधन नही है । प्राय: 16 किलोमीटर तक चारों ओर के स्थान में इससे सारी लकडी जल जाती है । विस्फोटन के स्थान पर तापक्रम इतना अधिक हो जाता है कि धातु तक पिघल जाती है । एक विस्फोटक के समय उत्पन्न रेडियोधर्मी पदार्थ वायुमंडल की राह में ठोस अवस्था में बहुत छोटे धूल के कणों के रूप में वायु में विसरित होते रहते है और वायु के झोको के साथ समस्त संसार में फेल जाते है ।

कुछ वर्षा के पश्चात् ये रेडियोधर्मी बादल धीरे-धीरे पृथ्वी पर बैठने लगते है । सभी नाभिकीय विस्फोटनों के द्वारा प्राय: 5 प्रतिशत रेडियोधर्मी स्ट्रांन्शियम-90 मुक्त होता है जिससे जल वायु तथा भूमि का प्रदूषण होता है । यह घास तथा शको मे प्रवेश पा जाता है और इस प्रकार से यह गाय व दूसरे दूध देने वाले पशुओ के द्वारा मांस के द्वारा मनुष्य के शरीर में प्रवेश पा जाता है जहां पर यह हड़ड़ियों में प्रदेश कर कैंसर तथा अन्य आनुवांशिक रोग उत्पन्न करता है । बच्चों में यह अधिक हानि पहुंचाता है द्वितीय महायुद्ध में नागासाकी तथा हीरोशिमा

में हुए परमाणु बम के विस्फोट से बहुत से लोग अपंग हो गये थे और बहुत से रोगसंतीत में उत्पन्न हुए।

19.4.4 मृदा प्रदूषण

जनसंख्या में वृद्धि के साथ साथ खाद्य पदार्थों की आवश्यकता भी बढती रहती है । भूमि की उर्वरकता बढाने के लिए विभिन्न प्रकार से रासायनिक खाद मिलाए जाते है । पौधों को कीटाणुओं. चूहों, जीवाणुओं तथा परजीवी कवको से बचाने के लिए डी.डी.टी. इत्यादि कीटाणुनाशक पदार्थ फसलों पर छिडके जाते है । ये पदार्थ ठोस, द्रव्य या गैसों के रूप में होते है । इसी प्रकार बहुत से अपतृणनाशी रासायनिक पदार्थ जैसे 2,4-डी एवं 2,4.5-टी भी फसलों पर छिडके जाते है । इनमें से बहुत से पदार्थ मिट्टी में मिलकर भूमि प्रदूषण करते है जिससे भूमि की उत्पादन शक्ति का ह्रास होता है । इसके अतिरिक्त प्लास्टिक की थैलियो के अत्यधिक काम में लेने से थैलियों उडकर जमीन में धंस जाती है और मिट्टी की उर्वरा शक्ति को कम कर भूमि प्रदूषण बढाती है ।

19.4.5 ध्वनि प्रदूषण

अनेक प्रकार के वाहन जैसे मोटर, कार. बस, जेट विमान, ट्रेक्टर आदि तथा लाउडस्पीकर, बाजे एवं कारखानों के सायरनों तथा मशीनों से छीन प्रदूषण होता है । जीन की लहरे जीवधारियों की उपापचय क्रियाओं को प्रभावित करती है । अधिक तेज ध्वनि से मनुष्य की सुनने की शक्ति कम हो जाती है, नींद ठीक प्रकार से नही आती जिससे नाडी संस्थान सम्बंधी एवं नींद न जाने के रोग उत्पन्न होते है. और कमी कमी पागलपन का रोग उत्पन्न होता है । कुछ छीन छोटे-छोटे कीटाणुओं को नष्ट कर देती है जिस कारण बहुत से पदार्थो का प्राकृतिक रूप से अपघटन नही होता ।

19.5 प्रदूषण के कारण '–

प्रदूषण की रोकथाम का अध्ययन करने के पूर्व यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वायु जल तथा भूमि का प्रदूषण किन कारणों से होता है । प्रदूषण के कारण निम्नलिखित है:

1. **वाहितमल** नगर पालिकाओं में भूमिगत नालियों के द्वारा मकानों से निकलता मल-मूत्र प्राय: नदी, बडे तालाबों अथवा झीलों में डाल दिया जाता है । मूत्र में यूरिया होता है जिसके जलीय अपघटन द्वारा अमोनिया उत्पन्न होती है । गंदी नालियों में उपस्थित अन्य नाइट्रोजन यौगिकों के अपघटन से भी यह उत्पन्न होती रहती है । इस प्रकार जल प्रदूषित हो जाता है और इससे दुर्गन्ध फैलती है । इस प्रकार का जल पीने योग्ये नही रहता है न ही ऐसे जल का प्रयोग नहाने-धोने के लिए किया जा सकता है, क्योंकि ऐसे जल के प्रयोग से बहुत से चर्म रोग हो जाते है ।
2. **घरेलू अपमार्जक** घरेलू अपमार्जक ऐसे रासायनिक पदार्थ है. जो दुग्धशाला ब भोज्य सामग्री में उपयोगी दूसरे सामान, मकानों, अस्पतालों की सफाई तथा नहाने-धोने के काम आते है । इनमें बहुत से विभिन्न प्रकार के साबुन, सर्फ, टाइड. फैब इत्यादि है । ये पदार्थ नालियों

इत्यादि के द्वारा नदियों, तालाबों झीलो इत्यादि में चले जाते है । अपमार्जकों के कार्बनिक पदार्थो का पूर्ण रूप से ऑक्सीकरण न हो सकने कारण कार्बन-डाइऑक्साइड ऐल्कोहाल, कार्बनिक अस्त उत्पन्न हो जाते है जो जल को प्रदूषित करते है और प्राणियों को हानि पहुंचाते है ।

3. **कीटाणुनाशक पदार्थ** ये पदार्थ चूहे, कीडे-मकोडे जीवाणुओ कवकों आदि को मारने के लिए, खेतों, उद्यानों, गंदी नालियों इत्यादि में पौधों पर छिडके जाते है । ये पदार्थ ठोस, द्रव तथा गैस के रूप में होते है । डीडीटी. सफेद रंग का पदार्थ है जो चीटियों, मक्खियों, कीडे-मकोडे तथा मच्छरों को मारने के लिए काम में आता है । SO_2 रंगहीन गैस के रूप में मकानों को कीटाणु विहीन करने के लिए प्रयोग में आती है । इसी प्रकार फॉर्मेल्टीहाइड, क्लोरीन, क्रियोसोल, कार्बोलिक अम्ल, फिनाइल, पोटेशियम परमैंगनेट इत्यादि बहुत से पदार्थ कीटाणुओं को मारने के लिए प्रयोग किए जाते है । चूने को मकानों में सफेदी के रूप में तथा गंदी नालियों में पाये जाने वाले कीडे-मकोडे को मारने के लिए प्रयोग किया जाता है । चूने में क्लोरीन गैस का मिलाकर ब्लीचिंग पाउडर बनाया जाता है । यह कुओं तथा जल संग्रहालयों का जल शुद्ध करने के काम आता है । इन रासायनिक पदार्थ से हमें जितना लाभ होता हे उससे कही अधिक हानि भी हो जाती है । जैसे अनेक जंतुओं की मृत्यु उन पौधों तथा छोटे कीडों के खाने से हो जाती है जिन पर ये दवाईयां छिडकी गई हो । मच्छर मारने के लिए ये पदार्थ हवाई जहाज द्वारा छिडके जाते है जिससे अनेक पौधे व मछलियां इत्यादि मर जाती है। कीटनाशी दवाईयों के छिडकने से भूमि में रहने वाले कीडे केंचुए तथा कवक इत्यादि मर जाते है जिससे मृदा की उर्वरता नष्ट हो जाती है । कीटनाशी रासायनिक पदार्थ के प्रयोग से कभी कभी संतति पर भी बुरा प्रभाव पड सकता है ।

4. **अपतृणनाशीं पदार्थ** 2,4-डी एवं 2.45-टी तथा दूसरे पदार्थ जिनका प्रयोग खेतों में उत्पन्न खरपतवार को नष्ट करने के लिये किया जाता है मिट्टी में मिलकर भूमि-प्रदूषण करते है ।

5. **धुआँ** औद्योगिक चिमनियों, घरों में ईधन के जलाने तथा रेल के इंजन इत्यादि से धुंआ निकलकर वायु प्रदूषण करता है । धुंए में कार्बन-डाइऑक्साइड तथा जल की वाष्प मुख्य रूप से होती है । इसके साथ कार्बन-मोनोक्साइड अन्य कार्बनिक यौगिक नाइट्रोजन यौगिक भी होते है । जिनकी मात्रा बढ जाने पर वायु प्रदूषित हो जाती है, श्वसन में कठिनाई होती है तथा आंखों पर बुरा प्रभाव पडता है ।

6. **स्ववःचल निर्वातक** जेट विमान, ट्रेक्टर. मोटर. स्कूटर इत्यादि के पेट्रोल, डीजल, मिट्टी का तेल इत्यादि के जलने से गैसें उत्पन्न होती है जो वायु प्रदूषण करती है ।

7. **औद्योगिक उच्छिष्ट** औद्योगिक उच्छिष्टों के जल में मिलने से उसमें ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है । क्लोराइड, नाइट्रेट तथा सल्फेट आदि अत्यधिक बढ जाते है । कारखानों से निकले बेकार द्रव नदियों में डाले जाने के कारण हमारे देश की अधिकांश नदियों का जल प्रदूषित होता जा रहा है । इन पदार्थो का विषैला प्रभाव मछलियों तथा जलीय पौधों

के लिये हानिकारक होता है । सीसे, जस्ते, तांबे तथा लौहे के यौगिक जल में मिलकर विशेष रूप से उसको प्रदूषित करते है ।

8. **कूड़े-करकट तथा लाशों का सडना** विभिन्न जंतुओ की मृत्यु पर बहुत से जीवाणुओं के द्वारा उनकी लाशों के सडने पर, उनको प्रोटीन के अपघटन से उत्पन्न अमोनिया इत्यादि दुर्गन्ध मय पदार्थो से बाद प्रदूषित होती है । इसी प्रकार के कूडे के ढेर के विभिन्न जीवाणुओं द्वारा अपघटन स उत्पन्न अनेक दुर्गन्धमय पदार्थ एवं दूषित गैसे भी वायु को प्रदूषित करती है । कई धार्मिक स्थानों के पास की नदियों में मानव लाशों को बहाने से जल प्रदूषित हो जाता है ।

9. **रेडियोधर्मी पदार्थ** रेडियाधर्मी पदार्थो द्वारा भी रेडियाधर्मी प्रदूषण फैलता है ।

10. **जैविक प्रदूषक** कुछ रोग जैसे अस्थमा, जुकाम, एक्जीमा तथा त्वचा सम्बन्धी रोग कुछ जैविकों के कारण होते है जैसे कि कुछ कवको के बीजाणुओं, जीवाणु तथा कुछ उच्च वर्ग के पौधों के पोलन (परागकण)कीकर, शहतूत, अरण्ड, पारथीनियम एवं चिलबिल आदि ।

19.6 प्रदूषक तत्व एवं उनके प्रभाव

प्रदूषक हमारे द्वारा बनाये गये, प्रयोग में लाये गये अथवा हमारे द्वारा फेकें गये अनेक पदार्थो के अवशेष है । प्रदूषक वातावरण को किसी न किसी रूप मे प्रदूषित करते है । पारिस्थितिक तन्त्र की विचारधारा को ध्यान में रखते हुए प्रदूषकों को दो भागों में विभाजित किया जाता है -

1. **जीवधारियों द्वारा क्षयकारी प्रदूषक** हमारे निवास स्थान की गंदी नालियों द्वारा निकले कार्बनिक पदार्था की मात्रा इतनी रहती है कि, यदि सूक्ष्म जीवधारियों द्वारा उनका पूर्ण विघटन किया जा सकता है तो वे पारिस्थितिक तंत्र के लिए उपयोगी सिद्ध होते है, क्योंकि इस प्रकार उर्जा का उत्पादन होता है । परन्तु यदि वातावरण में इन प्रदूषकों की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि सूझ जीवधारियों द्वारा उनका विघटन पूर्ण रूप से नही हो पाता तो ऐसे पदार्थ वातावरण को प्रदूषित करने लगते है ।

2. **जीवधारियों दारा अक्षयकारी प्रदूषक ये प्रदूषक** (बहुत से रासायनिक पदार्थ)ई प्राकृतिक वातावरण में उपस्थित नही रहते । ऐसे पदार्थ उदाहरण के लिए एल्यूमीनियम, लौहा पारे के लवण, फिनोल के कुछ यौगिक और जिसका विघटन नही होता अथवा बहुत कम होता है वातावरण में एकत्रित होकर उसका प्रदूषण करते है । ऐसे पदार्थ प्रारम्म से ही हानिकारक होते है और यह हानि उनकी मात्रा के साथ-साथ बढती रहती हैं ।

19.7 नियंत्रक विधियां

सीवेज के जल में घरों एवं अन्य प्रतिष्ठानों से निकली गंदगी, कार्बनिक और अकार्बनिक पदार्थ तथा गुदा-मल से निकले बहुत से जीवाणु होत है जो रोग फैला सकते है । बस्ती के समस्त वाहितमल का एक ही निष्कासन स्थान होना उचित है । यदि बस्ती के बाहर काफी मात्रा में खाली भूमि हो तो वहां पर गंदा जल निकाला जा सकता है । जिससे कुछ जल वाष्प के रूप में उड़ जाता है तथा कुछ भूमिगत हो जाता है । नदी, तालाब तथा झीलों में डाले

जाने बाले मल-मूत्र से ऑक्सीजन की कमी हो जाती है जिससे वहां रहने बाली मछलियों के मरने की संभावना रहती है जिस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि सीवेज को जल में डालने से पूर्व उसे शुद्ध किया जाये ।

शुद्धिकरण में पहले गंदगी को विशेष छन्नो द्वारा अलग किया जाता है, फिर गंदगी को नीचे बैठने दिया जाता है । इस क्रिया से अकार्बनिक पदार्थ एवं कुछ कार्बनिक पदार्थ पृथक हो जाते है तथा शेष कार्बनिक पदार्थ निलंबित और घुली अवस्था में रह जाते 'है इन पदार्थो का खनिजीकरण किया जाता है जिससे यह पदार्थ अकार्बनिक पदार्थो में पीरवर्तित हो जाते है । यह ऑक्सीकरण द्वारा किया जाता है । इसमें या तो ऑक्सीजन कृत्रिम विधियों द्वारा जल में प्रविष्ठ की जाती है अथवा इसके लिए बहुत से हरे शैवालों द्वारा उत्पन्न ऑक्सीजन का प्रयोग किया जाता है । यह हरे शैवालों द्वारा प्रकाश-संश्लेषण क्रिया में होता है । गंदे जल में प्राय: वे सभी तल उपस्थित होते है जिनकी शैवालों को अपनी वृद्धि के लिए आवश्यकता होती है, जैसे कार्बन. नाइट्रोजन, फॉस्फोरस. सल्फर, पोटेशियम इत्यादि. परन्तु ये पदार्थ गंदे जल में जटिल कार्बनिक पदार्थो के यौगिकों के रूप में उपस्थित रहते है । शैवालों द्वारा प्रयोग में लाये जाने के लिए इन पदार्थो में CO_2, NH_2, SO_2, NO_2, PO_2 के रूप में ऑक्सीजन का होना आवश्यक है । यह कार्य शैवालों तथा जीवाणु की सहजीविता द्वारा किया जाता है । शैवाल जीवाणुओं के लिए ऑक्सीजन उत्पन्न करते है तथा जीवाणु इस ऑक्सीजन का प्रयोग करके अकार्बनिक पदार्थ बनाते है जो शैवालों द्वारा प्रयोग किए जाते है ।

1. सीवेज की गंदगी का शैवालों द्वारा शुद्धिकरण खुले तालाबों में किया जाता है ऐसे तालाबों को ऑक्सीकरण चाहिए । इसी प्रकार खेतों में कीटनाशक पदार्थ और खरपतवार नाशक पदार्थ छिडके गये हो उनमें से बहने वाले जल को पीने के जलाशयों इत्यादि से दूर रखना चाहिए । इसी प्रकार उद्योग-धंधों से निष्कासित बहुत से रासायनिक पदार्थो को भी पीने के जलाशयों तथा खेतों में न. डालकर ऐसे स्थान पर डाला जाना चाहिए जहां उनका उपचार संभव हो सके ।
2. रेडियोधर्मी विकिरण के प्रभाव से बचने के लिए परमाणु विस्फोट को कम किया जाना तथा पूर्ण रूप से रोका जाना चाहिए । रेडियोधर्मी पदार्थो का निपटान एक गंभीर समस्या है । अभी तक समुद्र ही इसके लिए उपयुक्त स्थान समझा जाता है जो भविष्य हेतु उचित है ।
3. रहने के मकान, सडकों के कुछ दूरी पर बनाए जाने चाहिए जिससे स्वत: जल निर्यातकों से निकले धुएँ और धूल के द्वारा प्रदूषण अधिक न होने पाये ।
4. घरों से निकले गोबर को बस्ती के बाहर कम्पोस्ट गड्ढों में डाला जाना चाहिए जिससे देर पर मक्खी इत्यादि के प्रजनन के लिए उपयुक्त स्थान न बन पाए और इससे बदबू भी उत्पन्न न हो । इस प्रकार से इस कगोबर से अच्छी खाद बन सकती है । गोवर से गोर गैस संयंत्र द्वारा गोवर गैस उत्पन्न की जानी चाहिए जो घरों में ईधन के रूप में प्रयोग की जा सके । इस विधि में एक बडे सिलेंडर में एक और 30 सी.एम. का एक छिद्र होता है जो एक ढक्कन में बंद किया जाता है । सिलेंडर का $\frac{3}{4}$ भाग

भूमिगत रखा जाता है । छिद्र के द्वारा गोबर और कुछ जल समय-समय पर सिलेंडर में डाला जाता है । एक दूसरे छिद्र के द्वारा 2-5 सी.एम. की गोलाई की एक नली सिलेंडर से रसोई के चूल्हे तक ले जाई जाती है । गोबर के किण्वन से उत्पन्न मीथेन गैस ईधन का कार्य करती है ।

5. मृत जन्तुओं तथा मकानों के कूडे-करकट को बस्ती से दूर गुड्डों में रखकर मिट्टी से ढक देना चाहिए । केन्द्रीय जल स्वास्थ्य इंजीनियरिंग अनुसंधान संस्थान सिफेरी के वैज्ञानिकों ने जल प्रदूषण, रोकने के उपाय सुझाये हैं । जल प्रदूषण को कम करने के लिए सिफेरी ने जल में से अतिरिक्त क्लोराइड को हटाने के लिए उपकरणों, जीवाणुओं को छानने वाले विशेष छन्नो, मैगनीज हटाने वाली यूनिटों तथा विसंक्रमण हेतु क्लोरीन, आयोडीन आदि बनाने का कार्य किया है । इस दिशा में जल प्रदाय अधिकारियों की सुविधा के लिए जल प्रदाय की समस्या उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं को मालूम करने हेतु रेडी-रैकनर का निर्माण एक महत्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है।

वायु प्रदूषण के बारे में सिफर ने नागपुर, कलकत्ता, मुंबई, दिल्ली, अहमदाबाद, कानपुर, दुर्गापुरा के निकट सर्वेक्षण किए हैं । कूड़े करकट की समस्या से निपटने के लिए सिफर द्वारा की गयी संस्तुति के अनुसार ही कलकत्ता नगर निगम ने 200 टन प्रतिदिन खाद बनाने वाले संयंत्र की स्थापना की है । ग्रामों में मल बहन के लिए गोबर गैस संयंत्र कोयला जलाने वाले कारखानों में धुंआ कम करने के लिए विशेष छनने आदि तैयार करना सिफेरी के कुछ उल्लेखनीय कार्य है । सिफेरी ने केन्द्रीय व राज्य सरकारों से प्रदूषण को रोकने की दृष्टि से कानून बनाने की संस्तुति की है । कारखानों और खानों के प्रदूषण से कर्मचारियों की रक्षा करने के क्षेत्र में लखनऊ औद्यौगिक विष-विज्ञान संस्थान और अहमदाबाद के राष्ट्रीय संस्थान विशेष रूप से कार्यरत है । शहरों में उत्सर्जित गंदे जल को नदियों में न गिराकर हम कृषि में सिंचाई में प्रयुक्त कर सकते है । गावों में प्रदूषण रोकने हेतु मलोत्सरण गड्डों में किया जाए और उन्हें मिट्टी से ढक दिया जाए । साथ-साथ खाद में लिए कम्पोस्ट गड्डों का प्रयोग किया जाए । इससे खाद प्राप्त होगा और गोबर गैसे ईधन का काम करेगी और वातावरण दूषित होने से बचेगा ।

19.8 पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन

अनियोजित औद्योगिकरण का नुकसान अन्ततोगत्वा विकासशील देशों को ही उठाना पडेगा और उनके विकास के स्थायित्व का दायित्व प्रत्येक सरकार के कंधों पर ही पडेगा । सही या गलत रास्ता चुनना उनके हाथ में है परन्तु उन्हें तकनीकी, आर्थिक एवं संस्थात्मक सभी प्रकार की सहायता की अवश्यकता होगी, जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय उन्हें प्रदान कर सकता है तथा विकास का पर्यावरणीय दृष्टि से उचित तथा स्थाई पथ प्रशस्त करने में मदद कर सकता है ।

बड़ी औद्योगिक कम्पनियों और विशेषत: बहुराष्ट्रीय निगमों का एक विशेष दायित्व है । वे दुर्लभ तकनीकी कारीगरियाँ की खान है, और उन्हें उच्चतम सुरक्षा व स्वास्थ्य-संरक्षण के

मानक अपनाने चाहिए तथा सुरक्षित संयंत्र व पद्धति-रचना और कार्यकर्ता प्रशिक्षण की पूरी जिम्मेदारी उठानी चाहिए । इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने उत्पादों के पर्यावरणीय व सुरक्षा-सम्बन्धी लेखों-जोखो का अन्य कंपनियों, केवल स्थानीय कंपनियों ही नही (जिनकी की मांगी इतनी गंभीर नही होगी) की तुलना में अध्ययन करना होगा । इन लेखों-जोखो तथा उनसे सम्बंधित कार्यकलापों की जानकारी सरकारों ब अन्य रूचि रखने वाली संस्थाओं को उपलब्ध होनी चाहिए । जहरीले रसायनों व खतरनाक व्यर्थ पदार्थो से निपटने के लिए विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता है, और दुर्घटनाओं हेतु वैकल्पिक योजना बनाने की भी नए औद्योगिक स्थानों की योजना बनाने में अ-सरकारी संस्थाओं तथा स्थानीय समुदाय के मत जानना जरूरी है। एक नया उद्योग स्थापित करने से पूर्व उससे संबद्ध राष्ट्रीय शाखा को उसके द्वारा पैदा हो सकने वाले पर्यावरणीय खतरे की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए जो उसे लोगों तक पहुंचानी चाहिए। बहुत से विकासशील देशों को उद्योग-आधारित संसाधनों ब पर्यावरणीय समस्याओं की प्रवृति के बारे में कुछ विशेष पद्धतियों व उत्पादों से संबन्धित खतरों के बारे में तथा स्वास्थ-सुरक्षा के तरीकों व मानको और पर्यावरणीय स्थायित्व प्राप्त करने के बारे में जानकारी की भारी आवश्यकता है ।

पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन एक ऐसा सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सशक्त साधन है जिसकी सहायता से विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ मिलकर विकास के वैकल्पिक उपायों, प्रौद्योगिकी के विकल्प और परियोजना स्थल के बारे में निष्पक्ष निर्णय ले सकते है । पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन द्वारा प्रस्तावित परियोजना से पहले, परियोजना के दौरान और परियोजना के वाद प्राकृतिक पद्धतियों और पर्यावरण की स्थिति बताने वाले कारकों की मात्रा का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है तथा अर्थव्यवस्था ओर पर्यावरण में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है ।

इस समय एक गतिशील पर्यावरण प्रबंध नीति की आवश्यकता है जिसमें समस्या की जानकारी से लेकर तकनीकी समाधान और सुधार के उपाय करने तक कम से कम समय लगे । विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में लिए गए निर्णयों के कारण उत्पन्न संभावित पर्यावरणीय समस्याओं का पूर्वानुमान और रोकथाम और जहां आवश्यक हो पर्यावरण गुणवता में सुधार, ढांचे में परिवर्तन तथा विभिन्न नीतियों मे समन्वय से यह संभव है ।

19.10 पर्यावरण कानून

पर्यावरण कानून की आवश्यकता वस्तुत: आम नागरिक को दैनिक जीवन के लिए मूलभूत आवश्यकताओं पूर्ति उनकी शुद्धता, प्रदूषण को रोकने तथा आगे न होने देने और विकृत पर्यावरण को सुधारने के लिए ही महसूस हुई । इसीलिए पर्यावरण संरक्षण तथा प्रदूषण रोकथाम एवं नियंत्रण हेतु विगत वर्षो में अनेक कानून बने जिनमें -

1. वायु (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम 1981
2. जल (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अधिनियम 1974
3. वायु (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) अपकर अधिनियम 1978
4. ध्वनि प्रदूषण नियंत्रण एक्ट 1972

5. वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम 1972
6. वन (संरक्षण) अधिनियम 1980
7. दी इंडियन फिशरीज एक्ट 1987
8. दी प्रिवन्शन ऑफ फूड एडल्ट्रेशन एक्ट 1954
9. दी एनशिएन्ट मानूमेन्ट्स एण्ड आर्केलोजिकल साइट्स एण्ड रिमेन्स एक्ट 1958
10. पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम 1982
11. अणुशक्ति अधिनियम 1962

प्रमुख है जिनकी जानकारी आज प्रत्येक नागरिक को पर्यावरण संरक्षण हेतु होनी आवश्यक है ।

उपरोक्त के अतिरिक्त पर्यावरण प्रदूषण को रोकने की दशा में एक नया विचार जनहित बाद आज बहुत लोकप्रिय हुआ है ।

यह न्यायालय की विविध जटिलताओं से नियम, उपनियमों से बहुत मुक्त है और किसी भी पीडित व्यक्ति अथवा समूह को यातना से छुटकारा दिलाने की एक सरलतम प्रक्रिया है । यह संविधान के अनुच्छेद 21 की वचन बद्धता को भारत में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के जीवन ओर उसकी व्यक्तिगत आजादी के मूल अधिकारों को आश्वस्त करती है ।

पर्यावरण के क्षेत्र में वायु जल, ध्वनि, प्रदूषण तथा अन्य के कई कानून बने है परन्तु कोई भी पूर्ण नही होने से प्रदूषणकर्ता का साहस निरन्तर बढता जाता है । बहुत सख्त कानून तथा उनका उसी कडाई से पालन किया जाना आवश्यक है । आज जितने भी पर्यावरण के क्षेत्र में प्रशंसनीय निर्णय हो रहे है, उनमें कानून अथवा दंड संहिता अथवा संविधान के कथ्य इतने प्रभावी नही है जितने कि गरिमापूर्ण ढंग से विद्वान न्यायाधीशों ने इन व्यवस्थाओं की समाज के हित में विवेचना कर देश हित में तथा आम नागरिक के हित में निर्णय दिए है । राष्ट्रीय नीति में आज यह तय करना आवश्यक है कि मानव जीवन की गुणवत्ता बनाए रखने हेतु क्षणिक व्यावसायिक लाभों को कैसे त्यागा जाए । आम नागरिक आज बहुत जागरूक और सावधान है । नये-नये कानूनों की जानकारी से उन्हें शिक्षित करना बहुत सामयिक और आवश्यक है । पर्यावरण कानूनी की जानकारी से नागरिक जहां एक और पर्यावरण की रक्षा कर सकेगें वही दूसरी और जीवन की गुणवत्ता बनाए रखने में भी सहभागी बनेंगे ।

19.11 सारांश (Summary)

पर्यावरण को शुद्ध एवं स्वच्छ बनाने के लिए लोगों में पर्यावरणीय जागरूकता उत्पन्न करने की आवश्यकता है । मृदा को प्रदूषण से बचाने के लिए कूडे-करकट का उपयुक्त प्रकार से निस्तारण आवश्यक है । मृदा की उर्वरता को बढ़ाने के लिए केचुओं के प्रयोग (वर्मिकल्चर) द्वारा उत्पादित वर्तीकम्पोस्ट व अन्य जैविक खादों का उपयोग किया जाए । बढ़ती जनसंख्या और घटते वनों के कारण अनेक प्राकृतिक व मानव जनित आपदाओं की अधिकता हो रही है । वातावरण के विभिन्न घटकों के मध्य हानिकारक असंतुलन प्रदूषण कहलाता है । औद्योगिक संस्थानों से निकले अनावश्यक पदार्थ अपतृणनाशी कीटाणुनाशक, रासायनिक खाद व सीवेज जल-प्रदूषण के लिए उत्तरदायी है । वायु-प्रदूषण का प्रमुख कारण सल्फर डाइऑक्साइड,

नाइट्रोजन डाइऑक्साइड, कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन कण व उद्योगों तथा वाहनों से निकला धुआ है । नाभिकीय विस्फोट द्वारा उत्सर्जित विकिरण रेडियोधर्मी प्रदूषण फैलाते है । डीडीटी, 2,4-डी, 2,4-टी, प्लास्टिक की थैलियां आदि मिट्टी की उर्वरा शक्ति को कम कर मृदा प्रदूषण बढाती है । तेज शोर से उत्पन्न ध्वनि प्रदूषण जीवधारियों की उपापचयी क्रियाओं को प्रभावित करता है । वे सभी कारक जो पर्यावरण को किसी न किसी रूप में प्रदूषित करते है, प्रदूषक कहलाते है । प्रदूषक दो प्रकार के होते है । (i) जैव विघटनीय (ii) अविघटनीय

प्रदूषण नियंत्रण हेतु सीवेज को जल में डालने से पूर्व शुद्ध किया जाए, घरेलू अपमार्जकों को नदियों में न डाला जाए व कूडे-करकट को दूर गड्डे में डालकर मिट्टी से ढक दिया जाना चाहिए । रेडियोएक्टिव अपशिष्टों का निस्तारण एक गंभीर समस्या है तथा इसके निपटान की समुचित व्यवस्था नितांत आवश्यक है । विकिरण प्रदूषण द्वारा कैंसर, जन्मजात शरीर विकृति अस्वाभाविक अंग परिवर्धन व जीन उत्परिवर्तन होते है । बढते उद्योग व घटते वनों के कारण जलवायु में आए बदलाव के कारण हिमटोप पिघलने लगेंगे, समुद्र में वृद्धि होगी और तापमान बढेगा । एलनीमों प्रभाव के कारण समुद्र में उफान आता है, समुद्र का पानी गर्म हो जाता है व जंतु पक्षी और पौधों की मृत्यु हो जाती है । इसका प्रभाव विश्वव्यापी है । वायु में CO_2 की मात्रा बढने के कारण पृथ्वी की सतह के तापमान में वृद्धि हो हरित-गृह प्रभाव कहते है । क्लोरो-फ्लोरों कार्बन बर्ग के रसायनों के प्रभात के कारण ओजोन परत का क्षय ओजोन शिथिलन कहलाता है । पर्यावरण संरक्षण तथा प्रदूषण रोकने हेतु बनाए गए कानूनों की जानकारी नागरिकों को प्रदान की जानी चाहिए।

19.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

बहु चयनात्मक प्रश्न

1. जल प्रदूषण का प्रमुख कारण है ।
   (अ) 2,4-डी व पीडकनाशी (ब) धुंआ
   (स) स्वत: चालित निर्वातक (द) हवाई जहाज
2. वायु प्रदूषण मुख्य रूप से किससे होता है ।
   (अ) पीडकनाशी (ब) कारखानों से रासायनिक अपशिष्ट
   (स) धुंआ (द) शोर
3. प्रदूषण को नियंत्रित किया जा सकता है ।
   (अ) सीवेज उपचार द्वारा (ब) विद्युत चालित बाहनों द्वारा
   (स) परमाणु विस्फोट रोककर (द) उपर्युक्त सभी
4. जैव मंडल में समाहित है ।
   (अ) जल मंडल (ब) वायु मंडल
   (स) स्थल मंडल (द) उपर्युक्त सभी
5. जैव-विघटनीय प्रदूषक का उदाहरण है ।
   (अ) डी.डी.टी. (ब) प्लास्टिक

(स) मल-मूत्र (द) धातुओं के ऑक्साइड

6. हरित-गृह प्रभाव के लिए उत्तरदायी प्रमुख गैस है ।

(अ) H_2 (ब) CO_2

(स) O_2 (द) SO_2

7. नाभिकीय विस्फोट में कौन से कण प्रवाहित होते है ।

(अ) अल्फा कण (ब) बीटा कण

(स) न्यूट्रोन (द) उपर्युक्त सभी

8. 2,4-डी है एक

(अ) अपतृणनाशी (ब) कवकनाशी

(स) जीवाणुनाशी (द) कीटानाणुनाशी

9. जलवायु परिवर्तन के प्रमुख कारण है ।

(अ) बढते उद्योग (ब) बढते जन

(स) घटते बन (द) उपर्युक्त सभी

10. वायु मंडल में तापमान वृद्धि का कारण है ।

(अ) CO_2 (B) SO_2

(स) H_2 (द) N_2

निम्न के 50 शब्दों में उत्तर दीजिए।

1. प्रदूषण को परिभाषित कीजिए?
2. ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख स्रोत कौन से है?
3. विज्ञान और प्रौद्योगिकी में क्या अन्तर है?
4. पर्यावरण को यथार्थ क्यों माना गया है?
5. जल प्रदूषण के प्रमुख स्रोत बतलाइए?
6. पर्यावरण को जीवन का यथार्थ क्यों माना गया है?

निम्न के 100 शब्दों में उत्तर दीजिए।

1. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए ।

अ वाहित मल

ब. रेडियोधर्मी पदार्थ

स. आटोमोबाईल एक्जास्ट

द. धुंआ

य. अपमार्जक

र. पर्यावरण को संतुलित रखने में वृक्षों का योगदान

ल. कीटाणुनाशक पदार्थ

व. वायु प्रदूषण

म. जल प्रदूषण

न. ध्वनि प्रदूषण

2. वायु प्रदूषण का वृक्षों तथा मनुष्यों पर क्या प्रमाद पडता है? वायु प्रदूषण की रोकथाम के उपाय ।लिखीए?
3. जल प्रदूषण का मछलियों तथा जलीय पादपों पर क्या प्रभाव पडता है? जल प्रदूषण की रोकथाम के उपाय लिखिए?
4. निम्नलिखित में अन्तर बताइए?
   ध्वनि प्रदूषण एवं रेडियोधर्मी प्रदूषण
5. किन्ही दो कारणों का उल्लेख कीजिए जिनके कारण वायु मंडल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ रही है?
6. स्पष्ट कीजिए-औद्योगिकरण से मानव पर क्या प्रभाव होता है ।

निम्न के 250 शब्दों में उत्तर दीजिए।

1. पर्यावरण चेतना आपके दृष्टिकोण से क्यों आवश्यक है?
2. कचरा निस्तारण पर एक लघु निबंध लिखिए ।
3. प्रदूषण से आप क्या समझते है? यह कितने प्रकार का होता है? पौधो तथा मनुष्यों के लिए यह क्यों हानिंकारक है?
4. स्पष्ट कीजिए कि कारखानों की स्थापना से पादप जीवन पर किस प्रकार का प्रभाव पडता हैं
5. वायु प्रदूषण के चार प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिए । वायु प्रदूषण के नियंत्रण के लिए क्या उपाय किए जाने चाहिए ।
6. वातावरणीय प्रदूषण से आप क्या समझते है? यह कितने प्रकार के होते है? जल प्रदूषण का संक्षिप्त वर्णन कीजिए?
7. जल प्रदूषण के कारणों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए तथा उसके नियंत्रण के उपाय बताइए
8. औद्योगिक नगरों के समीप बहने वाली नदियों का जल पीने योग्य के उपाय बताइए?
9. पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन पर एक लघु निबंध लिखिए ।

इकाई -20

शिक्षा का विकास तथा सूचना प्रौद्योगिकी, दूरस्थ शिक्षा का विकास एवं भविष्य

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 भारत में शिक्षा का विकास

20.2.1 भारत में शिक्षा का विकास

20.2.2 आधुनिक भारत में शिक्षा का स्वरूप

20.2.3 स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा एवं साक्षरता

20.2.4 अध्यापक शिक्षा एवं प्रावधिक शिक्षा

20.3 सूचना एवं प्रोद्यौगिकी का विकास

20.3.1 सूचना एवं प्रौद्योगिकी : कुछ तकनीकी तथ्य

20.3.2 सूचना एवं प्रोद्यौगिकी का विस्तार

20.4 दूरस्थ शिक्षा का विकास

20.4.1 दूरस्थ शिक्षा : एक परिचय

20.4.2 दूरस्थ शिक्षा व छात्र स्वायतत्ता

20.4.3 दूरस्थ शिक्षा का औद्योगिक स्वरूप

20.4.4 दूरस्थ शिक्षा का भविष्य

20.5 सारांश

20.6 शब्दावली

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य (Objectives)

- इस इकाई को पढ़ने के बाद आप
- भारत में शिक्षा के विकास के बारे में जान सकेंगे ।
- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा के क्षेत्र में आए विकास का जान सकेंगे ।
- शिक्षा के अन्य आयाम जैसे स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा एवं अध्यापक शिक्षा को समझ सकेंगे ।
- सूचना प्रौद्योगिकी से जुडे तकनीकी व अन्य क्षेत्रों को समझ सकेंगे ।
- सूचना प्रौद्योगिकी का शिक्षा व अन्य क्षेत्रों में योगदान का संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।

- दूरस्थ शिक्षा के उद्भव व विकास, व उसमें निहित गुणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

20.1 प्रस्तावना (Introduction)

इस इकाई में हम शिक्षा से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करेंगे । पहला विषय है भारत में शिक्षा की स्थिति, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आये परिवर्तन व शिक्षा के विभिन्न आयाम । इस चर्चा में हमने ऐतिहासिक दृष्टि से शिक्षा के क्षेत्र में आए परिवर्तन को ध्यान में रखते हुये प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा व उच्च शिक्षा के विकास पर दृष्टि डाली है । इसके अतिरिक्त शिक्षा के अन्य महत्वपूर्ण आयाम जैसे स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा अध्यापक शिक्षा व प्राविधिक-व्यावसायिक शिक्षा को भी इस अध्याय में सम्मिलित किया गया है ।

दूसरा विषय है सूचना प्रौद्योगिकी का विकास । हमने परिभाषाओं व कुछ तकनीकी तथ्यों के माध्यम से सूचना प्रौद्योगिकी का संक्षिप्त वर्णन किया गया है । यह बताने का प्रयास किया है कि सूचना प्रौद्योगिकी ने किस प्रकार प्रभावित किया है । अंत में दूरस्थ शिक्षा का संक्षिप्त विदरण दिया गया है जिसमें दूरस्थ शिक्षा का परिचय, उसके विभिन्न पहलु व उसके भविष्य के बारे में चर्चा की गई है ।

20.2 भारत में शिक्षा का विकास

भारत में शिक्षा की परम्परा बहुत प्राचीन है, इतनी प्राचीन कि उसका प्रारम्म कितने बर्ष पहले हुआ था, यह निश्चित रूप से बता पाना शायद सम्भव नही है । वैसे भी आदि मानद प्रारम्म में सुसंस्कृत नही था व जंगली पशु के समान जीवन व्यतीत करता था । धीरे धीरे उसने सुसंस्कृत व्यवहार, प्रथाएं, परम्पराएं, रहन सहन और कार्यप्रणाली विकसित की । यदि हम विकासवादी परम्पराओं व सिद्धान्तों को स्वीकार करें तो मनुष्य के जीवन की शिक्षा इसी प्रकार प्रारम्म हुई थी । शिक्षा को प्राय: दो भागों में विभाजित किया जाता है । पहली अनौपचारिक शिक्षा एवं दूसरी औपचारिक शिक्षा । भारतीय संस्कृति में अनौपचारिक शिक्षा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है । अनौपचारिक शिक्षा एक बालक को अपने परिवार से मिलती है । माता पिता व परिवार के अन्य सदस्य अपने अपने सांस्कृतिक व्यवहारों से बालक में सांस्कृतिक गुण उत्पन्न करते है और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं ।

शिक्षा का दूसरा आयाम है:- औपचारिक शिक्षा । मनुस्मृति के अध्याय 7 के 152 वे श्लोक के आधार पर औपचारिक शिक्षा को अधिक बल मिला है ।

"कन्याना सम्प्रादन च कुमाराणाम् व रक्षणमफ" इसके अनुसार ऐसे जातिनियम अथवा राजनियम होने चाहिए कि पाचवे व आठवें वर्ष से आगे कोई भी अपने लड़को अथवा लड़कियों को पाठशाला में शिक्षा ग्रहण करने अवश्य भेजेंगे जो न भेजे बह दण्डनीय है । भारतीय शिक्षा के औपचारिक शिक्षा स्वरूप के चार प्रमुख अंग थे ।

(क) आचरण सुधार की शिक्षा

(ख) अक्षर ज्ञान तथा आगामी ज्ञान की शिक्षा

(ग) विज्ञान की शिक्षा

(घ) आजीविका की शिक्षा

उपर्युक्त चारों प्रकार की शिक्षाओं को ग्रहण करने के उपरान्त शिक्षार्थी सदाचारी बनकर आत्मानुशासित होता था और राष्ट्र के कार्यो में संलग्न रहता था ।

20.2.1 भारत में शिक्षा का विकास

इतिहास की दृष्टि से भारतीय शिक्षा को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है:-

1. वैदिक शिक्षा
2. बौद्ध शिक्षा
3. मुस्लिम शासन में शिक्षा
4. यूरोपिय जातियों का आगमन और शिक्षा
5. ब्रिटिश शासन में शिक्षा
6. स्वाधीन भारत में शिक्षा

1. वैदिक शिक्षा

वैदिक शिक्षा से अभिप्राय उस शिक्षा से है जो वेदो से अथवा वैदिक साहित्य द्वारा मिलती है । हांलाकि वैदिक शिक्षा पर सामग्री कहीं इकट्ठी और सुव्यवस्थित नही मिलती परन्तु वेद, उपनिषद, धर्मसूत्र, स्मृति, सुभाषित संग्रह, ब्राह्मण ग्रन्थ, महाकाव्य आदि साहित्य में वैदिक शिक्षा का ज्ञान मिलता है । डॉ. अल्तेकर ने अपनी प्रमुख पुस्तक "प्राचीन भारत में शिक्षा" में शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों में चरित्र व व्यक्तित्व के विकास एवं राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण व प्रसार को अधिक महत्व दिया है ।

गुरूकुल प्रणाली वैदिक शिक्षा की प्रमुख देन है । विद्यार्थी गुरू के कुल का अंग बनकर शिक्षा ग्रहण करता है । शरीर प्रदान करने बाने माता पिता के परिवार से पृथक होकर बालक ज्ञान के द्वारा मनुष्य को पशु स्तर से ऊपर उठाकर सही अर्थ में मनुष्य बनाने वाले गुरू के परिवार की सदस्यता स्वीकार करता था । गुरुकुल में नियमित जीवन व्यतीत करके विद्यार्थी जीवन के व्यावहारिक पाठ सीखा करते थे । अत: वैदिक काल में गुरूकुल ही प्रमुख शिक्षा संस्था थी ।

2. बौद्ध शिक्षा

गौतम बुद्ध के जन्म से पूर्व ही वैदिक धर्म का पतन हो चुका था और धर्म के नाम पर ब्राह्य आडम्बर शेष बचे थे । बौद्ध काल की शिक्षा की जो प्रमुख विशेषता थी वह थी शिक्षा का केन्द्रीयकरण । बौद्ध धर्म के प्रचारकों को शिक्षक के रूप में स्थापित करने के लिए मठों, संघों एवं सुसंगठित शिक्षण संस्थाओं का उदय हुआ । गुरूकुल प्रणाली अब समाप्त होने लगी थी । जो शिक्षण केन्द्र बौद्धकाल में प्रसिद्व हुए थे, उनमें प्रमुख थे-तक्षशिला, नालन्दा. वलभी व मगध । आचार्य चाणक्य की उच्च शिक्षा तक्षशिला में हुई थी । नालन्दा विश्वविद्यालय मुख्यत: मतों व बिहारो का केन्द्र था जहां लगभग 1500 विद्वान शिक्षक विश्व भर से आए हजारों शिक्षार्थियों का ज्ञान वर्धन करते थे । वलभी व मगध हीनयान बौद्धों के प्रमुख केन्द्र थे और बाद में बौद्ध शिक्षा के लिए जाने गए ।

3. मुस्लिम शासन में शिक्षा

इस्लाम धर्म में हर व्यक्ति के लिए शिक्षा अनिवार्य है । अमीर अली ने स्पिरिट ऑफ इस्लाम में लिखा है "ज्ञान रेगिस्तान में एकान्त साथी है, सहानुभूति देने वाला सुख का द्वार है, मित्रों के बीच में शोभा बढ़ाने बाला तथा शत्रुओं से रक्षा करने वाला है" मुहम्मद साहब ने कहा है कि माँ-बाप द्वारा बच्चों को दी जाने वाली सभी भेंटों में शिक्षा की भेंट सबसे उत्तम है। उन्होंने यह भी कहा कि विद्यार्थियों की कलम की स्याही शहीदों के खून से भी अधिक पवित्र है। अत: शिक्षा का अर्जन उतना ही पवित्र है जितना मस्जिद बनवाना । इस्लामी शिक्षा की प्रमुख विशेषताएं थी-शासन द्वारा शिक्षा व शिक्षकों का संरक्षण, अरबी फारसी विषयों की शिक्षा, कुरान की शिक्षा की अनिवार्यता, स्त्री शिक्षा पर बल देना, औद्योगिक शिक्षा के साधन उपलब्ध करवाना, गुरू शिष्यों के सम्बन्धों को और प्रगाढ़ बनाना इत्यादि । शासन की ओर से मकतब व मदरसे खोले गये थे और इस्लामी साहित्य के अध्ययन के लिये पुस्तकालय भी स्थापित किये गये थे । सरकारी कामकाज की भाषा फारसी होने के कारण अरबी भी पढ़ाई जाती थी ।

लगभग 600 वर्षो तक भारत पर छाए रहने के बावजूद भी इस्लामी शिक्षा कुछ मकतब और मदरसों तक ही सीमित होकर रह गई थी । इन वर्षो में जोधपुर, आगरा, दिल्ली, लखनऊ, देवबंद, स्यालकोट, मुलतान आदि स्थान शिक्षा के केंद्र के रूप में उभरे पर शासन में अस्थिरता व कुछ मुसलमान शासकों के अत्याचारी आवरण के कारण, इस्लामी शिक्षा एक विशेष बर्ग तक ही सीमित रही व अधिक लोकप्रिय न हो सकी ।

4. यूरोपीय जातियों का आगमन और शिक्षा

यद्यपि यूरोपीय जातियाँ जैसे पुर्तगाली, डच, फासीसी डेन और अंग्रेज भारत में मुख्यत: व्यापार और धर्म प्रचार के उद्देश्य से आए थे परन्तु भारत की तात्कालीन राजनीतिक अवस्था एवं परस्पर प्रतिद्वन्दी के कारण शिक्षा सम्बन्धी प्रयास भी किए गए । 18 ही सदी के अंत में मिशनरियो ने प्रारम्मिक शिक्षा के ऐसे विद्यालय खोले जहाँ भारत वासियो को अंग्रेजी की शिक्षा दी जा सके । इन विद्यालयों का मुख्य उद्देश्य था शासकों ओर शासितों के बीच संप्रेषण के साधन जुटाना । कुछ ऐसे विद्यालय भी अस्तित्व में आए जहां शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाओं को बनाया था । ये विद्यालय मुख्यत: समाज के सबसे निचले वर्गो के लिए थे, जिनके बीच मिशनरी धर्म-प्रचार व धर्म परिवर्तन जैसी गतिविधियाँ चला रहे थे । इस कार्य के लिए उन्होंने मय भी भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया, उनके शब्दकोष तैयार किए व्याकरण ग्रंथ लिखे और बाईबिल का उन भाषाओं में अनुवाद किया ।

परन्तु सही अर्थो में शिक्षा का विकास सन् 1835 में मैकाले के प्रयासो से हुआ । मैकाले ने अपने विवरण पत्र में पाश्चात्य साहित्य एवं पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन का सुझाव दिया । वह अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का पक्षपाती था । मैकाले के अनुसार 'इम भारत में ऐसे व्यक्तियों के वर्ग का निर्माण करना चाहते हैं जो रंग ओर रक्त में भले ही भारतीय हो परन्तु खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार तथा बुद्धि में पूरे अंग्रेज हो" इस प्रकार की शिक्षा केवल उच्च समाज व धनी वर्ग तक ही सीमित रही । उनका विचार था कि शिक्षित लोग धीरे-धीरे अपनी मातृभाषा में उपयोगी पुस्तकें लिखेंगे और जनता में शिक्षा का प्रसार

करेगें। इस प्रकार सन् 1854 में वुड घोषणा पत्र में शिक्षा का प्रसार कम्पनी का कर्तन बताया गया। शिक्षा की नीति को स्पष्ट करते हुए बताया गया कि शिक्षा द्वारा हमें भारतीयों की बौद्धिक व चारित्रिक उन्नति करनी है व ऐसे व्यक्ति तैयार करने हे जो राज्य को सुदृढ़ बना सके और राज्य पदों पर विश्वास के साथ नियुक्त किए जा सके ।

5. ब्रिटिश शासन में शिक्षा

शिक्षा के विकास में पहला कदम सन् 1882 में भारतीय शिक्षा आयोग (इंडियन ऐज्यूकेशन कमीशन, 1882) ने उठाया । आयोग ने प्राथमिक शिक्षा को मिशनरियों के चंगुल से निकालकर स्थानीय स्वायत शासन को उत्तरदायित्व दिया । आज तक भारत में प्राथमिक शिक्षा स्थानीय स्वायत शासन से स्थायी स्व से जुडा हुआ है । इसके उपरान्त ब्रिटिश शासन के द्वारा विभिन्न कारगर कदम उठाए गए ब विभिन्न आयोगों समितियों आदि का गठन किया गया जिनमें मुख्य थी-

(i) शिक्षा नीति सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव (गवर्नमेन्ट रेजाल्यूशन आफ एजूकेशन पालिसी, 1904)

(ii) शिक्षा नीति सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव (गवर्नमेन्ट रेजाल्यूशन ऑफ एजूकेशन पालिसी 1913)

(iii) कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग, 1917-1919

(iv) हर्टाग समिति, 1929

(v) एबटवुड रिपोर्ट, 1936

(vi) सार्जेन्ट योजना, 1944

यह तो स्पष्ट होता है कि ब्रिटिश शासन के दौरान शैक्षिक प्रगति हुई । न केवल अंग्रेजी भाषा व अंग्रेजी साहित्य एवं पश्चिमी विचारधारा का अध्ययन किया गया, भारत की प्राचीन संस्कृति व साहित्य का भी पश्चिमी वैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया साथ ही साथ सार्वजनिक शिक्षा के सहायक साधनो का परिचय कराया जैसे मुद्रणालय, रेडियो, सिनेमा आदि । शिक्षा का व्यावहारिकता व नौकरी से जोड़ने के भी प्रयास किए गए ।

6. स्वाधीन भारत में शिक्षा

स्वतंत्र भारत में शिक्षा की विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के लिए अनेक समिति, आयोग आदि गठित किए गए जिनमें मुख्य है -

(i) उच्चस्तर पर शिक्षा माध्यम समिति (ताराचन्द समिति, 19481)

(ii) विश्वविद्यालय शिक्षा अयोग (राधाकृष्णन कमीशन, 1948)

(iii) माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर कमीशन, 1952)

(iv) शिक्षा आयोग (कोठारी कमीशन, 1964)

(v) राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968, 1978, 1986)

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने स्वीकार किया कि शिक्षा पर खर्च की जाने वाली राशि सकल राष्ट्रीय उत्पाद की 3 प्रतिशत ही है जो अपर्याप्त है । स्थिति यह भी ऑकी गई

कि स्कूलो की इमारते पक्की नहीं है, स्कूली में ब्लैक बोर्ड नही है और शिक्षको की भी संख्या पर्याप्त नही है । वर्तमान में शिक्षा का सरूप बिल्कुल बदल चुका है प्रत्येक राज्य में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा निदेशालयों का गठन किया जा है । कई राज्यों में साक्षरता कार्यक्रम हेतु करोडो रूपयों की परियोजनाएँ स्वीकृत की जा चुकी है । राष्ट्रीय अध्यापक परिषद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, आदि जैसी राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं ने शिक्षा का एक विकसित कार्यक्रम तैयार किए है । पंचवर्षीय योजनाओं से शिक्षा को उचित स्थान दिया गया है।

20.2.2 आधुनिक भारत में शिक्षा का स्वरूप

भारतीय शिक्षा के विकास का सही चित्रण करने के लिए उसके विभिन्न आयामों को जान लेना आवश्यक है । शिक्षा के वर्तमान स्वरूप को निम्न चरणों या स्तरों में वर्गीकृत किया जा सकता है -

(i) पूर्व प्रारम्मिक एवं प्राथमिक शिक्षा ।

(ii) माध्यमिक शिक्षा ।

(iii) उच्च शिक्षा ।

इसके अतिरिक्त शिक्षा के विकास को स्पष्ट करने के लिए कुछ अन्य आयाम भी महत्वपूर्ण है जैसे स्त्री शिक्षा, अध्यापक शिक्षा, समाज शिक्षा एवं प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा । इन सभी आयामों का परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से हम इनकी चर्चा यहां करेगें ।

पूर्व प्रारम्मिक एवं प्राथमिक शिक्षा (Elementary and Primary education)-भारत में पूर्व प्रारम्भिक शिक्षा की स्थापना का श्रेय ईसाई मिशनरियों को जाता है जिन्होंने कई स्थानों पर नर्सरी स्कूल स्थापित लिए थे। सन् 1920 में "नूतन बाल शिक्षण संघ" ने भी अनेक पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना भारतीय संस्कृति को ध्यान में रखकर की थी । सन् 1939 में मैडम मांटेसरी के भारत भ्रमण के पश्चात् इस क्षेत्र का महत्व और बढ़ा । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कोठारी शिक्षा आयोग ने पूर्व प्रारम्मिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए सन् 1986 तक तीन से छ: वर्ष की आयु के बालकों के 50% को पढ़ाने का लक्ष्य रखा और प्रत्येक राज्य में पूर्व प्रारम्मिक शिक्षा विकास केन्द्र की स्थापना का सुझाव दिया ।

ब्रिटिश काल में प्राथमिक स्तर पर कोई विशेष कदम नही उठाए गए थे । सन् 1882 में दादाभाई नौरोजी ने हंटर कमीशन के सामने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य ओर निःशुल्क करने के लिए प्रस्ताब रखा परन्तु कोई निर्णय नही लिया गया । सन् 1904 के शिक्षा समेलन में प्राथमिक विद्यालयों की गुणात्मक तथा संख्यात्मक वृद्धि की योजना बनाई गई इसके फलस्वरूप जहाँ सन् 1902 में प्राथमिक विद्यालयो की संख्या 93,604 थी, वह सन् 1910 में बढ़कर 1,18,262 तक पहुँच गई। इसी दौरान मातृभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा बनी रही । 1964-66 के शिक्षा आयोग ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की प्राप्ति की मार्ग के अवरोधो की चर्चा करके अपना पल्ला झाड़ लिया । 1977 में ईश्वर भाई पटेल समिति ने भी केवल ओपचारिक रूप से

प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार किया और कोई संवैधानिक घोषणा करने में असमर्थ रही । नई शिक्षा नीति लागू होने के बाद प्रत्येक राज्य में प्राथमिक शिक्षा निदेशालय सरकार द्वारा स्थापित तो किए गए परन्तु केवल संख्यात्मक वृद्धि ही दृष्टिगोचर हुई । केवल राजस्थान में वर्ष 1999 तक 34,364 प्राथमिक एवं 14,548 उच्च प्राथमिक विद्यालय संचालित हो रहे है जिनमें 6-11 आयु वर्ग के 73.81 लाख तथा 11-14 आयु वर्ग के 23.14 लाख बालक-बालिकाओं को शिक्षा उपलब्ध कराई जा रही है ।

मूलतः पर्याप्त साधनों की कमी, जनसंख्या में भारी वृद्धि, लडकियों की शिक्षा में रूकावटें, पिछड़ी हुई जातियों के बच्चों की अधिक संख्या, आम जनता की गरीबी, माता पिता की निरक्षरता और उदासीनता जैसे कारणों से प्राथमिक शिक्षा के प्रचार व प्रसार में पर्याप्त प्रगति नही हो सकी ।

माध्यमिक शिक्षा (Secondary education) सर्वप्रथम सन् 1857 कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों ने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कारगर कदम उठाए । इन विश्वविद्यालयों ने मैट्रिक की परीक्षा के द्वारा माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम, शिक्षा के माध्यम, अध्यापन पद्धति आदि क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण आरम्भ किया । हालांकि इसका कुप्रभाव यह पड़ा कि माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य विश्वविद्यालयों के लिए आधार तैयार करना हो गया । सन् 1917-1919 (कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग) व 1928 (हर्टाग समिति) ने माध्यमिक शिक्षा के उत्थान के लिए कुछ सुझाव दिए जिनमें मुख्य थे :-पाठ्यक्रम का विशाखन, इंटरमीडिएट कक्षाओं का विश्वविद्यालय से पृथकीकरण, छात्रों के लिए औद्योगिक व व्यावसायिक पाठ्यक्रम का विकल्प, भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना, माध्यमिक शिक्षा परिषद की स्थापना, इत्यादि परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इन सुझावों पर विशेष ध्यान नही दिया, कारण था विश्वयुद्ध के कारण आर्थिक मंदी ब महंगाई । सन् 1942 की क्रांति के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपने पैर जमाने के लिए सार्जेंट प्लान तैयार किया परन्तु इस पर अमल करने का सरकार को अक्सर नही मिल पाया ओर स्वतंत्रता की प्राप्ति हो गई ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात्, शिक्षाविदों की आम राय थी कि माध्यमिक शिक्षा संकुचित और एकमार्गी है, केवल पुस्तकीय ज्ञान पर बल देती है । अतः बालक न तो उपयोगी नागरिक बन पाते है न उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो पाता है । परीक्षा प्रणाली भी दोषपूर्ण है, पाठ्यक्रम दोषपूर्ण है और अंग्रेजी अनिवार्य विषय होने के कारण छात्रों की शक्ति नष्ट होती है। कोठारी कमीशन (1964-66) ने इन दोषों को दूर करने का प्रयास किया । तदुपरान्त राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद ने सन् 1975 व 1986 में समान पाठ्यक्रम, दस जमा दो शिक्षा प्रणाली आदि विकासशील निर्णय लिए ।

उच्च शिक्षा (Higher Education)- भारत में उच्च शिक्षा की ऐतिहासिक परम्परा रही है । वेदिक काल में जो युवक 24 वर्ष या 38 वर्ष की आयु तक जिस पाठ्यक्रम का अध्ययन करते थे उसमें उच्च अध्ययन निश्चित रूप से सम्मिलित था । बौद्ध युग में भी उच्च शिक्षा की परम्परा बनी रही । इस काल में तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला जैसे विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय हुए जहाँ विश्वभर के लोग उच्च अध्ययन के लिए आते थे । मध्यकाल में

मुस्लिम शिक्षा में "मदरसे" उच्च शिक्षा के केन्द्र थे । देवबंद तथा बरेली के मदरसे, विश्व ख्याति के मदरसे रहे है । हिन्दुओं के अनेक विद्यालय जैसे काशी विद्यापीठ आदि पाठशालाएं उच्च अध्ययन के केन्द्र रहे है ।

वर्तमान उच्च शिक्षा का उद्‌गम सर्वप्रथम 1654 में हुआ जब रू घोषणा पत्र के अंतर्गत विश्वविद्यालय खोलने की सिफारिश की गई । परिणामस्वरूप लंदन विश्वविद्यालय के प्रारूप पर आधारित कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना की कई । परन्तु ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षा के केन्द्र मात्र ही थे क्योकि पाठ्यक्रम पूर्णतया विदेशी था व माध्यम अंग्रेजी । कुछ समय पश्चात् 1882 में पंजाब ओर 1887 में इलाहबाद विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई । जिन्हे मात्र परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालयों का दर्जा दिया गया । सन् 1902 में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग गठित हुआ और सर्वप्रथम विश्वविद्यालयों में शिक्षण कार्य,सीनेट में अध्यापकों का प्रतिनिधित्व, बी.ए. का पाठ्यक्रम का निर्धारण आदि जैसे मुख्य निर्णय किए गए । सन् 1913 से 1921 के बीच स्पष्ट शिक्षा नीति बनाई गई । इसके उपरान्त ब्रिटिश शासन में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विशेष प्रगति नही हुई ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उच्च शिक्षा के क्षेत्र में काफी तेजी से विकास हुआ । डॉ.राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948) ने विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रसार और सुधार हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना का सुझाव दिया । जिसे 1958 में संसद द्वारा अधिनियम पारित कर स्थापित कर दिया गया । वर्तमान समय में भारत में लगभग व 150 विश्वविद्यालय ओर लगभग 150 विश्वविद्यालयवत् संस्थाए है । प्रत्येक राज्य स्तर पर शिक्षा निदेशालयों की स्थापना हो चुकी हे जो कॉलेज शिक्षा के विकास हेतु कार्य करते है । तकनीकी शिक्षा, मेडिकल शिक्षा, दूरस्थ शिक्षा हेतु संसद ने अधिनियम पारित कर उच्च-स्तरीय संस्थाए जैसे अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद, मेडिकल काउसिल ऑफ इंडिया, दूरस्थ शिक्षा परिषद इत्यादि गठित की है जो अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के विकास व प्रसार का उत्तरदायित्व बखूबी निभा रही है ।

भारतीय शिक्षा के विकास ब प्रसार के अध्ययन हेतु उन आयामों की चर्चा करना भी आवश्यक है जो सामाजिक दृष्टिकोण से तो महत्वपूर्ण है ही, शिक्षा की दृष्टि से भी उनका सामरिक महत्व है । इनमें मुख्य है,स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, अध्यापक शिक्षा एवं प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा, इन सभी आयामों का परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से हम इनकी चर्चा यही करेगें ।

20.2.3 स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा एवं साक्षरता

स्त्री शिक्षा -किसी भी मानव समाज में स्त्रियों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है और कोई भी धर्म, कानून या जाति इसे नजरअंदाज नही कर सकती । विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948) ने स्त्री शिक्षा का महत्व का कुछ इस प्रकार वर्णन किया - "यदि पुरुषों और स्त्रियों में से केवल किस एक के लिए सामान्य शिक्षा का प्रावधान होता वह अक्सर स्त्रियों को दिया जाना चाहिए । क्योकि तब वह शिक्षा स्वयंमेव अगली पीढ़ी को प्राप्त हो जाएगी" आयोग द्वारा स्त्री

शिक्षा विकासार्थ कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए गए जिनमें प्रमुख थे : स्त्रियोचित शिक्षा की व्यवस्था, स्त्रियों को गृह अर्थशास्त्र तथा गृह-प्रबन्ध अध्ययन स्त्रियों को सुमाता तथा सुगृहणी बनने की शिक्षा इत्यादि सन् 1958 में स्त्री शिक्षा पर राष्ट्रीय समिति की नियुक्ति की जिसने स्त्री शिक्षा को राष्ट्र की प्रमुख समस्या माना व पुरुषों व महिलाओं की शिक्षा विषमता को समाप्त करने पर जोर दिया । तदुपरान्त समस्त पंचवर्षीय योजनाओं में स्त्री शिक्षा को पर्याप्त महत्व दिया गया । वर्तमान में पूरे देशभर में सरकारी एवं गैर सरकारी महिला महाविद्यालय, विद्यापीठ इत्यादि सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं । राजस्थान में संचालित महिला महाविद्यालयों में शैक्षणिक सत्र 1997-98 में अध्ययनरत छात्राओं की संख्या 0.59 लाख थी जो अगले शैक्षणिक सत्र 1998-99 में राजकीय एवं निजी क्षेत्र में 03 एवं 10 महिला महाविद्यालय प्रारम्म किए गए । राज्य के प्रत्येक जिले मुख्यालय में महिलाओं को उच्च शिक्षा उपलब्ध कराने हेतु महाविद्यालय खोलने का राज्य सरकार का नीतिगत निर्णय हैं । इन सभी प्रयासो से महिलाओं में साक्षरता तो बढ़ी है, साथ ही साथ महिला उत्थान आदि सामाजिक गतिविधियों को भी बल मिला है ।

प्रौढ़शिक्षा एवं साक्षरता स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रोढ़ शिक्षा को व्यापक रूप प्रदान कर उसे समाज शिक्षा का रूप दे दिया गया है । इससे समाज के हर वर्ग में वयस्कों को शिक्षित करने व सम्पूर्ण साक्षरता प्राप्त करने के लिए एक प्रेरणा जागृत हुई । आज राष्ट्रीय स्तर पर सामुदायिक विकास केन्द्रो, नेहरू युवक केन्द्रो, विद्यापीठ, कामगार सामाजिक शिक्षण संस्थाओं, व अन्य कई स्वैच्छिक संगठनों द्वारा प्रौढ़शिक्षा व साक्षरता हेतु अनेक कार्यक्रम आयोजित किए जाते है । केन्द्रीय समाज कल्याण परिषद ने अर्द्ध शिक्षित ब अशिक्षित वर्ग के लिए सघन पाठ्यक्रम चालू किए है । इन सभी कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य है अशिक्षित वर्ग में शिक्षा के प्रति जागरूकता पैदा करना व अपनी जीविका का स्वयं प्रबन्ध करना । यूनेस्को की सहायता से नवसाक्षरो के लिए साहित्य तैयार करने के लिए भी प्रोत्साहन दिया गया है ।

20.2.4 अध्यापक शिक्षा. एवं प्राविधिक शिक्षा

अध्यापक शिक्षा - सामान्यत: अध्यापक शिक्षा इसलिए आवश्यक हैं कि वे अपने विषय को रोचक और सरल बनाकर पढ़ा सके। शिक्षा आयोग (1964) में लिखा था शिक्षा में गुणात्मक सुधार के लिए यह अनिवार्य है कि अध्यापको के वृत्तिक शिक्षण का एक समुचित कार्यक्रम हो अध्यापको के प्रशिक्षण पर किए गए व्यय का प्रतिफल सचमुच काफी मूल्यवान होगा ।" अध्यापक प्रशिक्षण हेतु राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (नेशनल काउंसिल आफ एजुकेशनल रिसर्च एवं ट्रेनिंग,(NCERT) नई दिल्ली द्वारा देशभर में शिक्षा महाविद्यालय (रीजनल कालेज) खोले गऐ है, जिनमें एक अजमेर में है । इन कालेजो में बी.एड. के पाठ्यक्रम शिक्षण हेतु पढ़ाये जाते है । इसके अतिरिक्त कई विश्वविद्यालयों में बी.ए (शिक्षा), बी.एस.सी (शिक्षा) के चार वर्षीय संयुक्त कोर्स में छात्रों को दाखिला दिया जाता है । इन विश्वविद्यालयों में एम.एड. व पी.एच.डी. के पाठ्यक्रम भी सम्मिलित है । कुछ शिक्षण संस्थाए ऐसी है जो अध्यापको को विषय विशेष का प्रशिक्षण देती है । ये विषय है - शारीरिक शिक्षा, ललित कलाए जैसे संगीत,

नश्त्य आदि, भाषा अध्यापक एवं गृहविज्ञान । वर्तमान में राष्ट्रीय अध्यापक परिषद (NCTE) का भी गठन कर दिया गया है जो अध्यापक शिक्षा के प्रचार व प्रसार में बहुमूल्य योगदान कर रही है ।

प्राविधिक-व्यावसायिक शिक्षा स्वतंत्रता से पूर्व प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र के प्रति विशेष ध्यान नही दिया गया था । परिणामस्वरूप हमार देश का ओद्योगिक विकास उचित रूप से नही हो सका । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस ओर ध्यान दिया गया परन्तु साधनों के अभाव व प्राथमिकता के आधार पर औद्योगिक प्रशिक्षण व प्राविधिक शिक्षा मार्गदर्शन तक ही सीमित हो कर रह गई । उच्च शिक्षा व अनुसंधान हेतु अभी भी विकसित देशों पर निर्भर रहना पड़ रहा था । परन्तु 60 व 70 के दशकों में इस क्षेत्र में विशेष योगदान दिया गया । प्राविधिक शिक्षा के विभिन्न विषयों पर संस्थान व अनुसंधान केन्द्र खोले गए जिनमें प्रमुख है -

(1) इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ टैक्नोलोजी

(2) इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेन्ट

(3) इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइन्स

(4) रीजनल इंजीनियरिंग कालेज (जिन्हें आजकल NIT कहा जाता हैं ।)

(5) राज्य स्तरीय इंजीनियरिंग कालेज

(6) पोलिटेक्निकल और ओद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान ।

चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा का भी काफी प्रसार हुआ और केन्द्रीय स्तर पर आल इण्डिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल सांइस व राज्य स्तरीय मैडिकल कालेजों की स्थापना की गई ।

इन आयामों के अतिरिक्त दो अन्य आयाम है - सूचना प्रोद्योगिकी (इंफारमेशन टेक्नॉलोजी) शिक्षा एवं दूरस्थ शिक्षा (डिस्टैन्स एजूकेशन) जो पिछले दो दशक से शिक्षा की मुख्य धारा से इस प्रकार जुड़ चुके है कि शिक्षा के हर क्षेत्र को प्रभावित किया है । इनका अध्ययन इस ईकाई में आगे किया गया है ।

बोध प्रश्न 1

उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थानों का प्रयोग करे ।

1. वैदिक शिक्षा का व्यक्ति के चरित्र पर क्या प्रभाव पडता है?

----

2. यूरोपीय जातियों का शिक्षा के क्षेत्र में क्या योगदान रहा?

----

3. स्त्री शिक्षा का महत्व किस प्रकार समझाया गया है?

20.3 सूचना एवं प्रोद्योगिकी का विकास

आज जीवन का प्रत्येक क्षेत्र कम्प्यूटर से प्रभावित है । कम्प्यूटर का प्रयोग प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तकं, घर में, कार्यालय में, व्यापार में, उद्योगों में यहां तक कि कला व मनोरंजन के क्षेत्र में भी बहुतायत से होने लगा है । विज्ञान व प्राद्योगिकी के विकास के साथ-साथ मनुष्य को जटिल गणना करने से लेकर भूमण्डल व भू-गर्म आदि की जानकारी कम्प्यूटर द्वारा सरलता से करी जानी लगी है । कम्प्यूटर मनुष्य के मस्तिष्क के भाँति ही कार्य करता है । जिस प्रकार मस्तिष्क में कई वर्ष पुरानी' बाते याद रहती है, उसी प्रकार कम्प्यूटर में मनुष्य के मस्तिष्क से कई गुणा समय तक व कई गुणा अधिक सूचनाएँ सुरक्षित रखी जा सकती है ।

सूचना प्राद्योगिकी क्या है? यदि इसे परिभाषित करे तो यह पाएंगे कि यह एक भली-भांति विकसित विज्ञान के रूप में स्वीकार की जा रही है । यथा - "सूचना प्राद्योगिकी से आशय उन सब गतिविधियों से है जो सूचना की सृष्टि, संकलन. संसाधन. संग्रहण ब वितरण में सहायक होते है व ऐसे यंत्र व प्रक्रियाएँ जो इस कार्य को सम्भव बनाते है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये प्रक्रियाएँ व यंत्र कौन से है व इनका प्रयोग किस प्रकार होता है । सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि सूचना प्राद्योगिकी सम्पूर्ण रूप से कम्प्यूटर पर आधारित है । अर्थात यदि हम किसी इलैक्ट्रानिकी उपकरण जैसे डिजिटल घड़ी या माइक्रोवेव का प्रयोग करते है तो उसमें अंतर्निहित कम्प्यूटर चिप्स उस यंत्र की प्रक्रिया प्रारम्म कर देती है । यह प्रक्रिया कम्प्यूटर की एक क्रिया जिसे प्रोग्राम कहा जाता है, उसके अनुसार स्वतंत्र व स्वचलित रूप से सम्पुर्ण हो जाती है । इस तरह की पूर्व में की गई प्रोग्रामिंग के कारण बह यंत्र व उसमे निर्दिष्ट प्रक्रिया सुचारू रूप से कार्य का निष्पादन करती है ।

सूचना प्रणाली (Information System) वास्तव में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुर्जो अथवा संघटको की संरचना मात्र दी है, अर्थात आवश्यकता अनुसार हम सूचना प्रणाली का निर्माण कर सकते है, जिसमें एकत्रित किए गए प्रत्येक संघटक (Component) की अपनी एक शक्ति होती है जो अन्य संघटको के साथ मिलकर इस प्रणाली की संरचना में योगदान देते है । घरेलू स्तर पर यह प्रणाली मात्र एक कम्प्यूटर के द्वारा सम्पुर्ण की जा सकती है । जिसके मुख्य संघटक है - सी.पी.यू (Central Processing Unit CPU) मॉनीटर (Monitor) की बोर्ड (Key board) माउस (Mouse) प्रिंटर इत्यादि । उच्च स्तर पर कई कम्प्यूटर आपस में जुड़कर एक नेटवर्क का निर्माण करते है जिससे सूचना का आदान प्रदान किया जा सके । आज इंटरनेट एक ऐसी प्रणाली के रूप में विकसित हुई है जिसने सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में क्रांति ला दी है । इंटरनेट के माध्यम से आप अनगिनत कम्प्यूटरो व सूचना प्रणालियो से सम्बन्ध स्थापित कर सकते हो जिसमें समय व स्थान की कोई बाधा नही होती है

20.3.1 सूचना प्रायोगिकी : कुछ तकनीकी तथ्य

अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि सूचना प्राद्योगिकी पूर्ण रूप से कम्प्यूटर पर आधारित है । कम्प्यूटर हालाँकि एक घरेलू उत्पाद के रूप में प्रयोग किया जाने लगा है । परन्तु

कम्प्यूटर प्रयोग करने वाले अधिकांश व्यक्तियों की इसके सम्बन्ध में जानकारी अति सीमित होती है । सूचना प्राद्योगिकी के दृष्टिकोण से कम्प्यूटर के बारे में कुछ तथ्य जान लेना आवश्यक है ।

सूचना प्राद्योगिकी की मूल प्रक्रिया सूचना प्रोसेसिंग (Information Processing) है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो डाटा संग्रहण व डाटा संप्रेषण (data collection and data communication) में प्रयोग में लाई जाती है । किन्ही दो कम्प्यूटरों में जब डाटा अथवा सूचना का संप्रेषण या आदान-प्रदान करना हो तो दोनो कम्प्यूटर पूरी तरह सूचना प्रोसेसिंग प्रक्रिया पर निर्भर रहते है । दूसरे शब्दों में सूचना का आदान-प्रदान एक नेटवर्क के द्वारा किया जाता है जिसके संघटक (Components) इलैक्ट्रानिकी माध्यमों के द्वारा एक दूसरे से जुड़े रहते है ।

नेटवर्क का चयन सूचना के प्रकार प्रसार व आकार पर निर्भर करता है । इस बात पर भी निर्भर करता है कि एक नेटवर्क में कितने कम्प्यूटर जुड़े हुए है । मुख्यत: दो प्रकार के नेटवर्क प्रचलित हैं -

(i) लोकल एरिया नेटवर्क (Local Area Network (LAN)

(ii) वाईड एरिया नेटवर्क (Wide Area Network (WAN)

लोकल एरिया नेटवर्क एक अतिसीमित व लघु क्षेत्र के लिए ही उपयोग में लिया जाता है । इस नेटवर्क में व्यक्तिगत कम्प्यूटर (Personal computer-PC) ही जोड़े जा सकते है । जिसमें एक सर्वर (Server) होता है ओर सारे पर्सनल कम्प्यूटर एक केवल के माध्यम से आपस में जुड़े रहते है जिनका कंट्रोल सर्वर के माध्यम सें होता है ।

वाईड एरिया नेटवर्क एक विशाल भौगोलिक क्षेत्र तक फैला रहता है । वास्तव में वाइड एरिया नेटवर्क में दो या दो से अधिक लोकल ऐरिया नेटवर्क (LAN) जुड़े रहते हे । इस नेटवर्क में जुड़ेने वाले समस्त कम्प्यूटर प्राय: एक सार्वजनिक नेटवर्क से भी जुड़े होते है जैसे टेलिफोन इत्यादि । ये कम्प्यूटर एक उपग्रह अथवा लीजड्-लाइन (Leased line) से भी जोड़े जा सकते है । इंटरनेट WAN का एक उत्तम उदाहरण है ।

इन दोनो नेटवर्क के अतिरिक्त एक अन्य नेटवर्क अति प्रचलित है । यह इंटरनेट नेटवर्क कहलाता है । विश्व के किसी भी स्थान से अन्य किसी स्थान पर स्थित कम्प्यूटर से सीधा सम्पर्क करना हो तो टेलिफोन लाईन अथवा उपग्रह अथवा लीजड्-लाइन से यह सम्पर्क सम्भव है ।

किसी भी प्रकार के नेटवर्क में सूचना व डाटा का आदान प्रदान एक निहित अनुबंध के द्वारा होता है जिसे प्रोटोकोल (Protocol) कहा जाता है । प्रोटोकोल की शर्तो के अनुसार ही डाटा का कम्प्रेशन, डाटा के आदान प्रदान के लिए उपयुक्त प्रक्रिया निर्धारित की जाती है । यदि डाटा संप्रेषण में कोई त्रुटि है तो किस प्रकार के संकेत देने है, इसका भी निर्धारण प्रोटोकोल के द्वारा निर्धारित किया जाता है । कई प्रकार के प्रोटोकोल प्रचलित है जैसे TCP/IP,HTTP,FTP,SMTP,POP,ETHERNET इत्यादि । (यदि इन के बारे में विस्तृत अध्ययन करना है तो इकाई के अंत में दी गई उपयोगी पुस्तको की सहायता ले सकते है)

20.3.2 सूचना प्रौधोगिकी का विस्तार

आइए अब जाने कि कम्प्यूटर के माध्यम से सूचना प्राद्योगिकी का विस्तार विभिन्न क्षेत्रो में किस प्रकार हुआ है ।

(i) व्यापार और उद्योगो के क्षेत्र में

व्यापार व उद्योग जगत में तो कम्प्यूटर व इंटरनेट को सीधे उत्पादन व्यापारिक प्रक्रिया व प्रबंधन से जोड़ा हुआ है । यदि किसी कारणवश इनका सम्पर्क टूट जाता है तो कुछ ही क्षणों में सारी प्रक्रिया व उत्पादन कार्य प्रभावित हो जाता है । आज का कारपोरेट जगत कम्प्यूटर व इंटरनेट के बिना अपने अस्तित्व की कल्पना मी नही कर सकता है । फैक्टरी में उत्पादन से लेकर टेलिफोन जैसे छोटे यंत्र के तार भी कम्प्यूटर से जुड़े होते है । बँको व वित्तीय संगठनों में सारे कार्य व गतिविधियाँ कम्प्यूटर पर निर्भर करती है ।

व्यापार व उद्योग क्षेत्र में सूचना प्राद्योगिकी के माध्यम से निम्न गतिविधियाँ सम्पादित की जाती है :

* कार्य सम्पादन प्रक्रिया (Transaction Processing)
* डेस्कटाप प्रकाशन (Desktop Publishing)
* वित्तिय विश्लेषण (Financial Analysis)
* उत्पाद परिकल्पना (Product Design & Assembling)
* इंवेन्टरी नियंत्रण व योजना (Inventory Control and Planning)

उक्त गतिविधियों की सम्पादन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के सॉफ्टवेयर जैसे SAP (System Application Procedures) या EAI (Enterprise Application integration) प्रयोग में लिए जाते है । उद्योगो व कम्पनियों का आपस में विलय व अधिग्रहण (Mergers and Acquisitions) के कारण इन साफ्टवेयरो का प्रयोग अधिक होने लगा है ।

(ii) चिकित्सा के क्षेत्र में

कम्प्यूटर व सूचना प्रौद्योगिकी ने चिकित्सा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किए है व इसका उपयोग विभिन्न रूप में किया जा रहा है जैसे -

* मानव शरीर की संरचना को समझने व रोगों के लक्षण के विश्लेषण व उपचार के लिए नवीनतम तकनीक व यंत्रों का प्रयोग ।
* डिजिटल व इमेजिंग तकनीक (Digital and Imaging Technology) के माध्यम से शरीर के सूक्षम भाग के चित्र लेकर रोगो का उपचार
* रोगियो के शारीरिक क्रियाओ का रोबोटो द्वारा संचालन
* उपचार व पुर्नवास हेतु ऐसे यंत्र व मशीनों का निर्माण व विकास जो जटिल प्रक्रियाओं को भी सरल बना देते है, उनमें मुख्य है श्रवण यंत्र (Hearing aid) पेसमेकर डायलेसिस मशीने, मैग्नेटिक रेजोनेंस इमेजिंग (Magnetic Resonance Imaging) CAT scan (Computer axial Tomography) इत्यादि।

(iii) अभियांत्रिकी के क्षेत्र में

वैश्वीकरण के युग को आर्थिक लाभ व प्रीतद्वन्दता बनाए रखने के लिए उत्पादन व प्रबंधन के क्षेत्र में सूचना प्रोद्योगिकी का अभूतपूर्व योगदान रहा है । कुछ प्रमुख बाते हैं । -

* इलैक्ट्रानिकी डाँटा एक्सचैंज (Electronic Data Exchange-EDI) के माध्यम से विभिन्न दस्तावेज जैसे क्रय-विक्रय प्रपत्र, अनुबन्ध प्रपत्र, कर व वेतन सम्बंधी प्रपत्र इत्यादि का आदान प्रदान किया जा सकता है ।
* कम्प्यूटर-सहायक डिजाईन (Computer Aided Design-CAD) व कम्प्यूटर सहायक उत्पादन (Computer Aided Manufacturing) के माध्यम से उत्पाद व उत्पादन के नवीनतम डिजाइन व प्रकार कम्प्यूटर पर बनाए व परखे जा सकते है CAD व CAM समय व मानव घंटो (manhours) की बचत करते है और उत्पाद की गुणात्मकता में सुधार लाते है ।
* उत्पाद डाटा प्रबंधन (Product Data Management) के द्वारा उत्पादन के दौरान आंतरिक गतिविधियों व असेम्बली लाईन (assembly line) पर कार्यरत इंजीनियरों व आपरेटरो को यथा समय डाँटा उपलब्ध कराना सम्भव हो सकता है । इस सुविधा से जो लाभ हुए है उनमें प्रमुख है समय की बचत (Reduce Time to Market) डिजाइन उत्पादकता में सुधार (Improved Design Productivity) सृजनात्मक कलाओ का विकास (Improved Creative skills) इत्यादि।

(iv) कला, संगीत व मनोरंजन के क्षेत्र में

यह आश्चर्य की बात है कि मानव सृजनात्मकता को पीछे छोड़ कम्प्यूटर, व सूचना प्रौद्योगिकी कला व संगीत जैसे क्षेत्रों के भी अभिन्न अंग वन चुके हैं। एक समय था जब कलाकार अपनी भावनाओं व कला को रंग, ब्रुश या वाद्य यंत्रों पर उंगलियों के संतुलन के माध्यम से अभिव्यक्त करते थे । परन्तु तकनीकी करण व प्रोद्यांगिकता से कला व संगीत का क्षेत्र भी अछूता नही रहा है चलिए देखे कि कम्प्यूटर ने कला, संगीत व मनोरंजन के क्षेत्र में किस प्रकार योगदान किया है :-

* फिल्मों व सिरियल के निर्माण में रचनाकारी, संपादन, ध्वनि मिश्रण, अचल फोटोग्राफी, छायांकन, स्पेशल इफैक्ट्स (Special Effects) इत्यादि जैसे अनेक कार्य कम्प्यूटर के माध्यम से अधिक सशक्त व कारगर रूप में निष्पादित किये जाते है ।
* कई वाद्य यंत्र जैसे सिंथेसाईजर (Synthesizer) और कम्प्यूटरीकृत संगीत प्रोग्राम (Computerized Music Generation Program) जैसे MIDI (Musical Instrumental digital Interface) विकसित किए गए है जिसे संगीतकार अपनी इच्छा या आवश्यकतानुसार किसी प्रकार का संगीत या पूर्वरचित धुन या नोटेशन प्राप्त कर सकते है ।
* ललित कला (Fine arts) व पेंटिग के क्षेत्र में भी अनेक साफ्टवेयर प्रयोग में लिए जाने लगे हैं । जिनमे मुख्य है - Coral वस्तुएं MS Photo draw, Adobe

Photoshop, इत्यादि इनके माध्यम से कलाकार ग्राफिक्स का निर्माण व छाया प्रक्रिया (Image Processing) का कार्य बहुत कम समय में कर सकते है ।

* शिक्षा के क्षेत्र में आज हमारा जीवन सूचना युग में तेजी से बदलते घटनाक्रम के अनुरूप बदलता जा रहा है । चाहे हम जिस व्यवसाय में हो, हमें सूचना प्रौद्यौगिकी व सूचना व सूचना आधारित अर्थव्यवस्था (Information based Economy) के अनुसार कार्य-क्षमता व कार्य-ज्ञान का होना आवश्यक है यही कारण है कि जहॉ कई नौकरियाँ समाप्त हो गई है, वही कई नौकरियॉ नए रूप में विकसित भी हुई है । छात्र वर्ग शिक्षक वर्ग महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों से यही अपेक्षा की जाती है कि वे ऐसे विषयों का अध्ययन व अध्यापन करे जो तकनीकी व आर्थिक रूप में उपयोगी, समयानुरूप हो ।

सूचना प्रोद्यौगिकी के युग में शिक्षा के क्षेत्र में निम्न योगदान व परिवर्तन किए है -

* विद्यालय के स्तर से ही कम्प्यूटर शिक्षा की अनिवार्यता।
* कम्प्यूटर सहायक निर्देश (Computer aided Instruction) जैसे कई सॉफ्टवेयर छात्रो को किसी भी विषय के बारे में ज्ञान व उसकी प्रैक्टिस करा सकते हैं ।
* वैश्विक क्या (global classroom) या अप्रत्यक्ष कशा (Virtural classroom) जैसी तकनीकों के द्वरा छात्र/शिक्षार्थी अपनी शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण कर सकते हैं ।
* सूचना प्रणाली के माध्यम से सूचना सुपर हाइवे (Information Super Highway) डिजिटल पुस्तकालय (Digital libraries) अनेक स्रोत है जिनके माध्यम से छात्र/शिक्षार्थी किसी भी प्रकार की सूचना, लेख, तथ्य इत्यादि एकत्रित कर शोध ब अध्ययन कर सकते है ।
* भारत सरकार के इलेक्ट्रानिकी मंत्रालय (Department of Electronics) ने देश के प्रमुख शैक्षिक संस्थानो जैसे समस्त आई.आई.टी. (IIT) समस्त आई.आई.एम (IIM) आदि में कुछ नेटवर्क स्थापित किए है Education and Research Network (ernet), Defence Science Information Network (desinet) National Management Information system for science and Technology (NMIS) इत्यादि। इन सभी नेटवर्कों के माध्यम से ज्ञानार्जन व शैक्षिक उत्पादकता का तेजी से विकास हुआ है ।

यह कहना उचित रहेगा कि सूचना प्रौद्योगिकी के आगमन से शिक्षा शास्त्र (Pedagogy) व पाठ्यक्रम (Curriculum) में क्रांतिकारी परिवर्तन आए हैं । औपचारिक व पारम्परिक शिक्षा (Formal and Conventional Education) के स्थान पर अनौपचारिक व दूरस्थ शिक्षा (Distance Education) या परोक्ष शिक्षा (Vitural Education) को अधिक बढ़ावा मिल रहा है । पारम्परिक अध्यापन साधनो के स्थान पर मल्टी-मीडिया (Multi media)

साधनों का प्रयोग किया जाने लगा है । यही कारण है कि कम्पयूटर-सहायक शिक्षा (Computer Aided Learning) व्यावसायिक शिक्षा का अभिन्न अंग बन चुकी है ।

दूरस्थ शिक्षा व उससे जुड़ी सुविधाओं व विकास का अध्ययन इस ईकाई में आगे किया गया है ।

बोध प्रश्न -2

उत्तर के लिए स्तनों का प्रयोग करे ।

1. सूचना प्रोसेसिंग को परिभाषित कीजिए ।

----

2. कला व मनोरंजन के क्षेत्र मेन सूचना प्रोद्योगिकी का क्या योगदान है ?

----

3. सूचना प्रोद्योगिकी के द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में क्या परिवर्तन आए है ?

20.3.2 सूचना प्रोद्योगिकी का विस्तार

वर्तमान शिक्षा प्रणाली समाज व राष्ट्र के बदलते स्वरूप के अनुरूप कार्य करने में प्राय: असफल रही है । इस असफलता का मुख्य कारण है -शिक्षा का परम्परागत स्वरूप। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारत में पारम्परिक व औपचारिक शिक्षा को अधिक महत्व दिया गया है, परन्तु इस प्रणाली में अनेक दोष भी पाए गए जिनमें मुख्य है - अप्रचलित (obsolete) शैक्षणिक पाठ्यक्रम व पुराने विषय, उच्च वेतन प्राप्त करने वाले शिक्षको का छात्रो से अति सीमित आदान-प्रदान, परीक्षा, उपस्थिति व प्रदेश आदि के सख्त नियम होना। इस प्रकार के दोषों से शिक्षा प्रणाली व सामाजिक आवश्यकताओं में आपस में असंतुलन पैदा हो जाता है जिससे कई समस्याओं का जन्म होता है । इनमें सबसे विकट समस्याएं है छात्र वर्ग (Student unrest) और शिक्षित बेरोजगारी (Educated Unemployment)

यह एक कठोर सत्य है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली शिक्षार्थी को आत्मनिर्भर नही बना पाती है और न ही उसे जीवन में जूझने के लिए मानसिक व आध्यात्मिक शक्ति प्रदान कर पाती है । जनसंख्या को अधिकांश भाग योग्यता के उपरान्त भी शैक्षणिक अवसरों से वंचित रह जाते है । इसके अतिरिक्त तकनीकी व विज्ञान के क्षेत्र में भी आए परिवर्तन के कारण कई नए व्यावसायिक व विशिष्ट कलाओं वाले पाठ्यक्रमों की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा है जिसको परम्परागत शिक्षा पूरा नही कर पा रही है । प्रौढ़ शिक्षा ब कार्यरत शिक्षार्थी के लिए तो परम्परागत शिक्षा प्रणाली को कोई विशेष व्यवस्था ही नही है ।

पारम्परिक शिक्षा की इन सर आवश्यकताओं की पूर्ति करने में विफलता के कारण शिक्षा के क्षेत्र में कुछ नवीन प्रयोग किए गए है जिनमें दूरस्थ शिक्षा या मुक्त शिक्षा

(Distance Education or Open Education) एक सफल प्रयोग है । दूरस्थ शिक्षा एक प्रकार से गैर पारम्परिक या अनौपचारिक शिक्षा का स्वरूप है । इसका प्रमुख उद्देश्य है विभिन्न पाठ्यक्रमों के माध्यम से योग्य व मेघावी छात्रों व कार्यरत व्यक्तियों को उच्च शिक्षा व विशिष्ट कला-कौशलो के अध्ययन के अवसर प्रदान कराना, प्रौढ़ शिक्षा, साक्षरता व परम्परागत शिक्षा अवस्था में निहित कठोर नियमों के स्थान पर सरल व सुगम तरीके से डिग्री व डिप्लोमा आदि प्रदान करना इत्यादि । आइए ज्ञान शिक्षा प्रणाली का परिचय प्राप्त करे व इसके विकास व भविष्य के बारे में जानकारी प्राप्ता करे।

20.4 दूरस्थ शिक्षा का विकास

20.4.1 दूरस्थ शिक्षा : एक परिचय

सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि दूरस्थ शिक्षा क्या है व इसका क्या अर्थ है? अनेक शम दूरस्थ शिक्षा के पूरक-या पर्याय के रूप में प्रयोग में लिए जाते रहे है जैसे मुक्त शिक्षा (Open Education), स्वतंत्र शिक्षा (Independent Study), पत्रचार शिक्षा (Correspondence Education) यूरोपीय देशों की भाँति भारत में भी दूरस्थ शिक्षा का प्रचलन पिछले दो दशकों से बढ़ा है । प्रो. जी. राम रेड्डी ने सन् 1965 में इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (IGNOU) के उपकुलपति का कार्यभार ग्रहण किया तो उन्होनें कुछ लेख प्रकाशित किए थे, जिनमें मुख्यत: भारतीय नागरिको को दूरस्थ शिक्षा व उससे जुड़े तथ्यो के वारे में शिक्षित करना था ।

प्रो राम रेड्डी के अनुसार भारत में गैर-परिसर (Off Campus) शिक्षा के मुख्यत: तीन रूप है - स्वयंपाठी शिक्षा (Private Study), पत्राचार शिक्षा (Correspondance Education) और दूरस्थ शिक्षा (Distance Education) तीनों ही शिक्षा-व्यवस्थाएं एक दूसरे से भिन्न हैं । स्वयंपाठी शिक्षा प्रणाली में विश्वविद्यालय या शैक्षणिक संस्था छात्र को परीक्षा में स्वयंपाठी के रूप में सम्मिलित होने की अनुमति मात्र देते है और उसके उत्तीण होने पर डिग्री, डिप्लोमा आदि भी प्रदान करते हैं । परन्तु विश्वविद्यालय ऐसे स्वयंपाठी छात्रों को कक्षाओं व पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराने का कोई उत्तरदायित्व नही लेती है । अर्थात छात्रों को स्वयं पाठ्यसामग्री व उचित मार्गदर्शन की व्यवस्था करनी पड़ती है ।

भारत में दूसरी व्यवस्था है पत्राचार शिक्षा जिसका वर्तमान स्वरूप दूरस्थ शिक्षा व मुक्त शिक्षा व्यवस्था से मिलता जुलता अवश्य है परन्तु नीतिगत यह बिल्कुल भिन्न है । पत्राचार शिक्षा व्यावहारिक रूप से इसलिए सफल रही है, क्योकि इसके माध्यम से बे छात्र भी अध्ययन कर पाते हैं जिनकों किसी कारणवश नियमित छात्र के रूप में पारम्परिक शिक्षा संस्थानो में प्रवेश नही मिल पाता है या वे प्रवेश लेने में असमर्थ रहते है । परन्तु पत्राचार 'शिक्षा की भी कुछ सीमाएं हैं जो नियमित शिक्षा की भाँति ही है जैसे वार्षिक आधार पर परीक्षाएं पूरक परीक्षाओं की अवस्था जिसमें असफल रहे छात्रों का एक सीमा उपरान्त प्रदेश निरस्त किया जा सकता है ।

परन्तु दूरस्थ शिक्षा या मुक्त शिक्षा प्रणाली ने शिक्षा के क्षेत्र में कई आयाम स्थापित किए हैं । जैसे शिक्षा में शिक्षार्थी की भागीदारी (participation of learner) अनुदेशन परिकल्पना (Instructional design) व छात्र सहायता सेवा (learner support services) यूनेस्को (UNESCO) ने सन् 1975 में मुक्त, शिक्षा विषय पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की थी जिसमे मुक्त शिक्षा को निम्न रूप से परिभाषित किया है -

"एसी शिक्षा प्रणालियों परिकल्पित की जाती हैं. जो अर्द्ध कालिक शिक्षा के समुचित अवसर प्रदान कर सके, एवं एक दूरी से अध्ययन कर सके और पाठ्यक्रम में नवीनता ला सके। इस प्रणालियों से अपेक्षा की जाती है कि मुख्यत: प्रौढ़ आयु वर्ग को शिक्षा उपलब्ध हो सके ताकि वे भूतकाल में खोए हुए अवसरों की क्षतिपूर्ति कर सके व भविष्य में नई शैक्षणिक योग्यताएं व कला-कौशल प्राप्त कर सके । मुख्य शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है सामाजिक व शैक्षणिक असमानता को कम करना व ऐसे अवसर प्रदान करना जो पारम्परिक महाविद्यालय व विश्वविद्यालय नही कर सकते हैं (यूनेस्को 1975)

इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्त शिक्षा में यह प्रयास किए जाते है कि शिक्षण या ज्ञानार्जन में कम से कम बाधाएं अथवा पाबन्दी हो, जिससे छात्रों को अध्ययन की अधिक से अधिक अवसर मिल सके, जिससे वे भौगोलिक दूरी या अन्य किसी कारण से शिक्षा से वंचित न रह जाए । मुक्त शिक्षा से अभिप्राय है : शिक्षा आपके द्वारा (Education at your doorstep) । इन तथ्यों की दृष्टि से दूरस्थ शिक्षा के वर्तमान कप में निम्न बिन्दु स्पष्ट होते है ।

* शिक्षक व शिक्षार्थी में दूरी (Separtion of Teacher from Learner)
* मुक्त विश्वविद्यालय (Open University) द्वारा शिक्षण सामग्री के उत्पादन में प्रभाव व योगदान ।
* छात्र सहयोग सेवा (Student Support System)
* दृश्य-श्रवण सामग्री (audio-visual aids) का अध्ययन केन्द्रों पर शिक्षण में प्रयोग ।
* परामर्श व सम्पर्क प्रोग्राम (Counselling and contact programmes at study centres)
* छात्र व शिक्षक के मन द्वि-मार्गीय सम्प्रेषण (two-way communication)

ये सभी बिन्दु तर्कसंगत है व दूरस्थ शिक्षा की सफलता के लिए आवश्यक भी है । छात्र व शिक्षक की दूरी छात्र के अन्दर स्वायत्ता उत्पन्न करते है जिससे छात्र स्वंय के प्रयासों से अध्ययन कर सकता है । जिससे छात्र स्वयं के प्रयासो से अध्ययन कर सकता है । दूसरा तर्क यह है कि स्वतंत्र शिक्षा की प्राप्ति के लिए कुछ सुविधाओं की आवश्यकताएं होती है जैसे पाठ्य सामग्री, अध्ययन केन्द्र, दृश्य-श्रवण उपकरण जो केवल एक मुक्त विश्वविद्यालय ही उपलब्ध करा सकता है । अगले भाग में दूरस्थ शिक्षा के इन्ही तर्को का संक्षिप्त वर्णन किया गया है ।

20.4.2 दूरस्थ शिक्षा व छात्र स्वायत्ता

दूरस्थ शिक्षा का आधार है स्वतंत्र शिक्षा प्रणाली (Independent study) अमरीका में समस्त पत्राचार व दूरस्थ पाठ्यक्रम के लिए इसी प्रणाली का प्रयोग किया जाता रहा है । इसी प्रणाली से प्रेरणा पाकर मुक्त शिक्षा (Open learning) जैसी सशक्त प्रणाली का जन्म ना जिसके अंतर्गत देश-विदेश में मुक्त विश्वविद्यालय (Open University) कार्यरत है । विस्कोंसिन विश्वविद्यालय के प्रो. वीडिमेयर के अनुसार स्वतंत्र शिक्षा से तात्पर्य।: है शिक्षक व छात्र के मध्य एक आवश्यक दूरी बनी रहे ताकि उनके मध्य एक शिक्षात्मक (communication) स्थापित हो सके ।

स्वतंत्र शिक्षा में सर्वाधिक हित छात्र का होता है जो पारम्परिक शिक्षा में निहित प्रत्यक्ष अध्ययन (face to face teaching) की निरंकुशता से जाता है व स्व-निदेशित अध्ययन (self-directed learning) करता है । इस प्रकार उसमें एक परिपक्वता आती है जो एक शिक्षित व्यक्ति की पूर्णतया पहचान कराती हैं । वीडीमेयर के अनुसार मुक्त या स्वतंत्र शिक्षा छात्रों में स्वायत्ता की भावना पैदा करती है । इस प्रणाली से छात्रों को अपने शैक्षणिक लक्ष्यों (goals) की प्राप्ति में कोई व्यवधान नहीं महसूस होते है जिसके कई कारण हैं जैसे छात्र अपनी गीत व सुविधा से अध्ययन करता है । अर्थात पारम्परिक शिक्षा प्रणाली की भांति समय व स्थान की कोई सीमा नही होती है । वह स्वतंत्र रूप से स्वयं के उत्तरदायित्व से पाठ्यक्रम स्थान व समय, परीक्षा कार्यक्रम आदि का (लक्ष्यों) चयन करता है । वह अपने स्वंय के निर्धारित करता है । विषयों के चयन पर उसका सम्पूर्ण अधिकार रहता है । अर्थात वह ऐसे विषय पढ़ने के लिए बाध्य नही होता है जिसमे उसकी रूचि न हो या जो उसके जीवन के लक्ष्य से मेल न खाते हो ।

20.4.3 दूरस्थ शिक्षा का औद्योगिकरण स्वरुप

दूरस्थ शिक्षा शास्त्रियों व अन्य शिक्षा-विदो का मानना है कि जैसे-जैसे समाज ब राज्य का औद्योगिकरण होता है, उस समाज व राज्य में पारम्परिक शिक्षा के केन्द्र व स्रोत अपूर्ण व अपर्याप्त होते हैं । अर्थात वे शिक्षा की आवश्यकताएं पूरी करने में असमर्थ भी रहते है । इन दूरस्थ शिक्षाशास्त्रियों में मुख्य है श्री ओटोपीटर्स जो जर्मनी के मुक्त विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति थे । श्री पीटर्स के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में भी औद्योगिकरण की आवश्यकता है ताकि व समाज व राज्य के वर्तमान स्वरूप के अनुसार कार्य कर सके व बढ़ती हुई जनसंख्या की शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके ।

ओटो पीटर्स ने इस दिशा में विस्तृत अध्ययन किया और कई निष्कर्ष प्राप्त किए । उनके अनुसार दूरस्थ शिक्षा में शिक्षण व अध्ययन (Teaching and Learning) दोनों का स्वरूप एक प्रकार से औद्योगिक है । उन्होने अपने शोध से यह सिद्ध कर दिया कि दूरस्थ शिक्षा व उद्योग समानान्तर है । दूरस्थ शिक्षा की कुछ औद्योगिक विशेषताएं जो पीटर्स के अनुसार इस शिक्षण प्रणाली में व्याप्त हैं उनमें मुख्य है श्रम विभाजन (division of labour) एवं बहु मात्र उत्पादन (mass production) ।

श्रम विभाजन का उदाहरण पीटर्स ने पाठ्यसामग्री के उपक्रम (preparation) व उत्पादन प्रक्रिया के माध्यम से समझाया है । दूरस्थ शिक्षा में प्रयोग में आने वाली पाठ्यसामग्री के उत्पादन कार्य में लगे हुए लेखक, सम्पादक, डिजाईनर मुद्रक आदि औद्योगिक मापदण्डों से कार्य करते हैं इस प्रकार की पाठ्यसामग्री का लेखन व मुद्रण साधारणतया प्रकाशित होने वाली पारम्परिक पाठ्यपुस्तकों से बिल्कुल भिन्न होता है । दूरस्थ शिक्षा के क्षेत्र गे केवल पाठ्यसामग्री का उत्पादन ही नही, शिक्षण व अध्ययन कार्य भी श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर कार्य करता है । अर्थात प्रत्येक कार्य के उपयुक्त विशेषज्ञ को कार्य आवंटित किया जाता है लेखन, मुद्रण, वितरण इत्यादि सभी कार्य आपस में एक असेम्बली लाईन (assembly line) की तरह जुड़े रहते हैं । जैसे ही एक कार्य पूरा होता है, तत्पश्चात् दूसरा कार्य स्वत: आरम्भ हो जाता है । इसी प्रकार शिक्षण व अध्ययन में परामर्शदाता, शिक्षक, समीक्षक आदि के अपने-अपने रोल रहते है ।

दूसरा औद्योगिक गुण जो दूरस्थ शिक्षा में देखने को मिलता है वह है बहुमात्र उत्पादन। बहुमात्रउत्पादन वस्तुत: एक औद्योगिक प्रक्रिया है । जिस प्रकार बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करने के लिए एकल श्रम (individual labour) से संयुक्त श्रम (group labour) की ओर रूख किया जाता है, उसी प्रकार दूरस्थ शिक्षा में पाठ्यसामग्री की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए सामग्री का उत्पादन संयुक्त श्रम की नियमों के अनुसार किया जाता है । यह केवल मुद्रण व वितरण तक ही सीमित नही है । विज्ञान ब तकनीकी के विकास के कारण नवीन पाठ्यक्रमों की आवश्यकता जब-जब महसूस की जाती है लेखकों व विशेषज्ञों के समूह माँग के अनुसार सामग्री जुडाने में लग जाते है। आवश्यकतानुसार नई तकनीकों का भी विकास किया जाता है जिससे शिक्षण व अध्ययन में किसी प्रकार की अप्रचलन व लुप्त (obsolete) तकनीक न रह जाए ।

20.4.4 दूरस्थ शिक्षा का भविष्य

जिस प्रकार से मुक्त शिक्षा या दूरस्थ शिक्षा का विकास हुआ है उससे शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया है । विश्वभर के देशों ने अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूरस्थ शिक्षा का मार्ग अपनाया है । वर्ष 1997 में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार विश्वभर के 107 देशों में कुल 1117 दूरस्थ व मुक्त शिक्षण संस्थाएं थी जिसमें 5 करोड़ छात्र अध्ययन कर रहे थे । एक अनुमान के अनुसार यह संख्या 2005 तक बढ़कर 12 करोड़ तक पहुँच सकती है । भारत में लगभग 100 से अधिक दूरस्थ-शिक्षा संस्थाएं व 13 मुक्त विश्वविद्यालय हैं जिनमें 10 लाख से भी अधिक छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं । जो वर्तमान में 20 लाख तक पहुँचने का अनुमान है । स्कूली स्तर पर 'राष्ट्रीय ओपन स्कूल' ने दूरस्थ शिक्षा के क्षेत्र में योगदान दिया है । इस व्यवस्था में प्रत्येक वर्ष 60,000 छात्र अध्ययन कर शिक्षा का लाभ उठा रहे हैं ।

इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि दूरस्थ शिक्षा इक्कीसवीं शताब्दी शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन की दिशा में अग्रसर है । सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से अशक्त राष्ट्र व

अन्य विकासशील राष्ट्रों में दूरस्थ शिक्षा का प्रमुख उत्तरदायित्व रहेगा प्रबुद्ध वर्ग का निर्माण करना व शिक्षा के माध्यम से समाज में व्याप्त असमानताएं व अन्य दोषों को निराकरण का प्रयास करना ।

बोध प्रश्न 3

उत्तर के लिए रिक्त स्थानो का प्रयोग करें ।

1. स्वयंपाठी शिक्षा प्रणाली से क्या अभिप्राय है?

----

2. दूरस्थ शिक्षा किस प्रकार छात्र को स्वायत्ता प्रदान करती है ।

20.5 सारांश (Summary)

इस इकाई के अंतर्गत हमने भारत वर्ष में शिक्षा का ऐतिहासिक महत्व जाना । हमने जाना कि किस प्रकार वैदिक शिक्षा से लेकर मुस्लिम शिक्षा व यूरोपीय जातियों का शिक्षा के क्षेत्र में क्या योगदान रहा है? हमने यह भी जाना कि आधुनिक भारत में शिक्षा के विकास के लिए क्या प्रयास किए गए? इस अध्याय में स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा व अध्यापक शिक्षा जैसे विषयों का भी अध्ययन किया गया । हमने यह भी जाना कि सूचना प्रौद्योगिकी क्या है, व उसका शिक्षा व अन्य क्षेत्रों में क्या योगदान रहा? इस अध्याय के अंत में दूरस्थ शिक्षा के विकास व भविष्य का भी अध्ययन किया गया ।

20.6 शब्दावली

- औपचारिक शिक्षा (Formal education) शिक्षा जो स्कूल, कालेज आदि में ग्रहण की जाए।
- अनौपचारिक शिक्षा (Non-formal education) शिक्षा जो घर, समाज, परिवार व संस्कृति के द्वारा ग्रहण की जाए ।
- गैर पारम्परिक शिक्षा (Non-conventional education) वह शिक्षा जो दूरस्थ या अन्य माध्यमों से ग्रहण की जाए ।
- सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) - एक ऐसा विज्ञान जो कम्प्यूटर यंत्रों के माध्यम से सूचना एकत्रित व वितरित करता है ।
- स्वतंत्र शिक्षा (Independent study) जिसमें शिक्षार्थी को विषय चयन, स्थान, समय व परीक्षा सम्बन्धी निर्णय लेने की पूरी स्वतंत्रता ।

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- के.के. दास (1986), डेवलेपमेट ऑफ एजुकेशन इन इंडिया (कल्याण पब्लिशर्स, लुधियाना)

▪ रामस्वरूप पाण्डेय (2000), भारतीय शिक्षा की समस्याएं (जयदेव आर्य एवं रामपाल सिंह)
▪ रवीन्द्र अग्निहोत्री (1992), आधुनिक भारतीय शिक्षा समस्याएं और समाधान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर ।
▪ AIU (2000), इंफोरमेशन टेक्नांलॉजी इन हाइयर एजुकेशन ।
▪ एलेक्लिसलीयोन एंड मैथ्यू लियोन (2000), फंडामेटल ऑफ इंफारमेशन टेक्नोलॉजी
▪ प्रो जी राम रेड्डी (1985), रीडिगंस इन डिस्टेंस एजुकेशन नई दिल्ली

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1.

(1) वैदिक शिक्षा मूलत: गुरूकुल प्रणाली पर आधारित है । इस प्रणाली के अन्तर्गत बालक परिवार से पृथक गुरू व सहपाठियो के संग जीवन व्यतीत करता है । इस अवधि के दौरान उसके चरित्र का निर्माण होता है । वह पशु से उठकर सही अर्थो में मनुष्य बनकर जीना, समाज में घुल-मिलकर रहना व जीवन के दूसरे मूल्यों जैसे अनुशासन, ब्राह्यचर्य आदि का पाठ सीखता है ।

(2) यूरोपीय जातियों में हांलाकि पारस्परिक राजनीतिक प्रीतद्वन्दता भी, परन्तु उन्होने अंग्रेज मिशनरियों ने प्रारम्भिक शिक्षा के विद्यालय खोले जो मुख्यत: समाज के निचले वर्ग के लिए थे । लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया । कई अंग्रेज विद्वानों ने भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद किया, उनके शब्दकोष तैयार किए व व्याकरण ग्रंथ लिखे ।

(3) स्त्री शिक्षा का महत्व समझाते हुए यह कहा गया है कि ब स्त्री शिक्षित हो तो वह शिक्षा स्वत: ही अगली पीढ़ी को प्राप्त हो जाएगी । इसी प्रकार स्त्रोचित शिक्षा जैसे ग्रह-अर्थशास्त्र, गृह प्रबन्ध अध्ययन आदि पर जोर दिया गया है ।

बोध प्रश्न 2.

(1) सूचना प्रौधोगिकी एक ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा डाटा संग्रहण व डाटा संप्रेषण के कार्य किए जाते है । जब एक कम्प्यूटर से दूसरे कम्प्यूटर पर डाटा या कोई सूचना का आदान प्रदान करना हो तो उसे सूचना प्रौधोगिकी के माध्यम से किया जाता है ।

(2) सूचना प्रौयोगिकी ने कला ब मनोरंजन के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया है । फिल्मों व सीरियलों के निर्माण व उनसे जुड़ी सभी गतिविधियाँ जैसे संपादन, अचल फोटोग्राफी, छायांकन, आदि अनेक कार्य सूचना प्रौद्योगिकी दो माध्यम से सरलता पूर्वक किए जाते है। कई स्वचलित वाद्य यंत्र पूर्व रचित धुनो के यंत्र ती प्रयोग में लिए जाते है ।

(3) शिक्षा के क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी ने कई परिवर्तन किए जैसे विद्यालय स्तर से ही कम्प्यूटर शिक्षा की अनिवार्यता, सॉफ्टवेयरो का प्रयोग, शिक्षण व अध्ययन में नवीन तकनीको का प्रयोग, शोध ब पाठ्यसामग्री उतपादन गे कम्प्यूटर का प्रयोग शामिल है ।

बोध प्रश्न 3

(1) स्वयंपाठी शिक्षा का अर्थ है किसी विश्वविद्यालय में प्रदेश लिए बिना अपने स्वयं के प्रयासों से पढ़कर परीक्षा देना । ऐसे छात्रो को विश्वविद्यालय केवल परीक्षा में बैठने की अनुमति

देता है परन्तु उस पर कक्षाओं य पाठ्यसामग्री उपलब्ध कराने का कोई उत्तरदायित्व नही रहता है ।

(2) दूरस्थ शिक्षा में प्रत्यक्ष अध्ययन की निरंकुशता नही रहती है क्योकि यह स्व-निर्देशित अध्ययन रहता है । इसलिए छात्र अपने शैक्षणिक लक्ष्यो के अनुसार विषयों का चयन, समय, स्थान, व परीक्षा कार्यक्रम आदि का चुनाव करता है । वह स्वतंत्र रूप से जिस विषय को पढ़ना चाहता है वह केवल उसी का अध्ययन बार सकता है ।

इकाई - 21

विकलांगता की समस्या एवं राज्य

(The Problem of Disability and State)

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 विकलांगता की अवधारणा
21.3 विकलांगता के प्रकार
21.4 विकलांगता एक समस्या के रूप में
21.5 विकलांगता और राज्य की भूमिका
21.6 भारत सरकार की कल्याणकारी भूमिका
21.7 विकलांगों के लिये विशेष अधिनियम
21.8 निःशक्त व्यक्ति अधिनियम 1995 के मुख्य प्रावधान
21.9 विकलांगता और सामाजिक उत्तरदायित्व
21.10 सारांश
21.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
21.12 शब्दावली
21.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

21.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- विकलांगता की अवधारणा को सही रूप में समझ सकेंगे ।
- इस समस्या को दूर करने में राज्य की भूमिका से अवगत हो सकेंगे; विकलांगों के कल्याण में भारत सरकार की भूमिका और प्रयासों से अवगत हो पाएंगे ।

21.1 प्रस्तावना (Introduction)

आमतौर पर सामान्य अंगों, ज्ञानेन्द्रियों अथवा मस्तिष्क में विकृति वाला व्यक्ति, बालक, किशोर, पुरूष अथवा महिला जो कि अपने जीवन के सामान्य और अत्यावश्यक क्रिया-कलापों को पूरा करने में भी अक्षमता या लाचारी की अवस्था में हो, उसे हम विकलांग कहते हैं। ऐसे लोग हर समाज में होते हैं । मानव-सभ्यता के विकास-यात्रा में आयी विकृतियों ने इनकी संख्या वृद्धि में योगदान ही दिया है । पर्यावरण-असंतुलन, युद्ध, कुपोषण, आनुवांशिक विकृतियां, दुर्घटनाओं आदि ने विकलांगों की आबादी को बढ़ाया है । किसी भी देश की जनसंख्या में विकलांगों का बढ़ता प्रतिशत समाज और सरकार दोनों के लिये चिन्ता का विषय

वन जाता है । क्योंकि जनसंख्या का यह भाग अपनी शारीरिक अथवा मानसिक अशक्तता के चलते देश अथवा समाज की मुख्यधारा से आसानी से नहीं जुड़ पाता है । साथ ही विकास से जुडे कार्यो में भी यह अपनी पूरी शारीरिक और मानसिक क्षमता का योगदान नहीं दे पाते हैं । ऐसे में यह समाज और सरकार की जिम्मेदारी हो जाती है कि एक तो उनकी संख्या को बढ़ने से रोका जाये तथा दूसरी ओर उनकी सीमित शारीरिक और मानसिक क्षमता का अधिकाधिक विकास करके उन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ा जाये ।

21.2 विकलांगता की अवधारणा

एनसाइक्लोपीडिया इन्कार्टा के अनुसार, 'विकलांगता चिकित्सकों द्वारा निर्धारित वह स्थिति जो किसी व्यक्ति को दिन-प्रतिदिन की गतिविधियों में भाग लेने में अक्षम पाती है ।
(A medically diagnosed condition that makes it difficult to engage in the activities of daily life.)

आमतौर पर देखने, सुनने, चलने, बोलने, उठने-बैठने या खाने-पीने में लाचार व्यक्ति को हम विकलांग कहते है। । इस श्रेणी में हम मंद-बुद्धि लोगों को भी शामिल करते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी एक या एक से अधिक ज्ञानेन्द्रियों (आंख, कान, नाक, जिह्वा आदि) अथवा कर्मेन्द्रियों (हाथ-पैर) से विकृत व्यक्ति को हम विकलांग की संज्ञा देते हैं । अब अगर हम अपने देश की बात करें तो भारत सरकार ने निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण एवं संपूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 के प्रथम अध्याय में विकलांगता से अर्थ नेत्रहीन, अल्पदृष्टि, कुष्ठरोग मुक्त, श्रवण दोष युक्त. चलने में असमर्थ या अपाहिज (हाथ या पैर) मानसिक मंदता और मानसिक रोग से ग्रस्त लोगों से लगाया है ।

विकलांगता को चाहे जिस रूप में हम परिभाषित करें सबमें एक बात सामान्य है कि विकलांग व्यक्ति किसी न किसी रुप में शारीरिक अथवा मानसिक विकृति (किसी न किसी रूप में शारीरिक अथक मानसिक विकृति) का शिकार होता है, जिसके चलते उसके जीवन की सामान्य गतिविधियाँ बाधित होती हैं और वह समाज और राष्ट्र की मुख्यधारा से अपनी पूरी क्षमता के साथ नहीं जुड़ पाता है ।

21.3 विकलांगता के प्रकार

आम तौर पर हम विकलांगों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :-

1. **जन्मजात विकलांग** इस श्रेणी में हम वैसे विकलांगों को रखते हैं जो जन्म से ही किसी न किसी शारीरिक अथवा मानसिक विकृति से ग्रस्त हैं । इनमें जन्म से ही दृष्टिहीन, श्रवण बाधित, मूक मंद-बुद्धि या चलने-फिरने से लाचार लोगों को रखते हैं ।
2. **दुर्घटना-जन्य विकलांगता** इस प्रकार की विकलांगता किसी न किसी दुर्घटना, जैसे प्राकृतिक आपदा, युद्ध. महामारी, सड़क या रेल दुर्घटना आदि के परिणामस्वरूप होती है । दुर्घटना से पहले तक व्यक्ति शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ रहता है ।

3. **रोग-जन्य विकलांगता** इस प्रकार की विकलांगता किसी न किसी रोग के कारण उत्पन्न होती है । जैसे : जन्म पश्चात् बच्चे का पोलियोग्रस्त हो जाना, युवावस्था अथवा वृद्धावस्था में लकवाग्रस्त हो जाना, कुष्ठरोग का शिकार हो जाना, आदि ।

भारत सरकार ने विकलांग व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण एवं संपूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 के प्रथम अध्याय में विकलांगों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया है.

1. **अंधापन** इस श्रेणी में वे विकलांग आते हैं जिन्हें बिल्कुल दिखाई नही देता है ।
2. **क्षीण दृष्टि (अल्प दृष्टि)** वैसे विकलांग जिनको ठीक-ठीक नहीं दिखता लेकिन जो सहायक उपकरणों की मदद से किसी कार्य को करने में सक्षम है ।
3. **कुष्ठ रोग मुक्त (उपचारित)** इस श्रेणी में वैसे विकलांग आते हैं जिनके कुष्ठ-रोग का निवारण तो हो चुका हो, लेकिन हाथ और पैरों में संवेदन की कमी हो, साथ ही आँख और पलक में अध लकवा तथा संवेदन की कमी हो । इसके अलावा प्रकट अंग विकृति के बावजूद सामान्य आर्थिक क्रिया-कलाप करने के लिये पर्याप्त गतिशीलता हो अथवा अत्यधिक शारीरिक विकृति हो और व्यक्ति कोई भी लाभकारी पेशा करने लायक न रह गया हो ।
4. **श्रवण दोष** इस श्रेणी में वैसे विकलांग आते हैं जिनमें श्रवण शक्ति की क्षीणता से संवाद संबंधी संचरण की आवृत्तियों में अच्छे कान में 60 डेसीबल या उससे अधिक की कमी हो।
5. **चलने की असमर्थता** वैसे विकलांग जिनके अंगों के संचलन को पर्याप्त रूप से नियन्त्रित करने वाली अस्थियों, जोडों या मांसपेशियों की नि:शक्तता प्रमाणित हो या जो मस्तिष्क संबंधी फालिज (सेरेब्रल पाल्सी या लकवा) के किसी भी रूप से अभिप्रेत है
6. **मानसिक मन्दता** ऐसे विकलांग जिनका मस्तिष्क अवरुद्ध या अधूरे विकास की स्थिति में हो
7. **मानसिक रुग्णता** मानसिक मन्दता को छोड़कर किसी भी तरह के मानसिक रोग या गड़बडी से ग्रस्त विकलांग इस श्रेणी में आते हैं ।

   इसी अधिनियम के तहत यह निर्देशित है कि एक विकलांग पुरूष/स्त्री को किसी चिकित्सा प्राधिकारी द्वारा इस आशय का प्रमाण-पत्र हासिल करना होगा कि वह कम से कम चालीस प्रतिशत विकलांगता का शिकार है ।

21.4 विकलांगता एक समस्या के रूप में

आम तौर पर विकलांग व्यक्ति को अपने परिवार और समाज के ऊपर बोझ के रूप में देखा जाता रहा है । ऊपरी तौर पर यह एक व्यक्तिगत समस्या दृष्टिगत होती है । लेकिन अन्ततोगत्वा इससे विकलांग मुक्ति से जुड़ा परिवार और समाज दोनों प्रभावित होता है । परिवार के सदस्यों और समाज की उपेक्षा उनमें एक प्रकार की हीन भावना को जन्म देती है जिसके फलस्वरूप वे समाज की मुख्यधारा से अलग-थलग पड़ जाते हैं ।

1. **व्यक्तिगत समस्या** विकलांगता एक व्यक्तिगत समस्या के रूप में जानी जाती है । इसका कारण यह है कि इसका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से होता है और यह व्यक्ति के

सामान्य जीवन के कार्य-कलापों, विकास और प्रगति में बाधक होती है । विकलांग व्यक्ति का परिवार इस समस्या से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है, क्योंकि विकलांग व्यक्ति के विशेष देख-माल की प्रारंभिक जिम्मेदारी उसके अपने परिवार पर ही होती है।

2. **सामाजिक समस्या** सतही तौर पर व्यक्तिगत समस्या के रूप में दिखने वाली विकलांगता व्यापक स्तर पर सामाजिक समस्या का रूप धारण कर लेती है । पाल लैण्डिस के अनुसार, सामाजिक समस्याएं व्यक्तियों की कल्याण संबंधी अपूर्ण आकांक्षाएं है ।' हार्टन तथा लेस्ले के अनुसार, सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है जो बहुत से लोगों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है तथा जिसका हल सामूहिक क्रिया द्वारा ही हो सकता है ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक समस्या को हम उन सामाजिक दशाओं के रूप में देखते हैं जो सामाजिक कल्याण के लिये काफी खतरे के रूप में होती हैं, जिनके प्रति समाज के काफी लोग जागरूक होते हैं और जिसके निराकरण के लिए सामूहिक रूप से कोई रचनात्मक कार्य या प्रयास करने की आवश्यकता अनुभव करते है । विकलांगता भी एक सामाजिक समस्या का रूप धारण कर चुकी है, क्योंकि हमारे समाज का एक बड़ा हिस्सा इससे प्रभावित है जो कि अपनी अक्षमता और उपेक्षा के फलस्वरूप राष्ट्र की मुख्यधारा से सक्रिय स्तर पर नहीं. जुड़ पा रहा है ।

आज हमारे देश में करोडो की संख्या में विकलांग लोग हैं । इनकी संख्या तेजी से बढ़ रही है । उदाहरण के तौर पर 2001 की जनगणना के आधार पर देखा जाए तो अकेले राजस्थान में 22.62 लाख व्यक्ति किसी न किसी प्रकार की विकलांगता से ग्रस्त हैं । इसका मतलब हुआ कि प्रदेश की कुल जनसंख्या (558.70लाख) का 4.05 प्रतिशत यानि कि हर 25वा व्यक्ति विकलांग है । अगर पूरे देश के स्तर पर देखा जाये तो सन् 1991 के भारत के राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण से यह तथ्य सामने आया कि देश में 70 लाख विकलांग ऐसे हैं जो रोजगार हेतु प्रशिक्षित और योग्य थे । निश्चित रूप से यह अकांड़ा आज एक करोड को पार कर चुका है। यह आंकडा तो केवल प्रशिक्षित एवं रोजगार योग्य बेरोजगारों का है, अगर कुल विकलांगों की बात की जाये तो लगभग 7 करोड व्यक्ति इस देश में निःशक्त जन की श्रेणी में आते हैं । यह एक बहुत बड़ी संख्या है और निश्चित रूप से यह एक सामाजिक समस्या का रूप धारण करती जा रही है । ऐसी स्थिति में समाज और सरकार दोनों के लिये यह चिन्ता का विषय बनती जा रही है ।

21.5 विकलांगता और राज्य की भूमिका

यूं तो विकलांगों की दिनोंदिन बढ़ती संख्या ने इसे एक सामाजिक समस्या का रूप दे दिया है. लेकिन अभी भी समाज' इस समस्या को उतनी गंभीरता से नहीं ले रहा है । क्योंकि भारत जैसे विकासशील देश में अभी भी गरीबी, बेरोजगारी, अपराध, बाल-अपराध, युद्ध और आतंकवाद, मद्यपान, एड्स जैसी अन्य सामाजिक समस्याएं मुंह बाये खड़ी हैं । ऐसे में राज्य की भूमिका दोहरी जिम्मेदारी की हो जाती है । एक तरफ जहां उसे आम जनता में विकलांगों के

प्रति सामाजिक जिम्मेदारी की भावना का संचार करना होता है. वही विकलांगों की सहायता के लिये तरह-तरह के कल्याण कार्यक्रमों को भी चलाना पडता है।

विकलांगों के प्रति राज्य की जिम्मेदारी की बात की जाये तो इसकी शुरूआत प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका में छिपा है । इन युद्धों के परिणामस्वरूप लाखों की संख्या में विकलांग हुए सैनिकों तथा नागरिकों के पुनर्वास का चुनौतीपूर्ण प्रश्न पश्चिमी देशों के समक्ष उठ खड़ा हुआ। सरकार के पास इनके चहुंमुखी पुनर्वास कार्यक्रमों के लिये पर्याप्त संसाधन नहीं थे। इसलिये समाज व समुदाय का सहयोग लेना नितान्त अपरिहार्य हो गया था । अपाहिजों की समस्याओं से समाज को अवगत कराने तथा सक्रिय संरचनात्मक सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से वर्ष व 1949 में "विश्व विकलांगता दिवस" बड़े धूमधाम से मनाया गया एवं नीतिगत निर्णय लिया गया कि मार्च का तृतीय रविवार विश्व विकलांग दिवस के रूप में मनाया जायेगा । इस प्रकार पश्चिमी देशों की सरकारों ने नागरिकों में विकलांगों के प्रति सहानुभूति एवं, नैतिक तथा सामाजिक दायित्व की भावना का संचार कर दिया । फलत: विकलांग पुनर्वास कार्यक्रम को काफी सफलता मिली ।

आज पश्चिमी देशों में भी विकलांग हैं, लेकिन वे ज्यादातर आल-निर्भर और सम्मानजनक जीवन जी रहे हैं । सरकार व समाज दोनों ही विकलांगों को इतनी सुविधा, स्नेह व अवसर प्रदान करते हैं कि उन्हें कभी भी अपनी विकलांगता को लेकर हीन-भावना का अहसास तक नहीं होता है ।

परन्तु भारत जैसे सीमित संसाधनों वाले विकासशील देशों का ध्यान इस समस्या की ओर बहुत वाद में गया है । इसका एक प्रमुख कारण यह भी रहा कि विकासशील देशों की अर्थ-व्यवस्था को पटरी पर लाने में बही की सरकारों को काफी समय लग गया, क्योंकि अधिकांश देश पश्चिमी देशों के औपनिवेशिक शोषण का शिकार रह चुकी है । अत: पर्याप्त संसाधनों के अभाव में इन देशों की सरकारें विकलांगों के कल्याण के लिये ज्यादा ध्यान नहीं दे सकी । फिर भी विश्व-स्तर पर विकलांगों के कल्याण-कार्यक्रमों ने देर-सवेर विकासशील देशों की सरकारों को भी इस दिशा में पर्याप्त और ठोस कदम उठाने को प्रेरित किया । परिणामस्वरूप आज दुनिया के हर देश में विकलांगों को राष्ट्र और समाज की मुख्यधारा से जोड़ने के लिये हर संभव कोशिश की जा रही है । और इसके सकारात्मक परिणाम भी सामने आये हैं ।

21.6 भारत सरकार की कल्याणकारी भूमिका

भारत वर्ष का संविधान भारत सरकार को एक कल्याणकारी राज्य की भूमिका में प्रतिष्ठित करता है । संविधान के भाग चार में वर्णित राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों (अनुच्छेद 38 से 51 तक) ने भारत सरकार को निर्देशित किया है कि वह अपनी नीति इस प्रकार बनाये जिससे एक न्यायपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का विकास हो जिसमें निवास करने वाले हर नागरिक को सम्मानपूर्वक जीवन-यापन करने के समान अवसर मौजूद कराये जाये । भारत सरकार ने इन सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए बहुत हद तक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानता को दूर करने की कोशिश की है । परन्तु विकलांगों की ओर सरकार का ध्यान बहुत बाद में गया, क्योंकि समाज का यह वर्ग हर तरह से

उपेक्षित था और अपने अधिकारों के लिये संगठित होने और आवाज बुलंद करने में असमर्थ था। साथ ही सरकार अपने सीमित संसाधनों के बल पर इनके लिये चाहते हुए भी कुछ खास कर पाने में असमर्थ था । फिर भी जब देश की अर्थ-अवस्था में सुधार हुआ तो सरकार ने इनकी सुध लेनी शुरू कर दी । इनके लिये विभिन्न कानूनी प्रावधानों की घोषणा की, अधिनियम बनाए, इनके उचित प्रशिक्षण की यथस्था की और राष्ट्र के मुख्यधारा से इनको जोड़ने के लिये इन्हें विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाये ।

21.7 विकलांगों के लिये विशेष अधिनियम

वैसे तो भारत सरकार ने विकलांगों के कल्याण के लिये समय-समय पर कई रियायतों और सुविधाओं की घोषणा की है ।जैसे. शिक्षण संस्थानों की स्थापना, नौकरियों में आरक्षण, चिकित्सा सुविधा, यातायात में रियायत इत्यादि । परन्तु ठोस रूप से इसकी शुरूआत नब्बे की दशक में ही हो पायी है । इस दशक में तीन प्रमुख अधिनियम पास किये गये जिनसे विकलांगों के कल्याण के लिये केन्द्र और राज्य-सरकारों के स्तर पर कई ठोस कार्यक्रम शुरू किये गये । यहां हम संक्षेप में इन प्रावधानों से परावर्तित होंगे ।

1. **भारतीय पुनर्वास परिषद अधिनियम :** 1992 भारत सरकार ने विकलांगों के कल्याण के लिये इस अधिनियम के तहत कई सुविधाएँ मुहैया करवायीं। इसी अधिनियम से निर्देशित होकर विभिन्न राज्य-सरकारों ने विकलांगों की विभिन्न प्रकार की विकलांगता की जाँच और शल्य चिकित्सा के लिये विशेषज्ञ डाक्टरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की । उनके पुनर्वास के लिये विभिन्न शैक्षणिक संस्थाओं को स्थापित कर उनके रोजगारोन्मुखी व्यावसायिक प्रशिक्षण पर जोर दिया । साथ ही विभिन्न प्रकार की नौकरियों में उनके लिये आरक्षण की अवस्था की । इस प्रकार विकलांगों के पुनर्वास के लिये एक ठोस नीति की शुरुआत इस अधिनियम से हो गयी ।
2. **नि :शक्त व्यक्ति (समान अवसर. अधिकार संरक्षण एवं पूरुर्ण भागोदारीं)** अधिनियम 1995 यह अधिनियम संसद द्वारा व 2 दिसम्बर 1995 को पारित किया गया तथा 7 फरवरी, 1996 को अधिसूचित किया गया । इस अधिनियम का उद्देश्य निःशक्त या विकलांग व्यक्तियों को सुविधाएं. सेवाएं प्रदान करने के लिये केन्द्रीय और राज्य सरकारों, स्थानीय निकायों का दायित्व निर्धारण करना है जिससे ये देश के उत्पादक व उपयोगी नागरिक के रूप में समान अवसर के लिये भागीदारी रक सकें । इस अधिनियम में निःशक्त व्यक्तियों के अधिकारों व सुविधाओं की सूची है जो कि प्रवतीत है ।

   यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है । इस अधिनियम में पुनर्वास के निवारक तथा प्रवर्धक, दोनों प्रकार के पुनर्वास वस्तुओं यथा निःशक्त व्यक्तियों के लिए शिक्षा, रोजगार, व्यावसायिक प्रशिक्षण. आरक्षण, अनुसंधान व मानव शक्ति विकास, बाधा रहित वातावरण, सामाजिक सुरक्षा के लिये प्रावधान है ।
3. **राष्ट्रीय न्यास अधिनियम 1999 (दी नेशनल ट्रस्ट फार वेलफेयर ऑफ परसन्स विद ऑटिंस्म. सेरेब्रल पाल्सी. मेण्टल रिंटारडेशन एण्ड डिसएबिलिंटीज एक्ट 1999)** यह अधिनियम मानसिक विमंदित विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों के कल्याण हेतु लागू किया

गया है । इस अधिनियम के तहत ऐसे व्यक्तियों के लिये संरक्षण एवं उनके पुनर्वास से सम्बन्धित योजनाएं बनाई जा जा सकेंगी । इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य :

1. मानसिक विमंदित विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों को समाज के बीच में स्वतंत्र रूप से रहने का अवसर प्रदान करना तथा जिनको परिवार का सहारा नहीं है उनकी समस्याओं पर विचार करना तथा संरक्षण प्रदान करना ।
2. मानसिक विमंदित विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों को अन्य व्यक्तियों के समान अवसर तथा उनके अधिकारों को संरक्षण प्रदान करना ।
3. मानसिक विमंदित विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों के कल्याण हेतु पंजीकृत संस्थाओं को सहायता प्रदान करना ।

इसी अधिनियम की धारा 13 के तहत जिला स्तर पर स्थानीय स्तर पर कमेटी के गठन का प्रावधान है जो मानसिक विमंदित विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों के कल्याण के लिये काम करेगा।

21.8 निं:शक्त व्यक्ति अधिनियम 1995 के मुख्य प्रावधान

चूंकि नि:शर्त व्यक्ति अधिनियम 1995 अपने उद्देश्यों में काफी व्यापक और विकलांगता की समस्या के निवारण हेतु केन्द्र और राज्य स्तर पर व्यापक दिशा-निर्देश प्रस्तुत करती है, अत: यहां पर उसके मुख्य-मुख्य प्राबधानों का वर्णन करना आवश्यक है । इसके अन्तर्गत निःशक्त या विकलांग व्यक्तियों की पहचान सुनिश्चित करने के मापदण्ड भी निर्देशित किये गये हैं । इसके मुख्य प्रावधान निम्नलिखित हैं

1. **केन्द्रीय समन्वय समिति तथा कार्यकारिणी समिति** इसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार, समाज कल्याण मंत्री की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय समन्वय समिति (के. स. स.) का गठन करेगी. जिसमें 39 सदस्य होंगे । इसमें 24 सरकारी तथा 15 सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य होंगे । इनमें विकलांगों से संबंधित गैर सरकारी संगठनों एवं संघों का प्रतिनिधित्व होगा । पांच सदस्यों में कम से कम एक महिला तथा एक व्यक्ति अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजाति से अवश्य शामिल होगा । सभी सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष होगा । के.स.स. निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य करेगी :

(i) सरकार, सरकारी तथा गैर सरकारी संगठनों के कार्यकलापों का पुनरीक्षण व समन्वय ।

(ii) एक राष्ट्रीय नीति का विकास ।

(iii) केन्द्रीय सरकार को नीति, कार्यक्रम, विधान तथा परियोजनाएँ तैयार करने के लिये परामर्श देना ।

(iv) राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं और कार्यक्रमों में विकलांग व्यक्तियों के लिये योजनाओं व परियोजनाओं की व्यवस्था के उद्देश्य से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ पैरवी करना ।

(v) दान मुक्त नीतियों का पुनरीक्षण निःशक्त पर उनके प्रभाव को ध्यान में रखते हुए करना ।

(vi) बाधा मुक्त वातावरण सुनिश्चित करना ।

(vii) निःशक्त व्यक्तियों को समानता व पूर्ण भागीदारी प्राप्त करने के लिए बनाई गई नीतियों व कार्यक्रमों के प्रभाव का मोनिटरिंग व मूल्यांकन करना ।

इस समिति की 6 माह में एक बार बैठक होगी ।

केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति यह समिति केन्द्रीय समन्वय समिति के निर्णयों का अनुपालन करेगी । इसकी 3 माह में एक बार बैठक होगी । इस समिति में 23 सदस्य होंगे. जिसमें विकलांगों से सबद्ध 5 व्यक्ति भी 'शामिल होंगे ।

1. **राज्य समन्यय तथा कार्यकारिणी समिति** केन्द्रीय समन्वय समिति के तर्ज 'पर प्रत्येक राज्य एक राज्य समन्वय समिति नियुक्त करेगा जिसमें 23 सरकारी तथा 5 गैर सरकारी सदस्य होंगे । राज्य कार्यकारिणी समिति भी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के तर्ज पर होगी जिसमें 13 सरकारी तथा 5 गैर सरकारी सदस्य होंगे ।

   राज्य स्तर पर गठित समितियाँ भी केन्द्रीय स्तर पर गठित समितियों के तर्ज और शर्तों पर ही काम करेंगी । साथ ही इनकी गतिविधियां भी समान ही होंगी ।

2. **विकलांगता कीं रोकथाम य यथासंभव पहचान** अपनी आर्थिक क्षमताओं और विकास की सीमा में उपयुक्त सरकारी और स्थानीय प्राधिकरण विकलांगता के रोकथाम के लिये निम्न कार्य करेंगे ।

(i) विकलांगता के आवृति से संबंधित कारणों से सम्बद्ध सर्वेक्षण, जाँच औ र अनुसन्धान करना तथा करवाना ।

(ii) विकलांगता के रोकथाम हेतु विविध उपायों को प्रोत्साहन देना ।

(iii) संभावित विकलांगता की पहचान के उद्देश्य से वर्ष में एक बार सभी बच्चों की जांच करना ।

(iv) प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये सुविधाए प्रदान करना ।

(v) जागरूकता अभियानों का प्रयोजन करना तथा कराना जिसमें सामान्य स्वच्छता, स्वास्थ्य व सफाई की जानकारी प्रदान की जाये ।

(vi) माँ और बच्चे की प्रसव पूर्व तथा उपरान्त देखभाल की व्यवस्था करना ।

(vii) पूर्व विद्यालयों, विद्यालयों प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, ग्राम स्तरीय कार्यकर्ताओं तथा आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं के द्वारा जनता को शिक्षित करना ।

(viii) विकलांगता के कारणों तथा उसके रोकथाम के उपायों का रेडियो, टेलीविजन तथा अन्य जनसंचार माध्यमों से जनसाधारण में जागरूकता फैलाना ।

4. **शिक्षा** केन्द्र और राज्य सरकारों तथा स्थानीय प्राधिकरणों को यह सुनिश्चित करना होगा हर विकलांग बच्चे को 18 वर्ष की आयु तक पर्याप्त शिक्षा मिल सके । विकलांगता ग्रस्त छात्रों को सामान्य स्कूलों में शामिल किया जाए, जिन्हें विशेष शिक्षा की आवश्यकता है, उनके लिए सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में विशेष स्कूल स्थापित किये जायें तथा ये स्कूल इन विकलांग बच्चों के लिये व्यावसायिक प्रशिक्षण से युक्त हों । स्थानीय प्राधिकरण उन विकलांग बच्चों के लिये जिन्होंने पाँचवीं कक्षा के उपरान्त पढ़ाई छोड़ दी है, अनौपचारिक शिक्षा योजना आरम्भ करेंगे । सोलह तथा अधिक आयुवर्ग के विकलांग बच्चों के लिये

अंशकालिक साक्षरता कक्षाएँ लगायी जायेंगी । प्रत्येक विकलांग बच्चे के लिये निःशुल्क विशेष पुस्तकें तथा वांछित उपकरण जिसमें मुफ्त विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना शामिल है की व्यवस्था करेंगे ।

सरकार विशेष प्रशिक्षित अध्यापकों द्वारा विकलांग बच्चों के लिए विशेष और समेकित (Integrated) स्कूल चलाने के प्रयोजन से समुचित संख्या में अध्यापक, प्रशिक्षण संस्थाएं स्थापित करेगी ।

इसके अलावा सरकार विकलांग बच्चों के लिये परिवहन सुविधाए मुहैया कराएगी. स्कूलों,कॉलेजों । तथा अन्य संस्थाएँ जो कि व्यावसायिक प्रशिक्षण और शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, उनसे वास्तुशिल्पीय अवरोधों को हटाएगी । स्कूलों में आने वाले बच्चों के लिये पुस्तकें, वर्दियां तथा अन्य सामग्री

उपलब्ध करायेंगी । इसके साथ ही उन्हें छात्रवृत्तियां प्रदान करेगी. उनके लिये पाठ्योत्तर कार्यकलापों की पुन: संरचना करेगी । विकलांग बच्चों को शिक्षा में समान अवसर देने के उद्देश्य से सरकार सहायक यंत्रों के लिए अनुसंधान को प्रोत्साहित करेगी ।

सरकार एक व्यापक शिक्षा योजना तैयार करेगी जिसमें अन्य बातों के साथ विकलांग छात्रों के अभिभावकों की शिकायतों के निवारण, पीरवहन, बाधा मुक्त वातावरण शामिल होंगे ।

5. **रोजगार** सरकार ऐसे पदों की पहचान करेगी जो विकलांगों के लिये आरक्षित की जा सके । यह आरक्षण 3% से कम नहीं होगा जिसमें निम्नलिखित प्रत्येक विकलांगता का 1% आरक्षण रहेगा ।

   (i) अल्प दृष्टि या नेत्रहीनता ।

   (ii) श्रवण दोष ।

   (iii) चलन विकलांगता या प्रमस्तिष्क घात ।

   विशेष रोजगार केन्द्रों की स्थापना की जाएगी । यदि किसी वर्ष में उपरोक्त रिक्तियों में कोई नहीं भरी जाती, तो इसे आगामी वर्ष में शामिल किया जाएगा । अंतिम रूप से यदि कोई विकलांग व्यक्ति इस रिक्ति को भरने के लिए उपलब्ध न हो, तभी किसी अन्य व्यक्ति को रोजगार दिया जा सकता है ।

   सभी सरकारी एवं अन्य शैक्षणिक संस्थाएं जो सरकार से सहायता प्राप्त कर रही हैं, विकलांगों के लिये कम से कम 3% स्थान आरक्षित रखेंगी । सरकारें अपनी आर्थिक क्षमता के भीतर सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के नियोक्ताओं को सकल कार्य शक्ति (Work force) में 5% तक स्थान विकलांगों को शामिल करने के लिए प्रोत्साहित करेंगी ।

6. **सकारात्मक कार्रवाई** सरकार विकलांग व्यक्तियों को सहायक अंग व उपकरण प्रदान करेगी। विकलांग व्यक्तियों के लिए आवास, व्यापार, विशेष मनोरंजन केन्द्र, विशेष स्कूल, अनुसंधान केन्द्रों विकलांग व्यक्तियों की फैक्ट्रियों हेतु रियायती दरों पर आवंटित किए जाने के लिए जमीन उपलब्ध कराएगी ।

7. **अभेदभाव** सरकारी परिवहन अपनी सुविधाओं, सुख साधनों को अनुकूल बनाने के लिए विशेष उपाय करेगी जिससे कि वह व्हीलचेयर प्रयोग करने वाले विकलांग व्यक्तियों के लिए आसान पहुंच वाले बन सकें । कोई नियोक्ता किसी कर्मचारी की सेवा के दौरान विकलांग होने पर उसकी सेवाएं समाप्त नहीं करेगा, बल्कि कार्य की कोटि के आधार पर इस तरह के भेदभाव को रोकेगा ।
8. **अनुसंधान व मानव शक्ति विकास** सरकार स्थानीय प्राधिकरण, विकलांगता निवारण विकलांगों के पुनर्वास सहायक यंत्रों के निर्माण. विकलांगों के लिए रोजगारों की पहचान, फैक्ट्रियों और कार्यालयों के विकलांग अनुकूल संरचना सुविधाएं. विकास को प्रोत्साहन देने के लिए प्रोत्साहन व प्रयोजन करेगी ।
9. **विकलांग व्यक्तियों के लिए सस्थाओं को मान्यता** इस अधिनियम को पारित होने के 6 माह के अन्दर विकलांग व्यक्तियों हेतु कार्यरत संस्थाएं अथवा प्रतिष्ठन चलाने वाले व्यक्ति इस अधिनियम के अन्तर्गत संस्था के पंजीकरण प्रमाण-पत्र हेतु आवेदन करेंगे । यह प्रमाण-पत्र सक्षम प्राधिकारी द्वारा जारी किया जाएगा ।
10. **गम्भीर विंकलांगताग्रस्त व्यक्तियों के लिए संस्थाएं** 80% अथवा अधिक विकलांगता वाले व्यक्ति गम्मीर विकलागताग्रस्त व्यक्ति माने जाते हैं । सरकार उनके लिए संस्थाओं की स्थापना व उनका रख-रखाव करेगी ।
11. **विकलांग व्यक्तियों के लिए आयुक्त** राज्य सरकार इस अधिनियम के कार्यान्वयन के लिए विकलांग व्यक्तियों हेतु एक आयुक्त की नियुक्ति करेगी । आयुक्त विकलांग व्यक्तियों को उपलब्ध कराए गए धन के उपयोग को मॉनिटर करने में समन्वय आयुक्त का कार्य करेंगे तथा इस अधिनियम के कार्यान्वयन के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को एक वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करेंगे
12. **सामाजिक सुरक्षा** सरकार अपनी आर्थिक सीमाओं के अन्दर विकलांग व्यक्तियों का पुनर्वास सरकारी संगठनों को वित्तीय सहायता प्रदान करना, विकलांग व्यक्तियों के लिए पुनर्वास कार्यक्रम चलाने का कार्य करेगी । जहाँ कहीं संभव होगा दो वर्ष से अधिक समय से विशेष रोजगार कार्यालयों में पंजीकृत विकलांग व्यक्तियों जिन्हें लाभकारी रोजगार में नहीं लगाया जा सका, को बेरोजगारी भत्ता देगी
13. **विविध** जो भी व्यक्ति विकलांग व्यक्तियों के लिए निर्धारित लाभों को उठाने के लिए धोखे का प्रयास करेगा, उसे दो वर्ष के लिए कारावास तथा 20,000 रुपये के जुर्माने से दण्डित किया जायेगा । सरकार को इस अधिनियम के उपबन्धों के कार्यान्वयन के लिए भी सभी प्रकार के नियम और विनियम बनाने का प्राधिकार होगा ।

21.9 विकलांगता और सामाजिक उत्तरदायित्व

विकलांग लोग किसी भी समाज के सबसे कमजोर वर्ग होते हैं । बिना दूसरों के सहारे के उन्हें दिन-प्रतिदिन के सामान्य क्रिया-कलापों को करने में भी कठिनाई होती हैं । ऐसे में समाज के अन्य समर्थ लोगों की यह नैतिक जिम्मेदारी हो जाती है कि न सिर्फ उनको हर संभव सहायता प्रदान करें बल्कि जीवन की इस चुनौती से लड़ने के लिये उन्हें प्रोत्साहित भी

करें । किसी भी देश की सरकार उनके कल्याण के लिये विभिन्न योजनाएं बना सकती है, परन्तु उन योजनाओं का सही-सही कार्यान्वयन समाज और आम जनता से सकारात्मक सहयोग की अपेक्षा रखता है । इसके अभाव में इन योजनाओं का कार्यान्वयन तो किसी न किसी तरह हो जाता है, लेकिन इससे विकलांगों में अपने प्रति. आत्मसम्मान का भाव नहीं जग पाता । वे हीन भावना से ग्रस्त रहते है और पूरे उत्साह के साथ समाज की मुख्यधारा से नहीं जुड़ पाते हैं। अत: समाज को इनका अतिरिक्त सहयोग और उत्साहवर्द्धन करना चाहिए, ताकि ये भी समाज के एक उपयोगी वर्ग के रूप में देश के विकास में योगदान कर सकें ।

21.10 सारांश (Summary)

सामान्यतया शारीरिक और मानसिक विकृतियों से ग्रस्त व्यक्ति, बालक, किशोर, पुरूष अथवा महिला जिन्हें दिन प्रति दिन के आवश्यक क्रिया-कलापों के सम्पादन में कठिनाई होती हैं, उन्हें विकलांगों की श्रेणी में रखा जाता है । मनुष्य की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में विकृत्ति के आधार पर इन्हें विभिन्न श्रेणियों में रखा जाता है । मंद-बुद्धि या मानसिक रोग से ग्रस्त व्यक्तियों को भी विकलांगों की श्रेणी में रखा जाता है । विकलांगता जन्मजात, दुर्घटना-जन्य या रोग-जन्य हो सकती है । विभिन्न प्रकार की आनुवांशिक विकृतियों, पर्यावरण असंतुलन, प्राकृतिक आपदाओं, दुर्घटनाओं तथा युद्धों के फलस्वरूप विकलांगों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है । विकलांगों की बढ़ती संख्या समाज और सरकार के लिये एक चुनौती बन कर उभरी है । पहले विकलांगों के देख-भाल और संरक्षण की जिम्मेदारी विकलांगों से सम्बद्ध परिवारों और समाज के ऊपर होती थी । बहुत लचे समय तक विकलांगता एक व्यक्तिगत समस्या के रूप में देखी जाती रही और उनकी उपेक्षा होती रही । सामाजिक समस्या के रूप में इसकी पहचान प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका के फलस्वरूप हुई जब लाखों की संख्या में सैनिक और नागरिक विकलांगता के शिकार हुए तथा पश्चिमी देशों की सरकारों के सामने उनके पुनर्वास की समस्या गंभीर चुनोती. के रूप में प्रकट हो गयी । तब पश्चिमी देशों की सरकारों ने अपने नागरिकों से इनके पुनर्वास में सहयोग की अपील की और देखते-देखते आम जनता और राज्य दोनों के, सहयोग से इस समस्या का बहुत हद तक समाधान ढूँढ निकाला । परन्तु भारत जैसे विकासशील देश के लिये यह आसान नहीं था । फिर भी अपने सीमित संसाधनों की सीमा में रहकर भारत सरकार ने इनके कल्याण और पुनर्वास. के लिये समय-समय पर महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं । परन्तु अभी-भी हमारे देश के विकलांग राष्ट्र की मुख्यधारा से पूरी तरह नहीं जुड़ पाये है । जनता और समाज का इसमें पूरा-पूरा सहयोग अपेक्षित है तभी हमारे विकलांग बन्धु आत्मसम्मान और विश्वास के साथ जीवन-यापन कर सकेंगे और देश की प्रगति में अपना योगदान दे पायेंगे ।

21.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विकलांगता से आप क्या समझते हैं? इसे परिभाषित करते हुए इनके विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें।
2. 'विकलांगता एक सामाजिक समस्या है ।" इस कथन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

3. विकलांगता की समस्या को दूर करने में राज्य की भूमिका का आलोचनात्मक विवेचन करें।
4. विकलांगता की समस्या को दूर करने में भारत सरकार के प्रयासों की विवेचना करें ।
5. भारत सरकार द्वारा पारित निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण एवं पूर्ण भागीदारी) अधिनियम 1995 में विकलांगों की समस्या को दूर करने के लिये किये गये प्रावधानों का वर्णन करे ।

21.12 शब्दावली

1. विकलांग: सामान्यत: वैसा व्यक्ति जो इस स्थिति में हो कि दिन-प्रतिदिन के कुछ या अधिकांश मूलभूत कार्यों को करने में अक्षम हो ।
2. विकलांगता : चिकित्सकों द्वारा निर्धारित वह स्थिति जो किसी व्यक्ति को दिन-प्रतिदिन की गतिविधि में भाग लेने में अक्षम पाती है ।
3. सेरेब्रल पाल्सी (Cerebral Plasy). मानसिक क्षति की स्थिति जो जन्म के समय होती है जिसमें मांसपेशियों और हड्डियों के जोड़ों (Limbs) पर नियंत्रण की कमी हो जाती है ।
4. मानसिक विमंदता (Mental Retardation): एक ऐसी अवस्था जिसमें व्यक्ति का बौद्धिक विकास औसत से नीचे रह जाता है । इनमें I.Q. (Intelligence Quotient) 70 के आसपास या उससे मी कम रहता है । यह अवस्था इनके सीखने की क्षमता, संवाद, स्वतंत्र जीवन यापन, अपनी देख-भाल, सुरक्षा, काम, खेल, सामाजिक अन्तर्क्रिया सबको प्रभाबित करती है और सामान्य जीवन यापन करने में कठिनाई पैदा करती है ।
5. ऑटिज़्म (Autism) :यह भी एक प्रकार की मानसिक बीमारी है जिसमें व्यक्ति की संवाद करने, सामाजिक अन्तर्क्रिया करने और बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित करने की क्षमता अव्यवस्थित हो जाती है । यह ज्यादातर बच्चों में पायी जाती है और तीन वर्ष से पहले ही इसके लक्षण उनमें दिखने लगते है।
6. कल्याणकारी राज्य: ऐसा राष्ट्र जिसकी सरकार अपने नागरिकों के सामाजिक कल्याण की प्राथमिक जिम्मेदारी अपने ऊपर लेती है ।

21.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. गुप्ता, एम0 एल0 एवम् शर्मा, डी0 डी0, भारतीय सामाजिक समस्याएँ, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, 2000.
2. Kashyap,SubhashC,:Our Constitution,National Book Trust, India.
3. निःशक्त जन निर्देशिका सौजन्य, जिला प्रशासन, जयपुर ।
4. नि:शक्त जन (समान अवसर, अधिकारों का संरक्षण एवं पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995: सौजन्य, आयुक्त (नि:शक्त जन), जयपुर ।
5. एनसाइक्लोपीडिया इन्कार्टा, 2002.

ISBN - 13/978-81-8496-051-8